प्रियवर श्री डिल्लीरमण रेग्मीजी को

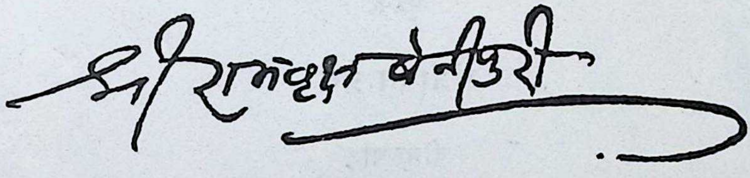
सस्नेह,

काठमाँडू
५।१।५५

बेनीपुरी-ग्रंथावली

पहला खंड

शब्दचित्र : कहानियाँ : उपन्यास



बेनीपुरी-प्रकाशन

पटना

प्रकाशक

बेनीपुरी-प्रकाशन

पटना ६

चित्रकार

श्री इन्द्र दुगड़

कलकत्ता

मुद्रक

संजीवन प्रेस

दीघा घाट

पटना

प्रथम संस्करण

दिसम्बर, १९५३

मूल्य

प्रति खंड--१२॥)

पूरी ग्रंथावली का १००) अग्रिम

समर्पण

श्रद्धेय भाई शिवपूजन सहाय जी को



श्रद्धेय भैया,

मेरी ग्रंथावली के प्रकाशन से सर्वाधिक प्रसन्नता आपको ही होगी;
अतः उसका यह पहला खंड आपके ही हाथों में—

रामवृक्ष बेनीपुरी

निवेदन

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी——यह नाम हिन्दी-संसार के कोने-कोने में एक विशेष प्रकार की साहित्य-साधना और भाषा-शैली के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है।

लगभग एक दर्जन मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओं के जन्मदान, सम्पादन और संचालन के अतिरिक्त, राजनीति के संघर्षमय जीवन में रहते हुए और आठ वर्षों तक जेल की चहार-दीवारियों में बंद रखे जाने पर भी, बेनीपुरीजी ने हिन्दी-साहित्य को जितने अनमोल रत्न दिये हैं, उनकी संख्या और विशिष्टता पर ध्यान देने से महान आश्चर्य होता है!

लगभग सत्तर पुस्तकें उनके नाम की छाप लेकर आज भी प्रचलित हैं, यद्यपि उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भिन्न-भिन्न उपनामों से भी लिखी हैं और कुछ रचनायें समय से पीछे भी पड़ गई हैं, जिनकी चर्चा भी फिज़ूल है।

बच्चों के लिए छोटी-छोटी मनोरंजक पुस्तकों से लेकर साहित्य और राजनीति को उन्होंने कितने ही ऐसे ग्रंथ दिये हैं, जो अपनी मौलिकता और प्रामाणिता के लिए सुधी-समाज से शतशः प्रशंसायें प्राप्त कर चुकी हैं। विषयों की विभिन्नता की दृष्टि से देखिए, तो और भी आश्चर्य होता है——नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी, जीवनी, संस्मरण, भ्रमण, निबन्ध, विश्लेषण जिस विषय पर बेनीपुरीजी की लेखनी चली, उसने कमाल दिखलाया। अपने अनूठे शब्दचित्रों के लिए तो बेनीपुरीजी को समूचे हिन्दी-संसार से सर्वश्रेष्ठता का प्रमाणपत्र मिल ही चुका है!

किन्तु बेनीपुरी-साहित्य के प्रेमियों के लिए दुख की बात यह रही कि उनकी पुस्तकें भिन्न-भिन्न प्रकाशकों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशित हुईं और वे इस तरह बिखरी-बिखरी पड़ी हैं कि उनका संकलन तो मुश्किल रहा ही है, उनके परिणाम और गुण का मूल्यांकन भी सम्यक रूप से नहीं हो पाया है।

इसी अभाव की पूर्त्ति के लिए आज से चार साल पहले हमने बेनीपुरी-प्रकाशन का जन्म दिया, किन्तु कई कारणवश इस सम्बन्ध में वैसी प्रगति नहीं हो सकी, जैसी हम चाहते थे। कुछ फुटकल पुस्तकों के प्रकाशन तक हम सीमित रहे; यद्यपि हिन्दी-संसार से हमें प्रोत्साहन यथेच्छ मिला।

किन्तु, अब परिस्थिति ऐसी आ गई है कि हम इस ओर ठोस क़दम बढ़ा सकें और जिस महान आयोजन का श्रीगणेश हम करने जा रहे हैं, निस्सन्देह, हिन्दी में यह एक अभिनव प्रयास है।

हम बेनीपुरीजी की सारी रचनाओं को ग्रंथावली के रूप में प्रकाशित करने जा रहे हैं। यह ग्रंथावली दस खंडों में, अलग-अलग जिल्दों में, इस प्रकार प्रस्तुत की जायगी––

पहला खंड

शब्दचित्र : कहानियाँ : उपन्यास

१. माटी की मूरतें
२. पतितों के देश में
३. गेहूँ और गुलाब
४. चिता के फूल
५. लाल तारा
६. क़ैदी की पत्नी

दूसरा खंड

नाटक : एकांकी : रूपक

१. अम्बपाली
२. सीता की माँ
३. संघमित्रा और सिंहलविजय
४. नेत्रदान
५. तथागत
६. नया समाज
७. अमर ज्योति

तीसरा खंड

संस्मरण : निबंध : भाषण

१. जंजीरें और दीवारें
२. मुझे याद है !
३. मेरी डायरी
४. नई नारी
५. सुनिये !
६. मशाल
७. नये-पुराने
८. कुछ मैं, कुछ वे

चौथा खंड

बाल-साहित्यः (पहली जिल्द)

१. अमर कथायें: मनु से गाँधी तक (दो भाग)
२. अमर कथायें : लाओज़े से लेनिन तक (दो भाग)
३. हम इनकी संतान हैं (दो भाग)
४. पृथ्वी पर विजय (दो भाग)
५. प्रकृति पर विजय (दो भाग)
६. संसार की मनोरम कहानियाँ (दो भाग)
७. इनके चरण चिह्नों पर

पाँचवाँ खंड

बाल-साहित्य : (दूसरी जिल्द)

१. बगुला भगत
२. सियार पांडे
३. बिलाई मौसी
४. हिरामन तोता
५. बेटे हों तो ऐसे
६. बेटियाँ हों तो ऐसी
७. शिवाजी
८. गुरु गोविन्द सिंह
९. अमृत की वर्षा
१०. बच्चों के बापू
११. जीव-जन्तु
१२. अनोखा संसार
१३. झोपड़ी से महल
१४. सतरंगा धनुष

छठा खंड

राजनीति : जीवनियाँ

१. कार्ल मार्क्स
२. रोज़ा लुक्जेम्बुर्ग
३. रूस की क्रांति
४. लाल चीन
५. जयप्रकाश : जीवनी
६. जयप्रकाश की विचार-धारा

सातवाँ खंड

साहित्य : टीकायें

१. विद्यापति की पदावली
२. रवीन्द्र-भारती
३. इक़बाल
४. बिहारी-सतसई
५. ट्युलिप्स
६. जोश

आठवाँ खंड

यात्रा : भ्रमण

१. पैरों में पंख बाँध कर
२. पेरिस नहीं भूलती
३. उड़ते चलो, उड़ते चलो
४. मेरे तीर्थ

नवाँ खंड

दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में लिखे अग्रलेख और टिप्पणियाँ !

दसवाँ खंड

भविष्य की रचनायें

प्रति खंड में डिमाई अठपेजी के ५०० से ७०० पृष्ठ होंगे। बढ़िया क़ागज़ पर मोनो की सुन्दर छपाई। हर खंड सुप्रसिद्ध कलाकारों

द्वारा सचित्र। रेक्सिन की पक्की जिल्द; मनोहर तिरंगा आवरण। ये दसो खंड किसी के भी अध्ययन-कक्ष के लिए शृंगार सिद्ध होंगे।

प्रति खंड का मूल्य १२॥) होगा और पूरे सेट का १२५)। किन्तु, जो लोग अग्रिम स्थायी ग्राहक बन जायँगे, उन्हें १००) में ही यह अनमोल प्रकाशन उपलब्ध हो सकेगा।

हिन्दी में अभी तक इस प्रकार का प्रकाशन नहीं हो सका है। जिस तरह बेनीपुरीजी की लेखनी ने हिन्दी-साहित्य में नई लकीर खींची है, हिन्दी-प्रकाशन में भी एक नया आदर्श उपस्थित करने का प्रयास हम करने जा रहे हैं। बहुत बड़ी संख्या में इस तरह का प्रकाशन किया नहीं जा सकता; इसलिए हमने अभी पहला संस्करण, परिमित संख्या में ही, प्रकाशित करने का निर्णय किया है। अतः साहित्य-प्रेमियों को चाहिए कि शीघ्र स्थायी ग्राहकों में नाम लिखा कर अपनी प्रतियाँ सुरक्षित करा लें। इससे हमारा उत्साह भी बढ़ेगा और हम इस महान आयोजन को शीघ्र ही पूरा कर सकेंगे।

पहले खंड के प्रकाशन के पूर्व ही हमें हिन्दी-संसार से जैसा सहयोग मिला है; उससे हमारी यह आशा पुष्ट हुई है कि हम इस योजना को शीघ्र ही पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर सकेंगे। यह सहयोग देनेवाले सज्जनों के हम हार्दिक कृतज्ञ हैं और उनके नाम अन्यत्र हम सादर प्रकाशित कर रहे हैं।

—प्रकाशक

विवाह-पंचमी, अगहन,
२०१० वि०

बेनीपुरी :: परिचय

जन्म-तिथि :: अज्ञात, सम्भवतः पौषसंवत् १९५८; जनवरी १९०२ ई०

जन्म-स्थान :: बेनीपुर; थाना कटरा; जिला मुज़फ्फ़रपुर; बिहार।

परिवार :: पिता, श्री फूलवन्त सिंह; पितामह, श्री यदुनन्दन सिंह। साधारण किसान। बचपम में ही माता-पिता का स्वर्गवास।

शिक्षा :: अक्षरारम्भ, बेनीपुर। प्रार्थमिक शिक्षा; बंशीपचरा, ननिहाल में। फिर भिन्न-भिन्न स्कूलों में अध्ययन करते हुए जब मैट्रिक में ही पहुँचे थे, असहयोग-आन्दोलन के कारण १९२० में शिक्षा का परित्याग।

साहित्य-प्रेम :: तुलसीकृत रामचरित मानस के पठन-पाठन से साहित्य की ओर रुचि। कविता की ओर प्रारम्भिक प्रवृत्ति। प्राचीन काव्यों का स्वतः अध्ययन। १५ वर्ष की उम्र में ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विशारद। इसके पहले से ही पत्र-पत्रिकाओं में कवितायें।

पत्र-कारिता :: १९२१—'तरुण भारत' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२२—'किसान मित्र' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२४—'गोलमाल' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२६—'बालक' (मासिक) के सम्पादक।

१९२९—'युवक' (मासिक) के सम्पादक और संचालक।

१९३०—'क़ैदी' (हस्तलिखित) का सम्पादन, हज़ारीबाग़ जेल में।

१९३४—'लोक संग्रह' (मुज़फ्फ़रपुर) और 'कर्मवीर' (खंडवा) के कार्य-कारी सम्पादक।

१९३५—'योगी' (साप्ताहिक) के सम्पादक।

१९३७—'जनता' (साप्ताहिक) के सम्पादक।

१९४२—'तूफ़ान' (हस्तलिखित); हज़ारीबाग़ जेल में सम्पादन।

१९४६—'हिमालय' (मासिक) के सम्पादक, आचार्य शिवपूजन सहायजी के साथ।

१९४६—'जनता' (साप्ताहिक) के पुनः सम्पादक।

१९४८—'जनवाणी' (मासिक), काशी के सम्पादक-मंडल में; आचार्य नरेन्द्रदेवजी के साथ।

१९५०—'नई धारा' और 'चुन्नू-मुन्नू' के प्रधान सम्पादक—(दोनों ही मासिक)

१९५१—'जनता' (दैनिक) के प्रधान सम्पादक।

पुस्तक–निर्माण :: १९२५—(१) बगुला भगत (२) सियार पाँड़े (३) बिहारीसत्सई की टीका (४) प्रेम (अनुवाद) (५) कविता–कुसुम (संग्रह)

१९२७-२८—(१) विद्यापति कीपदावली (सटिप्पण) (२) बिलाईमौसी (३) हिरामन तोता (४) आविष्कार और आविष्कारक (५) शिवाजी (६) गुरुगोविन्द सिंह (७) विद्यापति (८) लंगटसिंह

१९३०—३२—(१) पतितों के देश में (२) फुटकल कहानियाँ, जो 'चिता के फूल' में संग्रहीत हुईं।

१९३५—३६-(१) साहस के पुतले (२) झोपड़ी से महल (३) रंगविरंग (४) बहादुरी की बातें (५) क्या और क्यों (ये दो पुस्तकें अप्रकाशित) (६) दीदी (उपन्यास : चार फार्म छपी, मूल प्रति अप्राप्य)

१९३७—३९-(१) लाल तारा (२) लाल चीन (३) जान हथेली पर (४) फलों का गुच्छा (५) पद-चिन्ह (६) सतरंगा धनुष (७) झोपड़ी का रुदन (कहानी संग्रह)

१९४०—(१) क़ैदीकी पत्नी (२) लाल रूस (३) सात दिन (उपन्यासः अप्रकाशित) (४) जोश (अप्रकाशित)

१९४१—४५ (१) माटी की मूरतें (२) अम्बपाली (३) रोजा लुक्ज़ेमबुर्ग (४) रवीन्द्र-भारती (अप्रकाशित) (५) इक़बाल (अप्रकाशित) (६) रूस की क्रांति (७) ट्रल्पिस (अप्रकाशित)

१९४७—(१) जयप्रकाशः जीवनी (२) जयप्रकाश

की विचारधारा (३) तथागत (४) चिता के फूल
१९४८--५० (१) गेहूँ और गुलाब (२) नेत्रदान (३) सीता की माँ (४) नई नारी (५) संघमित्रा (६) मशाल (७) हवा पर (८) बेटे हों तो ऐसे (९) बेटियाँ हो तो ऐसी (१०) हमारे पुरखे (११) हमारे पड़ोसी [पीछे ये ही दो पुस्तकें 'अमर कथायें' नाम से चार भागों में प्रकाशित] (१२) पृथ्वी पर विजय (१३) प्रकृति पर विजय (१४) संसार की मनोहर कहानियाँ (१५) हम इनकी संतान हैं (१६) इनके चरण-चिन्हों पर (१७) अनोखा संसार (१८) अपना देश

१९५१— (१) पैरों में पंख बाँधकर (२) कार्ल मार्क्स (३) अमर ज्योति (४) नया समाज (५) सुनिये !

१९५२—(१) पेरिस नहीं भूलती (२) उड़ते चलो, उड़ते चलो (३) अमृत की वर्षा (४) जीव-जन्तु
१९५३--इन पुस्तकों पर काम हो रहा है— (१) ज़जीरें और दीवारें (२) मुझे याद है (३) विजेता (४) धरती की धड़कनें (५) मेरी-डायरी (६) नये-पुराने (९) कुछ मैं, कुछ वे !

जेल-यात्रा : : १९३०—छः महीने की सज़ा, हज़ारीबाग़ जेल
१९३२—डेढ़ वर्ष की सज़ा, हज़ारीबाग़ और पटना कैम्पजेल।

१९३७—तीन महीने की सज़ा; हज़ारीबाग़ जेल।

१९३८—दो दिन हाजत में—सीटी जेल, पटना जेल।

१९३९—दो सप्ताह की सज़ा—पटना जेल।

१९४०—एक वर्ष की सज़ा—हज़ारीबाग़ जेल। (इसी दरम्यान एक मुक़दमे के सिलसिले में छपरा जेल, सीवान जेल)

१९४१—छः महीने की सज़ा, हाजीपुर जेल, मुज़फ्फर पुर जेल।

१९४२—डेढ़ साल की सज़ा, सीतामढी जेल।

१९४२—छः महीने भी सज़ा, मधुवनी जेल, दरभंगा जेल।

१९४२ से १९४५ — नज़रबंदी, हज़ारीबाग़ जेल, गया जेल।

संस्थाओं से सम्बन्ध :: बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापन (१९१९) में सहयोग: उसके सहकारी मंत्री, संयुक्त मंत्री, प्रधान मंत्री (१९४६ से १९५० तक) फिर सभापति (१९५१)। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य समेलन के प्रचार मंत्री (१९२९) जब श्री गणेशशंकर विद्यार्थी उसके सभापति थे।

१९२० से १९४६ तक काँग्रेस में। पटना शहर काँग्रेस कमिटी के सभापति। अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी के सदस्य। १९२९ में बिहार राजनीतिक कान्फ्रेन्स (मुंगेर) में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पेश किया, जो नेताओं के विरोध के बावजूद पास हुआ। फैजपुर काँग्रेस में ज़मीदारी उन्मूलन का प्रस्ताव पेश किया। १९३७ के आम चुनाव के बाद दिल्ली में संयोजित नेशनल कान्वेन्शन के सदस्य।

बिहार सोशलिस्ट पार्टी (१९३१) के संस्थापकों में। अखिल भारतीय काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की पहली कार्य–समिति के सदस्य। सोशलिस्ट पार्टी (बिहार) के पार्लियामेन्टरी बोर्ड के अध्यक्ष। पार्टी के मुख्य पत्र 'जनता' के सम्पादक।

बिहार प्रान्तीय किसान सभा के सभापति। भारतीय किसान सभा के उप सभापति। ज़मीन्दारी उन्मूलन का नारा सबसे पहले दिया।

वर्त्तमान :: 'नई धारा' (मासिक) के सम्पादक।
'जनता' (साप्ताहिक) के सम्पादक।

पता :: बेनीपुरी प्रकाशन, पटना ६।

घर का पता — ग्राम बेनीपुर, पो० भरथुआ, जिला मुजफ्फरपुर (बिहार)

—

अनुक्रमणिका

माटी की मूरतें

(शब्दचित्र)

चित्रसंख्या .... चौबीस

पतितों के देश में

(उपन्यास)

बाहरी झाँकी

भीतरी झाँकी

लाल तारा

(शब्दचित्र)

चित्रसंख्या .... बत्तीस

चिता के फूल

(कहानियाँ)

क़ैदी की पत्नी

(उपन्यास)

गेहूं और गुलाब

(शब्दचित्र)

चित्रसंख्या.... पचास

माटी की मूरतें

अपने मामाजी

स्वर्गीय श्रीद्वारिकासिंहजी की

पावन स्मृति में

ये माटी की मूरतें

जब कभी आप गाँव की ओर निकले होंगे, आपने देखा होगा, किसी बड़ या पीपल के पेड़ के नीचे, चबूतरे पर, कुछ मूरतें रखी हैं--माटी की मूरतें!

ये मूरतें-- न इनमें कोई खूबसूरती है, न रंगीनी। फलतः बौद्ध या ग्रीक-रोमन मूर्त्तियों के हम शैदाई यदि उनमें कोई दिलचस्पी न लें,--उन्हें देखते ही मुँह मोड़ लें, नाक सिकोड़ लें, तो अचरज की कौन-सी बात?

किन्तु इन कुरूप, बदशकल मूरतों में भी एक चीज़ है,--शायद उस ओर हमारा ध्यान नहीं गया। वह है ज़िन्दगी! ये माटी की बनी हैं, माटी पर धरी हैं; इसीलिए, ज़िन्दगी के नज़दीक हैं, ज़िन्दगी से शराबोर हैं। ये देखती हैं, सुनती हैं; खुश होती हैं, नाराज़ होती हैं; शाप देती हैं, आशीर्वाद देती हैं।

ये मूरतें न तो किसी आसमानी देवता की होती हैं, न अवतारी देवता की। गाँव के ही किसी साधारण व्यक्ति--मिट्टी के पुतले--ने किसी असाधारण अलौकिक कर्म के कारण एक दिन देवत्व प्राप्त कर लिया, देवता में गिना जाने लगा और गाँव के व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुख का द्रष्टा-स्रष्टा बन गया!

मिट्टी के उन पुतलों की ये माटी की मूरतें! हाँ, ये देखती हैं, सुनती हैं; खुश होती हैं, नाराज़ होती हैं। खुश हुईं,--संतान मिली, अच्छी फसल मिली, यात्रा में सुख मिला, मुक़दमे में जीत मिली। इनकी नाराज़ी --बीमार पड़ गये, महामारी फैली, फसल पर ओले गिरे, घर में आग लग गई!

ये ज़िन्दगी के नज़दीक ही नहीं हैं, ज़िन्दगी में समाई हुई हैं। इसलिए ज़िन्दगी के हर पुजारी का सिर इनके नज़दीक आप ही आप झुका है। बौद्ध और ग्रीक-रोमन मूर्त्तियाँ दर्शनीय हैं, वन्दनीय हैं; तो, माटी की ये मूरतें भी उपेक्षणीय नहीं, आपसे हमारा निवेदन सिर्फ इतना है !

× × ×

आपने राजा-रानी की कहानियाँ पढ़ी हैं, ऋषि-मुनि की कथाएँ बाँची हैं, नायकों और नेताओं की जीवनियों का अध्ययन किया है ! वे कहानियाँ, वे कथाएँ, वे जीवनियाँ ! कैसी मनोरंजक, कैसी प्रोज्ज्वल, कैसी उत्साहवर्द्धक ! हमें दिन-दिन उनका अध्ययन, मनन, अनुशीलन करना ही चाहिए।

किन्तु, क्या आपने कभी सोचा है, आपके गाँवों में भी कुछ ऐसे लोग हैं, जिनकी कहानियाँ, कथाएँ और जीवनियाँ राजा-रानियों, ऋषि-मुनियों ; नायकों-नेताओं की कहानियों, कथाओं और जीवनियों से कम मनोरंजक, प्रोज्ज्वल और उत्साहवर्द्धक नहीं। किन्तु शकुन्तला, वशिष्ट, शिवाजी और नेताजी पर मरनेवाले हम अपने गाँव की बुधिया, बालगोबिन भगत, बलदेवसिंह और देव की ओर देखने की भी फुर्सत कहाँ पाते हैं ?

हज़ारीबाग सेंट्रल जेल के एकान्त जीवन में अचानक मेरे गाँव और मेरे ननिहाल के कुछ ऐसे लोगोंकी सूरतें मेरी आँखों के सामने आकर नाचने और मेरी क़लम से चित्रण की याचना करने लगीं ! उनकी इस याचना में कुछ ऐसा जोर था कि अन्ततः यह "माटी की मूरतें" तैयार होकर रही। हाँ, जेल में रहने के कारण बैजूमामा भी इनकी पाँत में आ बैठे और अपनी मूरत मुझसे गढ़वा ही ली।

मैं साफ कह दूँ, ये कहानियाँ नहीं; जीवनियाँ हैं ! ये चलते-फिरते आदमियों के शब्दचित्र हैं। मानता हूँ, कला ने उनपर पच्चीकारी की है; किन्तु मैंने ऐसा नहीं होने दिया कि रंग-रंग में मूल रेखाएँ

ही गायब हो जायँ। मैं उसे अच्छा रसोइया नहीं समझता, जो इतना मसाला रख दे कि सब्जी का मूल स्वाद ही नष्ट हो जाय!

कला का काम जीवन को छिपाना नहीं, उसे उभाड़ना है! कला वह, जिसे पाकर जिन्दगी निखर उठे, चमक उठे!

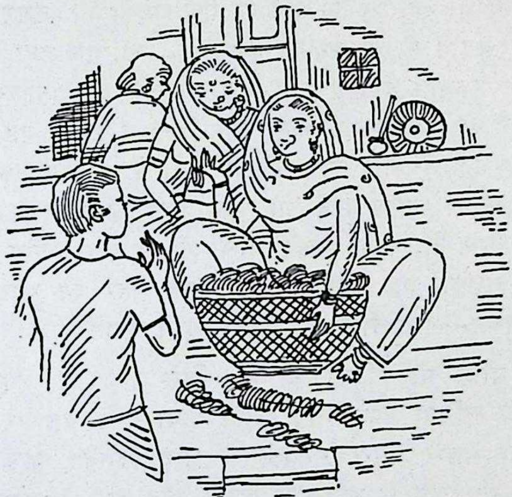
डरता था, सोने-चाँदी के इस युग में मेरी ये 'माटी की मूरतें' कैसी पूजा पाती हैं? किन्तु, इधर इनमें से कुछ जो प्रकाश में आईं, हिन्दी-संसार ने उन्हें सर-आँखों पर लिया! यह मेरी क़लम या कला की करामात नहीं, मानवता के मन में मिट्टी के प्रति जो स्वाभाविक स्नेह है, उसका परिणाम है। उस स्नेह के प्रति मैं बार-बार सिर झुकाता हूँ और कामना करता हूँ, कुछ और ऐसी 'माटी की मूरतें' हिन्दी-संसार की सेवा में उपस्थित करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ।

दीवाली, १९४६ श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

नवीन संस्करण

यह "माटी की मूरतें" सोने की मूरतें सिद्ध हुईं। छः साल में इसकी साठ हज़ार प्रतियाँ बिक चुकीं। इस नवीन संस्करण में एक मूरत और जोड़ दी गई है—रज़िया। क्रम में भी कुछ परिवर्त्तन किया गया है और पाठ में भी। इसे आदि से अन्त तक सचित्र भी कर दिया गया है। क्या मैं आशा करूँ, इस नये रूप में यह और भी पसंद की जायगी?

गंगादसहरा, १९५३ श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी



रज़िया

कानों में चाँदी की बालियाँ, गले में चाँदी का हैकल, हाथों में चाँदी के कंगन और पैरों में चाँदी की गोड़ाँई––भरबाँह की बूटेदार कमीज़ पहने, काली साड़ी के छोर को गले में लपेटे, गोरे चेहरे पर लटकते हुए कुछ बालों को सम्हालने में परीशान, वह छोटी-सी लड़की, जो उस दिन मेरे सामने आकर खड़ी हो गई थी––अपने बचपन की उस रज़िया की स्मृति ताज़ा हो उठी, जब मैं अभी उस दिन अचानक उसके गाँव में जा पहुँचा!

हाँ, यह मेरे बचपन की बात है। मैं कसाईखाने से रस्सी तुड़ा कर भागे हुए बछड़े की तरह उछलता हुआ अभी-अभी स्कूल से आया था और बरामदे की चौकी पर अपना बस्ता-सिलेट पटककर मौसी से छठ में पके ठेकुए लेकर उसे कुतर-कुतर कर खाता हुआ ढेंकी पर झूला झूलने का मज़ा पूरा करना चाह रहा था कि उधर से आवाज़ आई––देखना, बबुआ का खाना मत छू देना––और, उसी आवाज़ के साथ मैंने देखा, यह अजीब रूप-रंग की लड़की मुझसे दो-तीन गज़ आगे खड़ी हो गई।

मेरे लिए यह रूप-रंग सचमुच अजीब था। ठेठ हिन्दुओं की बस्ती है मेरी और मुझे मेले-पेठिए में भी अधिक नहीं जाने दिया जाता। क्योंकि, सुना है, बचपन में मैं एक मेले में खो गया था—मुझे कोई औघड़ लिये जा रहा था कि गाँव की एक लड़की की नज़र पड़ी और मेरा उद्धार हुआ। मैं बाप-माँ का एकलौता—माँ, चल बसी थीं, इसलिए उनकी इस एकमात्र धरोहर को मौसी आँखों में जुगोकर रखतीं। मेरे गाँव में भी लड़कियों की कमी नहीं, किन्तु न उनकी यह वेश-भूषा, न यह रूपरंग! मेरे गाँव की लड़कियाँ कानों में बालियाँ कहाँ डालतीं और भरबाँह की कमीज़ पहने भी उन्हें कभी नहीं देखा। और, गोरे चेहरे तो मिले हैं, किन्तु इसकी आँखों में जो एक अजीब क़िस्म का नीलापन दीखता, वह कहाँ? और, समूचे चेहरे की काट भी कुछ निराली ज़रूर—तभी तो मैं उसे एकटक घूरने लगा!

यह बोली थी रज़िया की माँ, जिसे प्रायः ही अपने गाँव में चूड़ियों की खँचिया लेकर आते देखता आया था। वह मेरे आँगन में चूड़ियों का बाज़ार पसारकर बैठी थी और कितनी बहू-बेटियाँ उसे घेरे हुई थीं। मुँह से भाव-साव करती और हाथ से ख़रीदारिनों के हाथ में चूड़ियाँ चढ़ाती वह सौदे पटाये जा रही थी। अबतक उसे अकेले ही आते-जाते देखा था; हाँ; कभी-कभी उसके पीछे कोई मर्द होता, जो चूड़ियों की खाँची ढोता। यह बच्ची आज पहली बार आई थी और न जाने किस बालसुलभ उत्सुकता ने उसे मेरी ओर खींच लिया था। शायद वह यह भी नहीं जानती थी कि किसीके हाथ का खाना किसीके निकट पहुँचने से ही छू जाता है! माँ जब अचानक चीख़ उठी, वह ठिठकी, सहमी—उसके पैर तो वहीं बँध गये; किन्तु इस ठिठक ने उसे मेरे बहुत निकट ला दिया, इसमें संदेह नहीं!

मेरी मौसी झट उठीं, घर में गईं और दो ठेकुए और एक कसार लेकर उसके हाथों में रख दिये। वह लेती नहीं थी, किन्तु अपनी माँ के आग्रह पर हाथ में रख तो लिया, किन्तु मुँह से नहीं लगाया! मैंने कहा—खाओ न? क्या तुम्हारे घरों में ये सब नहीं बनते? छठ का व्रत नहीं होता? कितने प्रश्न—किन्तु सबका जवाब 'न' में ही और वह भी मुँह से नहीं, ज़रा-सा गर्दन हिला कर। और, गर्दन हिलाते ही चेहरे पर गिरे बाल की जो लटें हिल-हिल उठतीं, वह उन्हें परीशानी से सम्हालने लगती!

जब उसकी माँ नई ख़रीदारिनों की तलाश में मेरे आँगन से चली,

रज़िया भी उसके पीछे हो ली। मैं खाकर, मुँह धोकर, अब उसके निकट था और जब वह चली, जैसे उसकी डोर में बँधा थोड़ी दूर तक घिसटता गया। शायद मेरी भावुकता देखकर ही चूड़ीहारिनों के मुँह पर खेलनेवाली अजस्र हँसी और चुहल में ही उसकी माँ बोली—बबुआजी, रज़िया से ब्याह कीजिएगा? फिर बेटी की ओर मुखातिब होती, मुस्कराहट में कहा—क्यों रे रज़िया, यह दुलहा तुम्हें पसन्द है। उसका यह कहना, कि मैं मुड़कर भागा। ब्याह? एक मुसलमानिन से? अब रज़िया की माँ ठठा रही थी और रज़िया सिमटकर उसके पैरों में लिपटी थी, कुछ दूर निकल जाने पर मैंने मुड़कर देखा।

× × ×

रज़िया, चूड़ीहारिन! वह इसी गाँव की रहनेवाली थी। बचपन में इसी गाँव में रही और जवानी में भी। क्योंकि मुसलमानों में गाँव में भी शादी हो जाती है न? और, यह अच्छा हुआ—क्योंकि बहुत दिनों तक प्रायः ही उससे अपने गाँव में ही भेंट हो जाया करती थी!

मैं पढ़ते-पढ़ते बढ़ता गया! बढ़ने पर पढ़ने के लिए शहरों में जाना पड़ा। छुट्टियों में जब-तब आता। इधर रज़िया पढ़ तो नहीं सकी, हाँ बढ़ने में मुझसे पीछे नहीं रही। कुछ दिनों तक अपनी माँ के पीछे-पीछे घूमती फिरी। अभी उसके सिर पर चूड़ियों की खँचिया तो नहीं पड़ी, किन्तु, खरीदारिनों के हाथों में चूड़ियाँ पिन्हाने की कला वह जान गई थी। उसके हाथ मुलायम थे, बहुत मुलायम, नई बहुओं की यही राय थी। वे उसीके हाथ से चूड़ियाँ पहनना पसन्द करतीं। उसकी माँ इससे प्रसन्न ही हुई—जब तक रज़िया चूड़ियाँ पिन्हाती, वह नई-नई खरीदारिनें फँसाती।

रज़िया बढ़ती गई। जब-जब भेंट होती, मैं पाता, उसके शरीर में नये-नये विकास हो रहे हैं। शरीर में और स्वभाव में भी। पहली भेंट के बाद पाया था, वह कुछ प्रगल्भ हो गई है—मुझे देखते ही दौड़कर निकट आ जाती, प्रश्न-पर-प्रश्न पूछती। अजीब अटपटे प्रश्न! देखिए तो, यह नई बालियाँ, आपको पसंद है? क्या शहरों में ऐसी ही बालियाँ पहनी जाती हैं? मेरी माँ शहर से चूड़ियाँ लाती है, मैंने कहा है, वह इसबार मुझे भी ले चले। आप किस तरफ रहते हैं वहाँ? क्या भेंट हो सकेगी?—वह बके जाती, मैं सुनता जाता! शायद जवाब की जरूरत वह भी नहीं महसूस करती।

फिर कुछ दिनों के बाद पाया, वह अब कुछ सकुचा रही है।

मेरे निकट आने के पहले वह इधर-उधर देखती और जब कुछ बातें करती, तो ऐसी चौकन्नी-सी कि कोई देख न ले, सुन न ले। एक दिन जब वह इसी तरह बातें कर रही थी कि मेरी भौजी ने कहा — देखियो री रज़िया, बबुआजी को फुसला नहीं लीजियो। वह उनकी ओर देखकर हँस तो पड़ी, किन्तु मैंने पाया, उसके दोनों गाल लाल हो गये हैं और उन नीली आँखों के कोने मुझे सजल-से लगे! मैंने तबसे ध्यान दिया, जब हमलोग कहीं मिलते हैं, बहुत-सी आँखें हमपर भालों की नोक ताने रहती हैं।

रज़िया बढ़ती गई, बच्ची से किशोरी हुई और अब जवानी के फूल उसके शरीर पर खिलने लगे हैं। अब भी वह माँ के साथ ही आती है; किन्तु पहले वह माँ की एक छायामात्र लगती थी, अब उसका स्वतंत्र अस्तित्व है और उसकी छाया बनने के लिए कितनों के दिलों में कसमसाहट है। जब वह बहनों को चूड़ियाँ पिन्हाती होती है, कितने भाई तमाशे देखने को वहाँ एकत्र हो जाते हैं। क्यों? बहनों के प्रति भ्रातृभाव या रज़िया के प्रति एक अज्ञात आकर्षण उन्हें खींच लाता है? जब वह बहुओं के हाथों में चूड़ियाँ ठेलती होती है, पतिदेव दूर खड़े कनखियों से देखते होते हैं—क्या? अपनी नवोढ़ा की कोमल कलाइयों को—या इन कलाइयों पर क्रीड़ा करती हुई रज़िया की पतली उंगलियों को! और, जैसे रज़िया को इसमें रस मिलता है। पतियों से चुहलें करने से भी वह बाज़ नहीं आती — बाबू, बड़ी महीन चूड़ियाँ हैं! ज़रा देखियेगा, कहीं चनक न जायँ! पतिदेव भागते हैं, बहुएँ खिलखिलाती हैं, रज़िया ठट्ठा लगाती है। अब वह अपने पेशे में निपुण होती जाती है!

हाँ, रज़िया अपने पेशे में भी निपुण होती जाती थी। चूड़ीहारिन के पेशे के लिए सिर्फ यही नहीं चाहिए कि उसके पास रंग-बिरंग की चूड़ियाँ हों—सस्ती, टिकाऊ, टटके-से-टटके फैशन की। बल्कि यह पेशा चूड़ियों के साथ चूड़ीहारिनों में बनाव-शृंगार, रूप-रंग, नाजोअदा भी खोजता है। जो चूड़ी पहननेवालियों को ही नहीं, उनको भी मोह सके, जिनकी जेब से चूड़ियों के लिए पैसे निकलते हैं, सफल चूड़ीहारिन वह! यह रज़िया की माँ भी किसी ज़माने में क्या कुछ कम रही होगी—खँडहर कहता है, इमारत शानदार थी!

ज्यों-ज्यों शहर में रहना बढ़ता गया, रज़िया से भेंट भी दुर्लभ होती गई! और, एक दिन वह भी आया, जब बहुत दिनों पर उसे

अपने गाँव में देखा, पाया उसके पीछे एक नौजवान चूड़ियों की खाँची सिर पर लिये है! मुझे देखते ही वह सहमी, सिकुड़ी और मैंने मान लिया, यह उसका पति है! किन्तु तो भी अनजान-सा पूछ ही दिया —इस मजूरे को कहाँ से उठा लाई है रे? इसीसे पूछिए, साथ लग गया, तो क्या करूँ! नौजवान मुस्कुराया, रज़िया विहँसी, बोली—यह मेरा ख़ाविन्द है मालिक!

ख़ाविन्द! बचपन की उस पहली मुलाकात में उसकी माँ ने दिल्लगी-दिल्लगी जो कह दिया था, न-जानें, वह बात कहाँ सोई पड़ी थी? अचानक वह जगी और मेरी पेशानी पर उस दिन शिकन ज़रूर उठ आये होंगे, मेरा विश्वास है। और, एक दिन वह भी आया, कि मैं भी ख़ाविन्द बना! मेरी रानी को सुहाग की चूड़ियाँ पहनाने उस दिन यही रज़िया आई और उस दिन मेरे आँगन में कितनी धूम मचाई इस नटखट ने। यह लूँगी, वह लूँगी और ये मुँहमाँगी चीज़ें नहीं मिलीं, तो वँह लूँगी कि दुलहन टापती रह जायँगी! हट-हट, तू बबुआजी को ले जायगी, तो फिर तुम्हारा यह हसन क्या करेगा—भौजी ने कहा! यह भी टापता रहेगा बहुरिया, कहकर रज़िया ठठ्टा मारकर हँसी और दौड़कर हसन से लिपट गई—ओहो मेरे राजा, कुछ दूसरा न समझना! हसन भी हँस पड़ा, रज़िया अपनी प्रेम-कथा सुनाने लगी। किस तरह यह हसन उसके पीछे पड़ा, किस तरह झंझटें आईं, फिर किस तरह शादी हुई और वह आज भी किस तरह छाया-सा उसके पीछे घूमता है—न जानें कौन-सा डर लगा रहता है इसे? और फिर, मेरी रानी की कलाई पकड़कर बोली — मालिक भी तुम्हारे पीछे इसी तरह छाया की तरह डोलते रहें दुलहन! सारा आँगन हँसी से भर गया था! और, उस हँसी में रज़िया के कानों की वालियों ने अजीब चमक भर दी थी—मुझे ऐसा ही लगा था।

× × ×

जीवन का रथ खुरदुरे पथ पर बढ़ता गया—मेरा भी, रज़िया का भी। इसका पता उस दिन चला, जब बहुत दिनों पर उससे अचानक पटना में भेंट हो गई। यह अचानक बात तो थी; किन्तु क्या इसे भेंट कहा जाय?

मैं अब ज़्यादातर घर से दूर-दूर ही रहता। कभी एकाध दिनों के लिए घर गया, तो शाम को गया, सुबह भागा। तरह-तरह की जिम्मेवारियाँ, तरह-तरह के जंजाल। इन दिनों पटना में था, यों

कहिये, पटना सीटी में। एक छोटे-से अख़बार में था, पीर-बावर्ची-भिस्ती की तरह। यों तो लोग समझते कि मैं संपादक ही हूँ। उन दिनों न इतने अख़बार थे, न इतने सम्पादक। इसलिए, मेरी बड़ी कदर है, यह मैं तब जानता, जब कभी दफ़्तर से निकलता, देखता, लोग मेरी ओर, उँगली उठाके फुसफुसा रहे हैं। लोगोंका मुझपर यह ध्यान—मुझे हमेशा अपनी पद-प्रतिष्ठा का ख़याल रखना पड़ता!

एक दिन मैं चौक के एक प्रसिद्ध पानवाले की दुकान पर पान खा रहा था। मेरे साथ मेरे कुछ प्रशंसक नवयुवक थे, एक-दो बुजुर्ग भी आकर खड़े हो गये। हम पान खा रहे थे और कुछ चुहलें चल रही थीं कि एक बच्चा आया और बोला, बाबू, वह औरत आपको बुला रही है!

औरत! बुला रही है? चौक पर! मैं चौंक पड़ा! युवकों में थोड़ी हलचल, बुजुर्गों के चेहरों पर की रहस्यमयी मुस्कान भी मुझसे छिपी नहीं रही। औरत! कौन? मेरे चेहरे पर गुस्सा था, वह लड़का सिटपिटा कर भाग गया!

पान खाकर जब लोग इधर-उधर चले, अचानक पाता हूँ, मेरे पैर उसी ओर उठ रहे हैं, जिस ओर उस बच्चे ने उँगली से इशारा किया था। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर पीछे देखा, परिचितों में से कोई देख तो नहीं रहा है। किन्तु, इस चौक की शाम की रूमानी फिज़ा में किसीको किसीकी ओर देखने की कहाँ फुर्सत! मैं आगे बढ़ता गया और वहाँ पहुँचा, जहाँ उससे पूरब वह पीपल का पेड़ है। वहाँ पहुँच ही रहा था कि देखा, पेड़ के नीचे चबूतरे की तरफ से एक स्त्री बढ़ी आ रही है। और निकट पहुँचकर वह कह उठी—सलाम मालिक!

धक्-सा लगा! किन्तु पहचानते देर नहीं लगी — उसने ज्यों ही सिर उठाया, चाँदी की बालियाँ जो चमक उठीं!

रज़िया! यहाँ कैसे? —मेरे मुँह से निकल पड़ा।

सौदा-सुलफ करने आई हूँ मालिक! अब तो नये क़िस्म के लोग हो गये न? अब लाह की चूड़ियाँ कहाँ किसीको भाती हैं। नये लोग, नई चूड़ियाँ। साज-सिंगार की कुछ और चीज़ें भी ले जाती हूँ—पौडर, किलप, क्या-क्या चीज़ें न। नया ज़माना; दुल्हनों के नये-नये मिज़ाज.....

फिर ज़रा-सा रुक कर बोली—सुना था, आप यहीं रहते हैं। कहाँ रहते हैं मालिक? मैं तो अक्सर आया करती हूँ—

और यह जब तक पूछूँ कि अकेली हो या —कि एक अधवयस आदमी ने आकर सलाम किया। यह हसन था। लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ, पाँच हाथ का लम्बा आदमी, लम्बा और मुस्तंडा भी। देखिए मालिक, यह आज भी मेरा पीछा नहीं छोड़ता! यह कहकर रज़िया हँस पड़ी। अब रज़िया वह नहीं थी, किन्तु उसकी हँसी वही थी। वही हँसी, वही चुहल। इधर-उधर की बहुत-सी बातें करती रही और न जाने कब तक जारी रखती कि मुझे याद आया, मैं कहाँ खड़ा हूँ और अब मैं कौन हूँ? कोई देख ले तो?

किन्तु, वह फुर्सत दे तब न? जब मैंने जाने की बात की, हसन की ओर देखकर बोली—क्या देखते हो, ज़रा पान भी तो मालिक को खिलाओ, कितनी बार हुमच-हुमचकर भरपेट ठूँस चुके हो बाबू के घर!

जब हसन पान लाने चला गया, रज़िया ने बताया, किस तरह दुनिया बदल गई है। अब तो ऐसे भी गाँव हैं, जहाँ के हिन्दू मुसलमानों के हाथ से सौदे भी नहीं खरीदते। अब हिन्दू चूड़ीहारिनें हैं, हिन्दू दरजी हैं। इसलिए रज़िया ऐसे खान्दानी पेशेवालों को बड़ी दिक्कत हो गई है। किन्तु, रज़िया ने यह खुशख़बरी सुनाई, मेरे गाँव में यह पागलपन नहीं और मेरी रानी तो सिवा रज़िया के किसी दूसरे के हाथ से चूड़ियाँ लेती ही नहीं।

हसन का लाया पान खाकर जब मैं चलने को तैयार हुआ, वह पूछने लगी, मेरा डेरा कहाँ है। मैं बड़े पेशोपेश में पड़ा। डरिए मत मालिक, अकेले नहीं आऊँगी, यह भी रहेगा! क्यों मेरे राजा—यह कह कर वह हसन से लिपट पड़ी। पगली, पगली, यह शहर है, शहर; यों—हसन ने हँसते हुए उससे बाँहें छुड़ाईं और बोला—बाबू बालबच्चोंवाली हो गई, किन्तु इसका बचपना नहीं गया।

और, दूसरे दिन पाता हूँ, रज़िया मेरे डेरे पर हाज़िर है! मालिक, ये चूड़ियाँ रानी के लिए—कहकर मेरे हाथों में चूड़ियाँ रख दीं। मैंने कहा, तुम तो घर पर जाती ही हो, लेती जाओ, वहीं दे देना!

नहीं मालिक, एक बार अपने हाथ से भी पिन्हा देखिए? वह खिलखिला पड़ी। और, जब मैंने कहा—अब इस उम्र में? तो वह हसन की ओर देखकर बोली, पूछिए इससे, आज तक मुझे यही

चूड़ियाँ पिन्हाता है या नहीं? और, जब हसन कुछ शरमाया, वह बोली — घाघ है मालिक, घाघ; कैसा मुँह बना रहा है इस समय; लेकिन जब हाथ में हाथ लेता है .... ठठाकर हँस पड़ी, इतने ज़ोर से कि मैं चौंककर चारों तरफ देखने लगा!

× × ×

हाँ, तो अचानक उस दिन उसके गाँव में पहुँच गया! चुनाव का चक्कर — जहाँ न ले जाय, जिस औघट-घाट पर न खड़ा कर दे। नाक में पेट्रोल के धुएँ की गन्ध, कान में सायँ-सायँ की आवाज़, चेहरे पर गर्द-गुबार का अम्बार — परीशान, बदहवास; किन्तु उस गाँव में ज्यों ही मेरी जीप घुसी, मैं एक खास किस्म की भावना से अभिभूत हो गया!

यह रज़िया का गाँव है, यहाँ रज़िया रहती थी! किन्तु क्या आज मैं यहाँ यह भी पूछ सकता हूँ कि यहाँ कोई रज़िया नाम की चूड़ीहारिन रहती थी, या है? हसन का नाम लेने में भी शर्म लगती थी। मैं वहाँ नेता बनकर गया था! मेरा जय-जयकार हो रहा था; कुछ लोग मुझे घेरे खड़े थे। जिसके दरवाज़े पर जाकर पान खाऊँगा, वह अपने को बड़भागी समझेगा! जिससे दो बातें कर लूँगा, वह स्वयं चर्चा का एक विषय बन जायगा। इस समय मुझे कुछ ऊँचाई पर ही रहना चाहिए!

जीप से उतरकर लोगोंसे बातें कर रहा था, या यों कहिए कि कल्पना के पहाड़ पर खड़े होकर एक आनेवाले स्वर्ण-युग का संदेश लोगोंको सुना रहा था, किन्तु दिमाग़ में कुछ गुत्थियाँ उलझी थीं। जीभ अभ्यासवश एक काम किये जा रही थी; अन्तर्मन कुछ दूसरा ही ताना-बाना बुन रहा था। दोनोंमें कोई तारतम्य न था, किन्तु इसमें से किसी एक की गति में भी क्या बाधा डाली जा सकती थी?

कि अचानक, लो, यह क्या? वह रज़िया चली आ रही है। रज़िया! वह बच्ची! अरे, रज़िया फिर बच्ची हो गई? कानों में वे ही बालियाँ, गोरे चेहरे पर वे ही नीली आँखें; वही भरबाँह की कमीज, वे ही कुछ लटें, जिन्हें सम्हालती बढ़ी आ रही है। बीच में चालीस-पैंतालीस साल का व्यवधान! अरे, मैं सपना तो नहीं देख रहा? सपना? दिन में सपना? वह आती है, गब्बर ऐसी

भीड़ में घुसकर मेरे निकट पहुँचती है, सलाम करती है और मेरा हाथ पकड़कर कहती है—चलिए मालिक, मेरे घर !

मैं भौंचक्का, कुछ सूझ नहीं रहा, कुछ समझ में नहीं आ रहा ! लोग मुस्करा रहे हैं ! नेताजी, आज आपकी कलई खुल कर रही ! नहीं; यह सपना है। कि, कानों में सुनाई पड़ा, कोई कह रहा है—कैसी शोख लड़की ! और दूसरा बोलता है—ठीक अपनी दादी ऐसी ! और तीसरे ने मेरे होश की दवा दी—यह रज़िया की पोती है बाबू ! बेचारी बीमार पड़ी है ! आपकी चर्चा अक्सर किया करती है ! बड़ी तारीफ़ करती है ! बाबू, फुर्सत हो तो ज़रा देख लीजिए, न जाने बेचारी जीती है या .....

मैं रज़िया के आँगन में खड़ा हूँ। ये छोटे-छोटे साफ-सुथरे घर; यह लिपा-पुता चिक्कन-ढुर-ढुर आँगन। भरी-पूरी गृहस्थी—मेहनत और दयानत की देन ! हसन चल बसा है, किन्तु अपने पीछे तीन हसन छोड़ गया है। बड़ा बेटा कलकत्ता कमाता है, मँझला पुश्तैनी पेशे में लगा है, छोटा शहर में पढ़ रहा है। यह बच्ची, बड़े बेटे की बेटी ! दादा का सिर पोते में; दादी का चेहरा पोती में। हूबहू रज़िया—दूसरी रज़िया ! यह दूसरी रज़िया मेरी उँगली पकड़े पुकार रही है—दादी, ओ दादी, घर से निकल, मालिक दादा आ गये ! किन्तु पहली 'वह' रज़िया निकल नहीं रही ! कैसे निकले ? बीमारी के मैले-कुचैले कपड़े में मेरे सामने कैसे आवे ?

रज़िया ने अपनी पोती को भेज तो दिया, किन्तु, उसे विश्वास न हुआ कि हवागाड़ी पर आनेवाले नेता अब उसके घर तक आने की तकलीफ कर सकेंगे ? और, जब सुना, मैं आ रहा हूँ, तो बहुओं से कहा, ज़रा मेरे कपड़े तो बदलवा दो—मालिक से कितने दिनों पर भेंट हो रही है न ?

उसकी दोनों पतोहुएँ उसे सहारा देकर आँगन में ले आईं। रज़िया—हाँ, मेरे सामने रज़िया खड़ी थी—दुबली-पतली, रूखी-सूखी। किन्तु जब नज़दीक आकर उसने 'मालिक, सलाम' कहा, उसके चेहरे से एक क्षण के लिए झुर्रियाँ कहाँ चली गईं, जिन्होंने उसके चेहरे को मकड़जाला बना रखा था। मैंने देखा, उसका चेहरा अचानक बिजली के बल्ब की तरह चमक उठा और चमक उठीं वे नीली

आँखें, जो कोटरों में धँस गई थीं! और, अरे चमक उठी हैं आज फिर वे चाँदी की बालियाँ और देखो, अपने को पवित्र कर लो, उसके चेहरे पर फिर अचानक लटककर चमक रही हैं वे लटें, जिन्हें समय ने धो-पोंछ कर शुभ्र-श्वेत बना दिया है।





बलदेव सिंह

टूटे हुए तारे की तरह एक दिन हमने अचानक अपने बीच आकर उसे धम्म से गिरता हुआ पाया—ज्योतिर्मय, प्रकाशपुंज, दीप्तिपूर्ण! और, उसी तारे की तरह एक क्षण प्रकाश दिखला, हमें चकाचौंध में डाल, वह हमेशा के लिए चलता बना। जिस दिन वह आया, हमें आश्चर्य हुआ; जिस दिन वह गया, हम स्तंभित रह गये!

पूस की भोर थी। खलिहान में धान के बोझों का अम्बार लगा था। उनकी रखवाली के लिए जो कुटिया बनी थी, उसके आगे धूनी जल रही थी। खेत में, खलिहान पर, चारों ओर हल्का कुहासा छाया हुआ था, जिसे छेदकर आने में सूरज की बाल-किरणों को कष्ट हो रहा था। काफी जाड़ा था; धीरे-धीरे ठंढी हवा सनककर कलेजे को हिला जाती। सब लोग धूनी को घेरे हुए थे, जिसकी लपट खतम हो चुकी थी; हाँ, लाल अंगारे चमक रहे थे। ज्यों-ज्यों अंगारे पर राख की पर्त पड़ती जाती, हम नज़दीक-से-नज़दीक होते जाते, मानों हम उन्हें कलेजे में रखना चाहते हों। काफी निस्तब्धता थी। दौनी

के लिए, खलिहान के बीचोबीच, जो बाँस का खम्भा गड़ा था, उसके धान के सीसों वाले झब्बेदार सिरे पर एक काला भुजंगा पंछी बैठा, कभी-कभी चीख़कर, उस निस्तब्धता को भंग करने की तुच्छ चेष्टा कर रहा था।

इसी समय, एक नौजवान आकर, दूर से ही मेरे मामाजी को देखकर, चिल्ला उठा—"पा-लागी, चाचाजी !" हम सबका ध्यान उसकी ओर गया। एक गभरू जवान—अभी मूँछ की मसें भींग रहीं। रंग गोरा, जिसपर बाल-किरणों ने सोना-सा पोत रखा था। दाहिने हाथ में बाँस की लम्बी लाल लाठी—बड़ी सजीली, घने पोरवाली, गाव-दुम-सी उतारवाली ! बायें हाथ में लोटा लिये—वह शौचादि से लौट रहा था। बादामी रंग का, मोटिये का जो लम्बा खलीता कुर्ता पहन रखा था उसने, उसके भीतर से उसके शरीर का गठीलापन और सौन्दर्य फूटा पड़ता था।

"ओ, बलदेव, कब तुम आये ? बहुत दिनों पर दिखाई दिये। ...पूरब कमाते हो, खुश रहो, लेकिन हमलोगों को भी तो मत भूलो, शायद दो बरस पर आये हो"—यों ही मामाजी ने उससे पूछताछ की। बड़ी आज़िज़ी से उसने क्षमा माँगी, फिर बोला—"चाचाजी, अब सोचा है, यहीं रहूँगा। बहुत दुनिया देखी, मन कहीं न लगा। ननिहाल से भी जी ऊब गया ; यह पुस्तानी ज़मीन जैसे डोर लगाकर खींचती रहती है। इसलिए आया हूँ घर बसाने। घर तैयार कर मैया को भी ननिहाल से ले आऊँगा। सोचता हूँ, अब आपलोगों की सेवा में ही जिन्दगी गुज़ार दूँ।"

नवयुवकों को जब मालूम हुआ, बलदेव सिंह यहीं बसेंगे, उनके आनन्द का ठिकाना न रहा। बलदेव सिंह के पिता भरी-जवानी में मरे, बलदेव तब छोटे-से बच्चे थे। उनकी माँ उन्हें लेकर मायके चली गई और तबसे वह बेचारी वहीं है। जवान होने पर बलदेव पूरब जाने लगे, वहाँ बंगाल में किसी राजा के दरबार में पहलवानी करते। काफी पैसे मिले। अब उन्हें अपनी पुस्तानी ज़मीन की याद आई थी।

वह घर जो खंडहर बना था, फिर एक बार आबाद हुआ !

गाँव में उनके आने से नई जान आ गई—जान आ गई, जवानी आ गई। अखाड़ा खुद गया, उसमें कुश्तियाँ होने लगीं। भोर में कुश्तियाँ ; शाम को पट्टेबाजी, गदका, लाठी चलाना आदि। पेठिया

के दिन बलदेव सिंह जब शिष्यमंडली के साथ सदल-बल चलते, देखते ही बनता।

आगे-आगे बलदेव सिंह जा रहे हैं। पैरों में बूट, जो बंगाल से ही लाये थे। कमर में धोती, जिसे कच्छे की तरह, अजीब ढंग से पहनते। वह घुटनों से थोड़ा ही नीचे जाती, घुटनों के नज़दीक उसमें चुन्नन होती, जिससे चलते समय लहराती रहती। लम्बा कुर्त्ता—गर्दन की बगल में जिसमें एक ही घुंडी। कुर्ता काफी घेरदार, बाँह का घेरा इतना बड़ा कि हाथी का पैर समा जाय उसमें। गले में सोने की छोटी-छोटी ठोस ताबीजों की पंक्ति—जिनमें कुछ चौकोर और कुछ चंद्राकार। सिर पर कलँगीदार मुरेठा, जिसका एक लंबा छोर उनकी पीठ पर झूलता। हाथ में सरसों का तेल और कच्चा दूध पिला-पिलाकर पोसी-पाली गई लाल-सुर्ख लम्बी लाठी; या कभी-कभी वह मोटा डंडा, जिससे कुर्त्ते के नीचे कमर में लटकती हुई गँड़ासे की फली बात-की-बात में फिट करके वह साक्षात् यम बन जा सकते थे! अपनी ताक़त और हिम्मत का उन्हें इतना विश्वास था कि झूमते हुए, सिर ऊँचा किये, छाती ताने, शेर की तरह चलते। आगे-आगे वह, पीछे-पीछे इसी बन-ठन और रूपरंग में उनकी शिष्य-मंडली होती। रास्ते में, पेठिया में, उनका सुन्दर-सुडौल शरीर देखकर किसकी आँखें न निहाल हो उठतीं?

शरीर में इतनी ताक़त, लेकिन स्वभाव कैसा—बच्चों-सा निरीह, निर्विकार! चेहरे पर हमेशा हँसी खेलती रहती, सबके साथ नम्रता से पेश आते, कभी गुस्सा उनमें देखा नहीं गया, सबकी सेवा करने को सर्वदा प्रस्तुत! बच्चे उन्हें देखते ही लिपट जाते, बूढ़ों की आँखें हमेशा उनपर आशीर्वाद बरसातीं, जवानों के तो वह देवता बन चुके थे!

× × ×

उन दिनों हिन्दू-मुसलमानों की तनातनी नहीं थी। दोनों दूध-चीनी की तरह घुले-मिले थे। हिन्दू की होली में मुसलमानों की दाढ़ी रँगी होती, मुसलमानों के ताजिये में हिन्दू के कंधे लगे होते।

ताज़िये के दिन थे। मेरे गाँव में भी ताजिया बना था, यद्यपि एक भी मुसलमान वहाँ नहीं। एक बूढ़े मौलवी साहब बुलाये गये थे, जो उसके धार्मिक कृत्य कर लेते। हमें सरोकार था सिर्फ ताजिये के निकट हो-हल्ला मचाने से। शाम हुई, जल्द-जल्द खा-पीकर सब लोग

एकत्र हुए। ताशे बज रहे, लकड़ी खेली जा रही, गदके भाँजे जा रहे, पट्टेबाजी हो रही। लाठियों के खेल, तरह-तरह के शारीरिक करतब। औरतें और बच्चे मर्सिया के नाम पर शोर मचा रहे। खेलकूद में आधी-आधी रात बीत जाती।

ताज़िये के 'पहलाम' का दिन आया। गाँव से दूर राजपूतों की एक बस्ती में 'रन' सजता। वहीं जवार-भर के ताज़िये इकठ्ठे किये जाते। लोगोंकी अपार भीड़—तरह-तरह के रंगीन कपड़ों की चकमक; बूढ़े-जवान, बच्चे-औरतें। तरह-तरह के मारू बाजे बज रहे; मर्सिये की मीठी धुन में 'या अली' का गगन-भेदी स्वर! दिशाएँ काँपती, आसमान थर्राता, कलेजे उछलते। जवार-भर के जवानों का तो यही दिन था; बन-ठन के आये हुए हैं। कहीं कुश्तियाँ हो रही हैं, कहीं मेढ़े लड़ाये जा रहे हैं। कहीं लाठी, गदके और लकड़ी में हाथ की करामातें दिखाई जातीं। देखते-देखते दर्शकों का दल दो मतों में विभाजित हो जाता, कोई एक को शाबाशी देता, कोई दूसरे को। दोनों अपने-अपने 'हीरो' की विजय चाहते। कभी-कभी इस वीर-पूजा के चलते ललकारें लग जातीं, आँखें लाल हो उठतीं, भुजाएँ फड़कने लगतीं; मालूम होता, अब मुठभेड़ होकर ही रहेगी। किन्तु प्राय: इस भावना पर बुद्धि की विजय होती; थोड़ी देर में समुद्र का ज्वार शान्त हो जाता। फिर आँखों में रस, होठों पर हँसी।

हमलोग भी अपना ताजिया लिये रन पर पहुँचे थे।

एक जगह मेंढ़े लड़ाये जा रहे थे, मैं उसीको देख रहा था। मेंढ़ों की लड़ाई—वाह, क्या कहना! ये छोटे, झबरीले जानवर—जो अपने मालिकों के पीछे सुधुआ बने फिरते—एक दूसरे पर किस तरह टूट पड़ते! इनके सींग जब टकराते, जोर के शब्द के साथ जैसे धुआँ-सा उठ जाता! टक्कर-पर-टक्कर—जब तक उनमें से एक गिर न पड़े, या वे अलग-अलग पकड़ न लिये जायँ। लड़ने के पहले लाल मिर्च उनके मुँह में रखकर जैसे उन्हें और भी उत्तेजित कर दिया जाता। मैं मस्त-मगन हो यह मेंढ़ा-लड़ान देख रहा था—कि. . . .

कि, एकाएक बड़े जोरों का हो-हल्ला हुआ। सभी लोग एक ओर दौड़े जा रहे हैं। और, वहाँ लाठियों की खटाखट जारी है। यह खटाखट खेल की नहीं है; कई सिरों से खून के फव्वारे छूट रहे हैं!

और यह, बीच में, कौन है? बलदेव सिंह!—पुराने, हँसमुख

रसीले बलदेव सिंह नहीं। बलदेव सिंह—साक्षात् भीम बने हुए ! आँखों से अँगारे झड़ रहे। सिर पर जो एक लाठी लगी थी, उससे खून निकलकर, ललाट होते, भौं के ऊपर, जमकर वह एक लोंदा-सा वन गया था। दोनों हाथों से लाठी पकड़े वह जोरों से चलाये जा रहे। जिस ओर इस रूप में निकल जाते, हड़कम्प मच जाता ! देखिए—यह आदमी उनकी ओर लाठी सम्हाले बढ़ा ; उसे देखते ही खड़े हो गये, उसने लाठी चला ही तो दी। झट अपनी लाठी के दोनों छोर दोनों हाथों से पकड़कर अपने सिर के ऊपर ले गये। उसकी लाठी की चोट इसीपर ठाँय-सी आकर लगी—दूसरी बार, तीसरी बार। बार-बार वार व्यर्थ जाता देख, वह भागा। किन्तु, अब बलदेव सिंह की बारी है—बलदेव सिंह की एक लाठी, और वह ज़मीन पर चक्कर खाता गिर पड़ा ! अरे, यह क्या होने जा रहा है ? चारों ओर हाहाकार मचा था, भगदड़ फैल गई थी। अब वहाँ महाभारत मचकर रहेगा, सब अनुमान कर रहे थे। कौन, किसको, क्या कह-कर समझाये ? कौन किसकी सुनने जा रहा था ? फिर बिना बलदेव सिंह को शान्त किये, शान्ति क्या आ सकती थी ?

झट हमारे बूढ़े मामाजी आगे बढ़े। चिल्लाकर कहा—"बल-देव !" बलदेव सिंह को जैसे थरथरी बँध गई। पैर जम रहे, हाथ रुक गये। किन्तु तुरत सम्हलकर वह बोले—"चाचाजी, आप मत रोकिए, इन लोगों को लाठी का घमंड हो गया है। मैं ज़रा बता देना चाहता हूँ, लाठी क्या चीज़ है !" उनकी साँस जोर-जोर से चल रही थीं, गुस्से में बातें टूट-टूटकर निकलतीं। सचमुच, बलदेव सिंह का इसमें कोई हाथ नहीं था, उन्हें लाचार कूदना पड़ा था। एक जोड़ी कुश्ती लड़ी जा रही थी। दोनों पहलवान बलदेव सिंह से अपरिचित थे। उनमें से एक ने 'फाउल-प्ले' करना चाहा। बलदेव ने अलग से ही रोका, मना किया—"ऐसा करना मुनासिब नहीं।" बस, इनकी बात सुनते ही उसके पक्षवाले इनपर बिगड़े, गुर्राये ; क्योंकि वे लोग लाठी चलाने में इस जवार में सरग़ना समझे जाते थे। उन्हें घमंड था कि उनके सौ खून माफ हैं। किन्तु, बलदेव सिंह धौंस को कहाँ बर्दाश्त करनेवाले ? 'बातहि बात करख बढ़ि आई' और उसका नतीजा यह !

खैर, मामाजी के पड़ने से बलदेव सिंह शान्त हुए। किन्तु, अब तो उनकी विजय हो भी चुकी थी। मैदान उनका था। उनकी शिष्य-मंडली

के साथ हम किस तरह शान से उन्हें घर लाये! —हम आज विजयी थे, हमारा गाँव विजयी था! —मानों, राम लंका-विजय कर अयोध्या पहुँचे थे।

× × ×

अगर शेरशाह या शिवाजी के दिन होते, तो बलदेव सिंह फौज में भर्ती हुए होते और सिपाही से होते-होते सूबेदार तक हो गये होते, इसमें तो कोई शक नहीं। सूरत-शकल, बल-हिम्मत, सब कुछ उनमें थे, जो सामन्तशाही के उस युग में उन्हें अच्छे-से-अच्छे फौजी पद पर पहुँचा देते। उस समय बलदेव सिंह किस शान से हमारे गाँव में आते? घोड़े पर सवार—कलँगीदार पगड़ी, कड़ी-कड़ी मूँछें, आगे-पीछे नौकर-चाकर। किन्तु अँगरेजी राज्य में यह कहाँ सम्भव था? हाँ, जो सम्भव था, वही हम देखते थे। वीरता अपने लिए कोई निकास का रास्ता तो बनानेवाली ही थी।

यह अजीब है हमारी बस्ती। चारों ओर राजपूतों और अहीरों का ठट्ठ। राजपूतों को अगर राम की शान, तो ग्वालों में कृष्ण की यादवी आनबान। दोनों कौमों में जैसे खानदानी वैर चला आ रहा हो। छोटी-छोटी बात पर भी तनाव हो जाता, मूँछें कड़ी हो उठतीं, आँखें लाल हो जातीं और लाठियाँ चलकर रहतीं। दोनों कौमें दो गिरोह की हैसियत से लड़ती थीं, तो गिरोह के अन्दर भी युद्ध जारी ही रहता था; भाई-भाई में, पड़ोसी-पड़ोसी में। एक बित्ता जमीन के लिए, आम के एक फल के लिए, शीशम की एक डाल के लिए, खून के फव्वारे छूटते। ये युद्ध प्रायः आकस्मिक होते। खेत की जुताई हो रही है, पेड़ के नीचे गपशप हो रही है, रास्ता चलते-चलते भी, लोगोंमें गुत्थमगुत्थी हो गई। किन्तु, कभी-कभी जम कर भी लड़ाइयाँ होतीं। दोनों पक्ष से लोगोंका 'बिटोरा' होता —भाई-बंद जुटते, कुटुम-कबीले के लोग आते, कुछ लोग पैसे पर भी बुलाये जाते। ऐसे मौक़े आने पर, हमारे जवार में, कहीं भी कोई जमकर लड़ाई होती हो, तो बलदेव सिंह एक-न-एक पक्ष से ज़रूर बुलाये जाते और 'यतोधर्मस्ततोजयः' की तरह ही, जिस तरफ बलदेव सिंह होते, उसी पक्ष की जय भी निश्चित होती।

एक बार इस तरह का एक धर्मयुद्ध देखने का मौका मुझे मिला। बिसुनपुर में दो भाई क्षत्रिय थे। दोनों की दाँत-कटी रोटी थी, किन्तु आखिर दिल टूटा, तो एक दूसरे की जान के दुश्मन बन के

रहे। घर-द्वार खेत-खलिहान, सबका बाँट-बखरा हो चुका था। दोनों एक आँगन में रहते भी दो दुनिया के जीव थे।

संयोग से, उस साल, एक आम के पेड़ के लिए दोनों भाइयों में तनातनी हो गई। वह लँगड़ा आम का पेड़! —हमने जाकर देखा, फलों के गुच्छों से लदी उसकी डाल-डाल जैसे ज़मीन छूने को ललक रही हो। हरे-हरे पत्ते उन सुफेदी लिये हुए आमों के गुच्छों में न जाने कहाँ छिप रहे थे? काफी पुराना पेड़ था। खूब फैल गया था। और साल भी अच्छा फल देता था, किन्तु इस साल तो यह द्रौपदी की चीर बनकर महाभारत मचाने आया था! फिर, यह ललचाने वाला वेश वह क्यों न धारण कर ले?

कहते हैं, यह पेड़ वँट चुका था। छोटे भाई की बाँट में पड़ा था, जो कई साल से उसके फल का उपभोग कर रहा था। किन्तु बड़े भाई के लड़के ने हिसाब लगाकर देखा—यह आम तो मेरे हिस्से का है, धोखे से चाचाजी को मिल गया है। पेड़ों की गिनती, खतियान, सबको वह अपने पक्ष में पेश करता।

किन्तु यहाँ खतियान से क्या होनेवाला है? "अगर तुम्हारा है, तो मर्द के बेटे हो, चढ़के आओ, फल तोड़ लो, खाओ। नहीं तो लुगाई के आँचल में मुँह रखकर सोओ।" सीधा तर्क, सीधी बात! इसके जवाब में एक दिन तय कर दिया गया—"अगले सोमवार को डंका बजा के हम फल तोड़ेंगे।—चुप-चोरी जो काम करे, उसकी ऐसी-तैसी।" दिन तय हुआ, घड़ी तय हुई। दोनों तरफ से 'विटोरा' होने लगा।

बलदेव सिंह के पास भी दोनों पक्षों से निमंत्रण आने लगे। किन्तु; यहाँ तो कृष्णजी की टेक थी—जो खुद मेरे पास पहले आयगा उसका साथ दूँगा; यह चिट्ठी-पत्री क्या चीज़? बड़े भाई का बेटा एक दिन घोड़े पर पहुँचा। उससे बातचीत हो ही रही थी कि छोटे भाई भी पहुँचे। किन्तु तबतक बलदेव सिंह वचन दे चुके थे। दूसरे दिन सशिष्य-मंडली वह बिसुनपुर जा पहुँचे।

आज ही युद्ध होनेवाला है। लड़ाइयों से दूर ही रहना चाहिए; क्योंकि प्रायः निर्दोष भी उसमें फँस जाते, पिट जाते हैं—बड़े-बूढ़ों की इस आज्ञा की अवहेला करके भी, कुतूहल-वश, मैं दर्शकों की उस भीड़ में शामिल हो गया, जो भिन्न-भिन्न दिशाओं से बिसुनपुर जा रहे थे।

बिसुनपुर उस दिन कुरुक्षेत्र बना हुआ था। बीच में वह आम का पेड़ निश्चल निर्द्वन्द्व खड़ा है। दो ओर दोनों प्रतिद्वंदियों की जमात जुड़ी है। भालों की फलियाँ धूप में चमचम कर रही हैं, गँड़ासे दिन में भी चाँद-से चमक रहे हैं; फरसे परशुराम की याद दिलाते हैं; लाठियाँ उछल रही हैं—धामिन साँप की तरह। हाँ, तलवार की बहुत ही कमी थी, क्योंकि उसपर अँग्रेजी राज की शनिदृष्टि पड़ चुकी थी। पर, लठैतों का कहना था, जो मार भाले और फरसे की होती है, वह तलवार की कहाँ ? मैं उनके तर्कों पर नहीं भूला था, मेरी विस्मय-विमुग्ध आँखें तो इन तैयारियों को देख रही थीं। आमने-सामने उन लोगों के दल थे; दर्शकों की भीड़ अगल-बगल में थी। रह-रह कर जय-ध्वनियाँ होतीं, ललकारें उठतीं। जब-तब आल्हा के कुछ कड़खे भी सुनाई पड़ते।

बोलो, महावीर स्वामी की जय—कहकर दोनों पक्ष के योद्धा आम की ओर बढ़े। दर्शकों के कलेजे धकधक करने लगे। अरे, कुछ देर में ही इनमें से कुछ मर चुके होंगे, कुछ घायल पड़े होंगे! उफ! —मेरे मुँह से अच्छी तरह निकल भी नहीं पाई कि देखा, बड़े भाई के पक्ष में सबसे आगे बलदेव सिंह हैं। सबसे आगे बलदेव सिंह, उनके दोनों बाजू मेरे ही गाँव के, उनके दो प्रधान शिष्य। बलदेव सिंह के सिर पर केसरिया रंग का मुरेठा है। पैर में वही बूट। वही लम्बा-चौड़ा कुर्त्ता देह में, किन्तु, उसके घेरे को कमर के निकट एक पट्टी से कस रखा है जिसमें फुर्ती से उछलने-कूदने में दिक्कत न हो। उनकी धोती तो प्रायः ही हाफ-पैंट का काम करती! चेहरा कैसा लाल-भभूका बन रहा था!

वह आगे बढ़े, आम के पेड़ के निकट पहुँचे। दोनों शिष्यों को इशारा किया, वे झट से पेड़ पर चढ़ गये और लगे आम की डाल को झकझोरकर निर्दयतापूर्वक फलों को गिराने। कोई माँ का लाल है, तो आवे—बलदेव सिंह गरज उठे, जिनकी ओर विपक्षी दल भौंचक हो देख रहा था, जैसे वह भी दर्शकों का ही दल हो। किन्तु उनकी इस चुनौती से मानों दुश्मन दल को आत्म-ज्ञान हो आया। फिर क्या था, दोनों दलों में गुत्थमगुत्थी शुरू हो चली। लाठियों की खटाखट, गँड़ासे की चुभ-चुभ और बर्छों की सनसनाहट से वायुमंडल व्याप्त था। जयध्वनियों के साथ हाहाकार भी! किसी के सिर पर लाठी लगी—किस तरह खोपड़ी फूटकर दो टूक हो गई! वह गिर पड़ा

और खून की धारा वह रही है! किसी के पेट में भाला चुभा—भाले की फली के साथ ही उसकी अँतड़ी वाहर आ गई है, अँतड़ी को दोनों हाथों से पकड़े वह औंधा पड़ा है! जो हाथ एक मिनट पहले लाठी भाँज रहा था, गँड़ासे के एक ही वार ने उसे शरीर से अलग कर दिया है—वह रक्त-सिक्त ज़मीन पर अब भी रह-रहकर उछल जाता है! चारों ओर ख़ून, चीख़! मेरी तो आँखें वंद हो गईं।

जब आँखें खुलीं, तो सारा क़िस्सा खत्म है। बड़े भाई का कब्ज़ा उस पेड़ पर हो चुका है। उस कब्ज़े में बलदेव सिंह का बड़ा हाथ था। मैं अपने इस 'हीरो' को देखना चाहता था, किन्तु मालूम हुआ, पुलिस सुपरडंट साहब अब, जब तमाशा ख़त्म हो चुका है, तशरीफ लाये हैं और लोगोंने बलदेव सिंह को वहाँ से हटा दिया है। "बलदेवसिंह! विजय तुम्हारी; अब तो रुपयों का खेल है, तुम हटो, अब काम मेरा है"—बड़े भाई के बड़े शाहवज़ादे ने कहा और चलते समय बलदेव सिंह के गले में एक मुहरमाला डाल दी।

× × ×

और, उसी बलदेव सिंह की यह लाश हमारे सामने पड़ी है!

सिर चूर-चूर—जैसे, भुर्त्ता बना दिया गया हो! खून और धूल से शराबोर! जिस ललाट से तेज बरसता, उसीपर मक्खियाँ भिन्ना रहीं! एक आँख धँस गई, दूसरी बाहर निकल आई! होठ को छेदकर दाँत बाहर निकल रहे हैं!! नहीं, नहीं, यह हमारा बलदेव सिंह नहीं हो सकता! बलदेव सिंह की ऐसी गत?

एक गँड़ासा गहरा, कंधे पर लगा है; वह बाँह लटक-सी गई है! दूसरी बाँह का पूरा पंजा गायब! छाती वैसी ही तनी है—पहले से कुछ ज्यादा ही फूली हुई! किन्तु पेट की जगह सारी आँत निकल आई है! आँत का यह ढेर—कैसा भयानक, कैसा वीभत्स! नहीं, यह हमारा बलदेव सिंह हो नहीं सकता!

पैरों को जैसे किसीने, मकई के डंठल-सा, पीट रखा है—आड़े-तिरछे बन रहे! कहीं अजीव फूला हुआ, कहीं से खून बह रहा! बह रहा कहाँ?—बहाव तो कब न बन्द हो गया, अब तो काले बने ख़ून के धब्बे मात्र, जिनपर, हाँ, जिनपर मक्खियाँ भिन्ना रहीं! नहीं, यह हमारा बलदेव सिंह हो नहीं सकता!

बलदेव सिंह की ऐसी गत?

जिस शरीर को देख-देखकर आँखें नहीं अघाती थीं—माँयें जिसे देखकर कहतीं—"मेरा बेटा ऐसा ही शरीर-धन पावे।" युवतियाँ मन ही मन गुनतीं—"धन्य है वह नारी, जिसे ऐसा पति मिला; अगले जन्म में, हे भगवान, मुझे बलदेव सिंह की ही दासी बनाना।" बूढ़े देखते ही कहते—"बेटा शतंजीव!" नौजवान जिसपर पागल हो बिना मोल के गुलाम बने पीछे लगे फिरते—वही शरीर यह आज सामने पड़ा है! ख़ून से लथपथ, धूल से भरा, क्षत-विक्षत, कुरूप-कुडौल बना—और, ये कम्बख़्त मक्खियाँ जिनपर भिन्न-भिन्न कर रहीं!!!

किसने गत की इस शेरमर्द की ऐसी? किसकी माँ ने दूसरा शेर पैदा किया?

काश, किसी शेर ने यह हालत की होती! दो शेर लड़ते हैं; एक गिरता है। ऐसा ही होता है; इसके लिए अफसोस की क्या बात? बलदेव सिंह तो ऐसी ही मृत्यु चाहते थे। उन्होंने मौत की कब परवा की? मौत की आँखों में आँखें डालकर मुस्कुराना—यही तो बलदेव सिंह थे! क्षत्रिय की तरह युद्ध-क्षेत्र में काम आऊँ, खेत रहूँ—यही तो उनकी कामना थी। यह कामना पूरी हुई; वह वीरगति पाकर, सूर्यमंडल को भेदकर, अमरपुरी गये, इसमें तो कोई शक नहीं। किन्तु, जिन हाथों ने यह काम किया, क्या वे वीर के हाथ थे? शेर के पंजे थे? नहीं, नहीं, कुछ सियारों ने—बुज़दिलों और कायरों ने—छुपकर, घात लगाकर, बड़े बुरे मौक़े पर, बड़े बुरे ढंग से, यह कुकर्म किया। उसकी कल्पना भी ख़ून को खौला देती है, उत्तेजित कर देती है। उफ़ रे!

एक दिन, जवार के एक गाँव की एक विधवा मेरे गाँव में बलदेव सिंह का नाम पूछती-पूछती आई! उस बेचारी के साथ एक छोटा बच्चा था, उसीका बच्चा। उस विधवा के अबलापन से और उस क्षत्रियकुमार के बचपन से फायदा उठाकर उसके पट्टीदारों ने उसका धन हड़प लिया था। विधवा के कानों में बलदेव सिंह की यशोगाथा पड़ी थी। वह तो अब हमारे जवार के घर-घर में, ज़बान-ज़बान पर, व्याप्त थे। विधवा पहुँची, बलदेव सिंह के दरबार में अर्ज लगाने। जब पट्टीदारों को मालूम हुआ, वह बलदेव सिंह के पास जा रही हैं, ताने देते हुए कहा था—जा, नया शौहर बुला ला! नया शौहर? क्षत्राणी को नया शौहर! बाबू, मेरी लाज

रखो — सारी कहानी कहती हुई, वह बलदेव सिंह के पैरों पर गिर पड़ी। बलदेव ने बच्चे को कंधे पर बिठाया, और चल पड़े उस गाँव को !

जब गाँव से जा रहे थे, उन्हें मैंने देखा था। प्रणाम भाईजी, —मैंने कहा। चेहरे पर गुस्से की छाप स्पष्ट थी, किन्तु स्वाभाविक हँसी हँसते हुए, आशीर्वाद दिया और कहा — एक अबला की रक्षा में जा रहा हूँ बबुआ ; दो-चार दिनों में लौटता हूँ।

बलदेव सिंह नहीं लौटे, लौटी है उनकी यह लाश !

वहाँ जाते ही उन्होंने पट्टीदारों को चुनौती दे दी। दूसरे दिन विधवा के छीने हुए एक खेत पर हल भी चढ़ा दिये। कोई नहीं बोला। कौन बोलता ? एक के बाद दूसरे खेत विधवा के कब्ज़े में आने लगे; बहुत दिनों की गई अमराई पर अब उसका कब्ज़ा था। उस बगीचे की एक लीची की डाल में झूला डालकर उस क्षत्रियकुमार को बलदेव सिंह झुलाते रहते। जो लोग विधवा के पट्टीदारों के डर से कल बोलते नहीं थे, अब वे ही बलदेव सिंह को शाबासी देते, उस छोटे-से बच्चे से अपना पुराना नाता जोड़ते; क्योंकि अब वह विधवा अबला नहीं थी। पिता खोकर उस बच्चे ने एक धर्म का पिता पा लिया था !

बलदेवसिंह के साथ उनके कुछ शिष्य भी गये थे। जब मामला पूरी तरह शान्त हो चला, उस गाँव के भी काफी लोग उनके पक्ष में आ गये, तब उन्होंने एक-एक करके अपने शिष्यों को वहाँ से रवाना कर दिया। बेचारी विधवा पर ज्यादा खर्च का बोझ क्यों रहने दें ? अन्ततः, एक दिन तय किया, अब कल मैं भी जाऊँगा।

और, वह कल वह नहीं देख सके !

उनकी आदत थी, बहुत सबेरे, बिल्कुल मुँहअँधेरे, शौच को जाते। गाँव से काफी दूर निकल जाते। जबतक तनाव था, अपने साथ किसी शिष्य को भी ले लेते, हथियार तो हमेशा पास में रखते ही — कम से कम हाथ में लाठी और कमर में गँड़ासे की फली, जिसे बात की बात में लाठी में लगा कर प्रलयंकर बन जा सकते। किन्तु, उस दिन, निश्चिन्त हो, वह सिर्फ लोटा ही लेकर निकल पड़े। सारा गाँव भोर की सुख-निंदिया ले रहा था। किन्तु, उनके लिए मौत का फंदा डाला जा चुका था।

एक नीची खाई में वह शौच के लिए बैठे ही थे कि उनके

सिर पर लाठी का एक वज्र-प्रहार हुआ। एक क्षण के लिए वह जैसे बेहोश हो गये; फिर, तुरत खड़े हुए और सामने पड़े लोटे को हाथ में उठाकर उसी से ढाल का काम लेने लगे। दूसरी लाठी—लोटे पर टन-सी आवाज! तीसरी लाठी—'फूल' का वह लोटा चूर-चूर हो रहा। फिर क्या था, लाठी, गँड़ासे, बर्छे—चारों ओर से बरसने लगे। बीच से उछलकर एक बार उस चक्रव्यूह से, अभिमन्यु की तरह, निकलने की कोशिश की; किन्तु फिर घिर गये, घेर लिये गये, और आह! उस सन्नाटे के आलम में, जब दुनिया भोर की सुख-निंदिया ले रही थी, उन कायरों, सियारों ने इस शेरमर्द की वह दुर्गति की, जो हम यह, सामने, देख रहे हैं!

एक भोर थी, जब मैंने बलदेव सिंह का वह रूप देखा था—आभामय, जीवनमय, यौवनमय! और, आज भी एक भोर है, जब हम उन्हें इस रूप में देख रहे हैं!

उफ़, आह!





सरजू भैया

सरजू मैया नहीं, सरजू भैया। यह हमारे गाँवों की विशेषता है कि कभी-कभी मर्द गंगा, यमुना या सरजू हो जाते हैं। इस बारे में औरतें ही सौभाग्यशालिनी हैं; प्रायः उनके नामों में ऐसे अनर्थ नहीं होते !

हाँ, तो सरजू भैया! मेरे घर से सटा हुआ जो एक घर है—एक तरफ दो खपड़ैल मकान, एक तरफ मिट्टी की दीवार पर फूस के छप्पर, एक तरफ टट्टी के दो झोपड़े, एक तरफ मकान नहीं, सिर्फ टट्टी खड़ाकर छोटा-सा आँगन निकाला हुआ—उसी घर के सौभाग्यशाली मालिक हैं हमारे सरजू भैया। सरजू भैया को कोई छोटा भाई नहीं रहा, और मैंने प्रथम संतान के रूप में ही अपनी माँ की गोद भरी; अतः हम दोनों ने परस्पर एक नाता जोड़ लिया है। वह मेरे बड़े भाई हैं, मैं उनका छोटा भाई।

गाँव के सबसे लम्बे और दुबले आदमियों में सरजू भैया की गिनती हो सकती है! रंग साँवला, बगुले-सी बड़ी-बड़ी टाँगें, चिपंजी

की तरह बड़ी-बड़ी बाँहें! कमर में धोती पहने, कंधे पर अँगोछी डाले, जब वह खड़े होते हैं, आप उनकी पसलियों की हड्डियाँ गिन लीजिए। नाक खड़ी, लम्बी। भवें सघन। बड़ी-बड़ी आँखें कोटरों में धँसी। गाल पिचके। अंग-अंग की शिराएँ उभड़ीं—कभी-कभी मालूम होता, मानों ये नसें नहीं, उनके शरीर को किसीने पतली डोरों से जकड़ रखा है।

ऊपर की तस्वीर निस्संदेह किसी भुखमरे, मनहूस आदमी की मालूम होती है। किन्तु, क्या बात ऐसी है? सरजू भैया मेरे गाँव के चंद जिंदादिल लोगोंमें से एक हैं। बड़े मिलनसार, मज़ाकिया और हँसोड़। वह दिल खोलकर जब हँसते हैं—शरीर-भर में जो सबसे छोटी चीजें उन्हें मिली हैं—वे उनके पंक्तिबद्ध छोटे-छोटे दाँत, तब बेतहासा चमक पड़ते हैं, अंग-अंग हिलने-डुलने लगते हैं—जैसे हर अंग हँस रहा हो। और, सरजू भैया के पास इतनी संपत्ति है कि वह खुद या अपने परिवार के ही पेट नहीं भर सकते, आगत-अतिथि की सेवा-पूजा भी मजे में कर सकते हैं।

तो फिर यह हड्डियों का ढाँचा क्यों? मैं जवाब में एक पुरानी कहावत पेश करूँगा—काजीजी दुबले क्यों?—शहर के अंदेशे से!

हाँ, सरजू भैया की यह जो हालत है, वह अपने कारण नहीं, दूसरों के चलते। पराये उपकार के चलते उन्होंने न सिर्फ अपना शरीर सुखा लिया है, बल्कि अपनी संपत्ति की भी कुछ कम हानि नहीं की है।

उनके पिता, जो गुमाश्ताजी कहलाते थे, मेरे गाँव के अच्छे किसानों में से थे। चौपार, साफ-सुंदर उनका मकान और अच्छा-खासा बैठक-खाना था, जहाँ आज सरजू भैया की यह राममँड़ैया है। खेतीबारी तो थी ही, रुपये और गल्ले का अच्छा लेन-देन था। परिवार भी वड़ा और खर्चीला नहीं था। लेकिन, उनके मरते ही सरजू भैया ने लेन-देन चौपट किया, वाढ़ ने खेती वर्वाद की और भूकम्प ने घर का सत्यानाश किया। उनका लेन-देन इतना अच्छा था कि वह शायद खेती को भी सम्हाल देता, घर भी खड़ा कर सकता। किंतु, सरजू भैया और लेन-देन?

लेन-देन, जिसे नग्न शब्दों में सूदखोरी कहिए, चाहता है, आदमी आदमीपन को खो दे; वह जोंक, खटमल, नहीं, चीलर बन

जाग। काली जोंक और लाल खटमल का स्वतंत्र अस्तित्व है। हम उनका खून चूसना महसूस करते हैं, हम उनमें अपना खून प्रत्यक्ष पाते और देखते हैं। लेकिन, चीलर? गंदे कपड़े में, उन्हीं-सा काला-कुचैला रंग लिये, वह चुपचाप पड़ा रहता है और हमारे खून को यों धीरे-धीरे चूसता है और तुरत उसे अपने रंग में बदल देता है कि उसका चूसना हम जल्द अनुभव नहीं कर पाते और अनुभव करते भी हैं, तो ज़रा-सी सुगबुगी या ज्यादा-से-ज्यादा चुनचुनी-मात्र। और, अनुभव करके भी उसे पकड़ पाने के लिए तो कोई खुर्दबीन ही चाहिए!

सरजू भैया चीलर नहीं बन सकते थे। उनके इस लम्बे शरीर में जो हृदय मिला है, वह शरीर के ही परिमाण से। जो भी दुखिया आया, अपनी विपदा बताई, उसे देवता-सा दे दिया और वसूलने के समय जब वह आँखों में आँसू लाकर गिड़गिड़ाया, तो देवता ही की तरह पसीज गये। सूद कौन कहे, कुछ ही दिनों में मूलधन भी शून्य में परिणत हो गया! उलटे अब वह खुद हाथ-हथफेर में व्यस्त रहते हैं।

बाढ़ और भूकम्प ने उनके खेत और घर को बर्बाद किया जरूर; लेकिन, सरजू भैया, मेरा यकीन है, आज की फटेहाली से बहुत-कुछ बचे रहते, यदि लेन-देन के बाद भी वह इन दोनों की तरफ ही पूरा ध्यान दिये होते। यह नहीं कि वह जी चुरानेवाले या आलसी और बोदा गृहस्थ हैं। नहीं, ठीक इसके ख़िलाफ—चतुर, फुर्तीला और काम-काजू आदमी हैं। लेकिन करें तो क्या? उन्हें दूसरे के काम से ही कहाँ फुर्सत मिलती है!

गंगोभाई के घर में बच्चा बीमार है, बैद को बुलाने कौन जायगा; सरजू भैया! हिरदे को बाजार से कई सौदा-सुलफ लाना है, वह किसे भेजे; सरजू भैया को! खबर आई है, रामकुमार के मामाजी अपने गाँव में सख्त बीमार हैं, उनकी खोज-खबर कौन लाये, सरजू भैया से बढ़कर कौन दूसरा धावन होगा? परमेसर को एक रजिस्टरी करनी है, शिनाख्त कौन करेगा; सरजू भैया! किसी-के घर में शादी-ब्याह, यज्ञ-जाप हो; और सरजू भैया अस्तव्यस्त। किसीकी मौत हो जाने पर, यदि वह अंधेरी रात में हो, तो निश्चय ही उसका कफन खरीदने का ज़िम्मा सरजू भैया पर रहेगा! यों गाँवभर के लोगोंका बोझ अपने सिर पर लेकर सरजू भैया ने न अपने खेत और घर को मटियामेट किया है, बल्कि इसी उम्र में अपनी कमर भी झुका ली है। दिन हो या रात, चिलचिलाती दुपहरिया हो

या अंधेरी अधरतिया, सरजू भैया के सेवा-सदन का दरवाज़ा हमेशा खुला रहता है। विक्टर ह्यूगो ने अपनी अमर कृति 'ला मिजरेब्ल' में कहा है---डाक्टर का दरवाज़ा कभी बंद नहीं रहना चाहिए और पादरी का फाटक हमेशा खुला होना चाहिए---सरजू भैया को निस्संदेह इन दोनों का रुतबा अकेले हासिल है!

मेरे क्षुद्र विचार से सरजू भैया का व्यक्तित्व अनुकरणीय, अनुसरणीय ही नहीं, वंदनीय, पूजनीय है; जब-जब उन्हें देखता हूँ, मेरा 'ज्ञानी' मस्तक आप-से-आप उनके चरणों में झुक जाता है। लेकिन, मेरे मन में सबसे बड़ी चोट लगती है तब, जब देखता हूँ, इस नर-रत्न की कद्र कहाँ तक होगी, बहुत-से लोग इन्हें सुधुआ समझ-कर ठगने की चेष्टा करते हैं। यदि यही वात होती, तो भी बर्दाश्त की जा सकती; लेकिन यही नहीं, इन्हें जब-तब झंझटों में डालने की कोशिशें होती हैं और यदि अकस्मात् झंझट में पड़ जाते हैं, तो उससे निकालने की क्या बात, इनके 'तड़पने का तमाशा' देखने में लोग मज़ा अनुभव करते हैं।

अभी थोड़े दिनों की बात है। एक दिन सरजू भैया मेरे सामने आकर खड़े हुए। मैं कुछ पढ़ रहा था। सिर नीचा किये ही कहा, बैठिये भैया। किन्तु भैया बैठेंगे क्या, उनकी तो घिग्घी बँधी है और आँखों से आँसू जा रहे हैं। दुबारा कहने पर भी जब नहीं बैठे, तो उनकी ओर नज़र उठाई। उनका चेहरा देख दंग रह गया। मैं सन्न। क्या बात है यह? बहुत आश्वासन और आग्रह पर उनकी जीभ हिली। मालूम हुआ, उनके घर में एक छोटी-सी घटना हो गई है, जैसी घटनाएँ अपने ही गाँव में मैंने कई बार होते देखी हैं। लेकिन किसीने उस ओर ध्यान नहीं दिया; यदि ज़रूरत हुई, तो उन्हें सुलझा दिया और यदि किसीने उसे बढ़ाना चाहा, तो लोगोंने उसको डाँट दिया। क्यों? क्योंकि वे घटनाएँ ऐसे घरों में हुई थीं, जिनके पास न सिर्फ लक्ष्मी, बल्कि दुर्गा भी हैं---पैसे भी और लाठी भी। लेकिन, सरजू भैया ने तो लोगोंके लिए ही अपनी यह हालत कर रखी है। न वह किसीपर धन का धौंस जमा सकते हैं, न डंडे फटकार सकते हैं! फिर, क्यों न उन्हें तड़पाया जाय, रुलाया जाय? मैंने उन्हें आश्वासन दिया, उन्हें धैर्य हुआ, वह चले गये; लेकिन रात-भर लोगोंकी इस कृतघ्नता ने मुझे चैन से सोने न दिया!

सुधुआपन से ठगे जाने की एक कहानी। बहुत दिन हुए, मैं किसी ज़रूरत में था और कुछ रुपये के लिए परीशान था। सरजू भैया के पास कुछ रुपये थे। मेरी बेचैनी वह कैसे देखते? वह रुपये ले आये। मैंने खर्च कर दिया, लेकिन, आज तक दे नहीं सका। रुपये तो आये, लेकिन एक आया, दो का खर्च लेकर। सरजू भैया माँगने का हाल क्या जानें? मैं भी समझता रहा, उनके रुपये कहाँ जाते हैं, ज़रूरत होगी, माँगेंगे, दे दूँगा। लेकिन, अभी उस दिन जो बात उन्होंने सुनाई, मैं हक्काबक्का रह गया।

इस बीच में उन्हें रुपये की ज़रूरत हुई, लेकिन संकोचवश मुझसे नहीं माँगा। एक सूदखोर महाजन के पास गये, जो पहले उन्हीं-से क़र्ज़ खाता था; लेकिन, तरह-तरह के कारनामों से अब धन्नासेठ बन चुका है। उसने झट उन्हें रुपये दे दिये; लेकिन, जब चलने लगे, कहा—आपके पास रुपये जायँगे कहाँ—लेकिन कोई सबूत तो चाहिए ही। क्या सबूत? मैं तैयार हूँ—सरजू भैया रुपये बाँध चुके थे, न उनसे खोलकर लौटाया जा सकता था और न वह उसकी माँग को नामंजूर कर सकते थे। नहीं, कुछ नहीं, कागज़ पर सिर्फ निशान बना दीजिए, आपसे बाज़ाब्ता हैंडनोट क्या कराया जाय? और, सरजू भैया ने बमभोला की तरह कजरोटे में अंगूठा बोरकर कागज पर चिपका दिया। मानों, किसी आधुनिक अंटोनियो ने किसी कलजुगी शाइलौक के हाथ में अपने को गिरवी कर दिया।

अब वह कहता है—जल्द रुपये दे दो, नहीं तो मैं नालिश कर दूँगा और नालिश कितने की करेगा, कौन ठिकाना—सरजू भैया बेचारगी में बोल रहे थे और मैं उनका मुँह आश्चर्य से देख रहा था। आपने ऐसी गलती क्यों कर दी?—लेकिन, इसके अलावा इसका जवाब वह क्या दे सकते थे कि क्या करूँ, रुपये बाँध चुका था!

सरजू भैया के पाँच सन्तानें हुईं, लेकिन बेटियाँ-ही-बेटियाँ। उनकी धर्मपत्नी, जो लम्बाई में ठीक उनके विपरीत, बहुत ही बौनी होने पर भी बहुत गुणों में उनकी ही तरह थीं, हाल ही में बेटा पाने का अरमान लिये मरी हैं। कह नहीं सकता, इस अरमान ने सरजू भैया को ज़्यादा चिन्तित किया है या नहीं। वे बेटियों पर बहुत ही स्नेह रखते हैं और मेरे घर में जो लड़के—मेरे बेटे-भतीजे—हैं, उनका बचपन तो ज़्यादातर उन्हींके कंधों पर कटा है। लेकिन, बेटियाँ तो अपनी-अपनी ससुराल जा बसेंगी। क्या सरजू भैया का यह पुश्तानी

घर खँडहर बनेगा? क्या सरजू भैया की कोई निशानी हमारे पड़ोस को गुलज़ार न कर सकेगी? यह कल्पना करते ही हमारे परिवार-भर में अजीब उदासी छा जाती है। उनकी पत्नी की मृत्यु के बाद मैंने अपनी मौसी को कहते सुना—सरजू बबुआ की उमिर ही कितनी है? यही, मेरे बबुआ से चार बरस बड़े हैं; फिर वह शादी क्यों न करें, क्या वंश डुबा देंगे? और, उस दिन देखा, मेरी ढीठ रानी सरजू भैया से झगड़ रही है—नहीं, आपको शादी करनी ही पड़ेगी।

मैं शादी करूँ, जिसमें शर्माजी को (मुझे) नई भौजाई से दिनरात चुहलें करने का मजा मिले, क्यों न?

मुझे देखते ही सरजू भैया बोले और ठठाकर हँस पड़े। रानी थोड़ी सकुची, फिर हँस पड़ी। मैं दोनोंको देखता, चुपचाप मुस्कुराता रहा!





मंगर

हट्टा-कट्टा शरीर। कमर में भगवा। कंधे पर हल। हाथ में पैना। आगे-आगे बैल का जोड़ा। अपनी आवाज़ के हहास से ही बैलों को भगाता, मेरे खेत की ओर सुबह-सुबह जाता—जबसे मुझे होश है, मैंने मंगर को इसी रूप में देखा है, मुझे ऐसा लगता है।

हाँ, मुझे याद आता है, हल के बदले कभी-कभी मुझे भी उसके कंधे पर चढ़ने का सौभाग्य मिल चुका है। लेकिन, ऐसे मौके बहुत कम आये हैं। क्योंकि, न जाने क्यों, मंगर को बच्चों से वह स्वाभाविक स्नेह नहीं, जो उसके-ऐसे लोगोंमें प्रायः देखा जाता है। उसे देखकर बच्चे भागते ही रहे हैं और आज जब मंगर अशक्य, जर्जर हो चुका है, बच्चे, मानों, इसका बदला चुकाने को, अपनी छोटी छड़ियों से उसे छेड़कर भागते हैं और जब वह झल्लाता, उन्हें मारने के लिए अपनी बुढ़ापे की लकुटिया खोजता या खीझकर गालियाँ बकने लगता है, तो वे खिलखिला पड़ते और उसका मुँह चिढ़ाने लगते हैं।

बच्चों से उसकी वितृष्णा क्यों हुई? शायद इसलिए तो नहीं

कि उसे जो एक ही बच्चा नसीब हुआ, वह कमाऊ पूत बनने के पहले ही, उसे दग़ा देकर चल बसा और जो उसकी एक बच्ची भी, सो, लूली ; और जिसकी शादी में उसने इतनी दरियादिली दिखलाई, लेकिन, एक बार मुसीबत काटने उसके दरवाज़े वह पहुँचा, तो दामाद ने ऐसी बेरुखी दिखलाई कि मंगर का स्वाभिमान उसे वहाँसे ज़बर-दस्ती भगा लाया ।

मंगर का स्वाभिमान——गरीबों में भी स्वाभिमान ? लेकिन, मंगर की खूबी यह भी रही है। मंगर ने किसीकी बात कभी बर्दाश्त नहीं की, और शायद अपने से बड़ा किसीको, मन से, माना भी नहीं। मंगर मेरे बाबा का अदब क़रता था, शायद, उनके बुढापे के कारण। सुना है, मेरे बाबूजी को वह बहुत चाहता था——शायद, उनके नेक स्वभाव के कारण। किन्तु, मेरे चाचाओं को तो उसने हमेशा अपनी बराबरी का ही समझा और मुझे तो वह कल तक 'तू' ही कह-कर पुकारता रहा है। किसकी मज़ाल जो मंगर को बदजुबान कहे—-हलवाहों को मिलनेवाली नितदिन की गालियाँ तो दूर की बात !

ऐसा क्यों ?——उसका खास कारण, मंगर का यह हट्टा-कट्टा शरीर और उससे भी अधिक उसका सख़्त कमाऊपन——जिसमें ईमान-दारी ने चार चाँद लगा दिये थे। जितनी देर में लोगोंका हल दस कट्ठा खेत जोतता, मंगर पन्द्रह कट्ठा जोत लेता और वह भी ऐसा महीन जोतता कि पहली चास में ही सिराऊ मिलना मुश्किल। मंगर को यह बताने की ज़रूरत नहीं कि कल किस खेत में हल जायगा——वह शाम को ही सारे खेतों की आर-आर घूम आता और जिसकी ताक होती, वहाँ हल लिये सुबह-सुबह पहुँच जाता। जुताई के वक़्त किसी-की देखरेख की भी ज़रूरत नहीं। आम हलवाहों के पीछे किसान जो लट्ठ लेकर पड़े रहते हैं, और तो भी वे जी चुराते, ढिलाई करते. आज का काम कल के लिए छोड़ते, यह आदत मंगर में थी ही नहीं । यों ही रखवाली चाहे हरी फसल की हो, या सूखी पसही की, खलि-हान में चाहे बोझों की सील हो या अनाज की रास——मंगर पर सब छोड़कर निश्चिन्त सोया जा सकता था।

दूसरा ऐसा 'जन' मिलेगा कहाँ ? फिर क्यों न उसकी क़द्र की जाय ? मेरे बाबा कहते थे, मंगर हलवाहा नहीं है, सवाँग है। वह अपने सवाँग की तरह ही कभी-कभी रूठ जाता था और

जब-तब लोगोंको झिड़क भी देता था। उसकी झिड़क सबके सर-आँखों पर ; उसका रूठना और उसकी मनौती होती !

कभी-कभी बातें कुछ बढ़ भी जातीं। एक दिन काफी कहा-सुनी हो गई। दूसरी सुबह मंगर हल लेने नहीं आया—इधर से बुलाहट भी नहीं गई। रुपये हैं, तब हलवाहे न होंगे—कोई नया हलवाहा लेकर जोता गया। उधर कोई दूसरा किसान आकर मंगर से बोला—मंगरू, देख, उन्होंने दूसरा हलवाहा कर लिया है। उन्हें रुपये हैं, हजार हलवाहे मिलेंगे ; तो तेरे भी शरीर है, हजार गृहस्थ मिलेंगे। चल, हमारा हल जोत—तू जो कहेगा, मजदूरी दूँगा। लेकिन मेरा सिर जो दर्द कर रहा है—मंगर ने इसका जवाब दिया और उसका यह सर-दर्द तब तक बना रहा, जब तक झख मारकर मेरे चाचाजी फिर उसे बुलाने नहीं गये। क्योंकि चार दिनों में ही मालूम हो गया, मंगर क्या है ! बैलों के कंधे छिल गये, उनके पैर में फार लग गये। खेत में हल तो चला, लेकिन न ढेला हुआ, न मिट्टी मिली। फिर खेत की आर पर बैठे भर-दिन हलवाहे को टुकारी देते रहिए, तब कहीं दस कटठ्ा ज़मीन जुते ! मंगर के बिना काम चल नहीं सकता !

चाचाजी उसके दरवाज़े पर खड़े हैं। मंगर भीतर घर में बैठा है। मंगर की अर्द्धांगिनी भकोलिया ने कहा—मालिक खड़े हैं, जाओ, मान जाओ।—कह दे, मेरा सिर दर्द कर रहा है, मंगर ने चाचाजी को सुनाकर कहा। मालिक जरा इनके सिर पर मालकिन से तेल दिला दीजियेगा — भकोलिया हँसती हुई बोली। तू मुझसे दिल्लगी करती है—मंगर के स्वर में नाराज़ी थी। मंगर, चलो, आपस में कभी कुछ हो ही जाता है, माफ़ करो—चाचाजी के स्वर में आरजू-मिन्नत थी। जाइए, उसीसे जुतवाइए, जिससे चार दिन जुतवाया है—मुझे ले जाकर क्या होगा—आधी रोटी की बचत भी तो होती होगी। यों ही नोक-झोंक, मान-मनौवल। फिर, मंगर अपना हलवाही का पैना हाथ में लिये आगे-आगे; और चाचाजी पीछे-पीछे!

यह आधी रोटी की बचत क्या ?—इसे समझा आपने ? इसे मंगर का खास इज़ारा समझिए। जहाँ गाँव-भर में हलवाहे को एक रोटी मिलती, मंगर के लिए डेढ़ रोटी जाती। वह भी रोटी सुअन्न की हो और अच्छी पकी हो। उसपर कोई तरकारी भी ज़रूर हो—

क्योंकि मंगर किसीका कच्चा नमक नहीं खाता! मंगर की सभी शर्तें पूरी होतीं !

लेकिन यह डेढ़ रोटी वह खुद खाता, ऐसा आप नहीं समझें। क्या अपनी अर्द्धांगिनी के लिए लाता?—नहीं! आधी को दो टुकड़े कर दोनों बैलों को खिला देता। यों, यह आधी रोटी फिर मेरे ही घर में लौट आती, लेकिन, इसमें कोई काट-कपच हो नहीं सकती थी। महादेव मुँह ताकें; और मैं खाऊँ—यह कैसे होगा? मंगर के लिए ये बैल, बैल नहीं, साक्षात् महादेव थे!

एकाध बार बात बहुत बढ़ गई, तो मंगर मेरा गाँव छोड़कर चला गया। लेकिन, गाँव में रहते उसने दूसरे का परिहथ नहीं पकड़ा। दूसरे गाँव में भी वह जम नहीं सका। तब तीसरा गाँव देखा, और, अंत में मारा-मारा फिर मेरे गाँव लौटा। शायद, मेरे घर-ऐसा क़द्रदाँ उसे कहीं नहीं मिला!

मंगर का स्वभाव रूखा और बेलौस रहा है; किसीसे लल्लो-चप्पो नहीं, लाई-लपटाई नहीं। दो-टूक बातें, चौ-टूक व्यवहार। तो भी न जाने क्यों, मंगर मुझे शुरू से ही स्नेह की नज़र से देखता रहा है। शायद इसीलिए कि मेरे बाबूजी उसे बहुत मानते थे। अब भी कहता है—मालिक थे हमारे मँझले बाबू, वह मरे, मेरी तकदीर फूटी। और, शायद इसलिए भी कि मैं बचपन से ही टूअर हूँ। माँ मर गई, पिता-जी चल बसे। तभी तो उसने अपना पवित्र कंधा मुझे दिया और जब कुछ बड़ा हुआ, मैं ननिहाल जाने-आने और रहने लगा, तो याद आता है, मंगर ही मुझे वहाँ पहुँचाता। मैं एक छंठी घोड़ी पर सवार; मंगर सिर पर सौग़ात की चीजें और मेरी किताबें लिये घोड़ी की लगाम पकड़े आगे-आगे। जहाँ नीच-ऊँच जमीन होती, कहीं मैं घोड़ी से गिर न जाऊँ, बगल में आकर एक हाथ से मुझे पकड भी लेता। उसके बलिष्ठ हाथों के उस कोमल स्पर्श का अनुभव आज भी कर रहा हूँ!

ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, घर से मेरा संबंध टूटता गया। बकौल मंगर, मैं तो अपने ही घर का मेहमान बन गया। लेकिन, जब-जब दो-चार दिनों के लिए घर जाता, मंगर को उसी रूप और उसी पेशे में देखा किया।

कपड़ों से मंगर को वहशत रही है। हमेशा कमर में भगवा ही लपेटे रहता। उसे धोतियाँ मिली हैं। गोवर्धन-पूजा के दिन, हर साल,

एक नई धोती लिये बिना वह बैल के सींगों में लटकन बाँधता क्या? यों भी बाबा और चाचा साल में जब-तब पुरानी धोतियाँ दिया करते। घर में शादी-व्याह होने पर उसे लाल धोतियाँ भी मिली हैं। मेरी शादी में मंगर के लिए नया कुर्त्ता भी बना था। लेकिन, धोतियाँ हमेशा उसके सिर का ही सिंगार रहीं, जिन्हें वह मुरेठे की तरह लपेटे रहता और कुर्त्ता, जब मेरी किसी कुटमैती में वह संदेश लेकर जाता, तभी उसकी देह ढँकता। यों, साधारणतः वह हमेशा नंग-धडंग रहता। और, मैं कहूँ, मुझे उसका शरीर उस रूप में, बहुत ही अच्छा लगता। आज एक कलाकार की दृष्टि से कहता हूँ, मंगर को खूबसूरत शरीर मिला था।

काला-कलूटा—फिर भी खूबसूरत? सौंदर्य को रंगसाज़ी और नक्क़ासी का मज़मूआ समझनेवालों की रुचि मैं समझ नहीं पाता, यह कहने की गुस्ताखी के लिए आज भी मैं माफ़ी माँगने को तैयार नहीं। मंगर का वह काला-कलूटा शरीर, एक संपूर्ण सुविकसित मानव-पुतले का उत्कृष्ट नमूना। लगातार की मेहनत ने उसकी मांस-पेशियों को स्वाभाविक ढंग पर उभाड़ रखा था। पहलवानों की तरह उनमें अस्वाभाविक उभाड़ नहीं आई थी। जाँघें, छाती, भुजाएँ, सबमें जहाँ जितनी जैसी गढ़न और उभाड़ चाहिए, बस उतनी ही। न कहीं मांस का लोंदा, न कहीं सूखी काठ। एक सुडौल शरीर पर स्वाभाविक ढंग से रखा एक साधारण सिर। मंगर के शरीर का ख़याल आते ही मुझे प्राकृतिक व्यायाम के हिमायती मिस्टर मूलर की आकृति का स्मरण हो आता है। सैण्डो के शैदाई उससे कुछ निराश हों तो आश्चर्य नहीं।

लेकिन, आज न वह देवी रही, न वह कड़ाह रहा। मंगर वह नहीं रहा, जो कभी था। ग़रीबी को वह अपने अक्खड़पन से हमेशा धता बताये रहा। लेकिन उम्र के प्रहारों से वह अपने को बचा नहीं सका। उसकी एक-एक चोट उसे धीरे-धीरे जर्जर बनाती रही और आज उसपर यह कहावत लागू है—"सूखी हाड़ ठाठ भई भारी—अब का लदबऽ, हे व्यापारी!"

उसके शरीर के मांस और मांश-पेशियाँ ही नहीं गल गई हैं, उसकी हड्डियाँ तक सूख गई हैं। आज का उसका यह शरीर उस पुराने शरीर का व्यंग्यचित्र-मात्र रह गया है। बुढ़ापे के प्रहारों के लिए जो ढाल का काम करती, उस चीज़ का संग्रह मंगर ने कभी किया ही नहीं। "आज खाय औ कल को झक्खे, ताको गोरख संग न रक्खे"—

का उपासक यह मंगर संग्रह का तो दुश्मन रहा। कोई संतान भी नहीं रही, जो बुढ़ापे में उसकी लाठी बनती। उम्र ने इस निरस्त्र कवचहीन योद्धा पर वे सभी तीर छोड़े, जो उसके तरकस में थे! मंगर बुढ़ापे के कारण हल चलाने के योग्य नहीं रह गया, तो कुछ दिनों तक उससे कुछ फुटकर काम लिये गये, लेकिन यह भी ज़्यादा दिनों तक नहीं चल सका। अब एक ही उपाय रह गया था, उसे पेंशन मिले। लेकिन, हलवाहों—यथार्थ अन्नदाताओं—के लिए पेंशन की हमारे अभागे देश में कहाँ व्यवस्था है और व्यक्तिगत दया का दायरा तो हमेशा ही तंग रहा है! फिर मंगर में जली हुई रस्सी की वह ऐंठन और शायद गर्मी भी है, जिससे दया का बादल हमेशा ही उससे दूर-दूर भागता रहा है। दया का बादल चाहता है आशीर्वचनों की शीतल सतह और मंगर के शब्दकोश में उसका सर्वथा अभाव ही समझिए। इसके बदले आज भी वही बेलौस बातें, झड़प-झिड़कियों की आँच, जो पानी की क्या बात, खून को भी सुखा दे। इसके बावजूद उदारता की स्वाती-बून्दें कभी-कभी टपकतीं; किन्तु, पपीहे की प्यास उससे भले ही बुझे, मंगर के बुढ़ापे की मरुभूमि उससे सींची नहीं जा सकती। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि आज हम मंगर की हड्डियों का यह झाँझर भी नहीं पाते, अगर उसकी अर्द्धांगिनी नहीं होती।

उसकी अर्द्धांगिनी—भकोलिया! मंगर की आदर्श जोड़ी। वही जमुनिया रंग—काली कहकर मैं उसका अपमान क्यों करूँ! दो ही बच्चे हुए, इसलिए स्त्रीत्व के उस महान क्षय से बहुत-कुछ वह बची रही, जो मातृत्व का सुन्दर नाम पाता है। यही कारण है, मंगर जर्जर-झर्झर हो गया, लेकिन भकोलिया अभी चलती-फिरती है, कुछ हाथ-पाँव चलाकर संग्रह कर लेती और दोनों प्राणियों का गुजर चला पाती है। लेकिन, यह भी कब तक? क्योंकि वह बेचारी भी दिन-दिन छीजती जाती है।

भकोलिया—मंगर की आदर्श जोड़ी। शारीरिक ढाँचे में ही नहीं, स्वभाव में भी। वे भी दिन थे, जब वह तमककर बोलती, झपट-कर चलती। न किसीको जल्द मुँह लगाती और न किसीकी हेठी बरदाश्त करती। जिस किसीने छेड़ा, मानों काली साँपिन के फन पर पैर रखा। लेकिन भकोलिया में सिर्फ फुंकार-मात्र थी—दंशन और विष का आरोप उसके साथ महान अन्याय होगा।

पर, मर्दों की अपेक्षा औरतें अपनेको परिस्थिति के साँचे

में ज्यादा और जल्द ढाल सकती हैं, इसका उदाहरण यह भकोलिया है। मंगर आज भी वही मंगर है—मुँह का बेलौस या फूहड़ कहिए ; लेकिन, भकोलिया वही नहीं रही। किसीका बच्चा खेला दिया, किसीका कुटान-पिसान कर लिया, किसीका गोबर पाथ दिया, किसी-का पानी भर दिया और जो कुछ मिला, उसमें पहले मंगर को खिलाकर आप पीछे खाने बैठी। किन्तु इतना करने पर भी, वह हमेशा मंगर की फटकार सुना करती है। मंगर अपना सारा पित्त और पुरानी झड़प अब ज्यादातर इसीपर झाड़ता है।

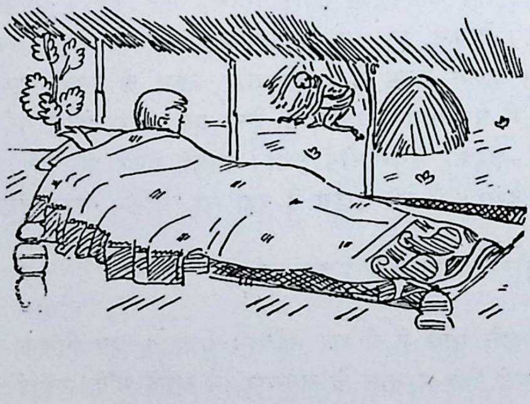
"भगवान की मर्जी"—कहकर मंगर जिसके नाम पर अपनी मुसीबतों के बिसर जाने का प्रयत्न करता रहा; उस भगवान ने पार-साल उसकी और दुर्गत कर दी। उसे जोरों से अधकपारी उठी। भकोलिया उसकी चिल्लाहट से पसीज, किसी दया की मूर्त्ति से दार-चीनी माँग लाई और उसे बकरी के दूध में पीसकर उसका लेप उसके ललाट पर कर दिया। बाईं पुटपुरी पर और आँख पर भी लगा दे —मंगर ने लेप की पहली ठंढाई अनुभव कर कहा। भकोलिया हुक्म बजा लाई। लेकिन, यह क्या? जहाँ-जहाँ लेप था, वहाँ अजीव जलन शुरू हुई। जलन जख्म में बदली और जख्म ने उसकी एक आँख ले ली। जब मैं घर गया—बबुआजी, मेरी एक आँख चली गई, मैं काना हो गया—कहकर मंगर रोने लगा। शायद मंगर को मैंने यही पहली बार रोते देखा। मैं उसे ढाढ़स दे रहा था, लेकिन, मेरा हृदय ......

और, विपदा अकेली कब रही?

पिछले माघ में मैं घर पहुँचा। सुबह। धूप निकल आई थी। लेकिन, अपने चिर-अभ्यास के अनुसार, मैं आँखें मूँदें, रज़ाई से लिपटा पड़ा था। थोड़ी-थोड़ी देर पर कुछ गिरने की-सी धम-धम आवाज होती। रज़ाई मुँह से हटाकर आँखें खोलीं। देखा, सामने पुआल के टाल के नजदीक, एक काला-सा अस्थिपंजर बार-बार खड़ा होने की कोशिश करता और गिरता है। यह क्या? चौंककर उठा। उस ओर बढ़ा। यह तो मंगर है! सुना था, मंगर को अर्द्धांग मार गया है। देखा, आँखें सजल हो उठीं। निकट गया, उसे सम्हाला, फिर कहा—मंगर, पड़े क्यों नहीं रहते—यह कैसी चोट लग रही होगी?

पड़े-पड़े मन ऊब जाता है, बबुआ! —मंगर ने जवाब दिया।

उफ़, नसें ढीली पड़ गईं, खून का सोता सूख गया। लेकिन, मानों, अब भी उसमें तरंगें उठतीं, और किसी सूखे सागर की तरह बालू के तट पर सिर धुन, पछाड़ खा, गिर-गिर पड़ती हैं। कैसा करुण दृश्य !





रूपा की आजी

कुछ दिन चढ़े, मैं स्कूल से आकर, आँगन में पलथी मारे चिउरा-दही का कौर-पर-कौर निगल रहा था कि अकस्मात मामी ने मेरी थाली उठा ली, उसे घर में ले आई। पीछे-पीछे मैं अवाक् उनके साथ लगा था; थाली रख मुझसे बोलीं—"वस, यहीं खा, बाहर मत निकलना, रूपा की आजी आ रही हैं, नजर लगा देंगी! समझे न?"

मैं समझता क्या खाक? हाँ, रूपा की आजी से कौन नहीं डरता? कौन बच्चा उनकी बड़ी-बड़ी आँखें देखकर न सिहर उठता? वह डायन हैं—गाव-भर में यह बात प्रसिद्ध है। वह जिसको चाहें, जादू की एक फूँक में मार सकती हैं। बच्चों पर उनकी खास नजरे-इनायत रहती है। कितने बच्चों को, हँसते-खेलते शिशुओं को, उनकी ये बड़ी-बड़ी आँखें निगल चुकी हैं!

बड़ी-बड़ी आँखें!

रूपा की आजी की यह है सूरत-शक्ल—लम्बी गोरी औरत ; भरा-पूरा बदन। हमेशा साफ, सुफेद बगाबग कपड़ा पहने रहतीं। उस सुफेद कपड़े के घेरे से उसका चेहरा रोब बरसाता। फिर, उनकी बड़ी-बड़ी आँखें, जिनपर लाली की एक हलकी छाया! पूरे बदन का ढाँचा मर्दों के ऐसा, मानों धोखे से औरत हो गई हों। जिस गाँव से यह आई हैं, वहाँ, लोग कहते हैं, औरतों का ही राज है। लोगोंने मना किया उनके ससुर को, वहाँ बेटे की शादी मत कीजिए। किन्तु, वह भी पूरे अखाड़िया थे—ज़िद कर गये, देखें, कैसी होती है वहाँकी लड़की।

रूपा की आजी ब्याह के आईं। आने के थोड़े ही दिनों बाद ससुरजी चल बसे। कुछ दिनों के बाद रूपा के दादाजी भी। इन दोनों की मौत अजीब हुई। ससुरजी दोपहर में खेत से आये, रूपा की आजी ने थाली परोसकर उनके सामने रखी। दो कौर खा पाये थे कि पेट में खोंचा मारा, दर्द हुआ, खाना छोड़कर उठ गये। शाम होते-होते उसी दर्द से चल बसे। रूपा के दादाजी एक बरात से लौटे, थकेमाँदे ; नवोढ़ा पत्नी—रूपा की आजी—ने, हँसकर, एक गिलास पानी पीने को दिया। पानी पीते ही सिर धमका, ज्वर आया, उसी ज्वर से तीन दिनों के अन्दर स्वर्ग सिधारे!

पहली घटना से ही कानाफूसी शुरू हो गई थी; दूसरी घटना ने बिल्कुल सिद्ध कर दिया—रूपा की आजी डायन हैं, दोनों को जादू के ज़ोर से खा गई हैं।

रूपा के पिताजी का जन्म उसके तीन-चार महीने बाद हुआ। रूपा की आजी की गोद भरी—आखिर इस डायन ने अपना ख़ान्दान बचा लिया, लोगोंने कहना शुरू किया। बेटे को इस डायन ने बड़े नाज़ से पाला, पोसा, बड़ा किया ; उसकी शादी की—धूमधाम से। किन्तु, कैसी है यह चुड़ैल! शादी का बरस लगते-लगते बेटे को भी खा गई—मुँछउठान जवान बेटे को! कितना सुन्दर, गठीला जवान था वह! कुश्ती खेलकर आया, इसके हाथ से दूध पीया। खून के दस्त होने लगे! कुछ ही घंटों में चल बसा। उसके मरने के बाद इस 'रूपा' का जन्म हुआ और रूपा अभी प्रसूतिगृह में ही कें-कें कर रही थी कि उसकी माँ चल बसी! बाप रे, रूपा की आजी कैसी बड़ी डायन हैं! डायन पहले अपने ही घर को स्वाहा करती है!

जवान वेटे की मृत्यु के वाद, रूपा की आजी में अजीव परिवर्त्तन हुआ। आँखें हमेशा लाल रहतीं; छोटी-छोटी बातों से भी आँसू की धारा बह निकलती ; होंठों-होंठ कुछ बुदबुदाती रहतीं ; दोनों जून स्नान कर भगवती का पिंड लीपतीं, धूप देतीं; वहुत साफ कपड़ा पहनतीं ; जिस जवान को देखतीं, देखती ही रह जातीं; जिस वच्चे पर नज़र डालतीं, मानों आँखों में पी जायँगी ! लोगोंने शोर किया — अव इसका डायनपन विल्कुल प्रगट हो गया। डरो, भागो—रूपा की आजी से बचो !

रूपा की आजी से वचो—लेकिन, वचोगे कैसे ? भर-दिन रूपा को गोद लिये, कंधे चढ़ाये, या उसकी छोटी उँगलियाँ पकड़े यह इस गली से उस गली, इस घर से उस घर आती-जाती ही रहती हैं ! न एक व्रत छोड़ती हैं, न एक तीरथ। और, हर व्रत और तीरथ के वाद गाँव-भर का चक्कर ! उत्सवों में विना वुलाये ही हाज़िर ! उफ़, यह डायन कव मरेगी ? कव गाँव को इससे नजात मिलेगी।

मन-ही-मन यह मनाया जाता, किन्तु, ज्योंही रूपा की आजी सामने आईं नहीं कि उनकी ख़ुशामदें होतीं। कहीं वह नाराज़ न हो जायँ। अपने ससुर, पति, वेटे और पतोहू को खाते जिसे देर न लगी, वह दूसरे के बालबच्चों पर क्यों तरस खायगी ? स्त्रियाँ उन्हें देखते काँप उठतीं, किन्तु, ज्योंही वह उनके सामने आईं कि दादीजी कहकर उनका आदर-सत्कार करना शुरू किया। इस आसन पर बैठिए, जरा हुक्का पी लीजिए, सुपारी खा लीजिए, यह सौगात आई है, जरा चख लीजिए, आदि आदि। रूपा की आजी कुछ सत्कार स्वीकार करतीं, कुछ अस्वीकार। उनकी अस्वीकृति आग्रह नहीं मानती थी। अस्वीकृति ! और, लोगोंमें थरथरी लग गई। फिर, परिवार ही ठहरा ; अगर बरस-छः महीने में किसीको कुछ हुआ, तो रूपा की आजी के सिर पर दोष गिरा !

कितने ओझे बुलाये गये इस डायन को सर करने के लिए। उनके बड़े-बड़े दावे थे—डायन मेरे सामने होती ही नंगी नाचने लगेगी; डायन के कोंचे से आप–ही–आप आग जल उठेगी ; डायन खून उगलने लगेगी ; डायन पागल होकर आप–ही–आप बकने लगेगी। ओझा आये, तांत्रिक आये। टोने हुए, तंतर हुए। तेली के मसान की लकड़ी, बेमौसम के ओड़हुल के फूल, उलटी सरसों का तेल, मेढ़क की खाल, बाघ के दाँत—क्या-क्या न इकट्ठे किये गये। ढोल वजे, झांझ

बजी, गीत हुए ; देव आये, भूत आये, देवीजी आईं! किन्तु रूपा की आजी न पागल हुईं, न नंगी नाचीं, न उनकी देह पर फफोले उठे। ओझा गये, तांत्रिक गये, कहते हुए—उफ़, यह बड़ी घाघ है। बिना कारू-कमच्छा गये, इसका जादू हटाया नहीं जा सकता । कई ओझे इसके लिए रुपये भी ऐंठते गये ; किन्तु, रूपा की आजी जस-की-तस रहीं।

× × ×

मैं बड़ा हुआ, लिखा-पढ़ा, नये ज्ञान ने भूत-प्रेत पर से विश्वास हटाया, जादू-टोने पर से आस्था हटाई। मैंने कहना शुरू किया—यह गलत बात, रूपा की आजी पर झूठी तुहमत लगाई जाती है! बेचारी के घर में एक के बाद एक आकस्मिक मृत्युएँ हुईं, उसका दिमाग ठीक नहीं। आँखों की लाली या पानी डायनपन की नहीं, उसकी करुणाजनक स्थिति की निशानी है। बच्चों को देखकर, दुलारकर जवानों को घूर-घूरकर वह अपने जवान बच्चे की याद करती या उसे भूलने की कोशिश करती है। पूजापाठ सब उसीकी प्रतिक्रिया है। दुनिया में भूत कोई चीज़ नहीं, जादू-टोना सब ग़लत चीज़! लेकिन, मेरी बात कौन सुनता है? एक दिन मामी मेरी इस बकझक से व्याकुल होकर बोली—

हाँ, तुम्हें क्या, तुम्हारे लिए जरूर जादू-टोना गलत है। भगवान तुम्हें चिरंजीवी करें। किन्तु, उनसे पूछो, जिनकी कोख इस डायन ने सूनी कर दी ; जिनके बच्चों को यह जिन्दा चबा गई ; जिनके हँसते-खेलते घर को इसने मसान बना दिया।

कहते-कहते उनकी आँखें भर आईं ; कुछ गरम-गरम बूँदें आँखों से निकलकर ज़मीन पर ढुलक रहीं। फिर बोलीं—

उस पड़ोसिन की बात है। उसकी बेटी ससुराल से लौटी थी—गोद भरकर! एक दिन उसका छ वर्ष का नाती आँगन में किलक रहा था। कितना सुन्दर था वह बच्चा! जैसे विधना ने अपने हाथों सँवारा हो। जो देखता, मोह जाता। कई दिन मेरे घर आया था—जबर-दस्ती मेरे कंधे पर चढ़ गया, दही माँगकर खाया। तुतली-तुतली बोली, चिकने-चिकने दुध-मुँहे दाँत। हँसता तो इँजोरिया हो जाती। किलकिलाता, तो हरसिंगार झड़ने लगते। और, वैसे बच्चे को......

हाँ, एकदिन वह बच्चा अपने आँगन में था, कि यह भुतनी पहुँची। यह भुतनी—हाँ, इसी तरह आँसू बहाती, होंठ हिलाती, रूपा का हाथ पकड़े हुई। इसे देखते ही उसकी माँ का मुँह सूख गया; नानी डर गई; चाहा, बच्चे को छिपा दें। किन्तु वह बच्चा छिपाने लायक भी तो नहीं था! ऊधमी, नटखट! झटपट दौड़ा आया, इस चुड़ैल के कंधे पर चढ़ गया। चढ़कर इसके बालों को नोचने, गरदन को हिलाने और अपने छोटे-छोटे पैरों से इसे एँड़ियाने लगा। बच्चे की इस हरकत से भुतनी हँस पड़ी—पहली बार लोगों-ने इसे हँसते देखा। फिर खुद घोड़ा बनी, बच्चे को सवार बनाया और बहुत देर तक घुड़दौड़ करती, बच्चे को हँसाती-खेलाती रही। बार-बार उसे छाती से लगाती, कहती, ऐसा बच्चा दूसरा न देखा। आह मेरा..... किन्तु, बात बीच ही में काटकर फूट-फूटकर रो पड़ी। उसे रोते देख, बच्चे ने ही गुदगुदी लगाकर, रिझाकर, भुलाकर उसे चुप कराया। चुड़ैल घर चली, आशीर्वाद देती हुई—जुग-जुग जीए यह बच्चा, तुम्हारी गोद हमेशा भरी रहे बेटी; भरी रहे, इसी तरह सोने की मूरत उगलती रहे। उसकी माँ भौंचक, नानी के जैसे जी में जी आया।

किन्तु, जानते हो, इसके बाद क्या हुआ? मामी कहे जा रही थीं। कुछ ही दिनों के बाद लड़के को सूखा रोग लग गया। कहाँ गया उसका वह रूप, वह रंग, वह चुहल, वह हँसी। सूखकर काँटा हो गया, दिनरात चेंचें किये रहता। जो उसे देखते, आँसू बहाते और एक दिन आँसुओं की बाढ़ लाकर वह.....उफ़!

उस दिन उसकी माँ को तुम देखते। पागल हो गई थी बेचारी! बच्चे की लाश को पकड़े थी, छोड़ती नहीं थी। किसकी हिम्मत जो उससे बच्चा माँगे? आँसू सूखकर ज्वाला बन गये थे—उसकी आँखों से चिनगारी निकल रही थी! बच्चे को छाती से चिपकाये थी, जैसे वह दूध-पीता बच्चा हो। अंट-संट बोलती, बच्चे के मुँह में छाती देने की कोशिश करती! उसे चुप देख, कभी-कभी चिल्ला उठती — जब चिल्लाती, मालूम होता, उसका कलेजा फट रहा है, सुननेवालों के भी कलेजे फटते......

मैं देख रहा था, मामी का कलेजा आज भी फटा जा रहा है। किस्से का अंत शब्द से नहीं, आँसुओं के ज्वार से हुआ।

और, मामी के बच्चे को भी तो इसीने खाया—वह बोलती नहीं हैं, किन्तु उनके करुण चेहरे की एकएक भावभंगी—आँसू की एक-एक बूँद—यह कह रही है। कम्बख्त को बच्चे खाकर भी संतोष न हुआ, मामी की कोख में जैसे इसने राख भर दी। तबसे एक भी बेटा न हुआ; बहुत जंत्र-मंत्र के बाद हुईं तो दो बेटियाँ!

मामी की क्या बात; एक दिन मामाजी भी मेरे उपर्युक्त तर्कों पर नाराज़ हुए और अपनी आँखों-देखी घटना सुनाई—

वह ऊँची जगह देखते हो न? वहाँ एक दुसाध आ बसा था। बूढ़ा था, दो नौजवान लड़के थे उसके; घर में बीवी, पतोहुएँ। दोनों बेटे बड़े ही कमाऊ-पूत। गठीले जवान। बूढ़ा भी काफी हुनरमंद। थोड़े ही दिनों में गाँव में उनकी पूछ हो गई। बाहु का बल था। कमाते, खाते। नेक स्वभाव के—न किसीसे झगड़ा, न झमेला। सबको खुश रखने की कोशिश करते; सबके काम आते।

एक दिन वह बुढ़िया,—तुम्हारी रूपा की आजी,—पहुँची और बोली, जरा आज मेरा काम कर दो। बूढ़े ने देखते ही सलाम किया, बैठने को कुश की चटाई रख दी। बुढ़िया नहीं बैठी—दुसाध से हड्डी छुला जाती है; फिर, मैं बाभनी। बूढ़ा न बोला, सिर्फ अर्ज किया—आज तो दूसरे बाबू को वचन दे चुका हूँ, कल आपका काम हो जायगा। बुढ़िया ने ज़िद की—नहीं, आज ही मेरा काम होना चाहिए। बीच ही में बड़ा लड़का बोल उठा—दुसाध से हड्डी छुलाती है, तो क्या घर नहीं छुलायगा? बुढ़िया तमक उठी!—तुम मेरा अपमान करते हो? इसलिए न कि मैं निपूती हूँ, मुझसे तुम्हें क्या डर, मेरा लड़का होता......। बुढ़िया पहले गरजी, अब बरस रही थी! बूढ़ा दुसाध भौंचक। हाथ जोड़कर आरजू-मिन्नत करता रहा—अभी चलता हूँ, हम अभी चलते हैं, बाबू का काम कल होगा, आज आप ही का। किन्तु, बुढ़िया वहाँ जरा भी क्यों ठहरती? घर लौटी।

इसी रास्ते वह जा रही थी, मामाजी ने कहा, मैंने देखा, उसके होंठ जल्द-जल्द हिल रहे थे, आँखें लाल थीं, आँचल से आँसू पोछती जाती। पीछे-पीछे बूढ़ा दौड़ा जा रहा था। बूढ़े को रोककर मैंने दरियाफ्त किया, उसने सारी बातें बताईं। वह काँप रहा था—बाबू, बाल-बच्चेवाला हूँ, न जाने क्या हो जाय?

और, विश्वास करोगे, तुम्हारी रँगरेजी विद्या इसका क्या माने बतायगी, कि उसी रात में बूढ़े के बड़े बेटे को साँप ने काट लिया।

भोर में देखा, हाय, वह पट्ठा बेहोश पड़ा है। समूचा शरीर पीला पड़ गया है, मुँह से झाग निकल रहा है। गाँव-गाँव से साँप का विष उतारनेवाले पहुँचे हैं। कोई जोर-जोर से मंत्र पढ़ रहा है, कोई कोड़े फटकार रहा है, कोई जड़ी पीसकर पिलाने की कोशिश में है, कोई उसकी नाक में कुछ सुँघा रहा है। जब-तब वह आँखें खोलता है, रह-रहकर हाथ-पैर फटकारता है, फिर निस्तब्ध हो रहता है। निस्तब्धता निस्पंदता में और निस्पंदता निर्जीवता में बदलती जाती है। बूढ़ा बाप छाती पीट रहा है, छोटा भाई दाढ़ मारकर रो रहा है। माँ और स्त्री की गत का क्या कहना! विष उतारनेवाले कहते हैं, हम क्या करें? साँप का विष उतरता है न? यह तो आदमी का विष है! सीधा जादू, ठीक आधी रात को लगाया गया है, उतर जाय, तो भाग। बूढ़े का वैसा भाग्य नहीं था। धीरे-धीरे हमलोगों के देखते-देखते, उसके जवान बेटे की अर्थी उठ कर रही! दूसरे ही दिन उसका सारा परिवार गाँव छोड़कर चला गया!

अरे, यह बुढ़िया नहीं, काल है! आदमी नहीं, साँपिन है। चलती-फिरती चुड़ैल! बाभनी है, नहीं तो, इसे ज़िन्दा गाड़ देने में कोई पाप नहीं लगता!

मामा की आँखें अब अँगारे उगल रही थीं। मैं चुप था! भावना पर दलील का क्या असर हो सकता है भला?

× × ×

शिवरात्रि का यह मेला। लोगोंकी अपार भीड़। बच्चे, जवान, बूढ़े, लड़कियाँ, युवतियाँ, बूढ़ियाँ। शिवजी पर पानी, अक्षत, बेलपत्र, फूल, फल। फिर, एक ही दिन के लिए लगे इस मेले में घूम-फिर; खरीद फरोख्त। धक्के-पर-धक्के। चलने की ज़रूरत नहीं, अपने को भीड़ में डाल दीजिए, आप-ही-आप किसी छोर पर लग जाइयेगा। बच्चों और स्त्रियों की अधिकता! उन्हींके लायक ज्यादा सौदे। खँजड़ी, पिपही, झुनझुने; मिट्टी की मूरतें, रबर के खिलौने, कपड़े के गुड्डे; रंगीन मिठाइयाँ, बिस्कुट, लेमनचूस। टिकुली, सेंदुर, चूड़ियाँ; रेशम के लच्छे, नकली गोट, चकमक के पत्ते; आईना, कंघी, साबुन; सस्ते

एसेंस और रंगीन पाउडर। भावसाव की छूट, हल्ला-गुल्ला। गहनों के झमझम में चूड़ियों की झनझन। साड़ियों के सरसर में हँसी की खिलखिल।

कहीं नाच हो रहा; कहीं बहुरुपिये स्वाँग दिखा रहे; घिरनी और चरखी पर बच्चे झूले का मजा लूट रहे।

अकस्मात् एक ओर से शोर। "पगली-पगली-पगली।" "छोड़ो-छोड़ो-छोड़ो।" "डायन, डायन, डायन।" "मारो, मारो-मारो।"

एक औरत भागी जा रही है, अधनंगी, अधमरी। लोग उसका पीछा कर रहे हैं। बात क्या है?

मेले में आई एक युवती अपने बच्चे को एक सखी के सुपुर्द कर सौदा करने गई थी। सखी ज़रा चंचल स्वभाव की थी। बच्चे चंचल होते ही हैं। सखी 'लाल छड़ी' की रंगीन मिठाई बेचनेवाले की बोली पर भूल गई—मेरी लाल छड़ी अलबत्ता; मैं तो बेचूँगा कलकत्ता! इधर बच्चा उसकी अंगुली छुड़ाकर, धीरे से वहाँसे निकलकर झुनझुनेवाले के पास पहुँच गया। जब सखी का ध्यान लाल छड़ी से टूटा, तो वह व्याकुल होकर बच्चे को खोजने निकली। देखती क्या है, एक बुढ़िया उस बच्चे को गोद में लिये झुनझुने दे रही और मिठाइयाँ खिला रही! कैसी उसकी सूरत—फटाचिटा कपड़ा, धूल से भरा शरीर, बिखरे बाल, लाल-लाल आँखें, बड़ी-बड़ी टाँग, बड़ी-बड़ी बाँह! उसे देखते ही, वह चीख पड़ी—डायन! बुढ़िया चौंकी, गुर्राई—ऐं, क्या बोलती है? किन्तु वह तो चिल्लाए जा रही थी—डायन, डायन, डायन! हल्ला देख बच्चा चीखने लगा। बुढ़िया ने बच्चे को कंधे पर लिया! वह बुढ़िया के नज़दीक पहुँचकर बच्चे को उससे छीनने की कोशिश करने लगी। एक हल्ला, एक शोर, एक ग़ौगा। अब बच्चा सखी की गोद में, और बुढ़िया को लोग पीट रहे हैं। बच्चा बार-बार उसकी ओर देखकर 'बुदिया'—'बुदिया' कह उठता है, मानों उसकी मार पर तरस खाता हो, उसकी गोद को ललक रहा हो। किन्तु कौन उसपर ध्यान देता है?

बुढ़िया भागी जा रही है; स्त्रियाँ, बच्चे, मर्द उसके पीछे लगे हैं। थोड़ी-थोड़ी देर पर वह रुकती है, दाँत दिखाती है, हाथ जोड़ती है: कभी-कभी गुस्सा होकर ढेले उठाती है। वह सिर्फ ढेले

उठाती है, लोग उसपर ढेले फेंकते हैं। इसी भगाभगी में वह एक ऐसी जगह पहुँचती है, जहाँ पहले एक कुँआँ था। अब उसकी गच खराब हो गई थी, वह भथ रहा था। भागने में व्याकुल, उसका ध्यान उस ओर न रहा; धड़ाम से उस कुँए में जा रही!

भीड़ रुकती है! कोई कहता है—मरने दो। कोई कहता है—निकालो। जबतक निर्दयता पर करुणा की विजय हो, तबतक वह जल-समाधि ले चुकती है!

यह उसकी लाश है! किसकी लाश? बुढ़िया की लाश — रूपा की आजी की लाश!

रूपा की आजी की लाश? वह यहाँ कहाँ?

रूपा की शादी बड़ी धूम से की उसने। सारी जायदाद बेचकर। जिस भोर में रूपा की पालकी ससुराल चली, उसी शाम को वह घर छोड़कर चल दी। कहाँ? कौन जाने? इतने दिनों तक वह कहाँ-कहाँ की धूल छानती, आज पहुँची थी इस मेले में! क्यों? क्या रूपा को देखने? उसके बच्चे को देखने! क्या वह रूपा का बच्चा था? उसने परिचय क्यों न दिया?

छोड़िए उस चर्चा को।

बहुत दिन हुए, रविबाबू की एक कहानी पढ़ी थी। एक भद्र परिवार की महिला हैज़े में मर गई। लोग जलाने को श्मशान ले गये। चिता सजाई जा रही थी कि वर्षा होने लगी। चिता छोड़कर लोग बगल की अमराई की मँड़ैया में छिप रहे। काली रात थी। जब वर्षा खतम हुई, उन्होंने पाया, चिता से मुर्दा गायब! क्या सियार खा गये? खोज-ढूँढ फिज़ूल गई। किन्तु, किस तरह बाबूसाहब से कहा जायगा कि उनकी आसावधानी से मुर्दा गायब हुआ? झूठमूठ चिता में आग लगाकर चले आये। इधर बेचारी महिला पानी की बूँद से जीवन पा चिता से उठी। दिनभर खेतों में छिपी रही; भद्रकुल की महिला थी। रात में जब घर पहुँची, दरवाज़ा खटखटाया। उसकी बोली सुन, लोग दौड़े—अरे, भूत, भूत! —नैहर पहुँची, वहाँ भी भूत-भूत; बहन के घर पहुँची, वहाँ भी भूत-भूत। जहाँ जाय, वहीं भूत, भूत, भूत! आखिर उसने अपने को गंगाजी की गोद में सिपुर्द कर दिया।

क्या 'रूपा की आजी' भी कुछ इसी तरह लोकापवाद की शिकार नहीं हुई? घटनाओं ने उसके साथ साजिशें कीं ; लोगोंने जल्लाद का काम किया !





देव

तपेसर भाई के बगीचे में विलायती अमरूद का एक पेड़ था। मैं कह नहीं सकता, उसकी पहली क़लम विलायत से आई थी, या कहाँसे। नई क़िस्म की चीज़ों का — खासकर वह छोटी नस्ल की हो—तो विलायती नाम पड़ते मैंने दिहातों में प्रायः देखा है। छोटे कुत्ते विलायती कुत्ते हो गये हैं! टमाटर विलायती बैंगन बन गया है।

यह वियालती अमरूद का पेड़ साधारण अमरूद के पेड़ों से छोटा। इसकी डालियाँ तुनक, लचीली। पत्ते गहरे हरे, ज्यादा चिकने और छोटे-छोटे। फल बड़ी सुपारी से बड़े नहीं, पकने पर उनपर दुधिया रंग चढ़ जाता। लेकिन, गूदा लाल टेस।

हम बच्चे इसपर किस तरह टूटते और हमसे रखवाली करने में तपेसर भाई कैसी चौकसी रखते!

"देखा है देव तुमने?—विलायती अमरूद कैसे पक गये हैं?"

"कहो, तोड़ लाऊँ ?"

"अरे, तपेसर भाई टाँग तोड़ देंगे।"

"हट, बड़े तोड़नेवाले बने हैं वह।"

वह तीर-सा सन से निकला। पेड़ों और झाड़ियों की आड़ लेता, लुकता-छिपता, कहीं झुकता, कहीं पेट के बल रेंगता, धीरे-धीरे विलायती अमरूद के पेड़ के नीचे पहुँचा और फिर बन्दर-सा, नहीं गिलहरी-सा, वह सर्र-से पेड़ पर चढ़ गया। हमने दूर से देखा, उसके छोटे-छोटे हाथ ताबड़तोड़ पके अमरूद तोड़ रहे हैं। इधर मेरी जीभ पानी-पानी हो रही थी।

लाभ से लोभ। देव धीरे-धीरे पतली-से-पतली डाली पर खिसकता गया और मैं देख ही रहा था, वह लपककर एक पका अमरूद पकड़ रहा था कि उसके पैर के नीचे की डाली अरराकर टूट गई। बायें हाथ से ऊपर की जिस पतली डाली को वह पकड़े था, वह भी उसके पूरे बोझ को बर्दाश्त न कर सकी। उसे लिये-दिये वह ज़मीन पर, धम्म से, आ रहा।

और, यह खरखराहट सुन तपेसर भाई अपनी मँडैया से सोंटा लिये निकले। देव एक मिनट भी बैठा नहीं रहा। फुर्त्ती से खड़ा हुआ और सिर पर पैर रख भागा। बूढ़े तपेसर भाई कहाँ तक दौड़ते! गाली-गुफ्ता देकर बगीचे में लौट आये।

मैं दूसरी राह से जाकर उससे मिला। उसके कोट की दोनों जेबों से पके अमरूद, पत्तियों सहित, झाँक रहे थे। लो खाओ—उसने अपना हाथ कोट के पाकेट में डालना चाहा!

अरे, यह क्या?

देखा, उसकी बाईं बाँह, निर्जीव-सी, झूल रही है। केहुनी की हड्डी उतर गई है—मालूम होता है हाथ के दो टुकड़े हो गये हैं, जो चमड़े से जुटे-मात्र हैं। देव ने उस ओर, भागने के ज़ोर में ध्यान भी न दिया था। मैंने समझा, अब इस ओर ध्यान जाते ही, देव पीड़ा से चिल्ला उठेगा, लेकिन, वह—

वह ज़रा-सा चौंका-भर। बिना आह-उफ़ किये, अमरूद की ओर इशारा करते, मुझसे बोला—जेब से निकाल लो। मैं क्या निकालता, काँपता हुआ बोला—उफ़, देव, तुम्हारी बाँह टूट गई!

जुट जायगी—वह लापरवाही से बोला और मेरे अँगोछे की ओर इशारा करते कहा—जरा इससे समेटकर इसे मेरे गले से बाँध तो दो।

उस टूटी हुई बाँह को अँगोछे में सँभालकर, झोले की तरह, उसकी गर्दन से लटकाते हुए, मैंने कितनी पीड़ा का अनुभव किया! लेकिन, उसने जरा उँह भी की? हाँ, उसकी आँखें कुछ लाल जरूर हो आईं। मैंने कहा—कैसे हो तुम, क्या दर्द नहीं मालूम होता?

होता क्यों नहीं, वाह! लेकिन, चिल्लाने से क्या? क्या उससे दर्द कम हो जायगा?—उसके होंठ हिल रहे थे।

× × ×

चारों ओर हरियाली-ही-हरियाली। खेतों में मकई, सावाँ, धान, भदई, लहरा रही। रास्तों और सड़कों पर तरह-तरह की घासें उग आईं। पेड़ों की धुली-पुँछी पत्तियाँ मन को मोह लेतीं। घरों पर कद्दू-झिगुनी आदि की लताएँ फैल रहीं।

इसी हरियाली में जन्माष्टमी पहुँच आई। आम के बगीचों में मिठुआ, बम्बई, मालदह की फसल ख़तम हो चली थी ज़रूर; लेकिन अभी फजली, भदैया, राढ़ी के गुच्छे लटक ही रहे थे। खेतों में मकई की बालों में दूध भर आया था। बारियों में अमरूद की डालियाँ और खीरे की लत्तियाँ फलों से लदी थीं। एक तो 'फलाहार' की ऐसी सुविधा, फिर दिनभर का ही तो व्रत—हम बच्चों के लिए जन्माष्टमी से बढ़कर कौन व्रत हो सकता था? हममें से अधिकांश व्रती थे।

बगीचे के बीच में जो ठाकुरबारी है, उसमें व्रत की तैयारियाँ हो रही थीं। लोगोंकी आवाजाही लगी थी। तरह-तरह के 'प्रसाद' तैयार किये जा रहे थे। धनिया भूनकर 'पंजनी' बनाने की जो तैयारियाँ हो रही थीं, उसकी सोंधी सुगन्ध हम बच्चों को पागल बना रही थी, ठाकुरबारी से कुछ दूर हट, एक पेड़ पर झूला डाले, पेंग-पर-पेंग ले रहे थे। कब सूरज डूबे, आधी रात, बीते चाँद उगे, कृष्ण भगवान जन्में और हम फँके-पर-फँके पंजनी फाँकें—हमारी अधीरता का क्या कहना?

हम सात-आठ बच्चे थे। एक-दो लड़कियाँ भी थीं। देव भी था। बिना उसके कौन पेड़ पर चढ़कर रस्सी लटकाता और उतने जोर से पेंग भी कौन देता?

पेंग-पर-पेंग। कभी गाना। कभी हाहा-हीही।

साँप! साँप!!—एक लड़की चिल्ला उठी। बगीचे से सटी जो बँसवारी थी, उसमें एक जोड़ा गेहुँअन रहता है, यह तो प्रायः सुन रखा था हमने; लेकिन, इस मध्य दुपहरी में, जब हम इतने लोग इकट्ठा होकर कोलाहल कर रहे थे, साँप निकलेगा, इसकी तो कल्पना ही नहीं थी। लड़की की आवाज़ के साथ ही हमारी नज़रें उस ओर दौड़ गईं, जिधर उसकी काँपती तर्जनी इशारा कर रही थी। बाप रे—सबके मुँह से निकला, और कई तो बेतहाशा भागे। घबरा तो हम सभी गये थे। शायद भादो की इस बिना बादल की सूर्य-किरणों की असीम गर्मी से व्याकुल हो, साँप अपनी बाँबी से निकला था और कहीं निश्चिन्त ठंढी जगह की तलाश में चला था। जब कुछ बच्चे चीखकर भागे, उनकी चीख सुनकर, वह जहाँ-का-तहाँ अड़ गया, और सिर उठाकर अच्छी तरह हमें देखना चाहा। उफ़, उसकी सूरत! ढाई हाथ से लंबाई कम नहीं। पत्तों से छनकर जो सूर्य-किरणें उसपर पड़ रही थीं, उससे उसका गेहुँआ शरीर दमक रहा था। फन काढ़े वह खड़ा था। फन चार इंच से कम चौड़ा क्या होगा? दो खूबसूरत, मादक आँखें चमक रहीं। जीभें लप-लप करतीं।

क्या किया जाय, यह सवाल उठने भी न पाया कि देखा, देव एक डंडा लिये उस ओर बढ़ रहा है। मैंने उसे रोकना चाहा। हमने सुन रखा था, दुनिया में साढ़े तीन ही वीर हैं। पहला भैंसा, दूसरा सूअर, तीसरा गेहुँअन और आधा राजा रामचन्द्र। भैंसे, सूअर और गेहुँअन सीधा वार करते, कभी पीठ नहीं दिखाते। रामचन्द्र वीर थे, लेकिन बाली को मारने के लिए उन्होंने पेड़ की ओट ली थी! यों, जो राजा रामचन्द्र से भी ज़्यादा वीर—उनमें से एक हमारे सामने खड़ा है, और उसे छेड़ने को यह हमारा छोटा साथी देव, एक छोटा-सा डंडा लिये, बढ़ रहा है। छोड़ो उसे, भागो—हम यह चिल्ला ही रहे थे कि देव साँप से एक लग्गी पर पहुँच चुका था। उसे अपनी ओर आते देख एक बार तो साँप ने फन समेट-कर सिर नीचा कर लिया; हमने समझा अब वह भागेगा। लेकिन, नहीं, ज्योंही देव उससे एक लग्गी पर गया, एकबारगी लगभग एक हाथ सिर उठा, फन को ज़्यादा-से-ज़्यादा चौड़ाकर, उसने वह फुफ़-कार छोड़ी, जिसने कालीनाग की कृष्ण पर की गई फुफकार की याद दिला दी। फुफकारें छोड़ता, वह सिर को लगातार हिला रहा था,

जैसे वह गुस्से में काँप रहा हो। देव, भागो—हमने चिल्लाकर कहा। लेकिन, वह उसका फन देखता, अपना डंडा सँभाले खड़ा था। न साँप एक इंच आगे बढ़ता, न देव के ही पैर आगे या पीछे उठते। इधर हमारा शरीर पसीने-पसीने हो रहा। देव की आँखें गेहुँअन की आँखों पर गड़ी थीं।

भागो—हम फिर चिल्लाये। उसी समय देखा, देव अपने डंडे को सँभाल रहा है और पलक मारते ही उसने छोटे डंडे को इस तरह तौलकर फेंका कि वह ज़ोरों से साँप के फन के ठीक नीचे, ज़मीन से लगभग एक बालिश्त ऊपर, उसकी गर्दन पर कहिए, तड़-से लगा। डंडा इस ज़ोर से लगा कि साँप फन-सहित एकबारगी उलट गया। किन्तु, दूसरे ही छन वह सँभलकर फिर डटा था। और, इस बार, मालूम होता, सिर्फ उसकी पूँछ का कुछ इंच हिस्सा ज़मीन पर है; नहीं तो वह पूरा-का-पूरा खड़ा है—फन फुलाये, झूमता, फुफकारता। मालूम होता, साक्षात् यमराज तांडव नृत्य कर रहा है! देव का हाथ खाली है; साँप कहीं उसपर टूटा, तो आज वहीं-का-वहीं रह जायगा—मैंने सोचा! लेकिन, किसकी हिम्मत जो देव की मदद में यमराज के मुँह की ओर बढ़े! देव खड़ा। कहीं उसे भय से थरथरी तो नहीं मार गई? भागो, भागो!

लेकिन, यह क्या? फिर तुरत ही साँप आप-ही-आप इस तरह ज़मीन पर गिरा कि हमने उसके गिरने की पट्ट-सी आवाज़ भी सुनी। गिरकर वह लगातार पूंछ पटकने और ज़मीन से थोड़ा ऊपर सिर उठा-उठाकर फुफकार छोड़ने लगा। उसके गिरते ही हममें से कुछ की हिम्मत हुई। गुल्ली-डंडा खेलने के लिए जो डंडे थे, उन्हें लेकर हम आगे बढ़े। मालूम होता, पहला डंडा ऐसा लगा था कि उसकी गर्दन की हड्डी टूट गई थी, लेकिन 'बाई के झोंके में' वह उठ खड़ा हुआ था। लेकिन, बाई के बल पर टूटी हड्डी कब तक तनी रहती? वह गिरा और अब अपनी बेचारगी पर सिर धुन रहा था। हमें बढ़ते देख, देव ने हमें रोका और हमारे डंडे लेकर उसने खुद किस तरह उसे खेला-खेलाकर मारा! पहले दो-तीन डंडे अलग से ही फेंक कर मारे, फिर नज़दीक जाकर उसके धड़ पर कई डंडे लगाये। तब डंडे का एक हिस्सा उसके मुँह के नज़दीक ले जाता, साँप किच-किचाकर पकड़ता, देव खिलखिलाकर हँसता। यों ही बहुत देर तक उस साँप से वह मृत्यु-क्रीड़ा करता रहा। उसी समय देव के बाबा

एक ओर से आते दीखे। उनकी खाँस सुन देव चौंका और झट-पट बार-बार डंडे बरसाकर साँप का सिर भुर्त्ता बना, किलकारियाँ मारता भागा। हम भी उसके साथ भागे।

× × ×

देव के बावा चाहते थे, देव पढ़े। गाँव की पढ़ाई जस-तस समाप्तकर वह शहर के स्कूल में भी गया। लेकिन, वहाँ ज़्यादा दिनों तक टिक न सका।

गाँव लौटकर वह अपनी घर-गिरस्थी में लग गया। अजीब ढंग का विकास हुआ उसका। जिसने ज़रा छेड़खानी की, उससे उलझ गया। बात का जवाब हाथ से, ठेंगे का जवाब लाठी से। चाहे चौपाया भैंसा हो या दो-पाया, जिससे भिड़ गया, बिना नाथे नहीं छोड़ा। गाँव के सबसे ऊँचे बाँस की फुनगी के पत्ते वह तोड़ता, सबसे ऊँची डाल का फल वह चखता। उसकी भैंस हमेशा हरियरी पाती, उसके बैल बिना जाब के बिचरते। किसीका खेत उजड़ता हो, तो उजड़े—देव को क्या परवा? और, कौन उसके मुँह लगने की गुस्ताखी करे?

उसके चरित्र पर काला धब्बा लगानेवाली कहानियाँ भी थीं। लेकिन न जानें क्यों, मैं हमेशा ही उससे अनुरक्त रहा। कई दिन मामाजी ने डाँटा-डपटा—"क्यों उससे बातें करते हो—मिलते हो, वह बदमाश है, बदचलन है; तुम पढ़-लिख रहे हो, ऐसे लोगोंकी संगत और चाहत अच्छी नहीं।" जब वह नाराज़ी में बकते, मैं चुप-चाप सुनता। उनकी बात के औचित्य और सत्यता पर संदेह करने की कोई बात ही नहीं थी। लेकिन, सब जान-सुनकर भी मैं अपने को उससे अलग नहीं रख सकता था। क्यों? मैं तब इस तरह के तर्क का आदी भी नहीं था।

एक दिन शाम का वक़्त। मैं छुट्टी में घर आया था। प्रकृति-प्रेमी स्वभाव मुझे गाँव से खींच सरेह की ओर ले चला। रास्ते में देव मिल गया। हम दोनों चले। एक खेत में शकरकंद की लत्तियाँ इतनी घनी हो गई थीं कि उनपर पैर रखने में मखमल का मज़ा आता था। लत्तियों में जहाँ-तहाँ लाल-लाल फूल भी आ गये थे—मानों हरे मखमली फर्श पर गुलाब की कलियाँ खिली हों। मैं उसपर बैठ गया।—देव, कुछ गाओ।

"खूब! कभी मुझे गाते सुना है?"

"अच्छा, एक कहानी !"

कैसी ? आपबीती !—वह मुस्कुरा पड़ा। देव में हमने हमेशा यह गुण पाया कि वह झूठ कभी नहीं बोलता। वह अपनी प्रेम-कथाएँ कहने लगा—देहात के वे 'रोमांस' और उन रोमांसों के वे अनोखे 'ऐडवेंचर'। कब सूरज डूबा, किस तरह किरणें सिमटीं, मालूम नहीं। एकाएक अंधकार देख, अब चलें, कहकर हम चल पड़े।

थोड़ी दूर साथ आये। एकाएक देव चुप हो गया। फिर बोला—"अच्छा, आप मेरा साथ क्यों करते हैं, आपकी शिकायत होती है न?"

"पगला, शिकायत की तुम्हें क्या परवा, ऐसी बातें न किया करो।" वह फिर चुप हो रहा और बड़ी संजीदगी से बोला—"अच्छा, कोई एक काम आप मुझसे कहिए, जो मैं करूँ। कोई अच्छा काम, जो देश के लिए भी फ़ायदे का हो।"

मुझे याद आया, मैं कभी-कभी देव से देश-दशा पर कुछ बातें कर लिया करता था। मालूम होता, वे बातें उसके हृदय में गड़-सी गई थीं। किन्तु, आज उसके इस सवाल पर मैं असमंजस में पड़ गया। देव और देश ! खैर, कुछ कहना चाहिए, कह दिया—ज्यादा क्या करोगे, खादी पहनो।

लेकिन, खादी तो शहर में ही मिलती है ! और, कोई शहर यहाँ से २०-२२ मील से कम दूर नहीं। पर, देव को मानों अपनी इस कैफियत पर कुछ झेंप हुई। बोला—अच्छा, मैं किसी तरह मँगा लूँगा।

देव ने जिस दिन खादी पहनी, गाँव में एक अजीब दिल्लगी रही। लोग आपस में कहते—"सौ-सौ चूहे खाय के बिलाई चली हज को !" किन्तु, देव के मुँह पर कोई क्या बोलता ?

× × ×

सन् तीस का तूफान खत्म ही हुआ था कि बत्तीस की आँधी ज़ोरों पर चल निकली। साढ़े चार हज़ार बद-दिमाग़ों के साथ मैं भी पटना कैम्प जेल के मज़े ले रहा था।

रोज़ नये लोगों के झुंड आते, पुरानों के जाते। यह आने-जाने की क्रिया इस धड़ल्ले से जारी थी कि अब उसमें कोई हर्ष-

विषाद नहीं रह गया था। महासागर में कितनी नदियाँ गिरतीं, कितना जल भाप बनकर उड़ता—वह अपनी ही तरंगों में मस्त; घट-बढ़ का वहाँ सवाल कहाँ ?

लेकिन, एक दिन जब फाटक से एक परिचित सूरत को भीतर आते देखा और जब पता चला, वह देव है, तब आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। इधर कुछ दिनों से देव से कम सम्बन्ध रह गया था। मैं लेखक था, सम्पादक था, देशभक्त था, नेता था। अब फुर्सत कहाँ थी कि देव की कोई खोज-खबर भी रखता ?

और, देव जेल में ? यह तो कल्पना भी नहीं हो सकती थी।

किन्तु, आनन्द के उद्रेक में कुछ पूछने की फुर्सत भी कहाँ थी ? उसे अपने ही वार्ड में ले आया.। शाम का ही वक्त था। खाने-पीने के बाद तुरत ही वार्ड-बन्दी हुई। भीतर गाँव-घर का हाल-चाल पूछते, बतियाते हम दोनोंको नींद आ गई। हम पास-पास सोये थे। सोये ही थे कि बीच में मेरी नींद टूटी और पाया देव कुछ कराह रहा है—जैसे मर्मान्तिक पीड़ा होने पर धीरे-धीरे, लेकिन बड़े दर्द से, लोग कराहते हैं। देव कोई सपना तो नहीं देखता, बुरा सपना—मैंने झकझोरकर उसे उठा दिया। वह जगा। लेकिन, पूछने पर कुछ बोला नहीं। फिर उसे नींद आई, तो वही बात। एक बार और उठाया। लेकिन, कितनी बार उठाता उसे ?

कल कुनकुन ने, जो उसके साथ आया था, इसका रहस्य बताया।

अब यह देव वह पुराना देव नहीं है।

देव अपने थाने का एकछत्र नेता होकर इस बार यहाँ आया है। नेता ? हाँ। हाँ। हाँ।

लेकिन इस नेतृत्व की कैसी क़ीमत अदा करनी पड़ी है उसे ?

देव का थाना, ज़िला-भर में क्या, अपने काम से सारे प्रांत में, प्रसिद्धि प्राप्त कर गया। कांग्रेस-बुलेटिनों में उसकी चर्चा। सत्याग्रहियों की टोलियाँ लगातार सरकार को परीशान और सब-डिवीजन की छोटी-सी सब-जेल को आबाद किये रहतीं। जिले के अधिकारी बड़े घपले में। पुलिस के धावे, जब्तियाँ, जेल, जुर्माने, कुछ भी कार-गर साबित न हुए। जबतक खुराफात की जड़ देव नहीं पकड़ जाता,

तबतक सब धर-पकड़ फिजूल थी, और देव को पकड़ने की उनकी सारी चेष्टाएँ बार-बार बेकार जा चुकी थीं।

किन्तु, पुलिस जो काम हज़ार सरगर्मी दिखाकर और लाख सिर पटककर न कर सकी, एक दिन देव ने खुद कर लिया। अब थोड़ा जेल का मज़ा लिया जाय, उसने तय किया। खबर कर दी गई, अमुक दिन थाने पर जुलूस जायगा और नेतृत्व करेगा देव। दारोग़ाजी को अपनी ताक़त पर विश्वास न हुआ। कुछ सशस्त्र पुलिस लेकर इन्सपेक्टर साहब आये—पाँच हाथ का वह भीमकाय इन्सपेक्टर! जुलूस के नेता की हैसियत से देव पकड़ा गया, कुनकुन वगैरह कई और। थाने की छोटी-सी हवालात में सब ठूँस दिये गये! शाम बीती, रात आई, आधी रात। सारा आलम सन्नाटे में। उसी समय हवालात खुली। देव उठाया गया। वह बग़ल के कमरे में ले जाया गया। उसके बाद?

उसके बाद.....कुनकुन के चेहरे पर गुस्सा था, आँखें सुर्ख हो गईं। वह बोला—पूछिए नहीं, उसके बाद क्या हुआ? उफ़... इन्सपेक्टर ने.......उफ़.......

हम उसका गर्जन-तर्जन सुन रहे थे। लगातार तड़ाक-फड़ाक सुन रहे थे। किसीके गिरने और उठने की आवाज़ सुन रहे थे। क्या देवजी पर मार पड़ रही है?—लेकिन वह चिल्लाते तो नहीं हैं?

और, यही न चिल्लाना तो उनके लिए आफ़त हो गई। इन्सपेक्टर अपने चमड़े-मढ़े डंडे से, थप्पड़ से, घूँसे से, गिर पड़ने पर भारी बूटों से, लगातार प्रहार-पर-प्रहार करता रहा, लेकिन, देवजी चिल्लाते कहाँ तक, उनकी आँखों में आँसू तक न आये। आज तुम्हें रुलाऊँगा या जान से मार डालूँगा—यह थी उसकी आन, और देवजी अपनी शान पर जान दे रहे थे।

हाँ, जान दे रहे थे! मार खाते-खाते वह बेहोश हो गये। पानी पिला कर होश में लाये गये। रोते हो या मरते हो—उस इन्सपेक्टर के बच्चे ने पूछा। देवजी मुस्करा पड़े। हाँ, दारोग़ाजी ने खुद हमसे कहा था, देवजी मुस्कुरा पड़े। फिर क्या था, उसने फिर डंडे, लात-घूंसे और बूट के प्रहार शुरू किये। देव फिर बेहोश। बेहोश होकर जब देवजी गिरे, उनकी छाती पर वह बूट-सहित चढ़ गया और हुमचने लगा। दो-तीन हुमच—देवजी के मुँह से खून निकल आया—

खून, हजूर खून—दारोग़ा चिल्ला पड़ा।

मरने दो साले को—क्रोध से आग-बबूला वह इन्सपेक्टर बोला—इसने हमें तंग-तंग कर रखा था।

लेकिन, कहना जितना आसान था, खून करना अगर उतना ही आसान होता! उसने भी परिस्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया। इधर खटपट सुन हमने भी हवालात से होहल्ला किया। सुना, वह हमारी खबर लेने को भी हुमका। लेकिन, दारोगा ने हस्तक्षेप किया—हज़ूर, अगर यह बात लोगोंको मालूम हुई, हममें से एक भी इस रात को ज़िन्दा न बचेगा—आप इस जवार को नहीं जानते, हज़ूर!

इन्सपेक्टर उसी समय वहाँ से चल पड़ा। थोड़ी देर के बाद दारोगाजी देवजी को लिये हमारे पास आये।

उफ़—उनकी हालत! सारा शरीर क्षत-विक्षत!

लेकिन देवजी ने ज़रा उफ़ भी न की—न ये बातें कहीं! उस रात को ही मोटर से हमलोग सब-डिविजनल जेल में भेज दिये गये। कल होते-होते देवजी का समूचा शरीर फूल उठा। दवादारू हुई। ऊपर से अच्छे भी हुए। लेकिन, पीड़ा को ऊपर न आने देने की उन्होंने जो मर्मान्तिक चेष्टा की, उसने, मालूम होता है, पीड़ा को उनके मर्म तक पहुँचा दिया है। तबसे ही रात में, जब वह सोते हैं, यों ही कँहरते रहते हैं—कुनकुन ने कहा और एक लम्बी साँस ली।

दिन की रोशनी में मैंने देव को अच्छी तरह देखा। देह पर अब भी काले निशानों का दौरदौरा था। किन्तु, उस काले निशानों-वाली देह के अंदर जो आत्मा थी?—उज्ज्वल, ज्वलन्त, दिव्य, ऊर्जस्वल!





बालगोबिन भगत

न जाने वह कौन-सी प्रेरणा थी, जिसने मेरे ब्राह्मण का गर्वोन्नत सिर उस तेली के निकट झुका दिया था। जब-जब वह सामने आता, मैं झुककर उससे राम-राम किये बिना नहीं रहता। माना, वे मेरे बचपन के दिन थे, किन्तु ब्राह्मणता उस समय सोलहो कला से मुझपर सवार थी। दोनों शाम संध्या की जाती, गायत्री का जप होता, धूप-हवन जलाये जाते, चंदन-तिलक किया जाता और इन सारी चेष्टाओं से 'ब्रह्म' को जानकर पक्का 'ब्राह्मण' बनने की कोशिशें होतीं—ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ! इस ब्राह्मणत्व के जोश में मैंने ऐसे कई ब्राह्मणेतर लोगोंका पालागन करना छोड़ दिया था, जिन्हें गाँव के नाते से बचपन से ही करता आया था। कहाँ मैं, और, कहाँ हमारे समाज के सबसे नीचे स्तर का यह तेली—यह क्यों बरबस मेरे सिर को झुका डालता ? तेली—जिसका मुँह देखने के बाद यात्रा सुफल नहीं होती—ऐसी व्यवस्था दे रखी थी हमारे समाज ने। तेलिया-मसान, यह घृणास्पद आस्पद जुड़ा था, जिस जाति के

साथ! और, तब तक मुझमें वह ज्ञान भी नहीं था कि समझूँ कि ये सारी बातें हमारे सड़े समाज की घृणिततम मनोवृत्ति की सूचक हैं!

हाँ, बालगोबिन भगत तेली थे। किंतु तेलियों में साधारणतः पाये जानेवाला काला रंग नहीं था उनका। मँझोले क़द के गोरे-चिट्टे आदमी थे। साठ से ऊपर के ही होंगे। बाल पक गये थे। लंबी दाढ़ी या जटाजूट तो नहीं रखते थे, किन्तु, हमेशा उनका चेहरा सफेद बालों से ही जगमग किये रहता। कपड़े बिल्कुल कम पहनते। कमर में एक लंगोटी-मात्र और सिर में कबीरपंथियों की-सी कनफटी टोपी। जब जाड़ा आता, एक काली कमली ऊपर से ओढ़े रहते। मस्तक पर हमेशा चमकता हुआ रामानंदी चंदन, जो नाक के एक छोर से ही, औरतों के टीका की तरह, शुरू होता। गले में तुलसी की जड़ों की एक बेडौल माला बाँधे रहते।

ऊपर की तस्वीर से यह नहीं माना जाय कि बालगोबिन भगत साधु थे। नहीं, बिल्कुल गृहस्थ। उनकी गृहिणी की तो मुझे याद नहीं, उनके बेटे और पतोहू को तो मैंने देखा था। थोड़ी खेतीबारी भी थी, एक अच्छा साफ़-सुथरा मकान भी था।

किंतु, खेतीबारी करते, परिवार रखते भी, बालगोबिन भगत साधु थे—साधु की सब परिभाषाओं में खरे उतरनेवाले। कबीर को 'साहब' मानते थे, उन्हींके गीतों को गाते, उन्हींके आदेशों पर चलते। कभी झूठ नहीं बोलते, खरा व्यवहार रखते। किसीसे भी दो-टूक बात करने में संकोच नहीं करते, न किसीसे खामखाह झगड़ा मोल लेते। किसीकी चीज़ नहीं छूते, न बिना पूछे व्यवहार में लाते। इस नियम को कभी-कभी इतनी बारीकी तक ले जाते कि लोगोंको कुतूहल होता!—कभी वह दूसरे के खेत में शौच के लिए भी नहीं बैठते! वह गृहस्थ थे; लेकिन, उनकी सब चीज़ 'साहब' की थी। जो कुछ खेत में पैदा होता, सिर पर लादकर पहले उसे साहब के दरबार में ले जाते—जो उनके घर से चार कोस दूर पर था—एक कबीरपंथी मठ से मतलब! वह दरबार में 'भेंट' रूप रख लिया जाकर 'प्रसाद' रूप में जो उन्हें मिलता, उसे घर लाते और उसीसे गुज़र चलाते!

इन सबके ऊपर, मैं तो मुग्ध था उनके मधुर गान पर—जो

सदा-सर्वदा ही सुनने को मिलते। कबीर के वे सीधे-सादे पद, जो उनके कंठ से निकलकर सजीव हो उठते।

आसाढ़ की रिमझिम है। समूचा गाँव खेतों में उतर पड़ा है। कहीं हल चल रहे हैं, कहीं रोपनी हो रही है। धान के पानी-भरे खेतों में बच्चे उछल रहे हैं। औरतें कलेवा लेकर मेंड़ पर बैठी हैं। आसमान बादल से घिरा; धूप का नाम नहीं। ठंढी पुरवाई चल रही। ऐसे ही समय आपके कानों में एक स्वर-तरंग झंकार-सी कर उठी। यह क्या है—यह कौन है! यह पूछना न पड़ेगा। बालगोबिन भगत समूचा शरीर कीचड़ में लिथड़े, अपने खेत में रोपनी कर रहे हैं। उनकी अंगुली एक-एक धान के पौदे को, पंक्तिबद्ध, खेत में बिठा रही है। उनका कंठ एक-एक शब्द को संगीत के ज़ीने पर चढ़ाकर कुछ को ऊपर, स्वर्ग की ओर भेज रहा है और कुछको इस पृथ्वी की मिट्टी पर खड़े लोगोंके कानों की ओर! बच्चे खेलते हुए झूम उठते हैं; मेंड़ पर खड़ी औरतों के होंठ काँप उठते हैं, वे गुनगुनाने लगती हैं; हलवाहों के पैर ताल से उठने लगते हैं; रोपनी करनेवालों की अंगुलियाँ एक अजीब क्रम से चलने लगती हैं! बालगोबिन भगत का यह संगीत है या जादू!

भादों की वह अंधेरी अधरतिया। अभी, थोड़ी ही देर पहले मूसलधार वर्षा खत्म हुई है। बादलों की गरज, बिजली की तड़प में आपने कुछ नहीं सुना हो, किंतु अब झिल्ली की झंकार या दादुरों की टर्र-टर्र बालगोबिन भगत के संगीत को अपने कोलाहल में डुबो नहीं सकतीं। उनकी खँजड़ी डिमक-डिमक बज रही है और वे गा रहे हैं—"गोदी में पियवा, चमक उठे सखिया, चिहुँक उठे ना!" हाँ, पिया तो गोद में ही है, किन्तु वह समझती है, वह अकेली है, चमक उठती है, चिहुँक उठती है। उस भरे-बादलोंवाले भादों की आधीरात में उनका यह गाना अँधेरे में अकस्मात् कौंध उठनेवाली बिजली की तरह किसे न चौंका देता? अरे, जब सारा संसार निस्तब्धता में सोया है, बालगोबिन भगत का संगीत जाग रहा है, जगा रहा है! —तेरी गठरी में लागा चोर, मुसाफिर जाग जरा!

कातिक आया नहीं कि बालगोबिन भगत की प्रभातियाँ शुरू हुईं, जो फागुन तक चला करतीं। इन दिनों वह सबेरे ही उठते। न जाने किस वक़्त जगकर वह नदी-स्नान को जाते—गाँव से दो मील दूर! वहाँसे नहा-धोकर लौटते और गाँव के बाहर ही, पोखरे के

ऊँचे भिंडे पर, अपनी खँजड़ी लेकर जा बैठते और अपने गाने टेरने लगते। मैं शुरू से ही देर तक सोनेवाला हूँ; किन्तु, एक दिन, माघ की उस दाँता-किट-किटवाली भोर में भी, उनका संगीत मुझे पोखरे पर ले गया था। अभी आसमान के तारों के दीपक बुझे नहीं थे। हाँ, पूरब में लोही लग गई थी, जिसकी लालिमा को शुक्र तारा और बढ़ा रहा था। खेत, बगीचा, घर—सबपर कुहासा छा रहा था। सारा वातावरण अजीब रहस्य से आवृत मालूम पड़ता था। उस रहस्यमय वातावरण में एक कुश की चटाई पर पूरब मुँह, काली कमली ओढ़े, बालगोबिन भगत अपनी खँजड़ी लिये बैठे थे। उनके मुँह से शब्दों का ताँता लगा था, उनकी अंगुलियाँ खँजड़ी पर लगातार चल रही थीं। गाते-गाते इतने मस्त हो जाते, इतने सुरूर में आ जाते, उत्तेजित हो उठते कि मालूम होता, अब खड़े हो जायँगे। कमली तो बार-बार सिर से नीचे सरक जाती। मैं जाड़े से कँपकँपा रहा था, किन्तु, तारे की छाँव में भी उनके मस्तक के श्रमबिंदु, जब-तब, चमक ही पड़ते।

गर्मियों में उनकी 'संझा' कितनी ही ऊमसभरी शाम को न शीतल करती! अपने घर के आँगन में आसन जमा बैठते। गाँव के उनके कुछ प्रेमी भी जुट जाते। खँजड़ियों और करतालों की भरमार हो जाती। एक पद बालगोबिन भगत कह जाते, उनकी प्रेमी-मंडली उसे दुहराती, तिहराती। धीरे-धीरे स्वर ऊँचा होने लगता—एक निश्चित ताल, एक निश्चित गति से। उस ताल–स्वर के चढ़ाव के साथ श्रोताओं के मन भी ऊपर उठने लगते। धीरे-धीरे मन तन पर हावी हो जाता। होते-होते, एक क्षण ऐसा आता कि बीच में खँजड़ी लिये बालगोबिन भगत नाच रहे हैं और उनके साथ ही सबके तन और मन नृत्यशील हो उठे हैं। सारा आँगन नृत्य और संगीत से ओत-प्रोत है!

बालगोबिन भगत की संगीत-साधना का चरम उत्कर्ष उस दिन देखा गया, जिस दिन उनका बेटा मरा। एकलौता बेटा था वह! कुछ सुस्त और बोदा-सा था, किंतु इसी कारण बालगोबिन भगत उसे और भी मानते। उनकी समझ में ऐसे आदमियों पर ही ज़्यादा नज़र रखनी चाहिए या प्यार करना चाहिए, क्योंकि ये निगरानी और मुहब्बत के ज़्यादा हक़दार होते हैं। बड़ी साध से उसकी शादी कराई थी, पतोहू बड़ी ही सुभग और सुशील मिली थी। घर की पूरी

प्रबंधिका बनकर भगत को बहुत–कुछ दुनियादारी से निवृत कर दिया था उसने। उनका बेटा बीमार है, इसकी खबर रखने की लोगोंको कहाँ फुर्सत! किन्तु मौत तो अपनी ओर सबका ध्यान खींच कर ही रहती है। हमने सुना, बालगोबिन भगत का बेटा मर गया। कुतूहलवश उनके घर गया। देखकर दंग रह गया। बेटे को आँगन में एक चटाई पर लिटाकर एक सुफ़ेद कपड़े से ढाँक रखा है। वह कुछ फूल तो हमेशा ही रोपे रहते, उन फूलों में से कुछ तोड़कर उसपर बिखरा दिये हैं; फूल और तुलसीदल भी। सिरहाने एक चिराग़ जला रखा है। और, उसके सामने ज़मीन पर ही आसन जमाये गीत गाये चले जा रहे हैं! वही पुराना स्वर, वही पुरानी तल्लीनता। घर में पतोहू रो रही है, जिसे गाँव की स्त्रियाँ चुप कराने की कोशिश कर रही हैं। किन्तु, बालगोबिन भगत गाये जा रहे हैं! हाँ, गाते-गाते कभी कभी पतोहू के नज़दीक भी जाते और उसे रोने के बदले उत्सव मनाने को कहते। आत्मा परमात्मा के पास चली गई, विरहिनी अपने प्रेमी से जा मिली, भला इससे बढ़कर आनंद की कौन बात? मैं कभी-कभी सोचता, यह पागल तो नहीं हो गये। किंतु, नहीं, वह जो–कुछ कह रहे थे, उसमें उनका विश्वास बोल रहा था—वह चरम विश्वास, जो हमेशा ही मृत्यु पर विजयी होता आया है।

बेटे के क्रिया-कर्म में तूल नहीं किया; पतोहू से ही आग दिलाई उसकी। किंतु ज्योंही श्राद्ध की अवधि पूरी हो गई, पतोहू के भाई को बुलाकर उसके साथ कर दिया, यह आदेश देते हुए कि इसकी दूसरी शादी कर देना। उनकी जाति में पुनर्विवाह कोई नई बात नहीं, किंतु, पतोहू का आग्रह था कि वह यहीं रहकर भगतजी की सेवा-बंदगी में अपने वैधव्य के दिन गुज़ार देगी। लेकिन, भगतजी का कहना था—नहीं, यह अभी जवान है, वासनाओं पर बरबस काबू रखने की उम्र नहीं है इसकी। मन मतंग है, कहीं इसने गलती से नीच-ऊँच में पैर रख दिये तो। नहीं-नहीं, तू जा। इधर पतोहू रो-रोकर कहती—मैं चली जाऊँगी तो बुढ़ापे में कौन आपके लिए भोजन बनायगा. बीमार पड़े, तो कौन एक चुल्लू पानी भी देगा? मैं पैर पड़ती हूँ, मुझे अपने चरणों से अलग नहीं कीजिए! लेकिन भगत का निर्णय अटल था। तू जा, नहीं तो, मैं ही इस घर को छोड़कर चल दूँगा—यह थी उनकी आखिरी दलील और इस दलील के आगे बेचारी की क्या चलती?

बालगोबिन भगत की मौत उन्हींके अनुरूप हुई। वह हर वर्ष गंगा-स्नान करने जाते। स्नान पर उतनी आस्था नहीं रखते, जितना संत-समागम और लोक-दर्शन पर। पैदल ही जाते। करीब तीस कोस पर गंगा थी। साधु को सम्बल लेने का क्या हक? और, ग्रहस्थ किसीसे भिक्षा क्यों माँगे? अतः, घर से खाकर चलते, तो फिर घर पर ही लौट कर खाते। रास्ते भर खँजड़ी बजाते, गाते जाते; जहाँ प्यास लगती, पानी पी लेते। चार-पाँच दिन आने-जाने में लगते; किन्तु, इस लम्बे उपवास में भी वही मस्ती! अब बुढ़ापा आ गया था, किन्तु टेक वही जवानीवाली। इस बार लौटे, तो तबीयत कुछ सुस्त थी। खाने-पीने के बाद भी तबीयत नहीं सुधरी, थोड़ा बुखार आने लगा। किंतु नेम-व्रत तो छोड़नेवाले नहीं थे। वही दोनों जून गीत, स्नान-ध्यान, खेतीबारी देखना। दिन-दिन छीजने लगे। लोगोंने नहाने-धोने से मना किया, आराम करने को कहा। किंतु, हँसकर टाल देते रहे। उस दिन भी संध्या में गीत गाये, किन्तु, मालूम होता, जैसे तागा टूट गया हो, माला का एक-एक दाना बिखरा हुआ। भोर में लोगोंने गीत नहीं सुना, जाकर देखा, तो बालगोबिन भगत नहीं रहे, सिर्फ उनका पंजर पड़ा है!





भौजी

मैं ज़िंदगी में पहले-पहल उस दिन पालकी पर बैठा था। भैया की शादी होने जा रही थी। मैं शहबाला था। पालकी पर भैया थे, मैं था। चार मुस्तंडे कहार हमें ढोये जाते। पालकी के भीतर चमकीले गुच्छे लटक रहे, ऊपर कारचोबी का काम चमचम कर रहा। आगे-पीछे बाजे बज रहे—ढोल, शहनाई, बाँसुरी, ताशे, सिंघे। सबको मिलाकर एक अजीब ढंग का शब्द हो रहा। बगल में बलम लिये और पताके फहराते पायक चल रहे। हमारे बोदल ठाकुर हजाम हमपर चँवर डुला रहे। घोड़े तो सवारों को लेकर सर-से आगे निकल गये थे, हाथी के घंटे हम सुन रहे थे।

भैया सजे-सजाये थे। रंगीन, चकमक कपड़े पहने, सर पर ज़री की टोपी दिये। उनके मस्तक पर चंदन की अजीब छाप थी, आँखों में काजल था, एक रूमाल से वह, मसें भीगी हुई हैं जिनपर, अपने उन अधरों को ढाँपे हुए थे। न जाने भैया के मन में क्या-क्या भाव उठ रहे थे? किन्तु मैं तो मस्त था अपनी इस पहली बरात-यात्रा पर, बाजे-गाजों पर। हाँ, कभी-कभी सोचता, भौजी को भैया से पहले तो मैं ही देखूंगा न!

शाम को बरात दरवाज़े लगी। अच्छी बरात थी, अच्छा परिछावन हुआ। चूने से पुता हुआ भैया की ससुराल का वह खपरैल मकान कोलाहल से फटा जा रहा था। दरवाजे के भीतरी हिस्सों में स्त्रियों का एक अच्छा-खासा झुंड भैया का चुमावन कर रहा था। भैया के हाथों में पान-सुपारी रखे गये, रुपये रखे गये, दही की छोटी मटकी रखी गई। भैया की इस आवभगत पर मेरे मन में कुछ ईर्ष्या जगी ही थी कि एक युवती मेरे गाल पर दही लगाकर ठठा पड़ी-- हँसी की एक तरंग-सी उठ गई! सभी स्त्रियाँ--नहीं युवतियाँ-- ठहाके मारकर ज़ोर-ज़ोर से हँस रही थीं।

इस हँसी के साथ ही हमारे कानों में अट्टहासों का एक हजूम आकर टकराया। दरवाजे के बाहरी हिस्से में सरातियों और बरातियों में दिल्लगियाँ चल रही थीं। दोनों पक्ष ज़बानदराज़ी से नहीं, अट्टहासों के ज़ोर से एक दूसरे को पराजित करने की कोशिशें कर रहे थे। बहुत देर तक हँसी होती रही, किन्तु अन्त में हँसी-हँसी में तनातनी हो गई--मक्खन में मानों रेत मिल गई। बरात में मेरे फूफाजी भी आये हुए थे। मेरे फूफाजी गोरे खूबसूरत नौजवान थे। चम्पारण में उनका घर था। उस ज़माने में, उनके यहाँ सिर पर ज़ुल्फ रखाने का रिवाज था। शौकीन नौजवान सिर पर लम्बे घुँघराले बाल रखते, जिन्हें कंघी से दो हिस्सों में बड़ी सुघराई से बाँटे रहते। भैया की ससुराल का गाँव, संस्कृति के लिहाज़ से, बहुत पिछड़ा था, इसमें तो शक ही नहीं। फूफाजी के इस बाल पर किसीने भद्दा मज़ाक कर दिया। फूफाजी शरीफ थे, चुप रहे। किन्तु, हमारे पक्षवालों ने इसे बुरा मान लिया--उनके अपमान को अपने सर्वश्रेष्ठ आदरणीय अतिथि का अपमान समझा! बात-बात में बात बढ़ गई--किसीने गुस्से में कह दिया, बरात लौटा ले चलो। फिर क्या था, एक अजीब हुरदंग मच रहा!

'चलो चलो' और 'घेरो घेरो' का दौरदौरा हुआ। घोड़ेवाले तो घोड़े दौड़ाकर निकल गये, हाथी को लोगोंने लट्ठ से घेर लिया। बराती-सराती इस तरह से मिल गये कि समझ में नहीं आता था, कौन क्या है। हमारी पालकी एक अजीब ढंग मे चक्कर काट रही थी। कभी एक पक्ष उसे दस गंज आगे घसीट ले जाता, तो कभी दूसरा पक्ष दस गज पीछे। बिचारे कहार हक्के-बक्के बने हुए थे। कभी-कभी मैं पालकी में से ही लाठियों की खटखट सुनता। यह अजीब

बरात! पहली ही बरात का यह अजीव अनुभव! खैर, थोड़ी देर में फिर शांति हुई। मेरे बाबा बड़े ही शांतचित्त व्यक्ति थे। उन्हींके प्रयत्न से शांति हुई। बरात जनवासे में आई। जब सबलोग निश्चिन्त हुए, बाबा को कहते सुना—"बुरी जगह पोते की शादी की! भगवान इनकी छाप से इनके वालबच्चों को बचाये।"

× × ×

भारतीय परिवार में भौजी का वही स्थान है, जो मरुभूमि में 'ओयसिस' का। धधकती हुई बालू की लू-लपट में दिन-दिन, रात-रात चलते-चलते जब मुसाफिर दूर से खजूरों की हरी-हरी फुनगी देखता है, उसकी आँखें ही नहीं तृप्त हो जातीं, उसके शरीर का रोम-रोम पुलकित और उसकी शिराओं का एक-एक रक्त-बिन्दु नृत्यशील हो उठता है। कुछ क्षणों के लिए उसका सारा जीवन हरीतिमामय हो जाता है; खजूरों की उस झुरमुट में वह मीठे फल और मीठा पानी पाता है। एकाध दिन वहीं रहकर वह आनन्द मनाता है, रक्त संचय करता है, फिर ताज़गी और नई उमंग लेकर आगे बढ़ता है, आगे—जहाँ, फिर वही अनन्त बालुका-राशि है।

भारतीय जीवन में यह जो रूखा-सूखापन सर्वत्र दीख पड़ता है, उसका कारण ढूँढ़ने में अपना वक्त बर्बाद नहीं करूँगा। लेकिन, आप जिधर जाइए, इधर-उधर जिधर नज़र दौड़ाइए, उसका राज्य-साम्राज्य पायँगे। खिचा-खिचा चेहरा, रसहीन नयन, दुबला-पतला शरीर, मुर्झाया मुर्दा-सा मन—यही है भारतीय मानवता का साधारण ढाँचा। जो कम बोले, हँसे नहीं, मुश्किल से मुस्कुराये, हमेशा अपने इर्द-गिर्द मुहर्रम का वातावरण बनाये रहे, उसकी सज्जनता और शिष्टता की प्रशंसा होती है। जिसका खेलकूद में मन लगा, गाने-बजाने का शौक हुआ या नाट्य-प्रहसन की ओर जिसकी प्रवृत्ति हुई, बस, वह लोगोंकी नज़रों से गिरा। मानता हूँ, हम होली खेलते हैं, विजया मनाते हैं और दीवाली सजाते हैं, किंतु वे हमारी ज़िन्दगी के 'पासिंग फेज़' हैं। हमारी ज़िन्दगी के साथ नत्थी है बारहमासा मुहर्रम—मनहूसियत, मुर्दनी!

परिवार को ही लीजिए। पति अपनी पत्नी से बचे-बचे फिरने की कोशिश करता है—पत्नी की शर्म या संकोच का क्या कहना? चुपचोरी से मिलो, होंठ-होंठ से बातें करो और देखो, हँसी घूँघट या

रूमाल से बाहर न निकले ! बेटी-बेटे अपने पिता-माता के सामने हँसना-इठलाना बुरा समझते हैं। किसीके घर में अगर कोई वृद्ध पितामह बचे हैं, तब तो मानों सबके मुँह पर ताला लग गया ! जवान बहनें भाई के सामने आने-जाने में संकोच करती हैं, तो भाई भी उनसे अलग-अलग ही रहने की कोशिश करता है। छोटे भाई की पत्नी की छाया भी बड़े भाई पर नहीं पड़नी चाहिए। बहुएँ सास को देखते ही सहम उठती हैं—जेठानी सास नं० २ का काम करती हैं। जो लड़की हँसती-खेलती, चुहलें करती या तेज़ी से चलती है, उसकी ज़िन्दगी मुहाल—"तिरिया चंचल अति बुरी !" क्या कवि गिरधरदास नहीं कह गये हैं ?

इस तरह के निरानन्द और निस्पन्द जीवन में भौजी की स्थिति —सचमुच अरब में हरा-भरा नखलिस्तान ! घर-भर में और कहीं जो कुछ हो, जहाँ भौजी, वहाँ विनोद और व्यंग्य हमेशा मँडराया करते हैं, रंग जहाँ तरंग पैदा करता है। किशोरी ननदें और नौजवान देवरों का जमघट—हाहा-हाहा, हीही-हीही—लपट-झपट, उठा-पटक ! छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियाँ भी जहाँ अपनेको रस में शराबोर करने से बाज नहीं आतीं !

भौजी आईं, मेरा घर भी आनन्दकुंज बन गया। भौजी अभी बिलकुल किशोरी थीं। उनके अधरों पर पूरा रस नहीं आया था, उनके अंग अभी पूरे भरे नहीं थे। लम्बी पतली छड़ी-सी ! लेकिन सोने की छड़ी नहीं—इसे कहने में मैं संकोच नहीं करूँगा। उनका वर्ण द्रविड़-आर्य-रक्त के सुन्दर सम्मिश्रण का नमूना था। वर्ण ही नहीं, गठन भी। उन्नत ललाट; भवें उठी हुईं पतली-पतली। काले बालों में घुँघरालापन—जब उन्हें खोलती, तब अजीब लहरदार मालूम होते वे—गिर्दाबों से भरी यमुना की धारा ! नाक ललाट के नजदीक जाकर जरा चिपक-सी गई, किन्तु उसका अग्रभाग काफी सुन्दर, मोहक ! होंठ कुछ मोटे, किन्तु चिबुक का रसीलापन उनके इस किंचित् ऐब को ढँक देता। और, उन होठों के भीतर जो पंक्तिबद्ध सुन्दर, चमकीले दाँत थे !—जब भौजी हँसती, सचमुच मोती झड़ने लगते ! मुझे अपने बचपन में तो ऐसा ही मालूम होता था।

थोड़े ही दिनों में भौजी ने सबको अपने स्नेह-सूत्र में बाँध लिया ; घर की बड़ी-बूढ़ियों की भी वह प्रशंसापात्र बन गईं। भौजी उनका सेवा-सत्कार करतीं, उनके आदेशों को सिर-आँखों पर लेतीं।

भौजी में हुनर भी अच्छे थे। वह बढ़िया सिलाई करतीं, कसीदा काढ़तीं। जब खाना बनाने लगीं, उनकी तारीफ और बढ़ गई। अच्छा खाना ही नहीं बनातीं, बहुत ही बढ़िया ढंग से परोसतीं। परोसने की भी एक कला होती है, यह भौजी ने सिद्ध कर दिया। भौजी की तारीफ़ें होतीं, भैया की माँ, मेरी चाची, फूली नहीं समातीं। ऐसी सुन्दर सुघड़ पतोहू पाकर भला कौन सास अपने को कृतकृत्य नहीं समझेगी?

भौजी का घर हम देवरों का केलि-भवन था। ज्योंही गाँव की पाठशाला से छुट्टी मिली, हम दौड़े-दौड़े भौजी के घर में घुसे। भौजी हँसकर हमारा स्वागत करतीं, जलपान करातीं, सुपारी-लौंग देतीं, जिनमें मुनक्के भी मिले होते। भौजी से गप्पे लड़तीं, खेल होते। दिल्लगियाँ होतीं, गालियाँ होतीं, हाथापाई और धमाचौकड़ी भी। भौजी अभी किशोरी ही थीं, हम कई देवर मिलकर उन्हें पराजित भी कर देते। कभी-कभी हम मौज में आते, तो उस छोटे से घर में ही आँख-मिचौनी भी खेल लेते। गृहस्थ का घर था, लम्बा-चौड़ा—अगल-बगल, जगह-ज़गह, अन्न रखने की मिट्टी की कोठियाँ पड़ी थीं। एक कोने में एक बड़ा-सा काठ का संदूक था। हम उन्हीं की आड़ में छिपते-छिपाते। एक दिन मुझे एक नई बात सूझी। मैं एक कोठी पर चढ़कर घर की मोटी धरन पर जा छिपा। भौजी घर के कोने-कोने में खोजकर हार गईं। कोठियों की ओट में, सन्दूक के पीछे और नीचे मैं नहीं मिला, तो उन्होंने कोठियों के पेट में भी झाँकना शुरू किया। इसी समय मैं धरन पर से अट्टहास कर उठा। वह चौंकीं, चकित हुईं। तबतक मैं कोठी पर होते उनकी गर्दन पर था, वह मुझें लिये-दिये खाट पर आ रहीं। हँसते-हँसते हम दोनों के पेट में गुदगुदी लग रही थी!

उस साल जो पहली होली आई, उसकी बात मत पूछिए! वसन्तपंचमी से होलिका-दहन तक, एक महीना दस दिनों तक, हम रंग में शराबोर थे। कहींसे खेलते-कूदते आये, या तो भौजी ने ही हमारे गालों में हुदक्का दे दिया या हमने ही उनके गालों पर अबीर मल दी। खास होली के दिन, पहले तो हमने उन्हें खूब मिट्टी-पानी से चहबोच दिया और दोपहर के बाद तो बिल्कुल रंग में ही जैसे डुबो दिया हो। गाँव भर की ननदें और देवर आये थे, सबने अपने मन के अरमान निकाले। सबकी खातिर-बात भौजी ने उसी प्रेमभाव से की। सबकी ज़बान पर भौजी की तारीफ थी। लोग यह भूल ही

गये कि भौजी उस गाँव से आई हैं, जिसकी निन्दा करते ही सभी बराती लौटे थे।

× × ×

इसके दस बरस बाद की बात है!

मैं अब शहर में पढ़ता हूँ। कभी-कभी ही घर पर जाना होता है। घर भी वह पुराना घर नहीं रह गया। समूचा शीराज़ा बिखर चुका है। एक ही घर में कई चूल्हे जल रहे हैं, आपस में बाँट-बखरा हो चुका है। चाचा और भैया भी जुदा हो चुके हैं, भौजी भी हमसे अलग हैं। उनकी सास, मेरी चाची मर चुकी हैं, अब भौजी ही अपने घर की मालकिन हैं। उनकी गोद में एक बच्चा है—मेरा प्यारा भतीजा।

लोगोंके चूल्हे ही नहीं अलग हुए हैं, दिल भी जुदा हो चुके हैं। न वह प्रेमभाव है, न वह शील-स्वभाव। सारा घर कलह में फँसा हुआ है। मर्द तो भर-दिन काम-धंधे में फँसे रहते हैं, अलग-अलग खेत-खलिहानों में लगे रहते; किन्तु औरतें तो एक ही आंगन में, रूटीन के दो-चार काम—खाना बनाना आदि—करतीं और बाकी समय में हुक्का पी-पीकर झगड़तीं। खाना बनाते समय भी उनके मुँह बंद रखने की तो ज़रूरत नहीं होती! कलह-कलह-कलह! सारा घर जैसे नरक बन गया। घर के कुछ बुजुर्ग—जैसे बाबा या बड़े चाचा —खाने आते, तो कुछ देर के लिए जैसे विरामसंधि हो जाती, नहीं तो कलह का चर्खा दिन-रात चला करता, हाँ, निद्रा-माई भले ही उसमें कुछ घंटों का व्यवधान कर दें!

और, इस कलह में भौजी का स्थान—कुछ पूछिए मत? खानदान और प्रारम्भिक वातावरण का क्या असर होता है, स्पष्ट देखिए। दस वर्षों तक जो बारूद राख के नीचे ढँपी थी, वह अचानक विस्फोट कर उठी है! जिस मुँह से कभी फूल झड़ते, अब उससे बिष-बुझे तीर निकलते। भौजी की गालियाँ—अरे, कलेजे को भी जैसे आरपार कर जायँ। स्त्रियों का सम्मान होना चाहिए, भाभी का दर्जा माता का है—नई रोशनी की पुस्तकों में मैंने पढ़ रखा था। वह मैं, एक दिन धीरज खो बैठा। मैं घर के इस कलह से दूर रहने की कोशिश करता, फिर मैं भौजी के बच्चे को दिन-भर कंधे पर लिये चलता। मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि भौजी के वाणों का निशाना मुझे भी होना पड़ेगा। किन्तु, यह क्या? उस दिन मैं खाने गया। देखा, आँगन में कुहराम मचा है। मैंने धीमे से भौजी से

कहा—थोड़ी देर मेहरबानी कीजिए, फिर इस घर को नरक तो रहना ही है। बस क्या था, भौजी बरस पड़ीं और एक-पर-एक ऐसे तीर ताक-ताककर कलेजे में मारे कि मैं आपे में नहीं रहा। क्रोध में पागल हो, बेहोशी में क्या करने जा रहा था, यह तब पता चला, जब देखा, भैया मुझे पकड़े हुए हैं और भौजी घर में किवाड़ बंद कर चीत्कार कर रही हैं।

यह नहीं कि भैया मुझसे झगड़ रहे थे या भौजी पर मैंने हाथ छोड़ा था। मुझे अपनी ओर बढ़ते देखकर पहले तो उन्होंने ताने-पर-ताने दिये, जैसे मैं उनसे रुक जाऊँगा; फिर भागकर घर में बंद हो गईं और ज़ोर से चिल्ला पड़ीं, जैसे मैंने उन्हें पीटा ही हो। हल्ला सुनकर भैया दौड़े हुए आये थे और अब मुझे आँगन से बाहर ले जाने की कोशिश में थे। निस्संदेह, मैं अपने इस गुस्से पर शर्मिन्दा था। यदि भौजी ने अपना बचाव नहीं किया होता, वक़्त पर भैया नहीं आ गये होते, मुझसे कुछ अक्षम्य अपराध हो गया होता और इसका प्रभाव घर पर क्या पड़ता, कह नहीं सकता!

किन्तु, इस घटना से मैंने एक सबक़ लिया। ज्योंही घर का सूत्र मेरे हाथों में आया, मैंने अपने परिवार को उस घर से अलग करने का निश्चय कर लिया। अलग मकान बनाया और उसीमें चला आया। लेकिन, थोड़े ही दिनों में मैंने देखा, भौजी साधारण स्त्री नहीं हैं। जब-तब वह वहाँ आकर भी अपने दिल का बुखार उतार जाती हैं। क्या गाँव ही छोड़ देना पड़ेगा, कभी-कभी मैं सोचता। और, शायद वही करता, अगर एक और बात नहीं होती! और, खास उसी बात के लिए आज ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। नहीं तो, अपनी स्वर्गीया भौजी की जगहँसाई के लिए अपनी क़लम उठाने के पहले उसे तोड़ देना मैं पसंद करता!

वह क़लम टूट जाय, जो निन्दा के लिए ही उठती है!

हमारे एक दोस्त हैं—एक सम्पादक दोस्त। कट्टर राष्ट्रीयतावादी और हम हैं समाजवादी। अतः ऐसे मौके आते ही रहते हैं कि हमसे नाराज़ होकर अपने पत्र के कालमों को हमें खरी-खोटी सुनाने में सर्फ करते हैं। उनकी निर्मम आलोचनाएं—उफ़, हम तिलमिला उठते हैं!

किन्तु, यह देखा है, ज्योंही सरकार ने हमपर प्रहार किया, या किसी दक़ियानूसी अखबार ने हमारी निन्दा की, बस,

उनकी आलोचनाओं की बैटरी उस ओर मुड़ी। मानों, उनकी दलील हो—ये हमारे हैं, हम इन्हें गाली दें या पुचकारें; भला तुम कौन होते हो इनकी ओर आँख उठानेवाले? आँख उठाओगे, तो उसे फोड़ दूँगा। हाँ, कुछ इसी जोश-खरोश से वह टूटते हैं उनकी ओर! और, यह कहना तो फिज़ूल ही है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख में वे इस तरह हमारे शरीक होते हैं कि यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वह हमारे तीव्र आलोचक भी रह चुके हैं!

मेरी भौजी की भी यही हालत थी।

वह हमें गालियाँ देतीं, हमसे झगड़े करतीं, हमारी ज़िन्दगी हराम किये रहतीं। किन्तु, मान लीजिए, वह बक-झक कर रही हों कि उन्हें खुश करने या उत्साहित करने को कोई स्त्री बीच में टपक पड़ी और हमें खरी-खोटी सुनाने लगी। फिर क्या, भौजी झट उसपर उलट पड़ीं—"किसने तुम्हें कहा, मेरे बीच में पड़ने को? वे बुरे हैं और तुम—हट मेरे सामने से। सूप हँसे छलनी को, जिसमें सहस्सर छेद! मैं तुम्हें नहीं जानती, डायन कहीं की। किंतु, मुझपर तुम्हारा डायन-पन नहीं चलेगा, मैं निकाल लूँगी आँख, खींच लूँगी जीभ! ओझा बुला के नंगी नचवा दूँगी—मेरे नैहर में हैं एक ओझा कि देखते ही डायनें कपड़े खोल देती हैं। हाँ!—वे बुरे हैं, तो तुम्हारा क्या बिगाड़ा? मैं समझ लूँगी उनसे। मैं दबैल हूँ, जो किसीकी मदद खोजूँ? निकल, यहाँसे......." योंही क्या-क्या न बकने लगीं। वह बेचारी भौंचक, चुप; रफूचक्कर हुई, नहीं तो, हमसे झगड़ा छूट-कर उसीसे जा जुटा। और, इन ज़बान के झगड़ों में कौन उनसे पार पाये?

फिर, ज्योंही कोई व्रत-त्योहार आया कि पूरी विरामसंधि हो गई। यों तो भौजी का वदन इस तरह का कसा हुआ था कि वह हमेशा ही अपनी उम्र से छोटी दीख पड़तीं, चालीसवें वर्ष में भी चेहरे पर आव, दाँतों में चमक, छाती पर उभाड़, चाल में मस्तानापन। किन्तु, व्रत-त्योहारों में अपने को सजधज कर रखने में कभी न चूकतीं। होली में तो जैसे पागल हो उठतीं। अपने अधबयस—चिन्ता से जर्जर देवरों को खोज-खोज के बुलातीं, हाथापाई करतीं, कीचड़ में उन्हें नहलातीं और स्नानादि के बाद उनपर अबीर और अबरख डालतीं। ऐसी एक भी होली की मुझे याद नहीं, जब भौजी के हाथ से मिट्टी-पानी अबीर-अबरख पाने और मालपुए-गुलगुले खाने का मौक़ा

नहीं मिला हो। भौजी का बेटा सयाना हो चला था, लड़की भी काफी बड़ी हो चली थी। मैंने एक बार कहा—भौजी, अब इन बच्चों को होली खेलने दीजिए, हम-आप देखा करें। भौजी बोलीं—वाह बबुआ, जवानी ढल गई, तो क्या मन भी ढल गया? बच्चे अपनी होली खेलें, हम अपनी खेलते हैं—उनके अपने दिल, हमारे अपने दिल! भौजी का रोआँ-रोआँ हँस रहा था!

और, बच्चों से उनका कितना स्नेह रहता था?

उन झगड़े-झमेलों के बीच भी, मेरे घर आतीं और मेरे बच्चों को उबटन और तेल लगा जातीं, काजल लगा जातीं, उन्हें गोद में लेकर खेलातीं-हँसातीं। एक बार देखा, मेरे बच्चे को गोद में लिये उसकी माँ से झगड़ रही हैं, और ज्योंही बच्चा रो उठता है, झट अपना स्तन उसके मुँह में रख देती हैं!

एक दिन इसी तरह का उनका कलह मेरी रानी से चल रहा था कि मेरे बड़े बच्चे के रोने की आवाज़ आई। झगड़ा छोड़, यह कहती हुई दौड़ीं—किसने मेरे बच्चे को मारा? बाज-सी झपटती उस ओर गईं और मैंने देखा, बच्चे को लिये दौड़ी आ रही हैं। बच्चा ज़ोर-ज़ोर से रो रहा था, उसे बिढ़नी ने डंक मारा था। बच्चे को मेरी रानी की गोद में रख, दौड़ो-दौड़ी गईं, किरासन तेल ले आईं, गेंदे की पत्तियाँ ले आईं और जहाँ डंक था, वहाँ लगा दिया—यही देहाती दवा थी। बच्चा थर-थर काँप रहा था। डंक ज्यादा ज़हरीला था। उसे बुखार हो आया।

जब तक बुखार रहा, भौजी अपना और मेरा घर-आँगन एक किये रहीं। एक जून तो उनके घर में चूल्हा तक नहीं जल सका। भैया हँसते हुए आये और मेरी रानी की ओर लक्ष्य कर कहा—"झगड़ा हो तो ऐसा, मेरा खाना बंद हो गया।" भैया का भोजन मेरे ही घर पर हुआ।

तब तो, आज जब भौजी नहीं हैं, मेरी रानी अपने को उनके दोनों बच्चों की 'धर्म की माँ' समझती है और उन दोनों की शादियों में उसने क्या-क्या न किया? भौजी थीं, तो कलह था, उनकी स्मृति ने उस कलह को स्नेह में बदल दिया है।

मैं जब-जब उस संपादक दोस्त के निकट जाता हूँ, इच्छा होती है, उनके चरण छू लूँ, उम्र में मूझसे बुजुर्ग भी हैं। और, जब-जब भौजी की याद आती है, दोनों हाथ मिलकर मेरे सिर से जा लगते हैं—प्रणाम भौजी!





परमेसर

उस दिन अपने दफ़्तर में कागज के ढेर और काम की भीड़ में बैठा था कि श्रीराम गाँव से आया और कुशलक्षेम पूछने पर बोला—परमेसर वहुत बीमार है, लबेजान, जानें, वेचारा वचता है कि नहीं !

परमेसर मेरी पट्टीदारी का ही एक व्यक्ति है, लेकिन न तो इतनी निकटता उससे है; दूसरे उसमें ऐव भी ऐसे हैं, जिनको देखते हुए, उसके लिए कामधाम छोड़कर दौड़ा-दौड़ा बेनीपुर जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। परमेसर फिजूल-ख़र्च है, आवारा है। सारे घर को उसने बरबाद कर दिया। क़र्ज़ पर क़र्ज़ किया, पुश्तानी ज़मीन बेच ली और अंत में, उस साल, उसने अपनी बीवी के गहने तक वेचकर गाँजा में फूंक दिये। उसने मेरे परिवार की इज्ज़त में बट्टा लगाया है, अपने घरवालों को संकट और कष्ट में डाला है, खुद भी अब फटेहाली में मारा-मारा फिरता है। कम्वख्त मरे, ऐसे आदमी का मरना ही ठीक—मैंने इस तरह के तर्क से अपने मन को सन्तोष दिया और फिर काम में लग गया। किन्तु, ज्योंही शाम हुई, काम की भीड़ छँटी, थोड़ा निश्चिन्त हुआ, परमेसर का ध्यान फिर

आया और रात की ही स्टीमर से घर के लिए रवाना हो गया।

यही है परमेसर का घर। पुराने चौपार मकान के बदले यह राममँड़ैया। एक ही राममँड़ैया—वही चौकाघर, भंडारघर, शयनघर। उसीमें उसकी माँ रहती और उसकी पत्नी भी; भाई भी, बालबच्चे भी, बूढ़े पिताजी उसीके ओसारे के एक कोने में; और, दूसरे कोने में यह परमेसर, पुआल पर पड़ा है। एक पुराने फटे-चिटे दोहर से हवा के लिए आड़ कर दी गई है। उसे भीषण रोग ने पकड़ा है—अतिसार! १०४ डिग्री का बुखार और दस्त-पर-दस्त हुए चले जा रहे हैं। सारा वातावरण गंदगी और बदबू से ओत-प्रोत। तोभी बेचारी माँ सेवा में लगी, बूढ़ा बाप हाय-तोबा मचाये हुए और बेचारी पत्नी एक कोने में सिमटी, सिकुड़ी, सहमी, सिसकती!

अतिसार क्यों हुआ?—इधर खाने-पीने में दिक़्क़त थी। कई जून का भूखा था। एक सज्जन शकरक़ंद खोद रहे थे। उनके पास हँसते हुए गया और हँसी-हँसी में कच्चे शकरकंद पेटभर ठूँस लिया! शकरक़ंद पचे नहीं, दस्त खुल गये, बुखार दौड़ आया। वह अर्द्धचेतन पड़ा है, कभी-कभी मुश्किल से आँखें खुलती हैं। आँखें—जो बिल्कुल धँसकर कोटर नहीं, गह्वर में चली गई हैं।

तम्बीह का वक़्त नहीं था। निकट के आयुर्वेदीय अस्पताल के वैद्यजी को बुलवाया, उन्होंने देखा, दवा दी; किन्तु धीरे से मुझे कहते गये, लक्षण अच्छे नहीं हैं, रात निभ जाय, तो कोई आशा की जाय। वह रात नहीं निभी—परमेसर चलता बना—घरवालों को रुलाकर, गाँववालों को अफसोस में डालकर!

× × ×

गाँववालों को सिर्फ उसी दिन अफसोस नहीं हुआ। जब-जब होली, दशहरा, दिवाली, छठ या कार्तिक पूर्णिमा आती है, परमेसर के लिए उसाँसें ली जाती हैं।

निस्संदेह परमेसर आवारा था, किन्तु, उसकी आवारागर्दी एक ऐसी आग थी, जो ख़ुद को ही जलाती है—ख़ुद को जलाती है, लेकिन, दूसरे को रोशनी और गर्मी ही देती है। बचपन में हम सबके साथ पढ़ने बैठा, तेज़ था, किंतु, पढ़ा नहीं। बड़ा हुआ, गोरा, छरहरा नौजवान। एक अच्छे घर में शादी हुई उसकी। कालक्रम से बच्चे भी हुए। उसके पिता बिल्कुल सुधुआ थे, अतः सयाना

होते ही घर का मालिक बन बैठा। घर की बागडोर हाथ में आते ही मन की बागडोर ढीली कर दी—मन की, हाथ की। रोज़ पेठिया जाता, जब-तब शहर जाता, हर मेले में ज़रूर ही जाता, मौक़ा मिले तो तीरथ की दौड़ भी लगा आता। उसके ही लायक़ कुछ दोस्त भी मिले उसे। गाँजे के दम लगने लगे। पैतृक संपत्ति स्वाहा होती गई। एक दिन ऐसा भी आया कि परमेसर बिल्कुल अकिंचन हो बैठा।

किन्तु, यह अकिंचनता उसके स्वभाव में परिवर्त्तन नहीं ला सकी। गाँजा छूटा, भाँग की चिलम जलने लगी। मेरी ओर भाँग को कोई पूछता नहीं, इधर-उधर सब जगह उसका जंगल-सा लगा रहता है। परमेसर जंगल से खूब दलदार पत्तियाँ चुनकर लाता, सुखाता, सँजो-कर रखता, खुद पीता, यारों को पिलाता। उसके दरवाज़े पर हमेशा एक ढोलक और कई जोड़े झाल बने रहते। शाम हुई नहीं कि परमेसर की राममँड़ैया गुलजार हुई। बारह मास, चौबीस पख, उसके दरवाज़े पर मंगल मचता। भले ही कई-कई दिन तक भरपेट भोजन नहीं नसीब हुआ हो, किन्तु, इससे गाने-बजाने में कोई अंतर नहीं आता। रसिक स्वभाव! दरवाज़े पर कुछ फूल के पेड़ ज़रूर लगे होते और एक बड़ा, गाँव भर से ऊँचा, महावीरी झंडा हमेशा लहराता रहता वहाँ। गाँव के बड़े-बूढ़े उसकी निन्दा करते, भर्त्सना करते, गालियाँ तक देते, किन्तु, बच्चों और नौजवानों का झुंड हमेशा उसके आगे-पीछे दौड़ा फिरता।

खेत में 'तोरी' फूली कि परमेसर की 'होरी' पहुँच गई! सरसों का पीला फूल देखते ही परमेसर ने होली गाना शुरू कर दिया। और, जिस दिन वसंतपंचमी हुई, उस दिन से तो मानों उसे बद-मस्तियों की लाइसेंस मिल गई। पेट काट-काटकर पैसे बचाकर रखता इन दिनों के लिए! डफ पर नया चमड़ा चढ़वाया गया, झाल में नई डोरियाँ लगाई गईं, ढोलक पर नया गद दिलाया गया। शाम से ही जो होली शुरू होती, आधी रात के बाद भी हाहा-हूहू से गाँव में कोलाहल मचा रहता।

और, ऐन होली के दिन?

भोर से ही परमेसर के दरवाज़े पर तैयारियाँ देखिए। भैंस का दूध कहींसे किसी तरह ऊपर करता, चीनी न हो, तो गुड़ ही सही! बड़ी सिल पर भाँग की पत्तियाँ लोने-के-लोने पीसता, पिसवाता।

उन्हें पानी, दूध और गुड़ में मिलाता, खुद छक-छककर पीता, यारों को पिलाता! फिर उन्हें लेकर गाँव में निकलता—चाहे गुरुजन हों या छोटे बच्चे—जो उसके सामने आये, उनपर कीचड़ पड़ी। कोई नाराज़ हो या गालियाँ दे, परमेसर को क्या परवा? होली के दिन की गालियाँ तो आशीर्वाद होती हैं न? गाँव-भर को भथभूथकर वह सरेह में निकलता। जो पथिक उस दिन मेरे गाँव की सीमा से निकले, उनकी तो दुर्गत ही समझिए। कीचड़, गोबर, पानी—बस, सिर से पैर तक उन्हें नहलाया गया। इस कीचड़-उछाल में अजब धमाचौकड़ी मचती। कोई इधर भागा जा रहा, कोई उधर दौड़ रहा—ललकारें दी जा रहीं, हँसी के फव्वारे छूट रहे। इस तरह दुपहरिया आई। तब सब पोखरे में पहुँचे। वहाँ खूब उभक-चुभक हुई। तब घर!

भोजन करके परमेसर की होली-मंडली तैयार हो गई। परमेसर अपने हाथ में डफ लेता। नशे के मारे आँखें लाल वनी हुईं और अबीर से उसके चेहरे और शरीर ही की क्या बात, सिर के वाल तक लाल बन रहे। बीच में परमेसर का डफ—चारों ओर झाल, करताल, झाँझ लिये गाने-बजानेवाले, जिन्हें अपार दर्शक घेरे रहते। परमेसर क्या सिर्फ डफ ही वजाता? निस्सन्देह उसके हाथ ताल पर डफ पीटे जाते, किन्तु, उसके तो अंग-अंग मानों गा-बजा रहे! उछलता, कूदता, नाचता, हाहा करता—परमेसर केंद्र में ही नहीं था, वह इस साजसज्जा का पूरा केंद्र-बिंदु था। गाँव के धनी, गरीब एक-एक के दरवाज़े पर गाता, बजाता, स्वाँग भरता, अन्त में वह शिवमन्दिर जाता और वहाँसे बड़ी रात बीते चैत गाते लौटता!

परमेसर के बाद भी मेरे गाँव में होली होती है; किन्तु वैसा रंग कहाँ जम पाता?

योंही दसहरे की दसो रात में वह गाँव में कोलाहल मचाये रहता। मेरे गाँव में इन दसों रात में ओझा लोगों द्वारा भूत खेलाने का रेवाज था। अब क़रीब-करीब खतम हो रहा है। किन्तु, इस मृत-प्राय चलन में परमेसर ने मानों जान डाल दी थी। अपने दरवाजे पर गाँव-भर के ओझों को नेवता देकर बुला लेता। बीच में धूप जल रही है। धूप के सामने सातों बहन दुर्गा के नाम पर सात जगह चावल, सेंदूर और ओड़हुल के फूल एक पंक्ति में रख दिये हैं। उस पंक्ति के आगे एक बेंत की लाल छड़ी है। ओझा लोग गीत गा रहे हैं,

झाँझ बजा रहे हैं। गीत का स्वर उठान की आखिरी चोटी पर पहुँचा नहीं कि उनमें से किसी-न-किसी के शरीर पर कोई भूत—ब्रह्म, चुड़ैल, देवी आदि कई कोटि हैं उनके—आया। भूत आते ही ओझा शरीर हिलाने लगे, पहले धीरे-धीरे, फिर ज़ोर-ज़ोर से। शरीर हिलाते-हिलाते बेंत उठाई और उस बेंत से अपने शरीर पर तड़-तड़ लगे मारने। ओझा बेंत से शरीर को पीटे जा रहे हैं और लोग कह रहे हैं—देखो महाराज, घोड़ा कमज़ोर है, ज़्यादा पिटाई मत करो। बड़ी आरज़ू-मिन्नत के बाद भूत महाराज को दया आई, तो छड़ी फेंक ओझा केहुनी ज़मीन पर पटकने लगे—यहाँ तक कि ज़मीन खोद दी। बत्ती जलाके मुँह में चबा जाना, हाथ पर धधकती आगवाली ढकनी रख लेना आदि करतब भी दिखाये जाते, और अंत में 'भेंटी' ठीकी जाती—मन की बात कहकर, उसकी पूर्त्ति के उपाय बताकर भूत चला जाता! भूत आते ही दर्शक-मंडली में खलबली मच जाती—अजब-अजब प्रश्न किये जाते, चीज़ें माँगी जातीं। परमेसर के हाथ में मानों भूतों का सूत्र हो—जिस ओझा पर जिस भूत को चाहे वह मँगा सकता था।

कभी-कभी वह खुद अपने पर भी भूत बुलाता। उसके भूत अजब क़िस्म के होते, नये हावभाव करते, नई बोलियाँ बोलते और उनके आशीर्वाद ऐसे होते कि सुनते ही लोग लोटपोट हो जाते। प्रायः परमेसर के भूत से ही मजलिस खत्म होती—क्योंकि वह खाँव-खाँवकर लोगोंपर—खासकर बच्चों पर टूटता! भगदड़ मच जाती—हँसते-हँसते, परमेसर की यशोगाथा गाते, लोग घर आते।

दीवाली कोई सजावे, लुकाठी भाँजने का इन्तज़ाम वह करता। बाँस के कोंपलों के सूखे बोकले इकट्ठे कर बाँस की ही कमाचियों में उन्हें गूँथ लेता और शाम होते ही उनमें आग लगाकर अपनी मंडली के साथ समूचे सरेह को जगमग कर डालता। योंही होली के होलिका-दहन का प्रबंध भी वही करता। गाँव-भर के पुआल, डंठल आदि इकट्ठा कर एक महान टीला बना देता। जो लोग सीधे नहीं देते, उनकी चीज़ें चोरी भी करा लेता और उसी-पर डाल देता। प्रायः वह खुद ही उसमें आग लगाता और तरह-तरह के कुतूहल से उसे जलाता, बुझाता!

कार्तिक-पूर्णिमा—बस, परमेसर अपनी मंडली के साथ गंगा-स्नान को चला। स्टेशन पर आया, टिकट कौन कटाता है! जब

पैंसे रहे, तो भी टिकट कटाना उसकी शान के खिलाफ था; अब तो पैंसे प्राय: रहते ही नहीं। रास्ते भर टिकट चेक करनेवालों से आँखमिचौनी हुई जा रही। स्टेशन पर पहुँचने के पहले ज्योंही गाड़ी धीमी हुई कि रफूचक्कर। कदाचित स्टेशन पर पहुँच गया, तो तार के घेरे फाँद-फूँदकर निकल चला। कभी धक्कमधुक्की भी हो गई, तो कभी मारपीट भी कर ली। परमेसर के खयाल से म्लेच्छ को पैंसे दे देने के बाद गंगास्नान का कोई महत्त्व नहीं रहता!

पलेजाघाट से लेकर सोनपुर के मेले तक परमेसर क्या-क्या न तमाशे करता? कभी सिर पर त्रिपुंड चन्दन किये, गंगा किनारे, यह स्नानार्थियों को सुफल पढ़ा रहा है। कभी मंडली के बीच में परमहंस साधु बना बैठा, लोगोंकी मनोकामना सिद्धि के लिए, भभूत बाँट रहा है! कभी वह ओझा बना कितनी ही कुल-कामिनियों की गोद भर रहा है! इन तमाशों से जो पैसे मिल गये, मंडली-भर में मिठाइयाँ बँटीं, गाँजे उड़े। इन तमाशों में प्रवंचना का भाव कभी नहीं था, था तो सिर्फ मनोरंजन का, आमोद-प्रमोद का। प्रवंचना तो उसमें थी ही नहीं—अगर यह होती, तो बेचारे की यह दुर्गत क्यों होती? वह उनलोगों में था, जो दुनिया में हँसने-हँसाने के लिए ही आते हैं और हँसते-हँसाते ही चल देते हैं।

× × ×

इधर, आखिर में, जब उसकी हालत बड़ी खराब हो गई थी, एक दिन– मैंने उसे बुलाकर बहुत समझाया था—क्यों जी, यह क्या कर रहे हो? अरे, अपनी ओर नहीं देखो, अपने माता-पिता की ओर तो ध्यान दो, यह भी नहीं तो, अपने बाल-बच्चों की ही ज़िम्मेवारी समझो। तुम कोई कुंदज़हन आदमी नहीं, तुममें काफी अक्ल है, बुद्धि है—उससे काम लो। खेती-बारी में मन नहीं लगता, तो कोई दूसरा रोजगार देखो, शहर में कोई छोटा भोजनालय ही खोल दो, खा-पी के कुछ पैंसे बच ही जायँगे। मैंने कई ऐसे आदमियों के उदाहरण भी दिये, जो ऐसे छोटे-छोटे रोजगारों से अपनी और अपने परिवार की परवरिश चला रहे थे। उस समय तो कुछ नहीं बोला—कुछ दिनों के बाद सुना, परमेसर ने अखाड़ाघाट पर एक भोजनालय खोला है और इस भोजनालय के लिए, उसके पास—नहीं-नहीं, उसकी पत्नी के पास—जो आखिरी धन—सोने का कंठा था, उसे बेच लिया है!

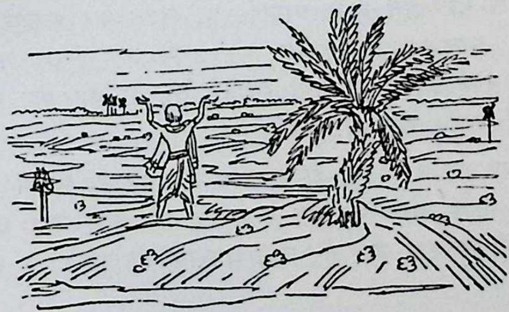
कंठा बेचने की बात सुनकर मैं चौंका, किन्तु, फिर सोचा, शायद यही प्रेरणा-रूप में उसे उन्नति की ओर ले जाय। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं। किन्तु, मेरी यह धारणा ग़लत निकली। थोड़े दिनों तक तो उसका कारबार अच्छा चला, किन्तु, हाथ में पैसे आते ही फिर भाँग की जगह गाँजे ने ले ली और एक कारण तो उसने अजीब ही बतलाया—

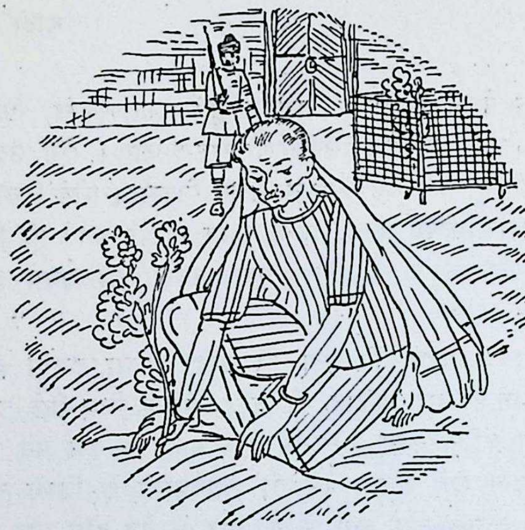
"चाचा साहब, खिलाना तो बड़ा अच्छा लगता है, किन्तु, खिलाने-पिलाने के बाद, कंटाह की तरह, पैसे के लिए पीछे पड़ जाना, यह तो बड़ा कठिन काम है। इसमें शक नहीं कि कुछ पैसे मैंने गाँजे में फूँके, किन्तु मेरे ज्यादा पैसे तो खानेवालों के ज़िम्मे रह गये! अच्छा, क्या हुआ—उस जन्म में वे ताड़ के पेड़ होंगे और मैं पीपल बनकर उनकी छाती पर पैदा होऊँगा! खूब वसूल करूँगा, उनसे। कैसा—चाचाजी?" वह हँस रहा था, खिलखिल, खलखल।

चाचाजी गुस्से में! बोले—"और, उस बेचारी का कंठा भी तुमने बरबाद कर दिया!"

"कंठा—कंठा क्या होगा? अब तो आप ही कहते हैं, सबलोग बराबर होंगे न? सबके कंठे होंगे, तो क्या आपलोग उसके लिए नहीं बनवा देंगे? और, आपलोगों का राज न भी हो, तो यह करिया मुसहर की जोरू कौन कंठा पहनती है? चाचाजी, सुख मिलता है या तो तक़दीर से, या मेहनत से। मेहनत मुझसे बनती नहीं, तक़दीर अच्छी नहीं है—फिर, भाँग पीकर हाहा-हीही करना और इसी हँसी-खुशी में ज़िन्दगी गुजार देना—बस, यही मुझसे होगा, मेरे लिए चिन्ता मत कीजिए........."

मैं गुस्से में चूर उसे कुछ कहने ही जा रहा था कि वह धीरे से उठा और हँसता हुआ—मालिक हैं सियाराम, सोच मन काहे करे—गाता चलता बना! मानों मेरी बुद्धिमानी पर व्यंग्य कसता!





बैजू मामा

आज भी, मेरा खयाल है, अगर आप पटना जेल में जाइए और किसी पुराने क़ैदी, वार्डर या जमादार से बैजूमामा के बारे में पूछिए तो वह एक अजीब ढंग की हँसी हँसकर आपको उनकी एक-दो कहानी ज़रूर सुनायेगा। बैजूमामा पटना जेल की एक ख़ास चीज़ हैं। लगभग तीस वर्षों से वह जेल को आबाद किये हुए हैं। १९३०, ३२, ३७, ३८, ४०, जब-जब मैं पटना जेल पहुँचा हूँ, तब-तब उनके शुभ दर्शन हुए हैं, उनसे बातें की हैं, खूब हँसा हूँ और हर बार की हँसी के बाद एक अजीब करुणा का अनुभव मैंने किया है।

जब मैंने कहा कि वह तीस साल से इस जेल को आबाद किये हुए हैं, तब आपने यही सोचा होगा, या तो वह कोई 'दामुली' कैदी हैं—खून करके आये हैं या डाका डालके आये हैं। या कोई शोहदा ज़नाकार हैं! या कम-से-कम आदतन अपराधी तो ज़रूर हैं! लेकिन मैं दावे के साथ इन सभी आरोपों का खंडन कर सकता हूँ। उनके चेहरे या चाल-ढाल से, कहींसे भी उनमें आप ख़ूंखार या मुजरिम होने का कोई चिह्न पा नहीं सकते। तो भी वह जेल में हैं और तीस वर्षों से हैं। कैसा आश्चर्य?

वह हर बार एक ही अपराध में आते हैं, जिसमें आज तक एक बार में दो साल की क़ैद से ज़्यादा की सजा उन्हें नहीं मिली है। ज्योंही छूटकर जाते हैं, उसी अपराध को दुहराते हैं और फिर

एक दो साल की सज़ा लेकर पहुँच जाते हैं। वह अपराध क्या है? —चोरी! आप सोचते होंगे, ज़रूर वह पक्के चोर हो गये होंगे, उन्होंने गैंग बना लिया होगा, बड़े-बड़े हाथ साफ करते होंगे, जैसाकि जेल में एक–दो बार आकर साधारण चोर भी उस्ताद बन जाता है। लेकिन, अगर वह इस कोटि के चोर होते, तो मुझे उनपर लिखने की ज़रूरत नहीं होती! मुझे अपराध-शास्त्र से कोई दिलचस्पी नहीं कि उनपर अनुसंधान करता!

बैजूमामा एक अजीब चोर हैं। चोरी में तीस साल की सज़ा वह भुगत चुके, लेकिन अभी तक तीस रुपये वह एक बार कभी नहीं पा सके; नहीं, तो, उनके ही कथनानुसार, आप उन्हें जेल में नहीं पाते। और 'कबीर' के इस दोहे के अनुसार—

सिंहन के लेंहड़े नहीं, हँसन की नहिं पाँत,
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चले जमात—

उन्होंने आज तक कोई जमात भी नहीं बनाई! तो वह क्या सचमुच साधु हैं? छीः–छीः, मैं एक पुराने चोर को साधु कहूँगा? ऐसी, इतनी बड़ी, गुस्ताखी करके मैं साधु-समाज में कौन-सा मुँह दिखला सकूँगा!

× × ×

मैं ऊँची श्रेणी का क़ैदी था; इस जेल में ऐसे लोगोंकी सुख-सुविधा की कोई खास जगह नहीं होने के कारण, मुझे अस्पताल में ही रखा गया था। एक दिन मैं अस्पताल की ही छोटी-सी बगीची के बीच, छोटे-से आम के पेड़ की छाया में बैठा कलम घिस–घिस कर रहा था, कि देखा एक बूढ़ा मरीज़ कम्बल ओढ़े उस ओर आ रहा है। वह धीरे-धीरे आया, कमज़ोरी के कारण डगमगाता हुआ! फूल की क्यारी में बैठ गया—फिर एक बार हसरत की निगाह से चारों ओर उसने देखा और कम्बल के नीचे से एक खुरपी निकाल वह धीरे-धीरे इधर-उधर उग आई घासों की निकौनी करने लगा! थोड़ी देर ही वह निकौनी कर पाया होगा कि अस्पताल का मेट हाथ में दवा की प्याली लिये उसे ढूंढ़ता हुआ वहाँ पहुँचा और उसे निकौनी करते देख बौखला उठा—मामू, तुम इस बार मरके रहोगे!

बूढ़ा क़ैदी सिटपिटा गया। खुरपी छोड़ दी, कम्बल सम्हाला, दवा के लिए हाथ बढ़ाया। हाथ काँप रहा था, लड़खड़ाई ज़बान से उसने मिन्नत के शब्दों में मेट से कहा—माफ करना भैया; दवा दो!

"दवा दूँ; खाक ? दवा खाकर क्या होगा ? तुम्हें क्या पड़ी है भला, जो खुरपी लेकर आ बैठे यहाँ ? जाय भाड़ में यह बगीचा।"

"हें, हें; यह क्या कहते हो ? देखते नहीं, चार दिन मैं बीमार रहा की इतनी घासफूस उग आई !"

"मामू, तू कैदी है, या सरकार का बैल ? पुराने कैदी की शान तूने धूल में मिला दी ? क्या हम जेल में काम करने आते हैं ?"

"मेट भैया, तुम ठीक कहते हो। बिल्कुल ठीक। जेल का सत्यनाश हो, हाकिमों का सत्यानाश हो। लेकिन, प्यारे, मैं क्या करूँ ? न मुझसे बैठा जाता है, न इन फूलों की दुर्गत देखी जाती है। माफ करो; दवा दो—उफ़, जाड़ा लग रहा है !"

बीमार क़ैदी की आँखों में अब आँसू थे—ऐसे आँसू, जो ज़बर्दस्ती आँसू वसूल करते हैं ! मेट की आँखें भी डबडबा आईं। तुम इस बार मरोगे, मामू !—कहकर उसने दवा की प्याली उसके हाथ में दी। हाथ के कम्पन से कुछ दवा उसकी ठुड्ढी पर गिर गई, कुछ गले के नीचे गई। दवा पीकर उसने एक बार थूक फेंकी और फिर बैठा नहीं रह सका, कम्बल ओढ़े, वहीं लुढ़क गया। थोड़ी देर के बाद वह फिर उठ बैठा। एक बार फिर उसने सभी पेड़-पौधों पर हसरतभरी निगाह डाली और खुरपी हाथ में ले अस्पताल की ओर चलता बना। इस बार जाते समय मैंने ग़ौर से उसकी ओर देखा—साठ साल की उम्र, ताँबे का रंग, चेहरे पर झुर्रियाँ, बाल एक-एक सफेद, लेकिन इस बीमारी में भी, जब पैर डगमगा रहे थे, वह तनकर जा रहा था, जैसे वह एक नौजवान हो !

× × ×

स्वभावतः मैं उस क़ैदी की ओर आकृष्ट हुआ। वह बैजूमामा थे। इस जेल के क़ैदियों के मामा, वार्डरों के मामा, जमादारों मामा—यों कहिए, तमाम पटना जेल के मामा !

अब मैं बैजूमामा के साथ घुलमिल गया। उनकी बीमारी अच्छी हो गई। वह अपनी खुरपी-कुदाल से दिन-भर झगड़ते रहते और मैं उन्हींकी बसाई बगीची में एक आम के पेड़ के नीचे बैठ-कर उनकी मेहनत-मशक्कत देखता रहता। जब वह थक जाते, मेरे पास आ जाते। न वह बीड़ी पीते, न खैनी खाते। मैं उनका क्या स्वागत करता भला ? जेल का सबसे बड़ा स्वागत-सत्कार इन्हीं दो नायाब

चीज़ों से है। खैर, वह मेरे नज़दीक पहुँचकर मुझसे 'सुराज' और 'गान्हींबावा' के हाल पूछते और मैं धीरे-धीरे उनकी रामकहानी जानने की कोशिश करता। धीरे-धीरे—क्योंकि देखा, बैजूमामा अपनी ज़िन्दगी को बन्द किताब बनाकर ही रखना चाहते। साधारण मुज़रिमों की तरह अपनी कहानी बढ़ा-चढ़ाकर कहने की बात तो दूर रहे, जब बड़ी खोद-खाद के बाद कुछ कहते भी तो कहते-कहते शर्मीली लड़की की तरह बीच में ही रुक जाते और उनके झुर्रीदार गालों के रंग में भी कुछ तब्दीली आ जाती! कभी-कभी झुँझलाकर कहते—बाबू, यह पाप की कहानी क्या सुनते हैं आप? चोर-बदमास की बातें कहीं सुनी जाती हैं?

लेकिन, उनकी ज़िन्दगी की एक-एक कड़ी आखिर मैंने जोड़ी ही।

बैजूमामा इसी पटना जिले के बाढ़ सब-डिवीजन के हैं। एक साधारण किसान थे। एक बार हालत ऐसी हो गई कि बैल के अभाव में उनकी खेती रुक गई। कहींसे तीस रुपये क़र्ज लिया और गंगा के उस पार बैल खरीदने चले—सुन रखा था, उस तरफ अच्छे बैल मिलते हैं और सस्ते। गंगा पार कर बैल की कई पेठियों में गये, क्योंकि कम-से-कम पैसों में अच्छी-से-अच्छी चीज़ चाहते थे। इसी दौड़धूप में उनके दिमाग़ पर शैतान का कब्ज़ा हुआ। उन्होंने पाया कि उस तरफ लोग गर्मियों में बैलों को घर के बाहर ही बाँध देते हैं और उनकी कोई खास रखवाली नहीं करते। पटना जिले में ऐसा नहीं होता है। शैतान ने उनके कानों में धीरे से कहा—बैजू, क्यों न इनमें से एक बैल रात में खोल लो और गंगा पार कर जाओ? यह बात उन्हें भा गई—बैल भी हो जायगा, पैसे भी बच जायँगे। खेती भी निभ जायगी, क़र्ज भी नहीं रहेगा। लोग पूछेंगे, तो कह दिया जायगा, बैल मोल लिया है! बस, हल्दी लगी न फिटकिरी, रंग चोखा—बैजूमामा तैयार हो गये!

एक रात एक गाँव से एक अच्छा-सा बैल खोलकर वह चल पड़े—गंगाजी की ओर। जिस समय बैल खोलने गये थे, उस समय तो हाथ ही काँपे थे। अब, जब दिन उठ आया, उनका समूचा शरीर काँप रहा था—जैसे कँपकँपी लग गई हो। ठीक से पैर नहीं उठते। जितने लोगोंको देखते, मालूम होता, सब उन्हींकी तलाश में हैं। हर आँख मानों उन्हींको घूर रही, हर उँगली मानों उन्हींकी ओर

उठ रही, हर कानाफूसी में उन्हींकी बात हो रही। दिन ढलने पर वह एक दिहाती सराय के निकट पहुँचे। उनकी नस-नस ढीली पड़ गई थी। भूख और थकावट से परीशान थे। बैल को एक पेड़ से बाँध, दुकानदार से लोटा-डोरी ले, कूएँ पर गये। हाथ-मुँह धोया। हाथ-मुँह धो ही रहे थे कि देखा, एक दफादार उसी दुकान पर आकर बैठ गया है! —ऐं, क्या मेरी ही तलाश में है? क्यों न बैल को छोड़कर भाग चलूं? तब तो और भी पकड़ जाऊँगा! क्या मुझसे भागा जायगा?.......फिर, ऐसा बैल इस ज़िन्दगी में क्या फिर नसीब हो सकता है? नहीं—नहीं, वह मेरी तलाश में नहीं है।

इस तरह सोच-विचारकर वह दुकान पर आये। दुकानदार से दो पैसे के चने लिये—मुँह में रखते थे चना और पेट में फूट रहा था लावा। चने माँगने के समय इनकी मगही बोली सुनी थी, इसलिए जब चने खा रहे थे, दुकानदार ने इनके घर वग़ैरह के बारे में स्वभावतः ही पूछना शुरू किया और घर के बाद बैल की चर्चा आई। बीच में ही दफादार पूछ बैठा—यह बैल तुम्हारा है? अच्छा बैल है! कितने में खरीदा? यह सवाल; और बैजूमामा कह रहे थे, सुनते ही उनके होश गायब हो गये। दो-तीन सवाल और, और वह दफादार कूदकर इन्हें पकड़ चुका था—चोट्टा कहीं का! यह बैल चालीस रुपये का है और बाजितपुर की पेठिया कहीं बुध को लगती है?

बैल भी गया, उनके पैसे भी छिन गये और पिटाई भी कम नहीं लगी। समस्तीपुर के मैजिस्ट्रेट ने एक साल की सज़ा दी। सज़ा काटकर निकले, तो फिर कौन-सा मुँह दिखाने घर जाते!—"बंस में कलंक लगाया—"

बंस में कलंक लगाया?—बैजूमामा आप कौन जात हैं, मैंने अचरज में आकर उनसे पूछा। क्योंकि उनका चेहरा बताता था, किसी अच्छे घर के वह हैं। इस सवाल से वह घबरा गये। फिर कहा—जेल-टिकट में देखिए न? दुसाध लिखा है!

"जेल-टिकट में जो—कुछ लिखा हो, आखिर आप हैं कौन जात? दुसाध तो आप हो नहीं सकते?"

मेरे बार-बार पूछने पर बैजूमामा कुछ उद्विग्न-से हो उठे। उनके चेहरे की झुर्रियाँ और सघन हो गईं। "चोर का क्या नाम—धाम या जात-पाँत? चोर, बस चोर है बाबू! लेकिन हाकिम के सामने तो

कुछ बताना ही पड़ता है, बस कुछ लिखा दिया!" —उनकी आवाज़ में एक हार्दिक पीड़ा थी।

"तो क्या आपका यह नाम भी नहीं है?"

अचरज से उनकी आँखें जैसे चमक गई हों; झट बोले—यह आपने कैसे जाना कि मेरा नाम बैजू नहीं है? बाबू, आप जरूर कोई मंतर जानते हैं।

आखिर बैजूमामा ने अपना नाम भी बताया और गाँव भी; जात भी बताई, घर का पूरा हाल भी बतलाया। मैंने तब पूछा—खैर, यह जो कुछ हुआ, लेकिन आप जनेऊ क्यों नहीं पहनते? बाभन-क्षत्री का यह चिह्न तो नहीं छोड़ना चाहिए। मेरे इस प्रश्न से जैसे उन्हें दूसरी ठेस लगी हो, कातर स्वर में बोले—"अब तो मैं भ्रष्ट हो ही गया; जनेऊ को क्यों भ्रष्ट करूँ बाबू? एक यही अपराध क्या कम है, जो एक दूसरा भी करूँ?" उनके इस जवाब पर मैंने बताना चाहा कि जेल में जो छुआछूत होती है, उससे जात नहीं जाती, जनेऊ आपको ज़रूर पहने रहना चाहिए। इसपर उन्होंने कहा—मैं जेल की बात नहीं करता। बाहर जो नसापानी करना पड़ता है।

"तो क्या आप बाहर ताड़ी-दारू पीते हैं?

अब तो जैसे उनका धीरज टूट गया हो। भर्राई आवाज़ में बोले—"हाय, बाबू, आप कितने भोले हैं! क्या बिना नसा खाये चोरी हो सकती है? निसाचरी काम के लिए पहले निसाचर बन जाना पड़ता है, बाबू!" उद्विग्नता में ही वह चुपचाप वहाँ से चल दिये।

× × ×

मुझे पता चला था कि उनके घर पर अब भी गिरस्ती होती है—अच्छी गिरस्ती होती है! भाई मर चुके, दो भतीजे हैं, उनके बाल-बच्चे हैं! मैंने बैजूमामा को समझाया कि पुरानी बातें भूल जाइए। इस बार छूटिए, तो गंगा-स्नान करके अपने घर पर चले जाइए। भतीजों से सारी बातें कहिए, उनके साथ रहिए। अब बुढ़ापे का शरीर है, कब जाने क्या हो जाय? जेल में मरियेगा, मिट्टी की दुर्गत होगी। इस आखिरी बात ने उनपर काफी असर किया! एक दिन हृदय खोलकर कहने लगे—

"क्या कहूँ, बाबू; कई बार यही सोचा। जेल से छूटने पर कई बार घर की ओर चला। लेकिन बख्तियारपुर जाते-जाते पैर बँध जाते

हैं! सोचता हूँ, खाली हाथ घर कैसे जाऊँ? भतीजे तो मानने भी लगेंगे, पर उनकी बहुएँ तो पराये घर की बेटियाँ ठहरीं--कहेंगी, यह बूढ़ा कहाँसे टपक पड़ा? कुछ लेकर जाऊँ, तो वह भी समझें, कि आखिर कुछ लाया तो है! कम-से-कम एक गाय खरीद करके ही ले चलूँ। एक गाय--तीस में तो अच्छी गाय मिल जाती है। लेकिन ये रुपये कहाँ से आवें? चोर हूँ ही, क्यों न एकाध हाथ और मार लूँ? किन्तु, जब-जब ऐसा किया, तब-तब, जब तक रुपये पूरे हों, पकड़ लिया गया और फिर यहीं-का-यहीं।"

उफ, तीस रुपये--तीस रुपये! तीस रुपये में बैल और तीस रुपये में गाय! और इसी तीस रुपये में एक की जिन्दगी के तीस साल बर्बाद हो गये! बेचारा तीस के अजीब गोरखधंधे में फँस गया है—मैं इस तरह सोच ही रहा था कि बैजूमामा फिर बोल उठे—

"एक बात और है, बाबू! जब-जब बाहर जाता हूँ, दिन तो इधर-उधर देखने-सुनने में कट जाते हैं, लेकिन ज्योंही रात में सोने की कोशिश करता हूँ, मालूम होता है, इस जेल के ये सारे पेड़-पौधे मुझे बुला रहे हैं! यह आम का पेड़, ये अमरूद, वह नीम, यह जामुन—सब-के-सब मेरे ही लगाये हुए हैं बाबू! मैंने ही इनके पौधे रोपे, इनकी थालों में पानी दिया, निकौनी की। होते-होते आज ये कितने छितनार हो चले हैं! और इन बेलों, गुलाबों, गेंदों का खान्दान किसने लगाया, बढ़ाया? इसी बैजू ने बाबू! जब बाहर होता हूँ, रात में ये सब-के-सब मुझे पुकारते-से हैं! हाँ, बाबू, सच कहता हूँ, नींद नहीं आती। सोचता हूँ, हाय उस आम की टहनी को न कोई मरोड़ दे, उस नीम को लोग दातुन कर-कर के न सुखा डालें, ये बेले और गुलाब के पौधे बिना सिंचाई-निकाई के न कहीं बर्बाद हो जायँ। बस, कुछ इधर-उधर करके दौड़ा-दौड़ा पहुँच जाता हूँ।"

जब बैजूमामा कह रहे थे, मुझे लग रहा था, मैं कहीं कोई सपना तो नहीं देख रहा हूँ? क्या मैं सचमुच जेल में हूँ? मेरी बग़ल में बैठा जो यह सब कह रहा है, क्या यह सचमुच चोर है? क्या चोर का ऐसा ही भोलाभाला चेहरा होता है? क्या उसकी ऐसी ही भोलीभाली बातें हुआ करतीं हैं? और, क्या उसके ऐसे ही काम होते हैं? जिसने पेड़-पौधे से इतनी तदात्मता प्राप्त कर ली है; जिसे पौधे पुकारते, पेड़ बुलाते हैं--क्या वह निम्न कोटि का अधम

अपराधी हो सकता है? अगर यह अपराधी है, तो निस्सन्देह अपराध शब्द का अर्थ हमें बदल देना होगा!

"और बैजूमामा, अपनी होलीवाली कहानी भी बाबू को ज़रूर सुनाना"—जब एक दिन मेट ने यह कहा, तो देखा, बैजूमामा के चेहरे पह हँसी की एक हल्की झलक दौड़ गई और उनके दाँत—जो तीस वर्षों से जेल की रोटियाँ चबाते-चबाते आधे-आधे घिस गये थे, लेकिन जिनमें टूटे एक भी नहीं थे—चमक पड़े! "अरे, मेट भाई, बाबू के सामने बेइज्जत मत करो।" उससे कहकर उन्होंने इधर-उधर की बातों में मुझे बहला देना चाहा। लेकिन, फिर भी मैंने उनसे वह कहानी निकाल ही ली!

एक बार संयोग ऐसा हुआ कि बैजूमामा की रिहाई की तारीख ठीक होली के ही दिन पड़ गई। ठीक होली के ही दिन—जिस दिन, साल-भर में सिर्फ एक ही दिन, जेल में पकवान बनते हैं! जेल में पकवान! लेकिन आप ताज्जुब न करें, जहाँ भात में भुस्सी मिली होती है और रोटी में कंकड़; दाल में छिलके-ही-छिलके रहते हैं और तरकारी के नाम पर घास के डंठलों को उसन दिया जाता है, वहाँ के पकवान भी कैसे होंगे—समझ जाइए! लेकिन, पकवान फिर भी पकवान हैं! सरसों के तेल में, गुड़ देकर घुने गेहूँ के आटे के पके पूए और थोड़े दूध में पूरा पानी डालकर उबाली गई खीर—ये पकवान भी कैदियों की जीभ पर कम पानी नहीं ला देते! महीनों से इसकी प्रतीक्षा की जाती है! बैजूमामा की जीभ भी इसकी कल्पना से कम लार नहीं टपका चुकी थी कि खबर मिली, उसी होली के दिन उनकी रिहाई होनेवाली है! आह रे, यह क्या गजब हुआ?

बैजूमामा ने जमादार साहब से बहुत ही गिड़गिड़ाकर आरजू-मिन्नत की कि किसी तरह जेलर बाबू से कह-सुनकर उनकी रिहाई की तारीख एक दिन और बढ़ा दें, लेकिन जमादार साहब ने पहले समझाकर, फिर डाँटकर कह दिया कि ऐसा हो नहीं सकता। खैर, रिहाई का दिन पहुँचा। वह गेट पर लाये गये, तो उन्होंने देखा, पूए बनाने के लिये तेल और कड़ाह भीतर भेजे जा रहे हैं। पकवान के इन सामानों को देखकर उनकी आँखें छलछला आईं। जेलर साहब का ध्यान बैजूमामा की ओर आकृष्ट हुआ—भला, उनको कौन नहीं पहचानता? जेलर साहब ने समझा, शायद ये आँसू आनन्द के या पश्चात्ताप के हैं। कह बैठे—"क्यों बैजू, अब तो फिर नहीं आओगे न? हाँ—हाँ,

मत आना, अब तुम बूढ़े भी हुए"। उनका यह कहना था कि बैजूमामू की आँखों में सावन-भादो उमड़ आये और रुँधे हुए गले से बोले--

"बाबू ; मेरी तकदीर फूट गई, बाबू ?"

जेलर साहब, शरीफ मुसलमान जेलर साहब, यह सुनकर घबड़ा गये। यह क्या वात हुई ? पूछा--"क्या हुआ है, बताओ बैजू !" कोई ग़मी की खबर आई है क्या--वह मन-ही-मन सोचने लगे। बैजूमामा बोले--हजूर, आपका इसमें क्या हाथ; मेरी ही तकदीर फूट गई, बाबू !

अरे, क्या हुआ बैजू ?--जेलर साहब की उत्सुकता में अब करुणा की मंदाकिनी मिल रही थी। इधर, बैजूमामा की आँखों के बादल में झड़ी लग गई और हिचकियाँ लेते हुए बोले--

"हाय सरकार, जब तेल और कड़ाह भीतर जा रहे हैं, तो मैं बाहर भेजा जा रहा हूँ। भरे बरत के दिन में निकाला जा रहा..." वह आगे बोल न सके। इधर जेलर साहब ठठाकर हँस पड़े और अपनी जेब से एक रुपया निकाल कर, बैजूमामा को देते हुए बोले कि जाओ, बाज़ार में इसीके पूए खरीद कर खा लेना। लेकिन, इन चाँदी के चमचम टुकड़े का ज़रा भी मोह उनके मन में क्यों होने लगा ? रुपया जेलर बाबू के पैर पर रख दिया और एक दिन के लिए और भी जेल में रखे जाने की विनती की। जेलरसाहब ने इस बारे में अपनी असमर्थता दिखाई। रुपया बार-बार के आग्रह पर भी नहीं ले कर, धोती की खूँट से आँसू पोछते, बैजूमामा बाहर चले आये।

बाहर चारों ओर होली का हुरदंग मचा था। रंग-अबीर उड़ रही थी, गाने-बजाने हो रहे थे। जेल से जो तीन आने पैसे मिले थे, उनका सत्तू ख़रीद कर बैजूमामा ने खाया और दिन-भर इधर-उधर, अन्यमनस्क, तमाशे देखते रहे। शाम को स्टेशन के माल-गुदाम के सामने जाकर लेट रहे और कुछ अंधेरा होने पर एक बैलगाड़ी के निकट बँधे जोड़े बैल को खोलकर ले चले। गाड़ीवान दिन-भर के धूमधड़क्के से कुछ ऐसा मस्त होकर सोया था कि उसे कुछ सुध नहीं रह गई थी ! अब बैजूमामा क्या करें ? वह खुद चिल्ला-कर कहने लगे--"ओ गाड़ीवान, ओ गाड़ीवान, कैसा बेवकूफ-सा सोया है; और चोर तेरे बैल लिये जा रहे हैं।" 'बैल' यह शब्द कान में

पड़ते ही गाड़ीवान चौंक उठा और जिस ओर से आवाज़ आई थी, दौड़ा। उसे दौड़ते देख बैंजूमामा ने भागने का बहाना किया। वह पकड़ लिये गये, कुछ घुस्से खाये, रातभर हाज़त में रहे और भोर में फिर जेल में हाज़िर!

जेलभर में हल्ला हो गया—बैंजूमामा आ गये, आ गये! किंतु बैंजूमामा तो जल्द-जल्द आकर मेट से मिले और कहा—"कहाँ पूए रखे हैं, लाना तो मेट भाई!' मेट हँस रहा था। बैंजूमामा उससे कह गये थे कि दो–एक पूए मेरे लिए जरूर चुराकर रख देना —कल मैं जरूर आ जाऊँगा! बैंजूमामा अपने 'जरूर" को ज़रूर-ही सार्थक करेंगे, इसकी उम्मीद मेट ने नहीं की थी। ज्योंही मेट ने कहा—"पूए कहाँ रखे हैं?" बैंजूमामा की आँखों से झरझर आँसू झड़ने लगे! —"उफ़, इसी पूए के चलते रात उस गाड़ीवान के कितने घुस्से मैंने बर्दास्त कर लिये! रातभर हाजत में पूए का ही सपना देखता रहा हूँ, मेट भाई! मुदा, हाय री तकदीर!" अब मेट की आँखें भी छलछला आई थीं। उसने जो पूए अपने लिए बचाकर, चुराकर रखे थे, उन्हें लाकर बैंजू मामा के सामने रख दिया—बैंजूमामा उस वासी, काठ-से कड़े वन गये तेल के पूए को कुतुर-कुतुर कर खा रहे थे, जो उनकी आँखों के पानी से नरम और नमकीन होते जाते थे।

× × ×

इस वार वह किस तरह जेल आये हैं, वह भी कम दिलचस्प और दयनीय नहीं है।

इस बार बैंजूमामा यह निश्चय कर जेल से निकले थे कि तीस रुपये किसी-न-किसी तरह ज़रूर जमा करेंगे और उन्हीं रुपयों से एक गाय खरीदकर अपने भतीजे के पास जायँगे। गाय की डोर पकड़े जब वह, लगभग तीस वर्षों के वाद, अपने गाँव में घुसेंगे, तो गाँव कैसा दीख पड़ेगा, लोग उन्हें पहचानेंगे या नहीं, वह किस तरह अपना परिचय देंगे—आदि की कल्पना में विभोर होते हुए ही उन्होंने जेल से वाहर क़दम रखा था।

शुरू में मालूम हुआ, इस वार तकदीर पक्ष में है। बड़ी चोरी में बड़ा खतरा है! और, खतरा लेने का इस वार मौका नहीं था। इसलिए छोटी-छोटी चोरियाँ तीस रुपये के लिये शुरू कीं। एक होटल से दो लोटे उड़ाये, दो रुपये में वेच लिये। एक मंदिर के अहाते से

दो कम्बल मार लिये, तीन रुपये उनसे आये। एक वकील साहब के बरामदे से एक शाल उचक लाये, चार रुपये आये। सबसे वड़ा शिकार एक गोदाम से एक बोरे लाल मिर्चे का किया, जिससे उन्हें नकद बारह रुपये मिले। अब बैजूमामा के पास इक्कीस रुपये थे; सिर्फ नौ रुपये की कमी थी। मिर्चे की चोरी सबसे अच्छी। एक दिन जब वह शहर के बाहर शौच को जा रहे थे, उन्होंने खेतों में लाल मिर्चे लगे देखे। कौन जाने, शहर की चोरी में किसी दिन पकड़ा जाऊँ। क्यों न रात में मिर्चे के खेत में पहुँचूँ और थोड़ा-थोड़ा मिर्चा तोड़कर बेचता जाऊँ? यही दस-पन्द्रह दिन लगेंगे, लेकिन खतरे से तो महफ़ूज़ रहूँगा न?——ऐसा सोचकर वह अब प्रति रात मिर्चे के खेत में जाते और एक झोला मिर्चा ले आते और बाज़ार में किसान की तरह बेच लेते! धीरे-धीरे उनके पास छब्बीस रुपये हो गये—— सिर्फ चार रुपये की कमी! हाँ, सिर्फ चार रुपये की।

मंज़िल के अंत में पथिक के पैर तेज़ से उठने लगते हैं——उसकी रफ्तार में तेज़ी आ जाती है! एक दिन बैजूमामा इतने मिर्चे तोड़ लाये कि सवा रुपये मिल गये। अब पौने तीन रुपये की कमी रह गई थी।

तीन——हाय! तीन कितनी बुरी संख्या है! उस रात मामा जब खेत में पहुँचे, इन्हें घेर लिया गया! बेचारे किसान कुछ दिनों से परीशान थे कि यह क्या हो रहा है? उनकी खेती उजड़ रही थी। कई दिनों से वह धुक्की लगाये हुए थे कि आज चोर को उन्होंने देख लिया और दौड़ पड़े। मामा भागें भी तो किस ओर? उन्हें एक अक्ल सूझ गई। जितने मिर्चे तोड़े थे, सब झटपट अलग-बगल में फेंक दिये और इस तरह बैठ गये कि जैसे वह शौच से निवृत हो रहे हैं। चारों ओर से लोग घेरे हुए हैं, यह बोलते नहीं। एक ने कहा——उठते हो या लाठी लगाऊँ?

मामा खड़े हो गये——धोती इस तरह किये कि जैसे शौच से उठे हैं! वह मन-ही-मन सोच रहे थे कि शायद मैं बच गया कि उसी समय खेत की बगल से जानेवाली सड़क से एक मोटर गुज़री और उसकी दपादप रोशनी में उनकी बगल में बिखरे मिर्चे दिखाई पड़े। और बाबू, डर के मारे पेशाब भी तो नहीं हो पाया था, न?—— मुझसे मामा ने हँसते हुए कहा! अब क्या, चोरी साफ-साफ पकड़ ली

गई। मामा फिर थाने में हाज़िर किये गये। फिर वही हवालात—फिर वही बाढ़ का छोटा जेल, फिर वही मेजिस्ट्रेट की अदालत—

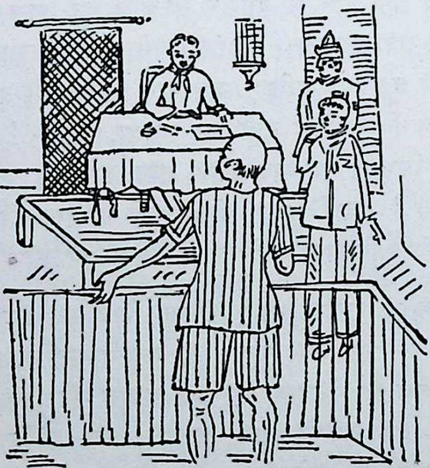
लेकिन इस बार विशेषता यह हुई कि किसी तरह पुलिस ने पता लगा लिया कि मामा पुराने मुज़रिम हैं—फलतः उसने उनपर सेशन चलाने की तैयारियाँ कीं। नौजवान मैजिस्ट्रेट ने पुलिस की बात मान ली! दारोग़ा ने गालियाँ देते हुए कहा—"बूढ़े, इस बार तुम्हें पाँच साल के लिए चक्की पीसनी होगी।"

सेशन-जज एक बूढ़ा आदमी था। जब उसने मामा से कसूर के बारे में पूछा, तो मामा नाही नहीं कर सके। झूठ कैसे बोलते भला? हाँ, एक अर्ज़ की—

हुजूर, सुनते हैं, सरकार पच्चीस साल काम करने पर अपने नौकरों को पिनसिन देती है? हुजूर भी बूढ़े हुए, अब पिनसिन पायँगे। मैंने तीस साल तक जेल में रहकर सरकार का काम कर दिया है! दुहाई सरकार, धरम साछी है, काम करने में कभी कोताही नहीं की। जेलरसाहब को बुलाकर पूछिए, जमादार साहब को बुलाकर पूछिए। बैजू बिना काम किये रोटी नहीं खा सकता, सरकार! अब तीस साल की इस गाढ़ी मिहनत के बाद हुजूर, क्या, इस बूढ़े को भी पिनसिन का हक नहीं है? दुहाई हुजूर की, दुहाई माँ-बाप की, आप निसाफ कीजिए। हुजूर से निसाफ न मिला, तो यह बूढ़ा और कहाँ जायगा!

यह अजीब दलील थी! किन्तु दिल पर इसका असर भले ही हो, दिमाग़ पर यह क्या असर ला सकता था भला? और, जज तो बँधा है क़ानून की किताब से। उस क़ानून की किताब के अनुसार सज़ा के लिए जो जरूरी बातें चाहिए, सब हाज़िर! चश्मदीद गवाहियाँ—अपराध की स्वीकृति! वह किताब जज को यह हक़ कहाँ देती कि वह देखे कि अपराध क्यों किया गया; उसमें समाज कहाँ तक अपराधी है और आदमी कहाँ तक; आदमी के कृत्य में परिस्थितियों का कहाँ तक हाथ है, आदि-आदि! फिर आदमी के भीतर जो इन्सानियत है, उसे उभड़ने देने और अपराधी को सही रास्ते पर चलने में मदद करने की ओर ध्यान देना तो उस किताब में जैसे हराम हो। जज बेचारे बूढ़े थे, सहृदय थे; लेकिन जो किताब उन्हें रोटी दे रही थी, इस बुढ़ापे को आराम से बिताने में मदद पहुँचा रही थी, उसकी उपेक्षा वह कैसे करते बेचारे? हाँ, उन्होंने

शायद कभी शेक्सपीयर की "मर्चेंट ऑफ वेनिस" पढ़ ली थी, इसलिए अपने 'इन्साफ़' पर इस बार 'रहम' का मुलम्मा चढ़ाने से वह नहीं रुक सके! इस बार बैजूमामा को सिर्फ एक साल की ही सजा हुई।





सुभान खाँ

"क्या आपका अल्लाह पच्छिम में रहता है? वह पूरब क्यों नहीं रहता?"

सुभानदादा की लंबी, सुफेद, चमकती, रोब बरसाती दाढ़ी में अपनी नन्हीं उँगलियों को घुसाते हुए मैंने पूछा। उनकी चौड़ी, उभड़ी पेशानी पर एक उल्लास की झलक और दाढ़ी-मूंछ की सघनता में दबे पतले अधरों पर एक मुस्कान की रेखा दौड़ गई। अपनी लम्बी बाँहों की दाहिनी हथेली मेरे सिर पर सुहलाते हुए उन्होंने कहा—

"नहीं बबुआ, अल्लाह तो पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन सब ओर है!"

"तो फिर आप पच्छिम मुँह खड़े होकर ही नमाज़ क्यों पढ़ते हैं?

"पच्छिम ओर के मुल्क में अल्लाह के रसूल आये थे। जहाँ रसूल आये थे, वहाँ हमारे तीरथ हैं। हम उन्हीं तीरथों की ओर मुँह करके अल्लाह को याद करते हैं।"

"वे तीरथ यहाँसे कितनी दूर होंगे?"

"बहुत दूर!"

"जहाँ सूरज-देवता डूबते हैं?"

"नहीं, उससे कुछ इधर ही!"

"आप उन तीरथों में गये हैं सुभानदादा?"

देखा, सुभानदादा की बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू डबडबा आये; उनका समूचा चेहरा लाल हो उठा। भाव-विभोर हो गद्गद कंठ से बोले —

"वहाँ जाने में बहुत खर्च पड़ते हैं बबुआ! मैं ग़रीब आदमी ठहरा न! इस बुढ़ापे में भी इतनी मेहनत-मसक्कत कर रहा हूँ कि कहीं कुछ पैसे बचा पाऊँ और उस पाक जगह की ज़ियारत कर आऊँ!"

उनकी आँखों को देखकर मेरा बचपन का दिल भी भावना से ओतप्रोत हो गया। मैंने उनसे कहा—

"मेरे मामाजी से कुछ क़र्ज़ क्यों नहीं ले लेते दादा?"

"क़र्ज़ के पैसे से तीरथ करने में सबाव नहीं मिलता बबुआ। अल्लाह ने चाहा, तो एक-दो साल में इतने जमा हो जायँगे कि किसी तरह वहाँ जा सकूँ।

"वहाँसे मेरे लिए भी कुछ सौगात लाइएगा न? क्या लाइएगा?"

"वहाँसे लोग खजूर और छुहारे लाते हैं।"

"हाँ–, हाँ, मेरे लिए छुहारे ही लाइएगा—लेकिन एक दर्जन से कम नहीं लूँगा, हूँ।"

सुभानदादा की सुफेद दाढ़ी-मूँछ के बीच उनके सुफेद दाँत चमक रहे थे। कुछ देर तक मुझे दुलारते रहे। फिर कुछ रुककर बोले—अच्छा जाइए, खेलिए, मैं ज़रा काम पूरा कर लूँ। मज़दूरी-भर पूरा काम नहीं करने से अल्लाह नाराज़ हो जायँगे।

क्या आपके अल्लाह बहुत गुस्सवर हैं?—मैं तुनककर बोला।

आज सुभानदादा बड़े जोरों से हँस पड़े; फिर एक बार मेरे सिर पर हथेली फेरी और—"बच्चों से वह बहुत खुश रहते हैं, बबुआ! वह तुम्हारी उम्र–दराज़ करें।"—कहकर मुझे अपने कंधे

पर ले लिया। मुझे लेते हुए दीवार के नज़दीक आये, वहाँ उतार दिया और झट अपनी कढ़नी और बसुली से दीवार पर काम करने लगे।

× × ×

सुभान खाँ एक अच्छे राज़ समझे जाते हैं। जब-जब घर की दीवारों पर कुछ मरम्मत की ज़रूरत होती है, उन्हें बुला लिया जाता है। आते हैं, पाँच-सात रोज़ यहीं रहते हैं, काम खत्म कर चले जाते हैं।

लंबा, चौड़ा, तगड़ा है बदन इनका। पेशानी चौड़ी, भवें बड़ी सघन और उभड़ी। आँखों के कोनों में कुछ लाली और पुतलियों में कुछ नीलेपन की झलक। नाक असाधारण ढंग से नुकीली। दाढ़ी सघन; इतनी लंबी कि छाती तक पहुँच जाय—वह छाती, जो बुढ़ापे में भी फैली, फूली हुई। सिर पर हमेशा ही एक दुपलिया टोपी पहने होते और बदन में नीमस्तीन। कमर में कच्छेवाली धोती, पैर में चमरौंधा जूता। चेहरे से नूर टपकता, मुँह से शहद झरता। भलेमानसों के बोलने-चालने, बैठने-उठने के क़ायदे की पूरी पाबंदी करते वह।

किन्तु, बचपन में मुझे सबसे अधिक भाती उनकी वह सुफेद चमकती हुई दाढ़ी। नमाज़ के वक्त कमर में धारीदार लुँगी और शरीर में सादा कुरता पहन, घुटने टेक, दोनों हाथ छाती से ज़रा ऊपर उठा, आधी आँखें मूँद कर जब वह कुछ मंत्र-सा पढ़ने लगते, मैं विस्मय-विमुग्ध होकर उन्हें देखता रह जाता! मुझे ऐसा मालूम होता, सचमुच उनके अल्लाह वहाँ आ गये हैं, दादा की झपकती आँखें उन्हें देख रही हैं, और ये होठों-होठों की बातें उन्हींसे हो रही हैं।

एक दिन बचपन के आवेश में मैंने उनसे पूछ भी दिया—सुभानदादा, आपने कभी अल्लाह को देखा है?

"यह क्या कह रहे हो; बबुआ? इन्सान इन आँखों से अल्लाह को देख नहीं सकता!"

"मुझे धोखा मत दीजिए, दादा! मैं सब देखता हूँ। आप रोज़ आधी आँखों से उन्हें देखते हैं, उनसे बुदबुदाकर बातें करते हैं। हाँ,–हाँ, मुझे चकमा दे रहे हैं आप!"

"मैं उनसे बातें करूँगा! मेरी ऐसी तकदीर कहाँ? सिर्फ रसूल की उनसे बातें होती थीं, बबुआ! ये बातें कुरान में लिखी हैं।"

"अच्छा दादा, क्या आपके रसूल साहब को भी दाढ़ी थी?"

"हाँ,–हाँ, थी। बड़ी खूबसूरत, लंबी, सुनहली—अब भी उनकी दाढ़ी के कुछ बाल मक्का में रखे हैं। हम अपने तीरथ में उन बालों के भी दर्शन करते हैं।"

"बड़ा होने पर जब मुझे दाढ़ी होगी, मैं भी दाढ़ी रखाऊँगा दादा! खूब लंबी दाढ़ी।"

सुभानदादा ने मुझे उठाकर गोद में ले लिया; फिर कंधे पर चढ़ाकर इधर-उधर घुमाया। तरह-तरह की बातें सुनाईं; कहानियाँ कहीं। मेरा मन बहलाकर वह फिर अपने काम में लग गये। मुझे मालूम होता था, काम और अल्लाह—ये ही दो चीजें संसार में उनके लिए सबसे प्यारी हैं। काम करते हुए अल्लाह को नहीं भूलते थे और अल्लाह से फुर्सत पाकर फिर झट काम में जुट या जुत जाना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे। और, काम और अल्लाह का यह सामंजस्य उनके दिल में प्रेम की वह मंदाकिनी बहाता रहता था, जिसमें मेरे ऐसे बच्चे भी बड़े मज़े में डुबकियाँ लगा सकते थे, चुभकियाँ ले सकते थे।

× × ×

नानी ने कहा—सबेरे नहा-खा लो; आज तुम्हें हुसैन साहब के पैक में जाना होगा! सुभान खाँ आते ही होंगे!

जिन कितने देवताओं की मनौती के बाद माँ ने मुझे प्राप्त किया था, उनमें एक हुसैन साहब भी थे। नौ साल की उम्र तक, जबतक जनेऊ नहीं हो गई थी, मुहर्रम के दिन मुसलमान बच्चों की तरह मुझे भी ताज़िये के चारों ओर रंगीन छड़ी लेकर कूदना पड़ा है और गले में गंडे पहनने पड़े हैं। मुहर्रम उन दिनों मेरे लिए कितनी ख़ुशी का दिन था। नये कपड़े पहनता, उछलता-कूदता, नये-नये चेहरे और तरह-तरह के खेल देखता—धूम-धक्कड़ में किस तरह चार पहर गुज़र जाते! इस मुहर्रम के पीछे जो रोमांचकारी, हृदय को पिघलानेवाली, करुण रस से भरी दर्द-अंगेज़ घटना छिपी है, उन दिनों उसकी खबर भी कहाँ थी !

खैर, मैं नहा-धोकर, पहन-ओढ़कर इंतज़ार ही कर रहा था कि सुभानदादा पहुँच गये, मुझे कंधे पर ले लिया और अपने गाँव में ले गये।

उनका घर क्या था—बच्चों का अखाड़ा बना हुआ था। पोते-पोतियों, नाती-नतिनों की भरमार थी उनके घर में। मेरी ही उम्र के बहुत बच्चे! रंगीन कपड़ों से सजे-धजे—सब मानों मेरे ही इंतज़ार में! जब पहुँचा, सुभानदादा की बूढ़ी बीवी ने मेरे गले में एक बद्धी डाल दी, कमर में घंटी बाँध दी, हाथ में दो लाल छड़ियाँ दे दीं और उन बच्चों के साथ मुझे लिये-दिये करबला की ओर चलीं। दिन भर, उछला, कूदा, तमाशे देखे, मिठाइयाँ उड़ाईं और शाम को फिर सुभानदादा के कंधे पर घर पहुँच गया।

ईद-बकरीद को न सुभानदादा हमें भूल सकते थे, न होली-दीवाली को हम उन्हें! होली के दिन नानी अपने हाथों से पूए, खीर और गोश्त परोस कर सुभानदादा को खिलातीं। और, तब मैं ही अपने हाथों से अबीर लेकर उनकी दाढ़ी में मलता। एक बार जब उनकी दाढ़ी रंगीन बन गई थी, मुझे पुरानी बात याद आ गई। मैंने कहा—

"सुभानदादा, रसूल की दाढ़ी भी तो ऐसी ही रंगीन रही होगी?"

"उसपर अल्लाह ने ही रंग दे रखा था बबुआ; अल्लाह की उनपर खास मेहरबानी थी। उनके-सा नसीबाँ हम मामूली इंसानों को कहाँ?"

ऐसा कहकर, झट आँखें मूँद कर कुछ बुदबुदाने लगे—जैसे वह ध्यान में उन्हें देख रहे हों।

मैं भी कुछ बड़ा हुआ; उधर दादा भी आख़िर हज कर ही आये। अब मैं बड़ा हो गया था, लेकिन उन्हें छुहारे की बात भूली नहीं थी। जब मैं छुट्टी में शहर के स्कूल से लौटा, दादा यह अनुपम सौग़ात लेकर पहुँचे। इधर उनके घर की हालत भी अच्छी हो चली थी। दादा के पुण्य और लायक बेटों की मेहनत ने काफी पैसे इकट्ठे कर लिये थे। लेकिन उनमें वही विनम्रता और सज्जनता थी। आये, पहले की ही तरह शिष्टाचार निबाहा। फिर छुहारे निकाल मेरे हाथ में रख दिये—"बबुआ, यह आपके लिए ख़ास अरब से

लाया हूँ। याद है न, आपने इसकी फरमायश की थी।" उनके नथने आनंदातिरेक से हिल रहे थे।

छुहारे लिये, सिर चढ़ाया—खाहिश हुई, आज फिर मैं बच्चा हो पाता और उनके कंधे से लिपटकर उनकी सुफेद दाढ़ी में, जो अब सचमुच नूरानी हो चली थी, उँगलियाँ घुसाकर उन्हें 'दादा, दादा' कहकर पुकार उठता! लेकिन, न मैं अब बच्चा हो सकता था, न ज़बान में वह मासूमियत और पवित्रता रह गई थी! अँगरेजी स्कूल के वातावरण ने अजीब अस्वाभाविकता हर बात में ला दी थी। पर, हाँ, शायद एक चीज़ अब भी पवित्र रह गई थी। आँखों ने आँसू की छलकन से अपने को पवित्र कर चुपचाप ही उनके चरणों में श्रद्धांजलि चढ़ा दी!

× × ×

हज से लौटने के बाद सुभानदादा का ज़्यादा वक्त नमाज़-बंदगी में ही बीतता। दिन भर उनके हाथों में तसबीह के दाने घूमते और उनकी ज़बान अल्लाह की रट लगाये रहती। अपने जवार-भर में उनकी बुज़ुर्गी की धाक थी। बड़े-बड़े झगड़ों की पंचायतों में दूर-दूर के हिंदू-मुसलमान उन्हें पंच मुकर्रर करते। उनकी ईमानदारी और दयानतदारी की कुछ ऐसी ही धूम थी।

सुभानदादा का एक अरमान था, मस्जिद बनाने का। मेरे मामा का मंदिर उन्होंने ही बनाया था। उन दिनों वह साधारण राज़ थे। लेकिन, तो भी कहा करते—अल्लाह ने चाहा, तो मैं भी एक मस्जिद ज़रूर बनवाऊँगा।

अल्लाह ने चाहा और वैसा दिन आया। उनकी मस्जिद भी तैयार हुई। गाँव के ही लायक एक छोटी-सी मस्जिद—लेकिन बड़ी ही खूबसूरत। दादा ने अपनी ज़िंदगी–भर की अर्जित कला इसमें खर्च कर दी थी। हाथ में इतनी ताक़त नहीं रह गई थी कि अब खुद कढ़नी या बसुली पकड़ें, लेकिन दिनभर बैठे-बैठे एक-एक ईंट की जुड़ाई पर ध्यान रखते और उसके भीतर-भीतर जो बेल-बूटे काढ़े गये थे, उनके सारे नक्शे उन्होंने ही खींचे थे और उनमें से एक-एक का काढ़ा जाना उनकी ही बारीक निगरानी में हुआ था!

मेरे मामाजी के बगीचे में शीशम, सखुए, कटहल आदि इमारतों में काम आनेवाले पेड़ों की भरमार थी। मस्जिद की सारी

लकड़ी हमारे ही बगीचे से गई थी।

जिस दिन मस्जिद तैयार हुई थी, सुभानदादा ने जवारभर के प्रतिष्ठित लोगों को न्योता दिया था। जुमा का दिन था। जितने मुसलमान थे, सबने उसमें नमाज़ पढ़ी थी। जितने हिंदू आये थे, उनके सत्कार के लिए दादा ने हिंदू हलवाई रखकर तरह-तरह की मिठाइयाँ बनवाई थीं, पान-लायची का प्रबंध किया था। अब तक भी लोग उस मस्जिद के उद्घाटन के दिन की दादा की मेहमानदारी भूले नहीं हैं।

× × ×

ज़माना बदला। मैं अब शहरों में ही ज़्यादातर रहता। और, शहर आये–दिन हिंदू-मुस्लिम दंगों के अखाड़े बन जाते थे। हाँ, आये–दिन! देखियेगा, एक ही सड़क पर हिंदू-मुसलमान चल रहे हैं, एक ही दुकान पर सौदे ख़रीद रहे हैं, एक ही सवारियों पर जानू-ब-जानू आ-जा रहे हैं, एक ही स्कूल में पढ़ रहे हैं, एक ही दफ्तर में काम कर रहे हैं, कि अचानक सबके सिर पर शैतान सवार हो गया। हल्ला, भगदड़, मारपीट, ख़ूनख़राबी, आग-लगी—सारी ख़ुराफातों की छूट! न घर महफ़ूज़, न शरीर, न इज्ज़त! प्रेम, भाई–चारे और सहृदयता के स्थान पर घृणा, विरोध और नृशंश हत्या का उल्लंग नृत्य!

शहरों की यह बीमारी धीरे-धीरे देहात में घुसने लगी। गाय और बाजे के नाम पर तक़रारें होने लगीं। जो ज़िंदगी–भर कसाई-खानों के लिए अपनी गायें बेचते रहे, वे ही एक दिन किसी एक गाय के कटने का नाम सुनकर ही कितने इन्सानों के गले काटने को तैयार होने लगे! जिनके शादी-व्याह परब-त्योहार बिना बाजे के नहीं होते, जो मुहर्रम की ग़मी के दिन भी बाजे-गाजों की धूम किये रहते, अब वे ही अपनी मस्जिद के सामने से गुज़रते हुए एक मिनट के बाजे पर ख़ून की नदियाँ बहाने को उतारू हो जाते!

कुछ पंडितों की बन आई, कुछ मुल्लाओं की चलती बनी। संगठन और तंज़ीम के नाम पर, फूट और कलह के बीज बोये जाने लगे। लाठियाँ उछलीं, छुरे निकले। खोपड़ियाँ फूटीं, अँतड़ियाँ बाहर आईं। कितने नौजवान मरे—घर फुंके। बाकी बच गये खेत–खलिहान, सो अँगरेजी अदालत के खर्चे में पीछे कुर्क हुए!

ख़बर फैली, इस साल सुभानदादा के गाँव के मुसलमान भी क़ुर्बानी करेंगे। जवार में मुसलमान कम थे, लेकिन उनके जोश का क्या कहना? इधर हिंदुओं की जितनी गाय पर ममता न थी, उससे ज़्यादा अपनी तायदाद पर घमंड था। तनातनी का बाज़ार गर्म! ख़बर यह भी फैली कि सुभान खाँ की मस्जिद में ही क़ुर्बानी होगी।

"ऐं, सुभान खाँ की मस्जिद में क़ुर्बानी? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता!"

"अगर हुई, तो क्या होगा? हमारी नाक कट जायगी! लोग क्या कहेंगे—इतने हिंदू के रहते गो-माता के गले पर छुरी चली!"

"छुरी से गो-माता को बचाना है, तो गौरागौरी के कसाईख़ाने पर हम धावा करें? और, अगर, सचमुच जोश है, तो चलिए मुजफ्फरपुर, अँगरेजी फौज की छावनी पर ही धावा बोलें। कसाईख़ाने में तो बूढ़ी गाएँ कटती हैं, छावनी में तो मोटी-ताजी बाछियाँ ही काटी जाती हैं।"

"लेकिन वे तो हमारी आँखों से दूर हैं। देखते हुए मक्खी कैसे निगली जायगी?"

"माफ कीजिए, दूर-नज़दीक की बात नहीं है। बात है हिम्मत की, ताक़त की। छावनी में आप नहीं जाते हैं, इसलिए कि वहाँ सीधे तोप के मुँह में पड़ना होगा। यहाँ मुसलमान एक मुट्ठी हैं, इसलिए आप टूटने को उतावले हैं।"

"आप सुभान खाँ का पक्ष ले रहे हैं; दोस्ती निभाते हैं! धर्म से बढ़कर दोस्ती नहीं!"

कुछ नौजवानों को मेरे मामाजी की बातें ऐसी बुरी लगीं कि सख़्त-सुस्त कहते वहाँसे उठकर चल दिये। लेकिन कितना भी गुस्सा किया जाय, चीखा-चिल्लाया जाय—यह साफ बात थी कि मामा की बिना रज़ामंदी के किसी बड़ी घटना के लिए किसीको पैर उठाने की हिम्मत नहीं हो सकती थी। उधर सुभानदादा के दरवाज़े पर भी मुसलमानों की भीड़ है। न जाने दादा में कहाँ का जोश आ गया है, वह कड़ककर कह रहे हैं—

"गाय की क़ुर्बानी नहीं होगी! ये फालतू बातें सुनने को मैं तैयार नहीं हूँ। तुमलोग हमारी आँखों के सामने से हट जाओ।"

"क्यों नहीं होगी? क्या हम अपना मज़हब डर के मारे छोड़ देंगे?"

"मैं कहता हूँ, यह मज़हब नहीं है। मैं हज से हो आया हूँ, क़ुरान मैंने पढ़ी है। गाय की क़ुर्बानी लाजिमी नहीं है। अरब में लोग दुम्मे और ऊँट की कुर्बानी अमूमन करते हैं।"

"लेकिन हम गाय की ही क़ुर्बानी करें, तो वे रोकनेवाले कौन होते हैं? हमारे मज़हब में वे दस्तंदाज़ी क्यों करेंगे?"

"उनकी बात उनसे पूछो—मैं मुसलमान हूँ, कभी अल्लाह को नहीं भूला हूँ। मैं मुसलमान की हैसियत से कहता हूँ, मैं गाय की क़ुर्बानी न होने दूंगा, न होने दूंगा।"

दादा की समूची दाढ़ी हिल रही थी, गुस्से से चेहरा लाल था, होंठ फड़क रहे थे, शरीर तक हिल रहा था। उनकी यह हालत देख, सभी चुप रहे। लेकिन एक नौजवान बोल उठा—

"आप बूढ़े हैं, आप अब अलग बैठिए, हम काफिरों से समझ लेंगे।"

दादा चीख उठे—

"कल्लू का बेटा, ज़बान सम्भालकर बोल। तू किन्हें काफिर कह रहा है? और, मेरे बुढ़ापे पर मत जा—मैं मस्जिद में चल रहा हूँ। पहले मेरी क़ुर्बानी हो लेगी, तब गाय की क़ुर्बानी हो सकेगी।"

सुभानदादा वहाँसे उसी तनतने की हालत में मस्जिद में आये। नमाज़ पढ़ी। फिर तसबीह लेकर मस्जिद के दरवाज़े की चौखट पर "मेरी लाश पर ही कोई भीतर घुस सकता है"—कहकर बैठ गये। उनकी आँखें मुँदी हैं, किंतु आँसुओं की झड़ी उनके गाल से होती, उनकी दाढ़ी को भिगोती, अजस्र रूप में गिरती जा रही है। हाथ में तसबीह के दाने हिल रहे हैं, और होठों पर ज़रा-ज़रा जुंबिस है—नहीं तो उनका समूचा शरीर संगमरमर की मूर्त्ति-सा लग रहा है—निश्चल, निस्पंद। धीरे-धीरे मस्जिद के नज़दीक लोग इकट्ठे होने लगे। पहले मुसलमान; फिर हिंदू भी। अब गाय की क़ुर्बानी का सवाल दादा की आँसुओं की धारा में भँसकर न जाने कहाँ चला गया था! वह साक्षात् देवदूत-से दीख पड़ते थे! देवदूत—जिसके रोम-रोम से प्रेम और भाई-चारे का संदेश निकलकर वायुमंडल को व्याप्त कर रहा था।

× × ×

अभी, उस दिन, मेरी रानी, मेरे दो वर्ष जेल में रह जाने के बाद, इतने लंबे अर्से तक राह देखती-देखती, आँखिर मुझसे मिलने गया सेण्ट्रल जेल में आई थी।

इतने दिनों की बिछुड़न के बाद, मिलने पर, जो सबसे पहली चीज़ उसने मेरे हाथों पर रखी, वे थे रेशम और कुछ सूत के अजीबोग़रीब ढंग से लिपटे-लिपटाये डोरे, बद्धियाँ, गंडे आदि। यह सूरज देवता के हैं, यह अनंत देवता के, यह ग्राम-देवता के, यों ही गिनती-गिनती, आखिर में बोली—"ये हुसैन साहब के गंडे हैं—आपको मेरी ही क़सम, इन्हें ज़रूर ही पहन लीजिएगा।"

ये सब मेरी माँ की मन्नतों के अवशेष चिह्न हैं। माँ चली गईं, पिताजी चले गये; रानी चार बच्चों की माँ बन चुकी है, मैं पिता बन चुका हूँ; लेकिन, तो भी ये मन्नतें अब भी निभाई जा रही हैं। रानी जानती है, मैं नास्तिक हूँ। इसलिए जब-जब इनके मौक़े आते हैं, खुद इन्हें मेरे गले में डाल देती है। आज इस जेल में जेल-कर्मचारियों और खुफिया-पुलिस के सामने उसने ऐसा नहीं किया—लेकिन, क़सम देने से नहीं चूकी। मैंने भी हँसकर, मानों, उसकी दिलजमई कर दी।

रानी चली गई, लेकिन वे गंडे अब भी मेरे सूटकेस में सँजो-कर रखे हैं।

जब-जब सूटकेस खोलता हूँ और हुसैन साहब के उन गंडों पर नज़र पड़ती है, तब-तब दो अपूर्व तस्वीरें आँखों के सामने नाच जाती हैं—

पहली करबला की—

एक ओर सिर्फ बहत्तर आदमी हैं, जिनमें बच्चे और औरतें भी हैं। इस छोटी-सी जमात के सरदार हैं हजरत हुसैन साहब। इन्हें बार-बार आग्रह करके बुलाया गया था, कूफ़ा की गद्दी पर बिठलाने के लिए! लेकिन गद्दी पर बिठाने के बदले, आज उनके लिए एक चुल्लू पानी का मिलना भी मुहाल कर दिया गया है। सामने फुरात नदी बह रही है, लेकिन उसके घाट-घाट पर पहरे हैं, उन्हें पानी लेने नहीं दिया जा रहा है। कहा जाता है—दुराचारी, दुराग्रही यज़ीद की सत्ता क़बूल करो, नहीं तो प्यासे तड़प कर मरो।

बच्चे प्यास के मारे बिलला रहे हैं; उनकी माँ और बहनें तड़प रही हैं। हायरे, एक चुल्लू पानी!—मेरे लल्ला के कंठ सूखे जा रहे हैं, उसकी साँस रुकी जा रही है! पानी, पानी—एक चुल्लू पानी!

पानी की तो नदी बह रही है और तुम्हें इज्ज़त और दौलत भी कम नहीं बख़्शी जायगी—क्योंकि तुम खुद रसूल के नाती जो हो। लेकिन; शर्त्त एक है—यज़ीद के हाथ पर बैत करो।

यज़ीद के हाथ पर बैत? दुराचारी, दुराग्रही यज़ीद की सत्ता क़बूल कर ले और रसूल का नवाशा? हो नहीं सकता। हम एक चूल्लू पानी में डूब मरना पसंद करेंगे, लेकिन यह नीच काम रसूल के नाती से नहीं होगा!

लेकिन, बच्चों के लिए तो पानी लाना ही है! उन्हें यों जीते-जी तड़पकर मरने नहीं दिया जा सकता!

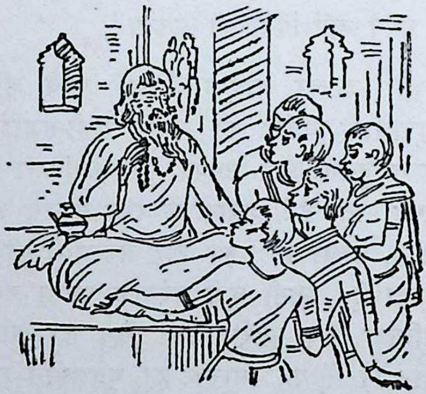
एक ओर बहत्तर आदमी, जिनमें बच्चे और स्त्रियाँ भी। दूसरी ओर दुराचारी यज़ीद की अपार सजी-सजाई फौज! लड़ाई होती है, हज़रत हुसैन और उनका पूरा काफिला उस करबला के मैदान में शहादत पाता है! शहीदों के रक्त से उस सहरा के रजकण लाल हो उठते हैं, बच्चों की तड़प और अबलाओं की चीख़ से वातावरण थर्रा उठता है। इतनी बड़ी दर्दनाक घटना संसार के इतिहास में मिलना मुश्किल है। मुहर्रम उसी दिन का करुण स्मारक है। संसार के कोने-कोने में यह स्मारक हर मुसलमान मनाता है। भाईचारा बढ़ने पर हिन्दुओं ने भी इसे अपना त्योहार बना लिया था, जो सब तरह ही योग्य था।

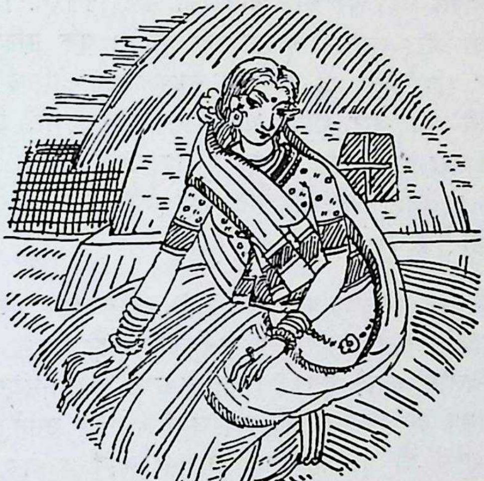
और, दूसरी तस्वीर सुभानदादा की—

जिनके कंधे पर चढ़कर मैं मुहर्रम देखने जाया करता था।

वह चौड़ी पेशानी, वह सुफेद दाढ़ी, वे ममताभरी आँखें, वे शहद टपकानेवाले होंठ, उनका वह नूरानी चेहरा! जिनकी जवानी अल्लाह और काम के बीच बराबर हिस्से में बँटी थी, जिनका बुढ़ापा अल्लाह से ओत-प्रोत था। जिनके दिमाग़ में आला खयाल थे और जिनके हृदय में प्रेम की धारा लहराती थी, वह प्रेम की धारा—जो अपने-पराये सबको समान रूप से शीतल करती और सींचती है!

मेरा सिर सिज्दे में झुका है—करबला के शहीद के सामने! मैं सप्रेम नमस्कार करता हूँ—अपने प्यारे सुभानदादा को!





बुधिया

एक छोटी-सी पठिया फुदकती हुई आकर चमेली की ताज़ा, नरम-नरम पत्तियों को तावड़तोड़ नोचने और चवाने लगी। उस दिन तक मुझमें वह कलात्मक प्रवृत्ति नहीं जगी थी कि उस नन्हें खूबसूरत जानवर का वह फुदकना, अपने लंबे कानों को फट-फटाते हुए पत्तियों का वह नोचना, फिर चौकन्नी आँखों से इधर-उधर देखते हुए लगातार मुँह चलाना और जब-तब, शायद माँ की याद में, में-में चिल्ला उठना—मैं विस्मय-विमुग्ध होकर देखता-सुनता रहता। उस दिन तो सबसे बड़ी ममता थी उस चमेली पर, जिसकी क़लम मैं दूर के गाँव से लाया था, जिसे मैंने अपने हाथों रोपा और सींचा था और जिसकी एक-एक पत्ती निकलते देखकर मैं फूला नहीं समाता था। इस छोटी-सी दुष्ट पठिया ने सब सत्यानाश में मिला दिया—मैं गुस्से में चूर उसे मारने दौड़ा। वह हिरन के बच्चे-सी छलाँग लेती भागी! मैं पीछे लगा—

मत मारिए बाबू!—यह बुधिया थी। बुधिया, एक छोटी-सी

बच्ची। सात-आठ साल से ज़्यादा की क्या होगी! कमर में एकरंगे की खँड़ की लपेटे, जिसमें कितने पैबंद लगे थे और जो मुश्किल से उसके घुटने के नीचे पहुँचती थी। समूचा शरीर नंग-धड़ंग, गर्द-गुबार से भरा। साँवले चेहरे पर काले बालों की लटें बिखरी, जिनमें धूल तो साफ थी और जूएँ भी ज़रूर रही होंगी। एक नाक से पीला नेटा निकल रहा, जिसे वह बार-बार सुड़कने की कोशिश करती। उसकी बोली सुन, और शायद यह सूरत देखकर भी, इच्छा हुई, एक थप्पड़ अभी उसके गाल पर जड़ दूँ, कि उसके पैर के नीचे जो नजर पड़ी, तो ध्यान उस ओर बँट गया और मेरा लड़कपन का मन वहीं जा उलझा।

अरे, तूने यह क्या बना रखा है?——मैं नज़दीक बढ़कर देखने लगा। देखा, निकट के पोखरे से गीली-चिकनी मिट्टी लाकर वह तरह-तरह के खिलौने बनाये हुई है। खेत से सरसों, चना-मटर वगैरह के फूल ले आकर उन खिलौनों को खूब सजा रखा है उसने। खिलौनों की खास शक्लें तो थीं नहीं; हाँ, आदमी के-से आकार, जो रंग-विरंगे फूलों से सजे होने के कारण ज़रूर ही भले दीखते थे। मैंने पूछा——यह क्या है? वह कुछ शर्माई।

आप मारिएगा नहीं न, तो वताऊँ!

आज पीटता ज़रूर, लेकिन माफ कर दिया। वह मुस्कुरा पड़ी। बैठ गई। बैठिए न! उस गंदगी में मैं क्यों बैठने लगा, झुककर देखने लगा; उसने कहना शुरू किया——

यह है दुलहा——सिर पर मौर। सरसों के फूल की ओर इशारा करती——बसंती मौर। यह है दुलहन——कैसी भली चुँदरी, मटर-चने के फूलों की। इनकी होगी शादी। खूब बजेंगे वाजे। दो-तीन बार उसने पेट पीटा, फिर मुँह से सीटी दी——ढोल भी, शहनाई भी! यह है कोहबर-घर ——धूल से चौकोर घेरकर बनाया। यह है फूलसेज ——आम के हरे पत्तों पर कुछ फूल बिखरे। इसपर सोयँगे दोनों। और मैं गाऊँगी गीत——

वह कुछ गुनगुनाने लगी। गाती, झूमती। कुछ देर तल्लीन मैं देखा-सुना किया। फिर मेरा ध्यान अपनी चमेली की ओर गया। दौड़ा। एक-एक पत्ती गिनता। अफसोस करता। पठिया को जिन्दा

चबाने की क़समें खाता। बुधिया को गालियाँ देता.........

× × ×

मालिक, जरा घास में हाथ लगा दीजिए न!

सिर नीचा किए, किसी बात पर मन-ही-मन तर्क-वितर्क करता, मैं गाँव से उत्तर की उस सड़क पर शाम को हवाखोरी कर रहा था कि यह आवाज़ सुन, सिर उठाकर देखा।

झुटपुटा हो चला था। सड़क के नीचे, खेत में, एक युवती-सी खड़ी मालूम हुई। घास का गट्ठर उसके पैर के नीचे, बग़ल में, पड़ा था।

मैं झल्ला उठा। उसकी शोख़ी पर क्रोध आया। मैं अब शहरी आदमी हूँ। साफ कपड़े पहनता। गँवई के लोगोंकी गंदगी से दूर रहने की कोशिश करता। फिर, मैं घसवाहा, चरवाहा थोड़े हूँ, जो घास के गट्ठर उठाता फिरूँ? गाँव में ऐसा कौन है, जो मुझसे ऐसा कहने की जुर्रत करे? लेकिन, देखिए इसे, जिसने......

उठा दीजिए न?

मैंने घूरकर उसके चेहरे को देखा। आकृति और आवाज़ में तारतम्य बिठलाया। अरे, यह तो बुधिया है! जवान हो गई? इतनी जवान; इतना जल्द?

इधर-उधर देखा, कोई नहीं। शाम हो रही है, बेचारी को कौन उठा देगा? द्रवीभूत हो मैंने घास के गट्ठर में हाथ लगा दिये। वह गट्ठर लिये झूमती चली गई।

उसी समय एक ठहाका सुनाई पड़ा और थोड़ी देर में जगदीश मेरे नज़दीक पहुँच चुका था। आखिर आपको भी इसने फँसाया!—जगदीश की आँखों में शरारत थी, आवाज़ में व्यंग्य। फिर उसने मानों, बुधिया-पुराण कहना शुरू किया—

अब बुधिया पैवंदवाली बुधिया नहीं है। अब उसकी चूनर का रंग कभी मलिन नहीं होता। उसकी चोली सिवाईपट्टी का दरज़ी सीता है। माना, वह रोज़ घास को आती-जाती है, लेकिन उसके हाथ में ठेले की क्या बात, आप घिस्से भी नहीं पायँगे। रंग वही साँवला है; लेकिन उसमें गड़हे के सड़े पानी की मुर्दनी नहीं है, कालिंदी का कलकल-छलछल है, जिसके कूल पर कितने ही गोपाल वंशी टेरते, कितने ही नंदलाल रासलीला का स्वप्न देखते। बुधिया जिस सरेह में निकल

जाती, ज़िंदगी तरंगें लेतीं। उसके बालों में चमेली का तेल चपचप करता है, उसकी माँग में टकही टिकुली चमचम करती है। किसी वृन्दावन में एक थे गोपाल, हज़ार थीं गोपियाँ। यहाँ एक है गोपी और हज़ार गोपाल। इन गोपालों को एक ही नाथ में नाथकर नचाने में बुधिया को जो मज़ा आता, वह उस गोपाल को सहस्रफण काली के नाथने और उसके फण पर नाचने में भी कहाँ मिला होगा? मालूम होता, द्वापर का बदला राधारानी इस कलियुग में बुधिया की मारफत पुरुष-जाति से चुका रही—वह तड़पती रही और यह तड़पाती है।

उफ़, अनर्थ!—मेरा सदाचार-प्रवण हृदय चिल्ला रहा था और मैं सिर नीचा किये उस अँधेरे में घर की ओर लौट रहा था; जगदीश ने दूसरी राह पकड़ी थी। थोड़ी दूर जाने पर, गाँव के नज़दीक पहुँचते-पहुँचते, मुझे ऐसा लगा कि मेरी बग़ल से जैसे शरीर छूता हुआ, कोई सन्न-से निकल गया। मेरी गर्दन आप-से-आप पीछे मुड़ी।

माफ कीजिए, यह दूसरा कसूर हुआ—वह ठिठककर खड़ी हुई, बोली। वह बुधिया थी। मैं जल उठा—बदमाश, बदचलन! सुनकर, सहमने-सकुचाने के बदले, वह ठठाकर हँस पड़ी और निधड़क, नज़दीक आकर, कहने लगी—

बाबू, याद है; मेरी पठिया आपकी चमेली चर गई थी?

अँधेरे में भी बतीसी चमक उठी।

बदमाश, भाग चल!

निस्संदेह उस समय मेरा चेहरा लाल अंगार बन रहा होगा।

और, वह दुलहा, वह दुलहन, वह कोहबर, वह फूल-सेज, और, वह गीत! गीत सुनिएगा बाबू—

सजनी चलंलिहु पिउ-घर ना,
जांइतहिं लागु परम डर ना,.....'

वह गाते-गाते भागी—हँसती इठलाती। उफ़, कैसी बेशर्म, बेहाया.....मैं क्या-क्या न बड़बड़ाया किया; और दूर-दूर से उसके ठहाके की आवाज़ आ रही थी!

× × ×

गेहूँ की कटनी हो रही थी। मेरे भाई ने कहा--भैया, आज मजदूर ज़्यादा होंगे, लूट लेंगे। ज़रा खेत चलिएगा? बस, आपको सिर्फ खड़ाभर रहना है, काम तो आप-आप होगा।

खून में जो कहीं बची-खुचाई किसानी वृत्ति है, उसने नये काम के नये अनुभव के कौतूहल से मिलकर, मुझे खेत में ला खड़ा किया।

एक पहर रात से ही, जिसमें गेहूँ की पकी बालियाँ डंठल से ही झड़ न जायें, चाँदनी-चाँदनी में जो कटनी हो रही थी, वह खतम हो चली थी। बोझे बाँधे जा रहे थे। मजदूर बोझे बाँधते, उनकी स्त्रियाँ और बच्चे गिरी हुई बालियों को अपने लिए चुनते। गिरी हुई बालियों के बहाने कहीं पसही को ही न चुन लें, इसीलिए मेरी यह तैनाती हुई थी।

मैं एक जगह खड़ा, चौकसी से, अपनी ड्यूटी दे रहा था; लेकिन खेत के एक कोने पर, मुझसे काफी दूर एक मजदूर के पीछे एक अधेड़ स्त्री और उसके कई बच्चे ताबड़-तोड़ बाल चुन रहे और, मैं कहूँ, कुछ फाउल-प्ले कर रहे थे।

एं, कौन औरत है?—तू क्या कर रही है?

मेरी ऊँची आवाज़ को औरत ने, जैसे सुनकर भी, नहीं सुना। हाँ, उसका मर्द शायद उसे डाँट रहा था, ऐसा लगा।

एक बार—दो बार—तीन बार! अपनी अवज्ञा देख, गुस्से में चूर, मैं उस ओर बढ़ा। मुझे उस ओर बढ़ते देख उसके चारों बच्चे, जो छः वर्ष की उम्र में अन्दर के ही होंगे, उस स्त्री के समीप आ गये। छोटे ने, जो डेढ़ वर्ष का होगा, गुड़ुककर उसके पैर पकड़ लिये। कुछ अलग ही से मैंने डाँटा—

तू क्या कर रही है, रे?

हाथ से चुनने का काम जारी रखते हुए ही, झुके-झुके, उसने मुँह फेरकर मेरी ओर देखा, और बोली—सलाम बाबू!

एं, यह कौन? अरे बुधिया? यह वही बुधिया है, जो कभी खँड़ुकी पहने थी? कभी जिसकी चूनर नहीं मलिन होती थी? उफ़, यह क्या हुआ? उसका वह बचपन; उसकी वह जवानी! और यह ......हाँ, बुढ़ापा ही तो। फटा कपड़ा। चोली का नाम नहीं। बाल बिखरे, चेहरा सूखा। गालों के गड्ढे, आँखों के कोटर। और-तो-और

--जो कभी अपनी गोलाई, गठन और उठान से नौजवानों को पागल बनाते, उसके वे दोनों जवानी के फूल, जब वह झुकी बाल चुन रही है, वकरी के थन-से लटक रहे--निर्जीव, निस्पंद!

बुधिया!

हाँ बाबू!

मुँह फेरकर उसने मेरी ओर सूखी मुस्कुराहट से देखा और अपने काम में लगी रही।

तवतक उसका 'आदमी' वोझे बाँध चुका था। उसने पुकारा--जरा इधर आ, हाथ लगा दे।

बुधिया बाल चुनना छोड़ तनकर खड़ी हुई और मेरी ओर देख, फिर एक हल्की मुस्कुराहट ले, उस ओर बढ़ी।

मैंने उसके तन कर खड़ा होते ही, देखा, उसका पेट बाहर निकला है, पैर उठ नहीं रहे हैं। ओह--यह गर्भवती है! तू ठहर, मैं बोझा उठाए देता हूँ!--मैंने कहा?

ना बाबू, आपसे बोझ उठाने को नहीं कहूँगी! आप नाराज़ हो जाते हैं!

उसके आगे के दो दाँत, अजीब करुणा बरसाते, चमक पड़े।

मुझे धक-सा लगा। पुरानी बात याद आ गई। वह संध्या, वह घास का गट्ठर, बुधिया का निवेदन, जगदीश का व्यंग्य, मेरी बौखलाहट, उसका पागलपन! उसी समय उसका छोटा बच्चा रो उठा। वह उसकी ओर लपकी और मैं सीधे उसके 'आदमी' के पास पहुँचा। बोझा उठा दिया। वह हट्टा-कट्टा जवान, बोझा लेता, झूमता चलता वना। इधर बच्चे के मुँह में सूखा स्तन देती, पुचकारती, दुलराती, हलराती, बुधिया बोली --

वाबू, आपके कै बच्चे हैं? ये बड़े दुष्ट होते हैं बाबू! देह बरबाद करके भी इन्हें चैन नहीं, ये तंग कर मारते हैं।

बाकी तीन बच्चे भी उससे सटे खड़े थे। एक की देह पर हाथ फेरती, एक की पीठ ठोकती, एक पर आँखों से ही प्यार उँड़ेलती, गोद के बच्चे को थपथपाती, इस स्थिति में ही मस्त, वह क्या-क्या न मुझसे बकती रही। मैं एकटक उसकी ओर देखता रहा।

आँखें उसकी ओर देखतीं, दिमाग़ अपना काम किये जाता—

हाँ, बरसात बीत गई। बाढ़ खतम हो गई। अब नदी अपनी धारा में है; शांत गति से बहती। न बाढ़ है, न हाहाकार। कीचड़ और खर-पात का नाम-निशान नहीं। शांत, स्निग्ध, गंगा!

मेरे सामने महान् मातृत्व है—वंदनीय, अर्चनीय!



पतितों के देश में

हज़ारीबाग़ जेल के साथी

'प्रेमा'

को

जिसकी यह कहानी है !

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पुनश्च

'पतितों के देश में'—यह मेरी पुरानी रचना है। अधूरे रूप में यह प्रकाशित हुई थी और तो भी पसंद की गई थी।

किन्तु दूसरी बार के प्रकाशन के समय इसे पूरा कर देना मैंने अपना कर्त्तव्य समझा। इसका लगभग आधा हिस्सा नया लिखा गया है।

मेरी यह पुस्तक एक नये विषय पर, नई पृष्ठभूमि में, नये ढंग से लिखी गई है और मेरी शैली की नवीनता तो स्वीकृति पा ही चुकी है।

पहली बार मैंने इसमें एक लम्बी भूमिका रखी थी और अन्त में एक लम्बा परिशिष्ट दिया था। शायद उस ज़माने में उसकी ज़रूरत रही हो—किन्तु अब 'सियनि सुहाय न टाट पटोरें' की हिमायत में उसे हटा देना ही उचित समझा!

शॉ का उपासक हूँ, किन्तु कलाकार कला के बाहर उपदेशक न बने, यह मान्यता है मेरी। टाट में पटोर की, या पटोर में टाट की—सियनि (पेवन्द) हमेशा बुरी है।

संक्षेप में, यह एक क़ैदी की कहानी उसीकी ज़बानी है। इसका आधार एक सत्य घटना है और इसका मुख्य भाग मैंने जेल में ही लिखा था, १९३० में, हज़ारीबाग़ जेल में।

अपनी भूलों के लिए क्षमा और अपनी कला के लिए आशीर्वाद का आकांक्षी—

फागुन ; १९४८ ई०

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

बाहरी झाँकी

१–जवानी के दिन

जवानी के दिन थे, बाबू!

वही जवानी—जब आदमी अकड़कर चलता, ऐंठकर बोलता, अफरकर खाता और पसरकर सोता है।

वही जवानी—जब नाक सुगंध, कान संगीत और नेत्र सौंदर्य खोजते हैं।

जब पैर कहते हैं, बढ़े चलो; हाथ कहते हैं, बिना पकड़े छोड़ो मत।

जब नसों में सनसनी दौड़ती है, छाती में गुदगुदी लगती रहती है।

बाबू, जवानी के वे ही दिन थे।

मैं कितना हँसता था, बाबू! क्यों हँसता था, कौन हँसाता था? आज कोशिश करके भी मैं हँस नहीं सकता—वह हँसी तो दूर रही। क्यों? कुछ वजह बताइयेगा?

लेकिन, हाँ, आप तो मेरी व्यभिचार-कहानी सुनना चाहते हैं। वजह बताने की फुर्सत कहाँ?

तो, मैं व्यभिचारी हूँ। ज़रूर हूँ। 'रेप-केस' में ७ वर्ष की सज़ा पाकर आज कितने वर्षों से लगातार चक्की चला रहा हूँ। फिर, मैं न व्यभिचारी होऊँगा तो होगा कौन? मुद्दई का ऐसा ही बयान था, गवाहों ने उसे तसदीक़ किया था, न्याय के स्वर्ण-सिंहासन पर बैठकर न्यायपति का फैसला भी ऐसा ही था। मैं व्यभिचारी हूँ—ज़रूर हूँ!

लेकिन, बाबू, आपलोग तो देश-भक्त ठहरे, समाज-सुधारक कहलाते हैं। आपमें से कुछ लोग अपने को क्रान्तिवादी भी कहते हैं। क्या आप व्यभिचार की परिभाषा बताइयेगा? सदाचार ही क्या चीज़ है, समझाइयेगा? दुहाई बाबू की, यदि परिभाषा हो जाती, तो बहुत-से

क़सूरबन्दों की कड़ियाँ कट जातीं; बहुत-से लोग जो दूध के धुले बने राज-पथ पर विचर रहे हैं, उनके हाथों में ज़ंजीरें झूलतीं। ऐसा मेरा विश्वास है बाबू!

खैर, छोड़िये इस मीमांसा को! आप तो कहानी सुनना चाहते हैं! 'पतितों' की कहानी ज़रा मज़ेदार भी तो होती है। रेप और तलाक के मुक़द्दमों के दिन कितनी ख़ासी भीड़ रहती है कचहरी में। हा-हा-हा! वाह रे समाज! तुम्हारी यह प्रवृत्ति ही सूचित करती है कि तुम्हारे चंदन-चर्चित शुभ्र कलेवर के भीतर किस पनाले की काली धारा बह रही है! बाबू, हम-आप उसी समाज का एक छोटा-सा अंश हैं न! लाख बाँध बाँधने पर भी मन-सरिता अपने लिए राह बना ही लेती है!

× × ×

आप स्वयं भी अनुमान कर सकते हैं, मेरा जन्म एक ग़रीब के घर हुआ था। उस पर भी अभागा ऐसा कि बचपन में ही पिता को खो बैठा। एक छोटे-से आँगन का पूरा राजा मैं ही था। माँ थीं; किन्तु हिन्दू-क़ानून के अनुसार उस आँगन पर उनका क्या अधिकार हो सकता था! निस्संदेह, मैं ही उसका एकछत्र अधिराजा था!

यह छोटा-सा आँगन तीन घरों से घिरा था। एक में गाय-बछवा बाँधे जाते। एक में जलावन और पशुधन के लिए चारा रखे जाते। ये दोनों छोटे-छोटे घर थे। तीसरा घर कुछ बड़ा था—माँ उसे काफ़ी स्वच्छ-सुन्दर बनाये रखती। यही हमलोगों का भंडार-घर, पाकशाला और विश्रामागार था। कभी-कभी माँ की अनुपस्थिति में, अपने बाल-सहचरों को जुटाकर, मैं उसे नाटचशाला में भी परिणत कर देता था।

इस घर के एक कोने में रसोई पकती, एक कोने में अनाज की तीन-चार छोटी-छोटी डेहरियाँ थीं, बाकी जगह में हम भोजन करते और फिर लीपपोत कर, चटाई डाल, सो जाते। जाड़े में इस घर में; गर्मी में आँगन में, तुलसी-चौरे के निकट। मैं धीरे-धीरे अट्ठारह वर्ष का हो चला था, तो भी माँ मुझे गोद में ही लेकर सोतीं। आप आश्चर्य करेंगे। किन्तु मैं उस रात को भी उस गोद में ही सोया था, जिसकी भोर में मुझे गिरफ्तार किया गया था।

हाय री वह गोद!——आह री वह रात!

× × ×

मेरे घर की, चल या अचल, जो-कुछ संपत्ति थी, वह एक गाय थी —ब्याई हुई। माँ गाँव के बाबू के यहाँ दासी का काम करती, मैं गाय-बछवे को देखता।

शादी मेरी हो गई थी, किन्तु बहू नहीं आई थी। अतः माँ के पूरे प्रेम का अधिकारी मैं ही था। खूब खिलाती, खूब दुलारती।

मैं तड़के उठता। शौचादि से निवट कर बागमती में दो गोते लगा आता। फिर लँगोट कसकर अखाड़े में जा जुटता —आठ-दस पक्कड़ साथियों से और दो-चार उस्तादजी से लड़कर, अपने धूल-धूसरित शरीर को गर्व से देखता, झूमता, घर पहुँचता। घर पर बछवा आँव-आँव से छप्पर उठाये रहता। उसे पुचकार कर खोलता। गैया के पुट्ठे पर मीठी-मीठी दो थपकियाँ देकर दूध दुहने बैठ जाता। लोटा भर लेता और बछवा को पीते ही छोड़कर आँगन में चला आता।

माँ पाँच-सात गोल मिर्च और तीन-चार छुहारे लिये खड़ी होतीं। उनके हाथों से झपट कर उन्हें मुँह में रखता, दो-चार बार कसके चवाता, फिर गट-गटकर लोटा साफ करने लगता। जब आधा सेर क़रीब दूध रह जाता, लोटा रख देता। माँ कहती रहतीं, यह भी पी जा; किन्तु कौन सुनता है! कुल्ली कर, मुँह पोंछ, खुरपी को छींटी में रख, उसे बग़ल में दबा, बायें हाथ में सुर्त्ती रख, दाहने के अँगूठे से उसे मलता, गुनगुनाता, मैं सरेह की ओर चल देता।

मेरी माँ! मैया, मैया! बाबूजी, कभी भी उन्हें निरूठा भोजन करते नहीं देखा—मेरा ही जूठा उनका आहार था। कई बार कहा— जूठा मत खा, इससे धर्म नष्ट होता है। बोलतीं—आग लगे तेरे ऐसे धरम में। कई बार कहा —जूठा खाने से बीमारी होती है। कहतीं— भगवान् करें, तेरी बीमारी मैं खाती रहूँ। बड़ी विचित्र थीं मेरी माँ। यदि मैं जूठा नहीं छोड़ता, तो क्या उनके कंठ में एक बूंद दूध भी जाता!

मेरी मैया, कहाँ चली गईं मैया मेरी? मैया मेरी!

× × ×

तो, हाँ, गुनगुनाते हुए घर से निकलता और गाते हुए सरेह में पहुँचता। साथियों का जमघट जुटता। इस मेंड़ से उस मेंड़, इस खेत से उस खेत। घास कटती, गाने होते, दिल्लगियाँ उड़तीं, हँसी के फ़व्वारे छूटते। छीना-छपटी और उठा-पटक का मजा भी हो जाता।

इसी धमाचौकड़ी में छींटियाँ भी घास से भर जातीं। फिर सभी हँसते-गाते लौटते।

दोपहर का भोजन कर साथियों की मंडली पोखरे के निकट उस सघन अमराई में इकट्ठी होती। गुल्ली-डंडा, कबड्डी, ओछ-ओछ, आदि खेल होते। बेला ढलने पर फिर वही खुरपी-छींटी, वही इस खेत से उस खेत, वही हाहा-हीही, वही घास, वही घर लौटना।

शाम को मेरे ही आँगन में जमावड़ा जुटता। क्योंकि मेरे घर में न कोई कान पकड़नेवाला बूढ़ा था, न नाक सिकोड़नेवाली पर्दानशीन। सो, सबको खुलकर हँसने-बोलने की यहाँ स्वाधीनता रहती। खँजड़ी और करताल पर दो-चार संझा गाई जाती, फिर लोरकाइन, दयाल-सिंघी, सोंठी, बिहुला वग़ैरह गीतों में से किसीका सिर कुचला जाता। चाँदनी रात में गिद्धागुड़कान का खेल भी कभी-कभी हो जाता।

ऐसी ही मेरी दिनचर्या थी। बारह महीने, तीन सौ साठ दिन में शायद ही कभी, किसी विशेष कार्यवश, इस दिनचर्या में कोई व्यतिक्रम होता। हाँ, यदि प्रकृति का प्रकोप जगा, तो बात अलग!

बाबू, मेरा जीवन कितना सुखमय, कितना आनन्दपूर्ण, कितना हँसी से भरा, कितना उल्लास से ओतप्रोत था। वाह रे 'वह' जीवन! आह रे 'यह' जीवन!

× × ×

मेरा अट्ठारहवाँ वर्ष था, लेकिन मुझे देखकर कौन कहता कि यह अट्ठारह वर्ष का है। मैं हट्टा-कट्टा एक भरा-पूरा जवान दीख पड़ता। अंग-अंग गठे हुए—कुश्ती ने उनपर एक अजीब मस्ती लाद दी थी।

किन्तु, आपको सुनकर शायद आश्चर्य होगा कि तब तक मैं यह नहीं जानता था कि प्रेम किसे कहते हैं, मुहब्बत क्या बला होती है, आँखें कैसे लड़ती हैं, दिल कैसे उलझता है! शुरू से ही मैं अपने को लड़कियों से दूर रखने की कोशिश करता। जबसे अखाड़े में उतरा, कुश्ती शुरू की, तबसे तो उनकी परिछाईं से भी अपने को बचाता। किन्तु कौन जानता था कि मेरे इन सारे संयम, मेरी इन सारी चेष्टाओं का यही फल होगा—मैं 'रेप-केस' का क़ैदी होकर इस जेल से उस जेल में चक्कियाँ पीसता फिरूँगा।

यह कैसे हुआ?

२–फागुन का महीना

फागुन का महीना शुरू हो गया था।

वही फागुन जो हरे खेतों को लालपीली, बूटेदार, चादर ओढ़ाता है; घने पेड़ों को सौरभमयी स्वर्णकणिकाओं के गुच्छों से लाद देता है।

जो तितलियों को पंख देता है, भौंरों को कंठ देता है।

जो कोयल से गवाता है, बुलबुल को रुलाता है।

जो जवानों को मस्ती देता है, बूढ़ों को चुस्ती देता है।

जो बच्चों को नचाता है, मुर्दों को हँसाता है।

वही फागुन का महीना था, बाबू!

कुश्ती लड़, दूध पी, खुरपी-छींटी लिये मैं सरेह की ओर जा रहा था। दो घंटे दिन आया होगा—किंतु सूर्य की किरणों में अभी सोना बचा था। दूब पर की ओस की बूंदें सूखी नहीं थीं। वे सूर्य की ओर देख-देख कर हँस रही थीं, खिलखिला रही थीं। उनकी हँसी में अगनित इन्द्रधनुषों की सृष्टि हो रही थीं। किन्तु इस हँसी में कितनी करुणा छिपी थी! जिसकी ओर देख-देखकर, जिसपर मुग्ध होकर वे हँस रही थीं, जिसकी रश्मियों को छाती में छिपाकर वे कृतकृत्य हो रही थीं, वही—वही उनका अन्तक है। ओस की नन्हीं बून्दो, हँस लो, हँस लो! बस, एक-आध घंटे की देर है, जिनको लेकर तुम अपार आनन्द मना रही हो, वह चुपचाप तुम्हारी गर्दन मरोड़ने की ताक में है। एक-आध घंटा! फिर तुम्हारा निशान भी मिलना मुश्किल हो जायगा! समझीं?

गाँव से एक पतली सड़क पश्चिम रुख़ होकर, पोखरे के पूरब किनारे से उत्तर की ओर, बागमती तक जाती है। मैं उसी सड़क से जा रहा था। पोखरे को पार कर चुका था। अब सड़क के पश्चिम खेत-ही-खेत हैं। खेतों में सरसों, मटर, चना, खेसारी, तीसी आदि अनाज के पौधे फूल रहे थे—पीले, बैंगनी, लाल, नीले आदि अनेक रंगों का मेला लगा था। तितलियाँ अपने रंग-बिरंगे पंखों को पसारे, मानों रंग-बिरंगी साड़ियों से सजधज कर, इस मेले की सैर-सी कर रही थीं। जब धीरे से हवा का एक झोंका बह जाता, मालूम होता, रंगों के इस समुद्र में तूफान आ गया। इन फूलों पर के ओस-बिन्दु भी

अभी नहीं सूखे थे—किरणों के साथ की इनकी आँखमिचौनी भी ख़तम नहीं हुई थी। इन सबके संयोग से रंगों की एक अजीब सृष्टि हो रही थी—एक अजीब चकमक, एक अजीब झलमल आँखों को पागल बना रही थी! मन कहता—इस शोभा के समुद्र में तितली बनकर आजन्म तैरता फिरूँ; आँखें चाहतीं—एक बार इन्हें अच्छी तरह निरखकर सदा के लिए मुँद जायँ, इनके बाद फिर क्या देखा जायगा भला?

सड़क की दूसरी ओर, पूरब ओर, बाबुओं की अमराई थी। उस साल आम फूट-फूटकर मँजरा था! डालियाँ झुक गई थीं; मालूम होता था, अब टूटीं, तब टूटीं। तने छेद-छेदकर मंजरियाँ निकली थीं। लीची यों ही खूब मँजरती है। उस साल उसकी मंजरियाँ देखने लायक थीं। जब हवा बहती, उसकी डालियाँ बड़ी कठिनाई से नीचे-ऊपर होतीं; जवानी की मस्ती में वह स्वयं व्याकुल दीखती! और, इन मंजरियों पर मधुमक्खियाँ भनभना रही थीं—भौंरे नाच रहे थे, गा रहे थे। एक अजीब स्वर की सृष्टि हो रही थी—जिसके सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते; मानों, हमारे हर रोम-कूप से मंजरियाँ निकलना चाहती हों।

इस प्रातःकाल की पुण्य बेला में मैं पुलकित होते चला जा रहा था। दोनों ओर सौंदर्य और सौरभ की बाढ़ आई थी। मैं उसमें गोते लगाता, डूबता-उतराता चला जा रहा था। चला जा रहा था....

चला जा रहा था कि पीछे से आवाज़ आई—मनोहर भैया! मनोहर भैया ने देखा, उसके पड़ोस के चचा की बिटिया पिअरिया मंद-मंद मुस्कराती उसकी ओर जल्दी-जल्दी आ रही है। उसकी बग़ल में भी खुरपी-छींटी है। तेज़ी से चलने के कारण उसके बाल की लटें उसके चेहरे के इधर-उधर उलझती हैं। कभी वह उन्हें सुलझाती; कभी सिर से खिसकते हुए कपड़े को सम्भालती; कभी अस्त-व्यस्त आँचल को उचित स्थान पर रखने की चेष्टा करती; और इन सारी क्रियाओं में बहुत अंशों में असफल होती—तेजी से आ रही है। कई बार, इस खींचातानी के कारण, उसकी साड़ी उसके पैरों में इस तरह लिपट-सिपट गई कि वह गिरती-गिरती बची; तो भी वह चली आ रही है।

मैं ठहर गया, बाबू! वह हँसती हुई निकट आई। मैं ठिठका खड़ा था। उसने अपनी खुरपी-छींटी ज़मीन पर रख दी। दो-तीन बार सिर को हिलाकर बालों को इकट्ठा किया और उन्हें सिर के पीछे ले

जाकर छोड़ दिया। फिर सिर के कपड़े को सम्भाला। आँचल ठीक किया। साड़ी के निचले हिस्से में तेज़ी से आने के कारण, ओस की तरी पाकर, कुछ तिनके आ टिके थे; उन्हें झाड़ दिया। फिर सुस्थता की लम्बी साँस ले, खुरपी-छींटी उठाकर हँसती हुई बोली—'अच्छा, चलो'—और तीन-चार क़दम चलकर जब मेरे शरीर से सटने पर हुई कि मैं भी मुड़कर चल पड़ा। मैं उसकी इन क्रियाओं को देखकर हक्का-बक्का हो गया था। यंत्र की तरह, मानों, उसके इशारे से, चला। मैं आगे-आगे, वह पीछे-पीछे।

यह मेरे पड़ोस की लड़की थी। यह दूसरी जाति की थी, मैं दूसरी जाति का। कोई नाता-वाता नहीं। किन्तु देहात में सबका सबसे नाता रहता है न! वहाँ तो बाबू के साले से चमार भी दिल्लगी करता है। इसी नियम से वह मुझे भैया कहती। अभी मुश्किल से १३–१४ वर्ष की होगी। साँवली—छरहरा बदन। आँखें एक खास क़िस्म की—बरौनियाँ सघन, लम्बी-लम्बी; लम्बे, नुकीले, दूध-से उजले कोयों में काली-काली पुतलियाँ जैसे नाचती होतीं; चितवन में एक अजीब बाँकपन! उनपर पतली लकीर-सी भवें, जो अनायास ही कभी कटार, तो कभी कमान बन जातीं! मुस्कराती चलती, हँसकर बतियाती। कई बार इसी सदाबहार हँसी के कारण वह अपनी माँ से डाँट-फटकार सुन चुकी थी; किन्तु जब वह डाँटतीं, यह और भी ठठाकर हँस देती। माँ भी बक-झककर चुप हो जाती, कभी-कभी इसके भोलेपन पर वह भी हँस पड़तीं। क्या करतीं!

नाम था इसका पिअरिया। जिसको आपलोग सभ्य भाषा में 'प्यारी' कहेंगे, हमारी देहाती भाषा में, मूर्खता के कारण वही 'पियारी' और प्यार पाकर, 'पिअरिया' हो जाती है। कोई भी उसकी सूरत, खासकर उसकी आँखें और हँसी देखकर कह सकता था, इस नाम में पूरी सार्थकता है। एक बार देखने पर ही उसको प्यार करने की इच्छा जाग उठती।

किंतु मुझे प्यार से क्या वास्ता? मैं तो अपने को संयम का अवतार माने हुए था। इसके पहले भी कई बार इसी प्रकार पुकार चुकी है—मैं खड़ा हुआ हूँ, बातें की हैं; फिर यह अपने रस्ते, मैं अपने रस्ते।

पर, आज की पुकार में न जानें क्या था कि मेरा सारा शरीर झनझना उठा। जिस समय इसने मुझे पुकारा था, ठीक उसी समय

आम की डाली से 'कुहू' की सुमधुर काकली सुनाई पड़ी थी। किन्तु उसकी पुकार और इस काकली में मुझे कौन अधिक आकर्षक मालूम हुई थी, कैसे बताऊँ?

फिर पुकार के बाद की उसकी वे हरकतें। उसकी वह उतावली, वह मुस्कराहट, वह चपलता! जब चलकर वह मेरे निकट आ पहुँची थी, उसकी तेज़ साँस मेरे दाहिने कन्धे से आ टकराई थी। इस साँस में कितनी गरमी थी कि मेरे मस्तक पर पसीने की बूंदे निकल आई थीं।

× × ×

मैं आगे-आगे जा रहा था, वह पीछे-पीछे चल रही थी।

बाईं ओर खेतों में फूलों का समुद्र उमड़ रहा था, जिसमें तितलियाँ तैर रही थीं। दाहिनी ओर अमराई में मंजरियाँ बौराई थीं, जिनसे भौंरे ठिठोली कर रहे थे। दूर से आनेवाली कोयल की दुहरी आवाज़ इस दृश्य में प्राण-संचार कर रही थी। आकाश साफ था—शांत, सुन्दर। फागुन की मतवाली हवा दिगंत को सुरभित और व्याकुल कर रही थी। और, मैं आगे-आगे जा रहा था, वह पीछे-पीछे।

फूल हँस रहे थे। मंजरियाँ खिलखिला रही थीं। तितलियाँ त्यौरियाँ बदल रही थीं। भौंरे अनमने-से दीखते थे। और, मैं आगे-आगे था, वह पीछे-पीछे थी।

ओस-कण ठठा रहे थे, किरणें हक्का-बक्का थीं; और, मैं आगे-आगे, वह पीछे-पीछे।

मैं आगे, वह पीछे।

न वह बोलती, न मैं बोलता।

कितनी दूर यों ही चलता गया।

'अच्छा, अब मैं इधर जाता हूँ; उस खेत में अच्छी घास है, तुरत पुर जायगी।'—मैंने कहा।

'मैं भी चलती हूँ, जो कमी रहेगी, तुम पूरी कर दोगे—अकेली कहाँ जाऊँ?'—वह बोली और मुस्करा पड़ी।

'नहीं, मैं तुम्हारे साथ न जाऊँगा।'

'क्यों?'

'यों ही।'

'यों क्यों?'

'यों ही।'

'वाह रे यों ही! मैं चलूंगी। देखती हूँ, कैसे मुझे नहीं जाने देते हो? ज़बर्दस्ती है!" इस ज़बर्दस्ती के साथ वह खिलखिलाकर हँस पड़ी!

उसकी वह हँसी जैसे मेरे दिल में खुभ गई। तो भी मैं रूखा-सा होकर बोला—'ज़िद न कर। समझी?'

'ज़िद न करो; समझे?'

फिर वही हँसी—

'तो मैं भाग जाऊँगा।'

'तो मैं दौड़ पड़ूँगी—तुम आगे-आगे, मैं पीछे-पीछे। कैसा अच्छा लगेगा मनोहर भैया?'

अबकी बार वह ठठा कर हँसी। उसकी शोखी पर मुझे भी हँसी आ गई। किंतु तुरत ही संजीदा-सा रूप बनाकर मैंने कहा—

'यदि कोई यों दौड़ते देख ले तो?'

'तो क्या होगा?'

'पगली!'

मेरे मुँह से पगली शब्द पूरे-का-पूरा निकला भी नहीं होगा कि वह फिर ठठा पड़ी—इतने ज़ोर से कि मुझे भय हुआ और मैं इधर-उधर देखने लगा कि कोई आसपास में है तो नहीं।

बाबू, आपने भी बहुत शोख लड़कियाँ देखी होंगी। किन्तु वैसी नहीं देखी होगी, मैं क़सम खाकर कह सकता हूँ। इतनी लापरवाह, इतनी बेफिक्र। इसके निकट दुनिया कोई चीज़ ही नहीं, समाज की कोई गिनती ही नहीं। ओफ! मैं बुरे फँसा।

ऐसा सोचते मैंने इसीमें खैर देखी कि इसको साथ चलने दूं। और, आपसे ईमान की बात कहूँ, दिल उससे दूर भी नहीं होना चाहता था! मैं मुड़कर उस घासवाले खेत की ओर पतली पगडंडी से चला। मैं आगे-आगे, वह पीछे-पीछे।

मेरे पैर आगे की ओर बढ़ रहे थे; किन्तु मेरे ज्ञान और भावना में, मस्तिष्क और हृदय में, द्वंद्व चल रहा था!

एक पक्ष ने कहा—'तू यह क्या करने जा रहा है, बेवकूफ़! अरे, इस पंथ पर पैर न दे। इसका फल बुरा होगा। आग से खेल न कर, हाथ जल जायगा और यदि कहीं इच्छित इंधन पाकर यह लहक उठी, तब इसीमें तुझे भस्मीभूत होना पड़ेगा। भस्मीभूत—कहीं राख का ढेर भी देखने को न मिलेगा। अरे, तू अपने संयम के लिए गाँव में प्रसिद्ध है। तुझे लोग सदाचार की मूर्त्ति, सच्चरित्रता का अवतार समझते हैं। जब वे तुझे इसके साथ यों एकान्त में देखेंगे तो क्या समझेंगे? क्या कहेंगे? छोड़ इस प्रपंच को; अब भी चेत; इसे डाँटकर कह दे—'चल, जा मेरे पीछे से।'

इतना सोचते ही दिल को कड़ाकर मैंने पीछे देखा, इसलिए कि उसको डाँटूँ। किन्तु उसे देखते ही यह सब ज्ञान-गुदड़ी मानों कुहासे-सी फट गई। हमारे दोनों तरफ सरसों सघन रूप से फूली हुई थी। उसके कुछ फूलदार डंठलों को तोड़तोड़ कर वह हाथ में लिये हुए थी। उसके हाथ में वे फूलों के गुच्छे कितना खिल रहे थे! सरसों के फूलों की कुछ कोमल पंखड़ियाँ, उसकी हरकतों के कारण, उसके कपड़े पर जा गिरी थीं और ओस के गीलेपन के कारण उसमें चिपक गई थीं—मालूम होता था, उसकी साड़ी में सोने के बूटे टँके हों। इस फूलों के बन में, फूलों के गुच्छे लिये, फूलों की पंखुड़ियों से लदी, वह साक्षात वन-देवी मालूम पड़ती थी। मैं ठिठक गया। वह नीचे देखती, तल्लीन-सी आ रही थी। इस ठिठकने की आहट से उसने सिर उठाया, मेरी आँखों में आँखें गड़ाकर देखा और हँस पड़ी। बोली—'काहे ठहर गये; क्या देखते हो?' मैं कुछ बोल न सका। मुड़कर फिर चल पड़ा।

अब दूसरे पक्ष की बारी आई। वह बोला—'हिस्, इसमें क्या धरा है, जो उधेड़-बुन कर रहे हो। इसमें संयम-कुसंयम का सवाल कहाँ से आता है? पाप-पुण्य की कल्पना तो तुम्हारी अपनी है। यहाँ तो स्पष्ट बात इतनी है—इस सुन्दर समय में एक सुन्दरी तुमसे एक तुच्छ बात की याचना कर रही है। कुछ नहीं, थोड़ी देर की संगत। क्या उसे अस्वीकार कर दोगे? और, इस संगत में पाप-पुण्य की कल्पना करके तुम तो अपने मन के दोष को प्रकट कर रहे हो। कोई देखेगा? —तुम्हारे पीछे कोई क्यों पड़ा है, जो पलपल तुम्हारी देखभाल करता

रहे! ऐसी आशंका बेबुनियाद है। यदि मान लो कि कोई देख ले, तो क्या हुआ? क्या एक लड़की के साथ घास गढ़ना पाप है? नहीं; छोड़ो इन बेवकूफी की बातों को। यह बेचारी सरल हृदय से एक सीधी इच्छा रखती है। दिन कुछ चढ़ गया है, अकेले इससे घास भी नहीं पुरेगी। उँह—इसको तकलीफ़ में मत रखो। यदि ऐसा ही चाहते हो, तो आज चलते समय कह देना कि अबसे तुम्हारे साथ वह न आवे-जावे। बस।'

बाबूजी, उस समय इस तर्क से अपने मन को उसी तरह शांत किया, जिस तरह कोई बेवकूफ बारूद के ढेर को गरम राख से ढाँपे। हाँ, वह थोड़ी देर के लिए ढँकेगा ज़रूर, किन्तु ज़ोर से विस्फोट करने के लिए। मैंने उसके साथ घास गढ़ी, बातें कीं, चुहल और विनोद, मुस्कुराहट और हँसी की बहार लूटी और घर चला। गाँव के निकट पहुँचकर जब उसने कहा—'अबसे तुम्हारे ही साथ घास गढ़ूँगी मनोहर भैया'—तब मुझसे यह कहते पार न लगा कि मत आना। मेरे सारे तर्क और ज्ञान का यही परिणाम था!

घर आया, खाया। दोपहर को कहीं बाहर न गया। मन में विचित्र द्वंद्व था, शरीर में अजीब अवसाद। मोथी की चटाई बिछाकर घर में ही सो गया। सो क्या गया—आँखें मूँदे पड़ा था। कभी-कभी झपकी आती थी, तो वही फूलों से भरे खेत, वही मंजरियों से लदे पेड़, वही पिअरिया और वही मैं। मैं आगे-आगे, वह पीछे-पीछे। उसकी वह ज़िद, सरसों के बन में उसका वह प्रस्फुटित सौंदर्य, वह साथ-साथ घास गढ़ना, बतियाना। वह चुहल, वह विनोद; वह मुस्कुराहट, वह हँसी। पिअरिया! प्यारी—पियारी—पिअरिया। पिअरिया—पियारी प्यारी। मैं व्याकुल हो उठा। यह एक पैर आगे बढ़ाते ही मैं किस अगाध सागर में जा पड़ा! पंख फैलाते ही मैं किस व्योम-मंडल में फेंक दिया गया!! उफ़—!

× × ×

भोर से ही साथियों से भेंट न हुई थी। वे लोग आखिर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते घर में आ पहुँचे। क्यों पड़े हो, कहाँ रहे, उठो, चलो, आदि का शोर था। मैं क्या जवाब देता? केवल इतना ही कहा—तबीयत सुस्त है, ज़रा सोने दो भैया! उनमें से एक ने, जो हम सबमें सबसे बड़ा काइयाँ और ज़बाँ-दराज़ था, बोल उठा—'मनोहर भैया को आज दूनी घास—ड्योढ़ी तो ज़रूर—गढ़नी पड़ी है, थके हैं, सोने दो,

तंग न करो।' इतना कहकर वह मेरी ओर देखकर यों मुस्कुराया, जैसे छिपे-छिपे उसने हमलोगों की सारी कार्रवाइयाँ देखी हो। फिर अन्य साथियों को ढकेलकर उसने घर से बाहर कर दिया, खुद भी चला गया और बाहर से दरवाज़े की कुंडी लगा दी। हँसी-हँसी में ही उसने मुझे यों साथियों के ऊधम से बचा लिया—मैं उसकी इस कार्रवाई पर ज़रूर फिदा हो गया होता, किन्तु मुझे तो दूसरी ही चिन्ता ने आ घेरा—तो, क्या इसे आज की घटना मालूम हो गई? कुछ सान्त्वना इसी बात की थी कि मेरे अन्य साथियों को इन सबका कुछ पता नहीं; नहीं तो उसके कहने पर कुछ फब्तियाँ ज़रूर कसी जातीं।

मुझे खिलापिलाकर माँ बाबू के घर चली गई थीं। थोड़ा दिन था, तो आईं। कुंडी लगी देखकर समझीं कि मैं बाहर चला गया हूँ, किन्तु ज्यों ही वह घर के भीतर आईं, मुझे सोते देख अचरज में पड़ गईं। मैं दिन में कहाँ सोता था! उन्होंने मुझे उठाया। सचमुच मैं सो गया था—इन तर्क-वितर्कों के कारण दिमाग़ थककर शायद विश्राम लेने लगा था!

उठकर झटपट घर से बाहर आया। पानी लेकर मुँह धोया। फिर, खुरपी-छींटी ले सरेह की ओर चला।

शाम होने में देर थी—लेकिन सूरज की रोशनी की रजतिमा धीरे-धीरे स्वर्णिमा में परिणत हो रही थी। सारी प्रकृति फिर एक बार मुग्धकर रूप धारण कर रही थी।

वही तालाब, वही रास्ता, वही रास्ते की एक ओर के खेत, वही दूसरी ओर की अमराई!

वही रंगों का मेला—वही सुगंध का भंडार!

और, इसी समय, पिअरिया की वह मादक स्मृति! पगली-सी उसका आना, मनोहर भैया कहकर पुकारना, साथ लगना, ज़िद करना, घास गढ़ना, हँसना, मुस्कुराना, चुहल करना!

मालूम हुआ, जैसे, पीछे से वह फिर पुकार रही है—मनोहर भैया! और, मैंने झट गर्दन मोड़ी! कोई नहीं!

अब चारों ओर से मालूम पड़ता, जैसे वह कभी पुकारती है, कभी ठठाकर हँसती है। मैं भौंचक बना, कभी इधर देखता, कभी उधर! एक बार तो मालूम हुआ, जैसे वह मेरे पीछे खड़ी है और उसकी गरम साँस मेरे कंधे को स्पर्श कर रही है!

यह क्या है ?

अपने पर बड़ी खोझ हुई। उफ़, मैं इतना डूब गया। पिअरिया मेरी कौन होती है ? मैं क्यों उसकी संगत खोजूँ ? मैं क्यों उसके लिए व्याकुल बनूँ ? यह तो शैतानियत है, बदमाशी है—सीधी-सादी बदमाशी। तभी तो मन को बेलगाम घोड़ा कहा है। तो, मैं भी एक मनुष्य हूँ। लगाम कसना जानता हूँ। चाबुक भी लगाना जानता हूँ। और, तड़ातड़। हाँ। कोई ठिकाना है। हो गया—आई, घास छीली, चली गई, मामला खतम। फिर यह उधेड़-बुन, यह ताना-बाना कैसा ? यह दुनिया है। रंग-बिरंगी चीजें यहाँ भरी पड़ी हैं। यदि नज़र में आनेवाली हर सुन्दर चीज़ को लेकर दुनिया बसाने की कोशिश की जाय तो दुनिया में अपने रहने की जगह भी नहीं बचे। इन बेवकूफियों को छोड़ो। बस। शान्त।

मन को दूसरी ओर लगाने की चेष्टा की। सामने एक साँड़ जाँघ तक उपजे हुए गभराये गेहूँ को निर्दयतापूर्वक चर रहा था। सड़क पर से ही दो-तीन बार उसे ललकारा। किन्तु कौन सुनता है ? हाँ, सुना क्यों नहीं, सिर उठाकर इस दृष्टि से मेरी ओर ताका कि मानों कह रहा हो—'ताक़त हो तो आओ, दूर से चिल्ला क्या रहे हो ?' और, फिर चरने लगा। मुझसे नहीं रहा गया। इधर-उधर देखा, बाँस का एक छोटा-सा टुकड़ा पड़ा था। उठा लिया और जाते ही उसके मांसल चूतड़ पर दो-चार दे जमाये। वह भागा। भागते को कौन खदेड़े ? मैं फिर सड़क पर आ रहा और रास्ता पकड़ा। अकस्मात् एक नया विषय आ गया, सोचने लगा—

साँड़ दागना कितनी बड़ी बेवकूफी है; और, यह बेवकूफी बाप-दादे के नाम पर की जाती है। परलोक में उन्हें बैल की सवारी मिलेगी कि नहीं और वह उनकी सुविधा की होगी कि नहीं, यह विवादास्पद है ; किन्तु इस लोक में उनके नाम पर जो हज़ार गालियाँ होती हैं, वह तो प्रत्यक्ष है। इस प्रथा ने गाय-बैल की नस्ल भी ख़राब कर दी है। सस्ते-से-सस्ते बछड़े को ख़रीद कर दागा और छोड़ दिया। यह काश्तकारों की फसल को ही ख़राब नहीं करता, उनके गोधन को भी। आज देहात में जो अच्छी गाय का मिलना मुश्किल हो रहा है, उसका कारण मुख्यतः यह साँड़ प्रथा भी है। किन्तु कौन सोचे, कौन समझे ! हमलोग तो छाया के लिए वस्तु को छोड़ते हैं, कल्पना पर तथ्य को कुर्बान करते हैं। काल्पनिक परलोक के नाम पर इस लोक की वास्तविकता को क्षण-क्षण बलिदान करना ही तो हमारे देश की आध्यात्मिकता है।

३–वाह मनोहर भैया !

'वाह मनोहर भैया, खूब कतरियाये चलते हो !'

देखा, वही लौंडा, जो घर से सबको निकालकर कुंडी लगा चलता बना था, हँसता हुआ मेरी ओर बढ़ता आ रहा है। निकट आते ही पूछ बैठा—'क्यों, तबीयत अच्छी हुई ?'

'हाँ, यही ज़रा मन भारी मालूम पड़ता है !'

'दो मन जो हो गये हो !'

मैंने धीरे से एक चपत उसके गाल पर जड़ दी। वह 'ओह रे' 'मरे रे' कहता, हँसता हुआ भागा। किन्तु कुछ दूर जाकर वह फिर लौटा और बड़ी संजीदगी के साथ मेरे निकट आकर बोला—'मनोहर भैया, ज़रा इस गाल पर भी एक चपत जमा दो; तुम्हारी चपत में बड़ी मिठास आगई है भैया ; तुम्हें मेरी क़सम, बेचारे इस गाल को निराश न करो, यह रोयेगा।'

अब की बार एक पूरा धौल जमाया। किन्तु वह शोख, कब माननेवाला ! यों ही अंटसंट बकता रहा । ख़ैर, किसी तरह मैं चिन्ता के उत्थान-पतन से बचा। वह कई तरह की दिल्लगियों में लगाये रहा। ख़ूब हँसता, ख़ूब ही हँसाता। हँसने से तबीयत कुछ हलकी हुई। उसके साथ ही थोड़ी-बहुत घास गढ़कर लौटा। घर के निकट पहुँचकर मैंने कहा—'बहुत अच्छे मिले आज, मोहन; जी में थोड़ी चुस्ती आई। ओह, आज तो मैं बीमार ही पड़ा था !'

'अगर यह एहसान सदा याद रख सको, मनोहर भैया'—इतना कह मर्म के साथ उसने ज़रा आँखें नचाईं और खिलखिलाता हुआ अपने घर की ओर दौड़ गया।

रात में मित्रों की मंडली जमी। मुझे सान्त्वना मिली कि किसीने इसकी चर्चा तक नहीं की। हाँ, वह लौंडा जब-तब नमक-मिर्च की एक-आध पुड़िया छोड़ देता ! उसमें कड़वापन नहीं, चटपटापन होता ; नमक का अंश मिर्च से शायद ज़्यादा था। मजा मिलता ! उसकी शब्दावली ऐसी होती कि कोई दूसरा भाँप भी न सके । इसकी गंभीरता शायद वह भी समझता था।

हँसी-खुशी के बाद यह मस्तों की मजलिस खतम हुई। मैं सोने चला। किन्तु नींद आवे कहाँ से? करवटें बदलता रहा। माँ बग़ल में ही सोई थीं! इस बेकली को वह क्या समझें? पूछा—'बेटा, नींद नहीं आती है क्या?' मैंने कहा—'दिन में थोड़ा सो जो लिया था, मैया!' 'आँख मूँदकर सो जा बेटा'—कहकर वह सो गईं। मैंने भी दम साध कर माँ को यह जतलाने की कोशिश की कि मैं सो गया। इसी प्रयत्न में थोड़ी तंद्रा आगई। न सोया था, न जगा! मस्तिष्क की आँखों से नाना तरह के दृश्य देख रहा था—भले और बुरे भी। रहरहकर चिहुँक पड़ता। फिर आँखें झिप जातीं। न जानें यों हीं कितना समय बीता। इतने में शरीर पर किसीके हाथ का स्पर्श मालूम हुआ। चौंक पड़ा। देखा, चिराग़ हाथ में लिये माँ हैं। एक हाथ में चिराग़ है, दूसरे हाथ से मेरा शरीर छू रही है। मैंने पूछा—"चिराग़ क्यों मैया?' उन्होंने पहले मेरे मस्तक पर हाथ रखा, फिर छाती पर, तब तलवे पर हाथ फेरती हुई चिन्तित होकर बोलीं—'मुन्नू, तुम्हें ज्वर मालूम पड़ता है! दिन में काहे सो गये बेटा?'

कल होकर मैं बीमार था।

× × ×

बाबूजी, इस बीमारी पर मुझे कितनी खुशी हुई थी, क्या बताऊँ! सोचा, चलो, फुर्सत हुई। यह नाव न-जाने कहाँ जाकर लगती; अच्छा हुआ, शुरू में ही भद्रा आ पड़ी। किन्तु मनुष्य सोचता कुछ और है, होता कुछ और है। जिस वृक्ष के जड़ से उखड़ने की कल्पना मैं करता था, वही इस बीमारी के चलते इतने गहरे जड़ पकड़ लेगा, इसका स्वप्न भी कैसे देखा जा सकता था?

उसी दुपहरिया को न जानें कहाँ से बवंडर-सी घूमती, ज़ोर से काकी-काकी पुकारती, पिअरिया मेरे आँगन में आ पहुँची और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये, मेरे घर में घुस पड़ी। माँ तुरत ही घर से निकलकर कहीं गई थीं। इधर-उधर झाँककर माँ को देखने लगी। मुझे पड़ा देख, जैसे चौंककर, 'क्या हुआ' कहती मेरे सिरहाने आई, फिर सिर पर हाथ रख चिन्तित-सी होकर बोली—'ओह, बड़ा ज्वर है' और, अपना हाथ धीरे-धीरे मेरे बदन पर सहलाने लगी। मेरे मुँह से एक शब्द नहीं निकला। मैं उसकी चपलता और शोखी पर दंग था। तुरत ही माँ आ पहुँचीं, तो उसने ज़रा तीखे स्वर में कहा—'काकी, कहीं बीमार को छोड़कर कोई यों बाहर जाता है!' 'कौन?

पियारी ?' कहकर माँ मेरे पैताने आकर बैठ गईं और बोलीं—'क्या कहती है बेटी, अकेली ठहरी, काम-धंधा छोड़ दूँ, तो भी बाहर-भीतर तो लगा ही रहता है ......' माँ शायद कुछ और कहना चाहती थीं कि बीच में ही बात काटकर पिअरिया ने कहा—'अच्छा, चिन्ता न करो काकी; जब तक मनोहर भैया अच्छे नहीं होते, मैं यहीं रहा करूँगी। सचमुच अकेली ....'

'तू कैसे रहेगी बेटी, क्या तेरे घरवाले रहने देंगे ?'

'क्यों न रहने देंगे। मैं उनसे हुकुम ले लूँगी।' फिर कुछ ठहर-कर बोली—'अच्छा काकी, तुम ज़रा मेरी ईआ से क्यों नहीं कह देती ? तुम कहो, तो वह 'ना' कह सकेगी ?'

'हाँ, उनका स्वभाव तो जानती हूँ। किन्तु जवान बे...टी...'

'चुप, तुम भी पगली हो गई, काकी ! तो क्या जवान बेटी छींटी से तोपकर रखी जाती है ? क्या मैं बकरी का बच्चा हूँ कि सियार न उठा ले जाय ?'

इतना कहकर वह खिलखिला पड़ी। इस दुख में भी माँ के होठों पर मुस्कराहट की रेखा खेल गई। मैं भी हँस पड़ा। फिर वह जैसे उस बात को जारी रखती हुई बोली—'और काकी, यदि सियार आवे भी, तो मनोहर भैया की लाठी उसका सिर भुरता नहीं बना देगी।' इस बार वह ठठा पड़ी। हमलोग भी खिलखिला पड़े। मैं सोचने लगा—'कितनी बेफ़िक्र लड़की है।' फिर उसके आख़िरी कथन के रहस्य पर ज्यों-ज्यों ग़ौर करता, त्यों-त्यों उलझन में फँसता जाता। यह पिअरिया मुझे कहाँ ले जायगी, कौन कहे !

× × ×

मेरा ज्वर बढ़ता गया, और, लगातार कई दिनों तक। जब-जब आँखें खुलतीं, पिअरिया को अपने निकट पाता। उसकी वह चपलता कहाँ चली गई थी ? एकदम बूढ़ी-सी गंभीर बनी रहती और मेरी हरएक हलचल को ग़ौर से देखने और समझने की चेष्टा करती। मैं थोड़ी गर्मी महसूस करता और उसके हाथ में मोर के पंखों का पंखा; मुझे प्यास का आभास मालूम पड़ता कि उसके हाथ में गिलास। ज़रा पैर सुगबुगाये कि उसके हाथ मेरे तलवे पर; ज़रा सिर हिलाया कि मेरे बालों में उसकी कोमल अँगुलियाँ। मैं उसके इस सेवा-भाव पर चकित रहता। रात-रात भर जगती, किन्तु कभी झिपते नहीं

देखा—मानों नींद को जीत लिया हो। देखता, बैठे-बैठे माँ की आँखें झिपने लगतीं और वह लुढ़क जातीं। वह उनके कपड़े को ठीकठाक कर उन्हें चुपचाप सोने को छोड़ देती और आप बैठी मेरी शुश्रूषा में लीन रहती। खाने-पीने की तो परवाह ही नहीं, कई बार माँ को इसके लिए उससे उलझते देखा—'जा बेटी, ज़रा करवट बदल ले। एक दिन की बात नहीं, न जाने कब भगवान इसे अच्छा करें। यदि तुम्हें भी कुछ हो गया, तो मेरे मुन्नू को कौन देखेगा? जा—जा।' पिअरिया इधर बोलती बहुत कम थी, किन्तु बार-बार माँ के कहने पर वह अनखा कर बोल उठती—'तुम हरदम क्या बड़बड़ाती रहती हो, काकी! भैया को देखो। अपनी सेहत का खयाल मुझे खुद है, मेरी चिन्ता न करो—लड़कियों को काल भी नहीं छूता!' मुझे देखने के लिए मेरे साथी आते ही जाते रहते। गाँव के दो-चार बड़े-बूढ़े भी देख जाया करते। बूढ़ियों की जमात भी जुटती। मेरे साथी पिअरिया की इस सेवा को कुतूहल की दृष्टि से देखते। बड़े-बूढ़ों को इधर-उधर देखने की फुर्सत कहाँ; हाँ, बूढ़ियों ने तो पिअरिया को आसमान पर चढ़ा दिया—'आह! पियारी—कैसी लड़की है, देवी है; कोई अपने भाई की सेवा भी ऐसा कर सकेगा'—आदि-आदि।

एक दिन जब मैं धीरे-धीरे अच्छा हो रहा था, औरतों की एक बड़ी मंडली आ इकट्ठी हुई। मैं अच्छा हो रहा था, अतः सभी में थोड़ा उत्साह था। खुलकर बातें हो रही थीं। बीच-बीच में थोड़ी हँसी भी बिखर ही पड़ती थी। पिअरिया भी आज उत्साह में थी। बात का सिलसिला बढ़ते-बढ़ते पिअरिया की चर्चा आ निकली। एक बूढ़ी दादी ने, पिअरिया की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई, उसकी माँ से कहा—'पियारी की माँ, सच कहती हूँ, ऐसी लड़की इस गाँव में नहीं है। यह छोटी-सी उम्र, और यह अगाध सेवा-भाव। तू देवी जनी है, पियारी की माँ!' मेरी माँ को अपनी कृतज्ञता पिअरिया की माँ के सामने प्रकट करने का मानों मौका-सा मिल गया। वह बोलीं—'ठीक कहती हैं दैया, पिअरिया देवी है। बहिनी, मेरा मुन्नू जियेगा, तो पियारी की ही सेवा से। अगर यह नहीं होती, तो....' बीच ही में पिअरिया तिनुक उठी—'देख काकी, सातवें आसमान से नीचे मुझे नहीं रखना—हाँ, ऊपर ही उठाया, तो कसर क्यों रखी जाय? लेकिन काकी', मुँह बनाती हुई बोली, 'कहीं मैं वहाँ से लुढ़की, मेरे पैर उखड़े, तो देखना, अपना सिर बचाने की कोशिश न करना। याद रखो, गिरूँगी तो तुम्हारे ही सिर पर—ऐसी कि तुम्हें भुरता बना डालूँगी

—हाँ !' हाँ कहकर वह, विचित्र ढंग से आँखों को नचाकर, हाथों को चमकाकर, मुस्करा पड़ी। उसकी माँ हँस पड़ी, मेरी माँ भी हँसीं, सारी मंडली खिलखिला उठी। बूढ़ीदादी ने कहा—'बात गढ़ना कोई इससे सीखे, जैसे पंडिताइन हो।' पिअरिया की माँ बोली—'क्या कहूँ दैया, इससे मैं तंग रहती हूँ। दिनरात यों ही बकती और ठठाती रहती है; जवान हुई, न मालूम अकिल कब होगी।'

इसी प्रकार की पिअरिया की शतशः प्रशंसाओं के बीच में अच्छा हुआ। किन्तु इसमें कम देर न लगी। जब से होश हुआ, सिर-दर्द भी नहीं हुआ था। सो, मानों, पूरी कसर निकाल ली गई। दो महीने बिछावन से सटा रहा, एक महीना घर-आँगन हुआ, चौथे महीने जब बाहर निकला, तो देखा, न वह खेतों की बहार है, न अमराई का गुंजार। हाँ, आम खूब फला है, अब पक रहा है और वहाँ बच्चों का जमघट लगा रहता है। खेतों में मकई, साँवाँ, कौनी, आदि बोये गये हैं—उनके पीले-हरे अंकुर निकल रहे हैं। कितना परिवर्त्तन !

माँ ने मेरे इस आरोग्य को अपना सौभाग्य माना। किन्तु मैं इसको क्या मानूँ ?

अहा! यदि उस बीमारी में ही मैं गुज़र जाता। कितने सुन्दर स्वप्नों को लेकर मैं जाता। सुनते हैं, मरने के समय जिस चीज़ पर ध्यान रहता है, उसी योनि में जन्म मिलता है। कह नहीं सकता कि यह सब गप्प-ही-गप्प है कि इसमें कुछ तथ्य भी है। तो मैं या तो तितली होता या भौंरा या कोयल या......मैं होता उस पुनर्जन्म के लोक में पिअरिया का....और पिअरिया होती मनोहर की...। सुख में दोनों एक स्वर में हँसते, दुख में दोनों एक आँसू रोते। उस रोने में भी आनन्द होता; आज नहीं रोते हुए भी दिन-रात रोया करता हूँ। यह लांछन—यह वृश्चिकदंशन ! उफ़ ! आह ...!

४ बरसात आई !

बरसात शुरू हो गई थी।

बसंत और वर्षा—ये दोनों ऋतुयें कितनी मादक होती हैं, बाबू ! किन्तु इन दोनों की मादकता में कितना अंतर है ! जिन्होंने प्रकृति में अपने को तन्मय कर लिया है, जिनकी आँखों में कृत्रिमता का

चश्मा नहीं चढ़ा है, वे ही इस अन्तर को देख सकते हैं। नहीं तो बेवकूफों के लिए तो सब धान वाइस पंसेरी है ही।

बसंत की मादकता में कोमलता होती है, स्निग्धता होती है। वह हमें तितली-सी उड़ते चलने के लिए, भौंरे-सा गुनगुनाते फिरने के लिए प्रेरित करती है। वह हृदय में सनसनी पैदा करती है, सुगबुगाहट पैदा करती है। वह हमें गुदगुदाती है, हँसाती है। वह हमारे मन में नाना प्रकार के रंगों को पैदा करती है, ठीक उन खेतों के फूलों की तरह—चकमक, झलमल, झकझक !

किन्तु वर्षा की मादकता! आह, बाबू, आप शहर के रहनेवाले इन बारीकियों को क्या समझेंगे? हर ऋतु के अलग रूप हैं, हमारे लिए उनके अलग-अलग संदेश हैं। किन्तु हम अपने जीवन को इतना अप्राकृतिक, इतना अस्वाभाविक बना लेते हैं कि उन्हें देख नहीं सकते; अगर उनके वाह्य रूप को देख भी लें, तो उनका संदेश सुन नहीं सकते, समझ नहीं सकते।

वर्षा की मादकता में कोमलता नहीं, प्रबलता होती है; स्निग्धता नहीं, तरलता होती है; तरलता होती है, प्रवाह होता है। वह हमें बाँधों को तोड़ने के लिए, सीमाओं का उल्लंघन करने के लिए प्रेरित करती है। उसमें झंझा की झकझोर, झड़ की झरझराहट, ठनके की ठनक और बिजली की तड़प रहती है। उसमें इन्द्रधनुष की रंगीनियाँ भी हैं, किन्तु क्षणिक, अस्थायी। स्थायी है उन्मादमय अंधकार, दृष्टिविक्षेपकारी अंजन। कभी पुरवा, कभी पछवा; कभी शांत, कभी तूफ़ान; कभी ऊमस, कभी कँपकँपी। वह हृदय में सनसनी नहीं, उच्छृंखलता पैदा करती है; सुगबुगाहट नहीं, खलबलाहट पैदा करती है। वर्षा की बड़ी बेटी है बाढ़—सूखी नदियों को भर दो, किनारे के विशाल वृक्षों को उखाड़ दो, गिरा दो; बाँधों को मटियामेट कर दो, सीमाओं का नाम-निशान भी न रहे—समूचे संसार को एक सतह में कर दो—जलमय, रसमय !

बाबूजी, बसंत की दूती है कोयल, और उसका संदेश है, कु-हू। वर्षा की दूती है पपीहा, और उसका संदेश है, पी-कहाँ। कु-हू और पी-कहाँ में जो अंतर है, वही अन्तर है, बसंत और वर्षा में।

कु-हू और पी-कहाँ—दोनों में प्रियतम की प्राप्ति की लालसा है। किन्तु कु-हू में लोकमर्यादा है, आत्मगोपन की चेष्टा है—कुहरती है, रोती है, किन्तु अपना अभिप्राय ज़बान पर ला नहीं सकती। कितना

संयम, कितना आत्म-दमन। और, पी-कहाँ—उफ़, कितनी व्याकुलता भरी है, इस पुकार में! यह पुकार है या हाहाकार! व्याकुलता निर्लज्जता में परिणत हो गई है। पी-कहाँ—पी कहाँ—कहाँ है पिया, पिया, पिया.......

× × ×

हाँ, तो यही—ऐसी ही—वर्षा ऋतु थी।

मकई बढ़कर हमलोगों से भी ऊँची हो गई थी। उसके सिर पर चमर डुलने लगे थे और गोद में कोमल 'बाल' सुनहले लटों को लटकाये झाँकने-से लगे थे। किसी की गोद में एक, किसी की गोद में दो। कौनी, साँवाँ का योवन भी फूट चला था। योवन-भार से उनके सिर झुक-से गये थे। जब झींसी-फूही पड़ने लगती और हवा में झोंके उठते तब इन खेतों का दृश्य देखने लायक होता। मालूम होता, मानों प्रकृति इस सावन के सुघर महीने में हरी-हरी साड़ी पहने झूला झूल रही है। लाल-लाल चोंच वाले हरे-हरे सुग्गों के झुंड़-के-झुंड सिर पर उड़ते और कभी इस खेत, कभी उस खेत में बैठते दीखते। मानों लाल तागे में गूँथे प्रकृति के गले के ये हरे-हरे हार थे, जो झूले की पेंग पर ऊपर-नीचे होते रहते थे।

इधर, कहना फिजूल है, कि मैं और पिअरिया दोनों दो शरीर एक प्राण हो चले थे। पिअरिया के पिता की कुछ खेतीबारी भी होती है। इस साल उनके खेत में मकई बोई गई थी! पिअरिया उसकी रखवाली करती। ग़रीबों के घर में ऐसा ही होता है बाबू! बड़े-बूढ़े तो बाबू के खेत पर जुते हैं, बाल-बच्चे उनके अपने खेत की देख-रेख करते हैं। पिअरिया अपने खेत के मचान पर बैठी दिन-भर सुग्गों को उड़ाती रहती। यदि ऐसा न किया जाय, तो ये सुन्दर पंछी अपनी सुन्दर चोंचों से बालों को कतर-कुतरकर तार-तार न उड़ा दें! उस हरीतिमा के सागर में उस मचान-द्वीप पर खड़ी होकर जिस समय वह हा-हाहा-हा करके सुग्गों को उड़ाती, तो ऐसा मालूम होता जैसे बनदेवी अपने राज्य पर इन हरे डाकुओं को चढ़ाई करते देख, उन्हें भाग जाने को, स्वयं ललकार रही हों। किन्तु, वे ढीठ डाकू उसकी शक्ति-सीमा अच्छी तरह पहचानते थे! इधर से उड़ते, उधर बैठते। परीशान होकर वह अपना कमठा उठाती और उसपर मिट्टी की गोलियाँ रख दनादन चलाती। धनुष लिये कामदेव की तो सबने कल्पना की है, यहाँ रतिरानी प्रत्यक्ष धनुष तान रही थीं! कमठे के साथ उसकी भवें

तनतीं, गालों पर लाली दौड़ जाती, आँखों में सुर्खी छा जाती, किन्तु इन सबका कोई प्रभाव उन सुग्गों पर क्यों होने लगा ? गोलियाँ भी इधर-उधर निशाने से दूर जा पड़तीं। हारकर वह नीचे उतरती और इस कोने से उस कोने 'हा-हा' करती दौड़ती-फिरती। अन्त में, शायद उसकी परीशानी का मज़ा उठाकर, वे सुग्गे उड़ जाते।

वह मचान पर आ बैठती। कभी गीली मिट्टी लेकर कमठे के लिए गोलियाँ बनाती, कभी मकई के सूखे पत्तों से गदरा बुनने की कोशिश करती। कभी मस्ती में गीत टेरती। मेरा खेत उसके खेत के निकट ही था। उसमें कौनी थी। कौनी की देखभाल और घास छीलना—दोनों काम साथ ही करने के खयाल से मैं वहाँ प्रायः होता! शायद पिअरिया का आकर्षण भी आस-पास ही रहने को बाध्य करता! अतः इन तमाशों को हज़ार आँखों से देखता, इन गीतों को लाख कानों से सुनता। बदनामी के डर से इधर मैं उससे कुछ दूर ही रहने की कोशिश करता; उसे भी यह बात अच्छी तरह समझा दी थी; किन्तु जब कभी झीसी-फुही होने लगती या धूप कड़ी हो जाती, मैं उसके मचान पर पहुँच जाता। मुस्कुराहटों का आदान-प्रदान होता, व्यंग-विनोदों की लेनदेन होती। फिर जिस प्रकार मुँह ऊपर किये, हँसते हुए, उसके मचान पर चढ़ता; ठीक उसके विपरीत सिर नीचा किये, हृदय पर बोझ लिये, नीचे उतरता।

किन्तु अब कुछ दिनों से मन में एक दूसरी ही तरह के विचारों का उत्थान-पतन होने लगा था। जो चीज़ हमारे हृदय के इतना निकट थी, उसको शरीर से इतनी दूरी पर रखने के औचित्य पर शंका होने लगी। हम एक-दूसरे को चाहते हैं, एक-दूसरे को प्यार करते हैं। स्पष्ट तो यह है कि हमने एक-दूसरे को अपना हृदय दे रखा है। फिर मैं उससे दूर क्यों रहूँ, उससे अलग-अलग रहने की कोशिश में तबाह क्यों बनूँ ? समझ में नहीं आता। प्रेम आध्यात्मिक चीज है, उसे वासना से कलुषित न करो, इत्यादि कल्पना मुझे अमानुषिक जँचने लगीं—दैवी हों या दानवी; मानवी हो नहीं सकतीं।

और, बाबू, अपने इस विचार में परिवर्त्तन करने का कारण मुझे नहीं दीख पड़ता। माना, मैंने कष्ट सहे हैं, लांछनायें उठाई हैं; किन्तु केवल इसीलिए जो सत्य है, उसे असत्य नहीं समझा जा सकता ? मैं जितना सोचता हूँ—और, इधर जेल के इस एकान्त जीवन में सोचने का मौक़ा-ही मौक़ा है—मुझे अपने विचार प्रमाद-हीन मालूम हुए हैं।

माने लेता हूँ कि शरीर और आत्मा दो चीज़ें हैं, दोनों के अलग अस्तित्व हैं, अलग कार्य हैं—यद्यपि यह मानने के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है—किन्तु आप-हम ऐसे साधारण जीव उन्हें विलग नहीं कर सकते। आत्मा को मिलने दो, किन्तु शरीर को अलग रखो, यह कथन आप अपना खंडन करता है। 'प्राणेर परश चाहे गायेर परश'—प्राण का स्पर्श शरीर का स्पर्श चाहता है—उस बंगाली क़ैदी ने उस दिन यह पद गाया था। मानव स्वभाव का यही स्वाभाविक चित्रण है। आत्मा को मिलने दो, लेकिन शरीर को अलग रखो—इस भूलभुलैया-भरे कथन की सृष्टि किसी ऐसे विचारक के द्वारा हुई है, जिसमें या तो तह तक देखने की शक्ति नहीं थी या जो दुनिया की लांछनाओं से ऊब गया था, या जिसको प्रेम के बदले पत्थर मिला हो। यह कथन अनुभव से परे का है। यह बिलकुल अप्राकृतिक है। प्रकृति को आँख खोलकर देखिये, तो इस कथन की सारहीनता और छिछलापन जान पड़े। सुन्दर फूलों को तितलियाँ चाहती हैं। वे चाहती हैं, तो उसके आस-पास मँडराती हैं। किन्तु वे मँडराती ही नहीं रह जातीं। हृदय का प्रेम शरीर को बरबस खींचकर फूलों से एक कर देता है। आपने कभी फूलों के साथ की तितलियों की क्रीड़ा देखी है? पहले उसके आसपास खूब चक्कर लगाती हैं, दो-चार बार बैठती और उड़ती हैं, जैसे मान-लीला हो रही हो! फिर पंखड़ियों पर दोनों पंखों को पसारकर, किंजल्क पर अपने मुँह को सटाकर, यों निस्तब्धता से बैठ जाती हैं कि मालूम होता है, तन-मन की सुध भूल, मिलन का स्वर्गिक आनन्द लूट रही हों! इस छोटे से—एक इंच से भी कम चौड़े और एक तिनके से भी कम बोझ के—जीव में कहाँ से यह अपार तल्लीनता आ जाती है! यही प्रेम है, बाबू; यही प्रेम का स्वाभाविक परिणाम है। हर्ष की बात है कि तितलियों के देश में तत्त्वदर्शी नामक कोई जीव नहीं है, जो उससे कहे कि जिससे प्रेम करो, उससे दूर ही रहो, उस स्वर्गिक वस्तु को अपनी वासना से अपवित्र न करो! यों ही मंजरी और भौंरे को देखिए, चिराग़ और पतिंगे को देखिए। कहाँ तक गिनाया जाय? प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण आपको पग-पग पर बतायगा कि प्रेम का अर्थ ही है, दो का मिलकर एक हो जाना,—आत्म-समर्पण, एकीकरण। इस आत्म-समर्पण, इस एकीकरण की क्रिया को आत्मा और शरीर के भेदभाव के चक्कर में डालकर असफल करने की चेष्टा, मेरी समझ में, अगर अपराध नहीं, तो अपराध नाम की कोई चीज़ ही नहीं है।

मेरा तों खयाल है बाबू, कि आदमी जो आज इतना दुखी है, वह इसीलिए कि वह अपनी बुद्धि के घमंड में प्राकृतिक खिंचावों पर—स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर—ध्यान ही नहीं देता। वह इन खिंचावों को नियम का बाँध बाँध कर रोकना चाहता है। फल क्या होता है? यह बाँध तो टूटता ही है, प्रवाह में ऐसी बहुत सुन्दर वस्तुएँ भी बह जाती हैं, जिनसे न जाने संसार के कितने उपकार सधते। आज मनुष्य ने अपने को हज़ारों व्यवस्थाओं और नियमों के बंधन में बाँध रखा है, जन्म से लेकर मृत्यु तक वह पग-पग पर बँधा हुआ है! फलतः आज की यह अव्यवस्था, यह अत्याचार, यह उत्पीड़न!

५——स्वप्न-लोक!

और, मैंने देखा, यह मिलन की स्वाभाविक इच्छा मुझी में नहीं है, पिअरिया भी व्याकुल है। उसके प्राण भी तड़प रहे हैं। उसकी उन दिनों की हरकतें ऐसी थीं, जिनका सूक्ष्म निरीक्षण इस बात की घोषणा ज़ोरों से करता था। जब मैं उससे दूर होता, किसी-न-किसी बहाने वह निकट आने की कोशिश करती; जब मैं उसके निकट होता, ऐसी सहूलियतें खोजती, जिनके कारण मेरे शरीर का वह किसी-न-किसी प्रकार स्पर्श करे। और, एक आकस्मिक घटना ने इसके लिए राह भी खोल दी।

एक दिन की बात है। दोपहर का समय था। पिअरिया खाने के लिए घर गई थी। मैं खाकर आ चुका था—गेहूँ की चपातियाँ और आम के कतरे। ठूँस-ठूँस के खाया था। अनरस (अन्न-रस) के साथ-साथ अम-रस (आम-रस) का तकाज़ा यही था कि कहीं लेटूँ। पिअरिया के मचान पर चला गया। मकई की सूखी पत्तियों से एक मोटा गद्दा-सा गदरा पिअरिया ने अपने हाथों तैयार किया था। उसी-को बिछा, उसपर अपना अँगोछा डाल, लेट गया। लेटते ही आँखें झिप गईं!

आँखें झिपते ही एक विचित्र स्पप्न-लोक झलमला उठा!

मैं सबुज-परी के देश में हूँ। जिधर देखिए, हरा-ही-हरा। पशु-पक्षी भी हरे-हरे हैं—गायें हरी, बैल हरे; सरगट हरे, मैना हरी। सूर्य की किरण भी हरी हैं; हाँ, उसमें सुनहलापन की एक विचित्र

पुट-सी पड़ी है। आकाश हरा है, ज़मीन हरी है। एक और विचित्र बात। जितने प्राणी हैं, सबके पंख हैं—हरे-हरे। गाय-बैल के अगले पुट्ठों के निकट इन पंखों का जोड़ है। वे हरी-हरी घासों को चरते-चरते, पंखों को फड़फड़ाते हुए, उड़कर इस खेत से उस खेत में पहुँच जाते हैं।

इन दृश्यों को विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से देखता मैं खड़ा था कि एक मोटा-ताज़ा बछेड़ा हिनहिनाता हुआ मेरे नज़दीक आकर खड़ा हो गया। वह मेरे हाथों को सूँघने लगा और अगले पैर से ज़मीन को खूँदता जाता था। मालूम होता था, वह मुझसे कह रहा था कि मुझ पर सवार होओ। ऐसा बछेड़ा!—मैं भी सवार होने के लोभ को न रोक सका।

किन्तु उसकी पीठ पर जाते ही वह पंखों को फड़फड़ाकर आकाश में उड़ गया। साँय-साँय—वह बढ़ता जाता था। मैं तो हक्का-बक्का था। उसके अयाल को ज़ोरों से पकड़े था, डर था, कहीं गिर न पड़ूँ।

वह लगातार उड़ता गया। उड़ते-उड़ते अब एक ऐसा लोक दीख पड़ने लगा, जहाँ सब कुछ सुनहला था। बात की बात में मेरे बछेड़े ने उस लोक में भी प्रवेश किया। अब आकाश सुनहला था, नीचे की ज़मीन सुनहली थी। सुनहली चिड़ियें उड़ रही थीं, सुनहले पशु चर रहे थे। वृक्षों की सुनहली पत्तियाँ चमचमा रही थीं। सुनहले फूलों पर सुनहले भौंरे सुनहले गान गा रहे थे। सबुज-लोक से यहाँ एक विशेषता यह थी कि यहाँ का वायुमंडल संगीत से भरा था। एक अनहद गान प्राणों को विभोर बना रहा था।

मेरा बछेड़ा खड़ा हो गया। शायद वह थक गया था। मैं भी उसपर से उतर गया!

उतरते ही कानों में रोने की आवाज़ आई। अरे, इस संगीत-पुरी में यह रुदन कैसा? मैंने उस ओर ताका। ऐं, यह कौन? यह—यह तो पिअरिया है! पिअरिया—पियारी—प्यारी! एक राक्षस—भयानक राक्षस—उसे पकड़कर अपने घोड़े पर चढ़ाना चाहता है और वह उसके पंजे से निकलना चाहती है। इतने में ही उसकी नज़र मेरी ओर पड़ी—'मनोहर भैया, मनोहर भैया' कहकर वह चीख पड़ी! मैं उस ओर दौड़ा। मुझे दौड़ते देख, वह राक्षस मेरी ओर घूरकर ठठा पड़ा—उसकी हँसी आकाश से टकरा-टकराकर बार-बार गुंजित होने लगी। मेरी गति सहसा रुक गई; मालूम हुआ, जैसे मेरे पैरों में सौ

मन का पत्थर बँधा हो। मैं पर-वश होकर छटपटाने लगा। मुझे छटपटाते देख वह मुस्कराने लगा और पिअरिया को ज़बर्दस्ती अपनी ओर खींचकर उस—उस—उस दुष्ट राक्षस ने चू. .चू. . .चूम लिया! आवेश से मेरी आँखें लाल हो गईं। ज़ोर से मैंने पैरों में झटका दिया——जैसे बंधन खुल गये। मैं दौड़ा। मुझे दौड़ते देख पिअरिया को पकड़-कर उसने घोड़े पर बिठा लिया और ज़ोर से घोड़े को चाबुक लगाये। घोड़ा उड़ा——साँय-साँय। पिअरिया हाहाकार करने लगी—मेरी ओर देख-देखकर, मेरा नाम पुकार-पुकार कर हाहाकार करने लगी! मैं तो सन्न रह गया। अपने बछेड़े की ओर दौड़ा। किन्तु वहाँ बछेड़ा था कहाँ——न जाने कहाँ चल दिया था! पागल-सा राक्षस के घोड़े की परिछाहीं के साथ मैं दौड़ने लगा। दौड़ता जाता था और चिल्लाता जाता था—पिअरिया, पिअरिया. . ., पियारी. . .प्यारी . . .

'मनोहर भैया, मनोहर भैया,'—कहती पिअरिया मुझे झझकोर कर जगा रही है, जागकर मैंने देखा। 'क्या सपना रहे थे, भैया?' उसने हँसते हुए पूछा। 'क्या बरबरा रहे थे, बताओ न!'—फिर मुस्कराती हुई उसने सवाल किया! मैं क्या जवाब देता? हक्का-बक्का उसकी ओर देख रहा था! मैं कहाँ हूँ, वह राक्षस क्या हुआ, पिअरिया यहाँ कहाँ—आदि प्रश्न मेरे सिर में चक्कर काट रहे थे। इतने ही में भावावेश में आकर, पिअरिया, पिअरिया चिल्लाते मैंने उसे खींचकर छाती से लगा लिया! उसकी छाती मेरी छाती में सटी थी, उसकी धड़कन मेरी धड़कन से मिल रही थी। उसके अधर मेरे अधरों में सटे थे—उसकी साँस मेरी साँस में समा रही थी। कहाँ है वह राक्षस; आवे, अब उसको देखूँ ....

× × ×

इस स्वप्न को लेकर पीछे हम-दोनों में खूब दिल्लगियाँ होतीं। पिअरिया ने बतलाया कि किस प्रकार भोजन के बाद जब आई, तो उसने मुझे अपने मचान पर सोया देखा। वह चुपचाप मेरे पैताने बैठ गई। सोते-सोते मैं दो-एक बार चौंका और उसके बाद बरबराने लगा। मेरा समूचा शरीर पसीने-पसीने हो गया था, साँस अस्वाभाविक रूप से चलने लगी थी। इस बरबराहट में भी स्पष्ट मालूम होता था कि मैं पिअरिया का ही नाम ले रहा हूँ। पहले तो वह इस बरबराहट का आनन्द लेती रही; किन्तु पीछे जब मैं ज़ोरों से काँपने लगा, तो उसने झझकोर कर उठा दिया।

ख़ैर, जो कुछ हो, इस स्वप्न के चलते हमलोगों का शरीर भी एक हो चला। भावावेश के उस मिलन ने स्थायी मिलन का द्वार खोल दिया। अब उसके निकट बैठने में मुझे झिझक नहीं होती, औचक आकर मेरी आँखें मूँदने में उसे संकोच नहीं होता। उधर खेतों में रिमझिम बूँदे गिरतीं, इधर हमारे हृदय में प्रेम के निर्झर झरते। आकाश में इन्द्रधनुष उगते एक क्षण के लिए––हमारा हृदयाकाश इन्द्रधनुष का स्थायी आवास हो गया था। बादल और बिजली की लुकाछिपी कभी-कभी दीख पड़ती, यहाँ दिन-रात इसीकी पुनरावृत्तियाँ होतीं।

किन्तु.........

किन्तु अपने आनन्दातिरेक में हम संसार को भले ही भूल जायँ, संसार हमें क्यों भूलने लगा? उसे न हमारा दुख पसंद है, न सुख। दुख में कोसेगा, सुख में झुँझलायगा। दुख में सान्त्वना देने के बदले कहेगा––बदमाश कहीं का, अब किये का फल भोग; बहुत इठलाये फिरता था। सुख में ईर्ष्या से जलकर चिल्ला उठेगा––साले, मौज कर लो, जब समय पड़ेगा, तो रोओगे––वह दिन नज़दीक ही है। और, केवल कहकर ही संतुष्ट नहीं होगा, उस दिन को नज़दीक लाने में कुछ उठा भी नहीं रखेगा। यही संसार है बाबू।

६–संसार की नज़र

इस संसार की नज़र हमपर पड़ी। या शायद संसार की नज़रों को हमने ही अपनी ओर खींचा।

पहले कुछ दिनों तक कानाफूसी रही; फिर जहाँ-तहाँ आवाज़ें कसी जाने लगीं। हम भी अब इन हलचलों से नावाक़िफ नहीं रहे। हमने देखा कि कुछ लोग दिन-रात हमारी हर हरकत को ग़ौर से देखने में ही अपने अमूल्य समय का सदुपयोग कर रहे हैं। औरतों में एक खास हलचल थी। हमारे देश की स्त्रियाँ! इनका काम ही क्या है? दिन-भर घर में बैठे-बैठे आटा गीला करना या हर लड़की या लड़के के चरित्र की नुक्ताचीनी करना! ज़रा कहीं किसी बात की चर्चा हुई कि भनक मिलते ही ये ले उड़ीं––कुछ ही क्षण में घर-घर की नई बधुएँ तक उस समाचार से पूर्ण अवगत हो गईं।

बूढ़ी स्त्रियाँ ग्राम-गज़ट का काम करती हैं—लड़कियाँ उनके लिए 'खास संवाददाता' होती हैं। इस न्यूज़-एजेंसी से किसी समाचार का छिपा रहना असम्भव है।

मैंने पिअरिया से इसकी चर्चा की। मेरी बातें सुनकर गंभीर या चिन्तित होने के स्थान में, वह हँस पड़ी। बोली—'तो आप क्या चाहते हैं? हमलोग उनकी आँखों में उँगली घुसेड़कर यह-सब किया करें, और वे बेचारे कहने-सुनने से भी गये!' मैंने कहा—'हँसी में मत उड़ाओ—कहीं यह उग्र रूप न धारण करे, बड़ी मुश्किल होगी!' और, सच बात तो यह है कि मुझे कुछ डर-सा लगने लगा था—अपने लिए नहीं, पिअरिया के लिए। हमारा आप का समाज पुरुषों के लिए काफी उदार है। आप सात घाट नापें, माफ़ किया जा सकता है; किन्तु औरतों का पैर जहाँ ज़रा-सा नीचा हुआ कि उनकी ज़िन्दगी ख़राब। प्रेमोन्माद में—पहले झोंके में—मैंने इसपर इतना खयाल नहीं किया था; किन्तु इधर अब ग़ौर करने से अपने को बचा नहीं सकता था। किन्तु मेरा ग़ौर करना सब व्यर्थ था। मैं जिसके लिए चिन्तित था, डरता था, वह तो निश्चिन्तता और निडरता की मूर्त्ति बनी बैठी थी। हाँ, ठीक मूर्त्ति की तरह—सब तरह की मानसिक झंझटों से परे! मेरी उपर्युक्त बातें सुनकर वह कह उठती—'मुश्किल होगी; क्या मुश्किल होगी मनोहर भैया? तुम भी बात का बतंगड़ बनाते हो।' और, इतना कह, वह दूसरा प्रसंग छेड़कर मुझे बहलाने लगती!

एक दिन शाम को मैं, कुछ मुँह-अँधारी हो जाने पर, घर की ओर जा रहा था। बगल में ड्ंडा था, हाथ में सुर्ती। मौज में एक बिरहा टेरे हुए था। उसी तालाबवाली सड़क से जा रहा था। सड़क के पश्चिम खेतों में मकई-आदि फसल उपजी हुई थी, पूरब के बगीचों में आम का पहला ज्वार ख़तम हो चला था, दूसरा दौर था—यानी बम्बई, किसुनभोग, दलिमा आदि झड़-से रहे थे; किन्तु मालदह, सिपिया, हैदरबखश आदि का ज़माना तुरत शुरू हुआ था। अतः वहाँ की चहल-पहल में कमी नहीं थी।

मैं, यों, गाते हुए जा रहा था कि पश्चिम ओर के मचान से 'मनोहर भैया', यह आवाज़ आई। मैं पहचान गया कि किसकी बोली है। वह मोहन था। 'ठहरिये, मैं आता हूँ, एक काम है'—उसने फिर कहा। 'ठहरा हूँ'—कहकर मैं वहीं खड़ा हो गया। दो-तीन मिनट में ही वह मेरे निकट था।

निकट आकर पहले उसने इधर-उधर देखा। फिर संजीदा-सा होकर बोला — 'भैया, आपसे बहुत बातें करनी हैं। मैं मौक़ा ही ढूँढ रहा था, अच्छे आये।' उसकी आज की बात में वह चुलबुलाहट नहीं थी, जिसके लिए वह प्रसिद्ध था। मैंने भाँप लिया कि निश्चय ही वह कोई गम्भीर बात सुनायगा।

एकान्त में मुझे घसीटकर ले गया और अपना पोथा सुनाना प्रारम्भ किया। किस प्रकार पिअरिया को लेकर गाँव में एक हलचल फैली है, किस तरह गाँव का हर बच्चा हमें सन्देह की दृष्टि से देखता है; आदि-आदि बातों का वर्णन कर इस प्रसंग की ख़ास बात पर उतरा। किस प्रकार अमुक इस बात की चर्चा कर रहा था; किस तरह अमुक ने उस दिन पिअरिया के बाप से इसकी चर्चा की थी, किस तरह पिअरिया का वह चचेरा भाई, जो खुद ही पिअरिया पर मरता है, अब उसके बाप को उभाड़ कर कोई कांड करने पर तुला है, आदि बातें उसने ब्योरेबार सुनाईं। यही नहीं, किस प्रकार पिअरिया से उसकी माँ द्वारा कहलवाया गया है कि मुझसे बातचीत न करे; यही नहीं, सम्भवतः वह कल से अब खेत भी नहीं आ सकेगी। यह-सब कहकर अन्त में कहा– 'मनोहर भैया, आप इस प्रपंच से अपने को हटाइये। एक तो आपकी शिकायत होती है, जो मुझसे सुनी नहीं जाती; दूसरे, कुछ आपके दोस्त हैं, जो इस मौक़े से लाभ उठाकर आपको नेस्त-नाबूद करने पर तुले हैं। आपके कुछ ऐसे दोस्त हैं, जो अखाड़े में आपसे पटकाते हैं, किन्तु इस हार को वे अपने हृदय में पोसे हुए हैं और उसका बदला इस कांड के द्वारा चुकाना चाहते हैं। यों ही बहुत से लोग हैं, जिनसे गाँव में रहने के कारण कभी-न-कभी सख़्त-सुस्त हो ही जाती है, वे लोग भी मौक़ा ढूँढ़ रहे हैं। यही नहीं, पिअरिया पर भी बहुत से लोग नज़र लगाये हुए हैं, और इनमें अधिकांश आपके दोस्त हैं; वे लोग यह देखकर कि वह आपपर मरती और उन्हें अँगूठा दिखाती है, जल-भुन रहे हैं और अपनी जलन निकालने के लिए, जो कुछ भी सम्भव हो, करने को तैयार हैं। आप सीधे हैं— जिस प्रकार आपका शरीर सुडौल है, उसी प्रकार आपका हृदय भी; दुनिया के हृदय की पेचीदगी का —कुटिलता का—आप अनुमान भी नहीं कर सकते।' कहते-कहते आखिर मोहन ने मेरे पैर पकड़ लिये और गिड़गिड़ाकर बोला —'मनोहर भैया, मनोहर भैया, मैं आपके पैर पड़ता हूँ; भैया, इस प्रपंच से आप अपने को हटाइये। पिअरिया आपको चाहती है, मानता हूँ; पिअरिया आपपर मरती है, जानता हूँ; किन्तु, पिअरिया

का प्रेम यदि सच्चा है, तो उसके लिए भी यह वांछनीय है कि आप सकुशल रहें, आपका बाल बाँका न हो। किन्तु मैं सच कहता हूँ, यदि आपने मेरी विनती पर विचार नहीं किया, तो दो-चार दिनों में ही कोई कांड होनेवाला है। कुछ लोग इस कांड के करने पर तुले हुए हैं, अब इसको रोक सकते हैं तो आप ही। भैया, आपको मेरी क़सम, आपकी पिअरिया की क़सम, कम-से-कम दस दिनों के लिए आप उसके साथ का बोलना-चलना बंद कर दीजिए। आँधी टल जाने दीजिए, फिर देखा जायगा। भैया-भैया........!' मैंने शाम के उस झुटपुटे में भी अनुभव किया कि उसकी आँखों में आँसू छल-छला आये हैं; गला तो रुँध रहा था ही। मैं बड़े पशोपेश में पड़ा। वह ज़ोर से मेरे पैरों को पकड़े था। उसके शुद्ध अन्तःकरण के इन मार्मिक उद्गारों का मैं तिरस्कार नहीं कर सकता था। अपने बचाव की ओर ध्यान नहीं था; बचपन से ही मैं अपनी ओर से उदासीन रहता आया हूँ, अपने जीने-मरने के प्रश्न पर ग़ौर करने का अभ्यास ही मुझमें नहीं है; किन्तु एक विशुद्ध हृदय से निकली, विशुद्ध भावना से ओत-प्रोत इस कातर प्रार्थना को मैं नहीं ठुकरा सका। दिल को बड़े ज़ोर से दाब कर मैंने कहा—'हाँ,' फिर इस बात को हलका बनाने के लिए, मैंने हँसते हुए कहा—'अच्छा, मैं सोचूँगा। मोहन, इतना खिन्न क्यों होते हो; मैं तुमसे अलग हूँ थोड़े; जो कहोगे, करूँगा'— और उसके हाथों को अपने पैरों से छुड़ाकर, उसको पकड़े हुए खड़ा हो गया और उसे छाती से लगा लिया। फिर उसीके साथ इधर-उधर की गप्प उड़ाता पोखरे पर आया। वहाँ हाथ-मुँह धो, ज़रा स्वस्थता अनुभव करते हुए, घर पहुँचा।

रात में खा-पीकर जब सोने गया, तब माँ ने भी, बड़ी ही दबी ज़बान से, इसकी चर्चा छेड़ दी। इधर, माँ मुझसे बहुत कम बोलतीं। मैं इस चुप्पी का कारण जानता था! यथार्थ बात तो यह है कि वह बहुत दिनों से कहना चाहती थीं, किन्तु संकोच उनकी ज़बान पकड़े था। अतः साधारण बातचीत भी बंद थी। आज जैसे बाँध टूट गया। वह बोलीं—

'यह क्या सुनती हूँ, मुन्नू!'

'क्या सुनती हो?'

'सुना है, पिअरिया के बाबूजी आज किसीसे कह रहे थे कि मैं बिना जेल खटवाये नहीं छोड़ूँगा। मेरा मून्नू, तू तो ऐसा नहीं था! यह कैसी फसाद खड़ी कर ली तूने?'

मैंने हँसकर कहा—

'फसाद कैसी, मैया? जेल चोर जाते हैं, डाकू जाते हैं। मैं क्यों जेल खटूँगा, मैया?'

'हँसी में मत उड़ा, मुन्नू! दैया कह रही थीं, तू सचमुच फँस गया है। बेटा, मुझ अनाथिनी को और अनाथ मत बना। तेरा ही मुँह देखकर मैंने अपनी भरी जवानी काट डाली; अब बुढ़ापे में तू मुझे रुला-रुलाकर मारना चाहता है?'

घर में अंडी के तेल का दीया जल रहा था। उसके स्वच्छ प्रकाश में मैंने देखा, उनकी आँखें मोती उगल रही हैं। मैं सन्न हो गया। मैं क्या बोलता, वही बोलती रहीं—

'पिअरिया!—पिअरिया!—मैं तो उसे देवी समझती थी। वह डाइन है, यह मैं क्या जानती थी? क्या मेरे बेटे की सेवा उसने इसीलिए की थी? मैं अकेली अपने मुन्नू को अच्छा कर लेती। यदि उसका यह डायनपन जानती, तो उस कलमुँही को अपने आँगन में घुसने भी देती! बाप रे!'

अब मुझसे नहीं रहा गया। मैं बीच ही में बोल उठा—

'मैया, तू क्या फिजूल बक रही है? लोगों ने अंट-संट कह डाला है तुझसे! चुप रह—लोगों को बकने दे—'

'यह अंटसंट है? तो, दैया झूठी हैं? उसका चचेरा भाई जो आज मुझे सुनाकर कह रहा था 'साले का सिर तोड़ दूँगा' यह भी झूठा है? तू मुझे ठगना चाहता है? मुन्नू, मैंने तुझसे ऐसी उमीद नहीं की थी—तू मुझे ठगना चाहता है ....'

माँ कुछ उत्तेजित हो चली थीं। इसी उत्तेजना में उनकी आँखों की मोती-माला भी सघन हो रही थी! उनके गाल भींग गये थे, आँचल तर हो रहा था। मेरी 'काटो तो खून नहीं' वाली हालत थी। मैं क्या कहूँ? कैसे उन्हें समझाऊँ? कुछ समझ में नहीं आता था। सिर भारी हो रहा था। तब, जैसा कि मेरा बोझ हलका करने के लिए ही, वह स्वयं बोल उठीं—

'अच्छा, जो हुआ, सो हुआ। आज तुझे मेरी देह छूकर शपथ खानी पड़ेगी। शपथ खानी होगी कि तू अब से पिअरिया से न बोलेगा, न उसकी परिछाहीं छूयेगा? ले मेरा हाथ, शपथ खाता है या नहीं ....?'

मैं तो विचित्र पशोपेश में पड़ गया। हाँ-ना के द्वंद्व के लिए भी गुंजायश नहीं छोड़ी गई थी। माँ रो रही थीं—उनकी आँखों से अजस्र अश्रुधारा जारी थी। इन आँसुओं की बाढ़ में मुझे दुनिया भूल गई। आगापीछा बिना सोचे ही मैंने उनके अनरोध को मान लिया—'अब से मैं पिअरिया से नहीं बोलूँगा, उसकी छाया भी नहीं छूऊँगा!'

मेरा यह आश्वासन पा माँ सो गई। किन्तु मैं?

७—आँखों में नींद कहाँ!

मेरी आँखों में नींद कहाँ? विचारों की बाढ़ सी आ गई थी—न कोई शृंखला थी, न सीमा। हाँ, एक केंद्र अवश्य ही था। वह केन्द्र पिअरिया थी। आज मालूम हुआ कि पिअरिया मेरे लिए क्या है! उसका छोड़ना मेरे लिए कितना दुष्कर है? उसकी मूर्त्ति हज़ारों रूप धरके मेरी आँखों के सामने नाच रही थी। उसका हर अंग, अंगों की एक-एक हलचल, अपनी मोहकता का जादू मुझपर फेंक रही थी। कितनी सुन्दर है पिअरिया; क्या ऐसा सौन्दर्य प्राप्त कर के छोड़ने के लिए होता है?

और, क्या चाहकर भी मैं उसे छोड़ सकता था? माना, मैंने माँ के निकट आज प्रतिज्ञा की है, शपथ खाई है; किन्तु यह प्रतिज्ञा, यह शपथ कब तक के लिए? ज़्यादा-से-ज़्यादा यही हो सकता है न, कि मैं उससे न बोलूँ; किन्तु जब वह हँसती-हँसती आयगी और भौंहों को ज़रा कुंचित कर कुछ पूछ बैठेगी, तब? तब क्या मुझसे चुप रहा जायगा? और, मुझे चुप रहने के लिए वह छोड़ेगी भी? अभी उस दिन मैं, यों ही, ज़रा रूठ गया था; बोलना बंद कर दिया था। क्या हुआ? दो-एक बार कुछ पूछा, उत्तर न पाकर पहले ज़रा, कुछ क्षणों के लिए, चिन्तित-सी हो गई। किन्तु वह हार माननेवाली थी? दौड़कर मेरे निकट आई और गुदगुदी लगाकर मुझे हँसा ही दिया; बोला ही दिया। मैं उसकी छाया भी न छूना चाहूँ, किन्तु जो स्वयं छाया बन गई है, उससे अपने को अलग कैसे रखा जायगा? जिस समय पीछे से, औचक आकर, मेरी आँख मूँद लेगी, तब? तब मैं क्या करूँगा?

लेकिन, माँ! माँ ने मुझसे प्रतिज्ञा जो करा ली है! क्या मैं माँ के साथ विश्वासघात करूँगा? माँ के साथ! और, माँ भी कैसी? मेरी

जाति में पुनः विवाह की प्रथा प्रचलित है। मेरे पिताजी जिस समय मरे थे, माँ भरी-जवानी में थी। कोई दूसरी स्त्री होती, तो किसी युवक का पुनः पाणिग्रहण कर अपना शेष जीवन आनन्द और उल्लास में बिताती। माँ मेरी काफ़ी रूपवती थीं। कोई भी युवक उनका हाथ धरने में अपने को सौभाग्यशाली समझता। किन्तु माँ ने अपने जीवन की सारी साधों और इच्छाओं को एक बार ही समाधिस्थ कर दिया! क्यों, किसके चलते? मेरे ही लिए तो! मुझी को देखकर तो! गाँव के लोग कहते— 'सती निकली है! देखते हैं, यह सतीपन कब तक निभता है? सर-सोलकन होकर बाबू-भैया की स्त्रियों की नक़ल? अच्छा, जब पाँव भारी होंगे, तब हाय-तोबा मचेगी!' किन्तु यह हाय-तोवा नहीं मची। मेरी माँ ने शत-शत प्रलोभनों और प्रताड़नाओं के बीच रहकर भी अपनी टेक निभाई। टेक निभाई किसको देखकर, किसके चलते? क्या मैं अपनी उस माँ के साथ विश्वासघात करूँगा? माँ के साथ ....?

किन्तु एक बात तो है। क्या माँ के लिए यह उचित था? जब तक मैं अबोध था, तभी तक माँ के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता थी। अब तो मैं सयाना हो चला हूँ, अपने भविष्य, अपनी दीन-दुनिया के बारे में सोचने-विचारने की अक्ल मुझमें आ गई है। फिर माँ मेरे रास्ते में क्यों पड़ती हैं? उन्हें उचित है कि मुझे छोड़ दें। उनका कर्त्तव्य वहीं पूरा हो गया, जब कि मैं जवान हो गया। अब तो वह अपने दायरे से बाहर पैर रखती हैं- अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र का अतिक्रमण करती हैं। वह बूढ़ी हुईं —पका आम। कब टपक पड़ें, कौन जाने! समूचा जीवन तो मुझे अकेले ही ढोना पड़ेगा। इस दृष्टि से भी उचित है कि वह मुझे अपने निर्णय के बारे में स्वतंत्र छोड़ दें। नहीं, वह अब मुझपर अत्याचार कर रही हैं —निस्संदेह यह अत्याचार है! अपने अधिकार का यह दुरुपयोग है। यदि वह अपने अधिकार का दुरुपयोग कर रही हैं, तो मेरा भी कर्त्तव्य है कि अपने अधिकार की रक्षा करूँ। चाहे माँ हो या बाप —किसी का भी अत्याचार सहना अत्याचार को प्रोत्साहन देना है। यह समाज के लिए भी ख़तरनाक है। नहीं; मैं इस शपथ से बाध्य नहीं हूँ! होगया; उनकी दिलजमई हो गई। किन्तु फिर भी तो यह विश्वासघात होगा! तो क्यों न जगाकर कह दूं कि मैया, इस बारे में मैं तुम्हारी सलाह नहीं मान सकता! ठीक तो, ज़रूरत के बक्त में ढीले-ढाले ढंग से सोचना खतरनाक है। हमारा काम साफ होना चाहिए; नैतिक साहस का भी यही तकाज़ा है! अच्छा, तो उठाऊँ? किन्तु ....

मेरे इस कथन का मैया पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह सोचते ही मैं थर्रा उठा। क्या वह जीवित भी रहेंगी ? इतना बड़ा सदमा किसीको भी मारने के लिए काफी है। और, आख़िर उनका उद्देश्य भी तो बुरा नहीं है। वह चिन्तित हैं, तो मेरे ही लिए। मेरी मंगल-कामना की भावना ने उन्हें यह अत्याचार — यदि यह अत्याचार भी हो—करने के लिए बाध्य किया है। वह समाज से डर रही हैं........

समाज ? ठीक; सारी फसाद की जड़ तो यह समाज ही है। और, समाज भी कैसा ? यह समाज बुज़दिल है; प्रभुता-परस्त है। यह ग़रीबों को, कमज़ोरों को सताता है; धनिकों के, बलवानों के तलुवे सहलाता है। वह—वह मेरे गाँव का मालिक सबकी आँखों में अँगूठा घुसेड़कर, उस चमाइन से 'नेह का नाता' जोड़े हुए हैं। सब लोग जानते हैं, गाँव का बच्चा-बच्चा इसको जानता है; खुलेआम वह उससे हँस-हँस कर बतियाता है, दिन-दहाड़े उसके घर में घुसता है। यही नहीं, उसका बँगला उस चमाइन का केलि-भवन बना हुआ है। किन्तु कोई माँ का लाल नहीं है, जो उसकी ओर उँगुली उठाये, उसकी चर्चा भी करे। कहाँ है समाज ? देखे न उसकी इस व्यभिचार-लीला को ! वह क्यों देखने चले ! वह तो धनियों का गुलाम है, लक्ष्मी का पूजक है। यों ही, उस जमींदार की विधवा पुतोहू की बात लीजिये। वह अपने नौकर से उलझी हुई है। इस बात को उसका ससुर जानता है, भैंसुर जानता है; सास जानती है, ननद जानती है। किन्तु कोई भी चूं नहीं करता। समूचे समाज के सिर पर पैर रख कर वह तांडव नृत्य कर रही है; किन्तु किसीकी ज़बान से 'उहूँ' भी नहीं निकलता। क्यों निकले ? यह तो प्रभुता–परस्त है, शक्ति की पूजा करना इसका काम है। कहाँ तक गिनाया जाय; समूचे गांव में दुराचार और अनाचार का बोल-बाला है। ये धनियों के लौंडे गाँव के किसी ग़रीब की लड़की के सतीत्व को अछूता नहीं छोड़ते—बुलकी और झूमक गढ़ा-गढ़ाकर, रुपये और नोट थमा-थमाकर, उनकी ग़रीबी से फायदा उठा कर, उन्हें बरबाद करते हैं। ये बेचारी हाड़-माँस की जीव ठहरीं—इच्छा और साध इनमें भी है। अपने शरीर को ज़रा सजाकर रखने का, जवानी का तकाज़ा, इनमें भी होता है। किन्तु इनके ग़रीब माँ, बाप, पति और ससुर इनकी इन इच्छाओं और साधों को पूरा नहीं कर सकते; फलतः ये इन लोगोंके, इन बदमाश छोकड़ों के, पंजे में फँस जाती हैं ! इनके फँसाने में ये छोकड़े बंशी का काम करते हैं और इनके घर की स्त्रियाँ चारे का। इन स्त्रियों को

नाना तरह के आभूषणों से, कपड़ों से सुसज्जित देखकर इनके मन में वासना का उदय होता है। जब ये देखती हैं, इनसे रूप-गुण में जो हीन हैं, इनके निकट बंदरी-सी हैं, वे भी झमक कर चलती हैं; तो ये भी अपनी एक-मात्र बेचने लायक चीज़ — वह चीज़ जिसकी क़ीमत तुरत और ज़्यादा मिल सकती है—को बेच डालती हैं। बेच डालती हैं अपने सतीत्व को, स्वर्गिक सौन्दर्य को — इसलिए कि ज़रा ये भी झमककर चलें, ठुमककर बोलें। गाँव भर में इस प्रकार की ख़रीद-विक्री का बाज़ार गर्म है; किन्तु समाज नहीं बोलता, ज़बान नहीं हिलाता। पर, जब किसी ग़रीब के लड़के का दिल किसी ग़रीब लड़की से लगता है, तो हाय-तोबा मच जाती है। किसलिए? इसीलिए न, कि धनियों के लाड़ले इन लड़कियों पर अपना एकाधिपत्य समझते हैं, फलतः एकाधिपत्य में ज़रा भी विघ्न पड़ता देख प्राणपण से उसके बचाने की कोशिश करते हैं। किन्तु, एकाधिपत्य के दिन लद गये; मैं इन्हें बतला दूँगा! ....मैं पिअरिया को चाहता हूँ, पिअरिया मुझे चाहती है। हमारी इस चाह में सोने-चाँदी की महिमा नहीं है, किसी प्रकार की लालच या धोखेवाजी नहीं है। यह तो शुद्ध हृदय की पुकार है— स्पष्ट पुकार है। फिर समाज हमारे बीच में क्यों टाँग अड़ाने आता है? अड़ायेगा, तो मैं उसकी टाँग तोड़ दूँगा — हाँ!

यों ही न-जाने क्या-क्या सोचता रहा। सोचते-सोचते चित्त उद्विग्न हो उठा। अब बिछावन पर लेटना मुश्किल हो रहा था। माँ खर्राटे ले रही थीं। मैं चुपके से उठा —लोटा ले लिया, जिसमें कोई पूछे तो दिशा-जंगल का बहाना कर दूँ। आँगन में आया। कृष्ण अष्टमी का चाँद अपना आधा रास्ता तै कर चुका था। बादल और उसमें आँख-मिचौनी हो रही थी। इसी तरह पिअरिया और मुझमे कितनी दफा आँख-मिचौनी हो चुकी है! पिअरिया! फिर पिअरिया की याद; क्या पिअरिया मुझे पागल बना छोड़ेगी?

रास्ता पकड़े पोखरे पर आया। सारा संसार निस्तब्ध था। चारों ओर चाँदनी का धवल प्रकाश फैल रहा था। मालूम होता था, मानों दूध के समुद्र में दुनिया स्नान कर रही हो। पोखरे के पश्चिम किनारे के ऊँचे टीले पर बैठ गया। पास के पीपल के पेड़ पर कचबचिया बोल उठी — जिससे मालूम हुआ, रात अब एक पहर से ज़्यादा नहीं है। अष्टमी के चाँद का उठान भी यही पता दे रहा था। रह-रहकर शरीर का स्पर्श करनेवाले पूरबी हवा के ठंढे झोंके भी यही आभास दे रहे थे।

—मैं पूरब रुख बैठा था। पूरब क्षितिज की आधी मंज़िल तय किये हुए चाँद मन्द—मन्द मुस्कुराता-सा मालूम पड़ता था। उसकी ज्योत्स्ना सीधे मेरे मस्तक पर टकराती थी। एक चाँद तो आकाश में बादलों से आँख-मिचौनी कर रहा था, दूसरा पोखरे के जल में, उसकी तरंगों से, लुकाछिपी खेल रहा था। हवा शान्त होते ही वह जल-तल में अचल समाधि लगाये योगी का स्वाँग बनाना ही चाहता था कि ज़रा-सा खटका पाते ही तरंगें उसे झकझोर डालती थीं। वह खिलखिला पड़ता था—इतना कि थर-थर काँपने लगता था ; काँपता और हँसता भी! उसकी हँसी से टकराकर जल की एक-एक बूंद चमचमा उठती थी। समूचा तालाव चमचम करने लगता था।

इस दृश्य ने मेरे मस्तिष्क को कुछ एकाग्र किया। हवा के ठंढे झोंके मानों दवा का काम कर गये—अंगड़ाई और जम्हाई साथ-साथ आई। आँखें झिपने के लिए अनुरोध करने लगीं। मैं वहीं कब लुढ़क गया, मालूम नहीं! जब जगा, तो कान में 'राम राम, राधाकृष्ण राधाकृष्ण', के उच्च शब्द सुन पड़े। शायद इन्हीं शब्दों के चलते मेरी नींद भी उचट गई थी। मुझे मालूम हो गया, मेरे गाँव का वह अध-पगला प्रातःस्नान करने आया है। मैं झटपट उठा, लोटा उठाया और तेज़ कदम से घर चला। रास्ते भर सोचता जाता था कि कहीं माँ की नींद टूट गई हो ; तब बड़ा अनर्थ हो गया होगा! मुझे न पाकर न मालूम क्या-क्या कल्पना उसने कर ली हो और न-जाने किस हालत में हो? किन्तु यहाँ माँ को सोया पाया। माँ यों तो बहुत सवेरे उठ जाती थीं, पर, न-जाने किस सबब से, वह आज अभी तक सोई हुई थीं। हो सकता है, इधर कुछ दिनों से, इन हलचलों के कारण, उन्हें रात में अच्छी नींद नहीं आई हो और आज मेरी प्रतिज्ञा पर विश्वास कर वह निश्चिन्तता की नींद ले रही हों।

८—ठन कर रही

कल मैं अपने उस खेत की ओर नहीं गया। मातृ-प्रेम की आप इसे विजय कह सकते हैं। मित्र के अनुरोध की रक्षा भी हो गई—शाम को मैं उस लौंडे से भी प्रतिज्ञा कर चुका था न! किन्तु, जब मैं यह कहूँ कि पिअरिया के प्रेम के कारण ही मैं उस ओर नहीं गया और इसमें यथार्थ विजय पिअरिया की थी, तो शायद इस बात को मान लेने में आप हिचकिचायँगे। अपने ऊपर आई मुसीबत को तो मैं जैसे-तैसे झेल लूँगा,

मैं मर्द ठहरा; किन्तु यदि कोई घटना घटी, तो पिअरिया की क्या दशा होगी, इसकी कल्पना ने मुझे विचलित कर दिया था ! अच्छी बात हो कि आँधी को टल जाने दिया जाय ।

उसी शाम को मोहन से मालूम हुआ कि आज पिअरिया भी खेत नहीं गई थी। किन्तु उसके नहीं जाने का कारण कुछ दूसरा ही था। यथार्थतः उसे जाने से मना कर दिया गया था। पिता ने कहा था—'अगर खेत की ओर गई, तो पैर तोड़ डालूंगा ।' और, उसके उस चचेरे भाई ने उसके सुर-में सुर मिलाते हुए उसमें इतना और जोड़ दिया था—'और, उस साले का भी सिर तोड़ दिया जायगा !'

मुझे इस व्यक्ति के ऊपर बड़ी हँसी आती थी। यह खुद परले सिरे का कामुक था—व्यभिचार-परायण। यह पिअरिया पर भी बुरी निगाह रखता था। एक दिन तो इसने घृणित प्रस्ताव तक उससे किया था, जैसा कि मुझसे पिअरिया ने ही दबी ज़बान इशारतन कहा था। फिर भी यह पिअरिया के पिता के नज़दीक सुर्खरू बना हुआ था और अपने को पिअरिया के धर्म-रक्षक रूप में साबित करता था। ओह ! कैसे-कैसे मक्कार हमारे समाज में पड़े हुए हैं !

खैर, यह जानकर मुझे प्रसन्नता ही हुई कि पिअरिया ने खेत जाना बंद कर दिया है। मैंने निश्चिन्तता का अनुभव किया और दूसरे दिन उस ओर, अपने खेत में, गया। दूसरे दिन, तीसरे दिन और चौथे दिन भी। इन चार दिनों में पिअरिया के दर्शन भी नहीं हुए। यह कहने में तो बड़ा सरल है कि पिअरिया के दर्शन भी नहीं हुए ; किन्तु इस अदर्शन का क्या अर्थ था, मैं ही जानता हूँ। संसार मेरे लिए सूना था—निरानन्द, निर्जीव, निस्पन्द। वे ही चारों ओर हरे-भरे खेत थे, जिनमें तोते-तूतियाँ किलोल कर रहीं थीं; हवा के झोंके से उस हरे समुद्र में वैसी ही नेत्ररंजक तरंग-राशियाँ पैदा होती थीं ; आकाश में वैसे ही बादल घिरते, झीसी-फुही होती, इन्द्रधनुष उगता ; आम की डालियों पर बैठ कर पपीहा वैसी ही पुकारती; किन्तु इनमें वह आकर्षण नहीं था, आनन्द नहीं था — मालूम होता, इनके प्राण उड़ गये हैं, खाली ठठरी पड़ी हुई है ! हाँ, इनके प्राण उड़ गये हैं—इनके प्राण किसमें निहित थे ? जैसे चारों ओर से ध्वनि होने लगती—पिअरिया, पियारी, प्यारी !

मैं एक निष्काम योगी-सा घर का काम-धाम किया करता। अब मुझे निष्काम कर्म का रहस्य मालूम पड़ा। निष्काम होने की तह में छिपा है घोर निराशावाद ! अपनी सारी आशाओं को ध्वस्तप्राय होते

देख दो ही उपाय रह जाते हैं ; या तो डोरी पर झूल जाइये, आत्महत्या कर लीजिये; या संसार को क्षणभंगुर समझकर उससे उदासीन हो जाइये और 'निष्काम' कर्म करते जाइये। कोई भी तत्त्वदर्शी कह सकेगा कि पहले का ही दूसरा नाम है वीरता और दूसरे का ही कायरता! किन्तु हमारे देश में तो कायरता ही वीरता के नाम से विकती है।

ख़ैर, यों ही, जैसे-तैसे, ये तीन-चार दिन काट डाले। कभी-कभी आत्महत्या के लिए भी प्रेरणा मिलती; किन्तु माँ की असहायावस्था और पिअरिया की प्रेमपरता की याद आते ही उसे वरवस टाल देना पड़ता। अब भी आशा की एक झलक बाक़ी थी। यह आँधी शीघ्र ही टल जायगी और हम दोनों पुनः पहले की स्वच्छन्दता प्राप्त कर सकेंगे, इसकी एक क्षीण आशा अब भी जीवित थी। मैं उसे पोसे जा रहा था।

एक दिन एक विचार और आया। क्यों न मैं पिअरिया को लेकर यहाँ से चल दूँ? मेरे पास यहाँ सम्पत्ति ही क्या धरी है, जो इस गाँव के छोड़ने में दिक्कत हो? माँ की बात रही। सो, यदि मैं ज़ोर डालूँ, तो शायद माँ भी पीछे से मेरा साथ देने को तैयार हो जायँ। किन्तु इसमें तो मुझे और भी कायरता दीख पड़ी। कल से गाँव के लोग क्या-क्या कहकर मेरी मखौल उड़ायँगे, मुझे गालियाँ देंगे! इसकी कल्पना मात्र से ही मैं काँप उठा। सबसे बढ़कर पिअरिया के उस पाजी चचेरे भाई की याद ने मुझे विचलित कर दिया। वह कल से किस तरह मूँछ पर ताव देकर चलेगा। वह पापियों का सरताज कल से विजय-छत्र सिर पर दिये चलेगा, यह मैं नहीं होने दूँगा। जो होना होगा, होगा; मैं यहीं रहूँगा। रह-रहकर मन में एक उमंग उठती। कोई ऐसा मौक़ा मिल जाय, जिसमें उससे मेरी गुत्थमगुत्थी हो, तो छठी के दूध की याद उसे करा दूँ। देह में दम नहीं, मुट्ठी में दाब दूँ तो भुरता हो जाय; किन्तु, शेखी बघारता फिरता है।

दूसरे ही दिन ऐसा मौक़ा मिल गया। और, इसी मौक़े के चलते आज आपसे यह कहानी सुनाने का मौक़ा भी मिला है बाबू।

मैं अपने खेत की आरी पर हँसुए से घास काट रहा था—बड़ी अच्छी घास उग आई थी। घास काटने में मैं तल्लीन-सा था कि पीछे से किसीने चुपके-चुपके आकर मेरी आँखें मूँद लीं। यह कर-स्पर्श परिचित था! मैं सिहर उठा—शरीर के रोम-रोम जैसे फूल उठे हों! जिसकी आशंका थी, वही हुआ। कहीं बिजली बाँध कर रखी जा सकती

है ? पिअरिया और बंधन—दोनों दो ध्रुव की चीज़ ! वह न-जाने किस तरह कतरिया कर मेरे निकट पहुँच ही गई।

एक क्षण तक मैं स्तम्भित-सा रहा। फिर मनोभावों के तूफान में उड़ चला। शायद ज़बर्दस्ती, खींच कर, मैं उसके कपोलों को चूम रहा था कि कानों में एक कर्कश शब्द सुन पड़ा —'मारो साले को' !

'मारो साले को'—यह कह रहा था पिअरिया का वही पाजी पापी भाई। पिअरिया के पिता भी थे। दो एक आदमी और भी थे। सबके हाथों में लाठियाँ थीं ! मैं स्थिति की भयंकरता ताड़ गया। इधर मैं भी कुछ सावधान-सा रहता था। मेरी लाठी निकट ही थी—वह तेल से पोसी गई, लाल-टेस, बाँस-कुमारी ! झट हाथ में ले ली और कूद कर चार-पाँच डग पीछे आकर खड़ा होगया ! मेरे हाथ में लाल लाठी थी, आँखों की अनुरागलालिमा क्रोध की लाली में परिणत हो गई थी। मैंने कहा—'अब चले; पहले तुम्हीं लोग चलाओ।' किन्तु मेरी इस रुद्र मूर्त्ति को देखकर शायद वे लोग स्तम्भित रह गये। बीच में पिअरिया सिर गाड़े हुए बैठी थी। देखता क्या हूँ—वह पाजी झपटता हुआ पिअरिया की ओर आ रहा है। लजानी बिल्ली खम्भा नोचती है। शायद वह अपनी वीरता अब पिअरिया पर निकालना चाहता था। बात भी यही थी। मैंने ललकार कर कहा—'ख़बरदार, इसकी देह छूना मत।' वह बोला—"मैं इसे पीटूँगा, तुम्हारा इसमें क्या लगता है ? मेरी बहिन है, मैं इसे तदारुक दूँगा !' मैंने कहा —'तदारुक का भाई बना है ; पाजी, हरामी कहीं का ; अलग रह, नहीं तो देख इस दुख-भंजन को; सिर तोड़ दूँगा !' वह लाल-पीला हो गया। एक बार पिअरिया के पिता और अपने साथियों की ओर देखा, फिर, जैसे उन्हें आगे बढ़ने का निमंत्रण देते हुए लपका और पिअरिया के बाल पकड़कर इस ज़ोर से अपनी ओर खींचा कि वह ज़मीन पर पट हो रही। किन्तु, उसके मुँह से एक चीख भी नहीं निकली ! शायद वह लाज से गड़ी जा रही थी ! किन्तु वह चीखे या नहीं, यह मेरे लिए देखना असम्भव था कि मेरे ही सामने, मेरे जीते जी, मेरी ही आँखों के आगे, कोई पिअरिया का ऐसा अपमान करे। मैं बिजली-सा टूटा और उसकी गर्दन पकड़कर इस ज़ोर का झटका दिया कि वह मुँह के बल जा गिरा और शायद कुछ देर के लिए बेहोश भी हो गया। उसके साथी अब कैसे चुप रह सकते थे ? उनलोगों ने मुझपर तड़ातड़ लाठियाँ बरसानी शुरू कर दीं। मैंने भी जवाब देना शुरू किया। किन्तु एक विचित्र बात थी कि पिअरिया के पिता अपनी जगह पर जैसे-के-तैसे खड़े थे। वह इस तरह

हक्का-वक्का थे, जैसे पागल हो गये हों। मैं भी उनकी ओर नहीं झुका।

दो-चार हाथ चलने के बाद ही खून की धारायें चलने लगीं। मेरे सिर से भी खून टपक रहा था, उन लोगों के भी। अब पिअरिया पुक्की फाड़कर रोने लगी और दौड़कर पिता के चरणों में लिपट गई। इतने में ही तो कुहराम मच गया। चारों ओर से लोग दौड़ आये। कुछ लोग तो लड़ाई में शामिल हो गये—कुछ लोग मेरी ओर, कुछ प्रति-पक्षियों की ओर। किन्तु बहुत-से लोग इस मारपीट को शान्त करने की चेष्टा में लगे। उन्हीं लोगों के चलते कुछ देर में शान्ति हुई। मैं तो अब तक बेहोश-सा लाठियाँ भाँज रहा था। जब सुस्थ हुआ, तो मालूम हुआ कि एक लाठी की मार से मेरा मस्तक थोड़ा फट-सा गया है जिससे खून लगातार आ रहा है। उधर भी कई लोग घायल हुए थे किन्तु वह पाजी, पिअरिया का भाई, तो बेहोश था। एक ऐसी लाठी, संभवत मेरे ही हाथों से, उसे लगी थी कि उसकी खोपड़ी चूर हो गई थी।

इस होहल्ला में मोहन भी आ पहुँचा था और इस मारपीट की शान्ति में बड़ी चेष्टा की थी। वहीं मुझे लिये-दिये घर आया। मारपीट की चर्चा सुन माँ भी मालिक के घर से दौड़ी-दौड़ी आ गई थीं। वह मेरे शरीर को खून से लथपथ देखकर फफक-फफक कर रोने लगीं। रोती थीं और पिअरिया का नाम लेकर गालियाँ भी बकती जाती थीं। मुझे बहुत बुरा मालूम हो रहा था, किन्तु उन्हें मना भी क्या कह कर किया जा सकता था? एक तो मस्तक की पीड़ा, दूसरी यह कलेजे की पीड़ा! खून पीकर दोनों को सह रहा था। मेरे चुलबुले दोस्त ने खून धो दिया; माँ बकझक कर दवादारू पर उतारू हुई। जिसने जो बताया, लेपने लगी। शरीर पर भी कई लाठियाँ लगी थीं। अतः पीड़ा अत्यधिक थी। पीड़ा कम हो जाय और नींद आ जाय, इसके लिए मुझे खूब भंग पिला दी गई। भंग छान, थोड़ा गरम दूध पी, मैं सो गया।

उस दिन माँ ने कितना प्रेम प्रदर्शित किया था। पहले तो बहुत बकी-झकी थीं, किन्तु पीछे कितनी गम्भीर बन गई थीं! सब प्रकार की दवादारू कर, बहुत ही आग्रह और प्रेम से गरम-गरम थोड़ा दूध पिलाकर, मुझे गोद में सटाकर सो गई। ज़रा भी बोलती नहीं थीं, हाँ, वह खूब रो रही थीं, इसका ज्ञान उस भंग के नशे में भी मुझे था।

और, वह सोना उस गोद में, उस कुटिया में, उस गाँव में, नहीं, उस दुनिया में मेरा अन्तिम सोना था! आह रे वह सोना! आह री वह रात!

क्योंकि, मेरी नींद तब टूटी, जब दरवाज़े पर किसीने बड़े ज़ोर से धक्का दिया और जब तक माँ घर का द्वार खोले-खोले, तब तक बाहर से फाटक तोड़ कर कई लट्ठधारी पुलिस के जवान मेरे घर में घुस आये और मुझे गिरफ्तार कर लिया ! माँ कुछ समझ न सकीं। वह चीख़ पड़ीं ! दौड़कर मुझे पकड़ने को बढ़ी ही थीं कि एक पुलिस के धक्के से वह दूर जा गिरीं । मेरी आँखों में खून उतर आया ! किन्तु इतने ही में मेरी गर्दन पर भी एक ज़बर्दस्त धौल इन शुभ शब्दों के साथ पड़ी —'चल, साले, गुर्राता क्या है रे ?' देखते-देखते मेरे हाथों में कड़ियाँ थीं, कमर में मोटा रस्सा और चारो ओर से लाल पगड़ी-वालों से घिरा मैं थाने की ओर ले जाया जा रहा था । माँ शायद उस झटके पर ही बेहोश हो गई थीं, क्योंकि फिर उनकी हलचल नहीं मालूम हुई । अच्छा ही हुआ !

९–पिअरिया ! पिअरिया !

मैं जेल पहुँचा। उसी जेल में, जिसको आपलोग, बाबूजी, तपोभूमि कहते हैं । हाँ, आपलोग इसे तपोभूमि कह सकते हैं; किन्तु मेरे-जैसा आदमी जिसने यहाँ के नारकीय दृश्य देखे हैं, तप ऐसे पवित्र शब्द का सम्बन्ध इस नरक-भूमि से जोड़ नहीं सकता !

मुक़द्दमा चला। मालूम हुआ, मुझपर 'रेप केस' चलाया जा रहा है। ज़मानत भी मंज़ूर नहीं हुई। मुझपर अभियोग था कि पिअरिया नामक एक कमसिन लड़की से मैं ज़बर्दस्ती दुराचार कर रहा था ; वह चिल्लाई, उसका चिल्लाना सुन लोग दौड़े, तब मैंने लाठियाँ चलाकर कितनों को घायल कर दिया, जिनमें से एक की मार बड़ी ही संगीन है, वह शायद ही बचे। संगीन चोट है, यह सुनकर मुझे खूब खुशी हुई ! शायद ही बचे ! वह मर जाय, तो मैं फाँसी पर भी खुशी-खुशी झूल जाऊँ । और, हाँ, पिअरिया नामक एक कमसिन लड़की से ज़बर्दस्ती दुराचार ! वह चिल्लाई ! ! खूब ! यही देखना है कि पिअरिया अपनी गवाही में क्या कहती है ? क्योंकि इस मुकदमे में पिअरिया की गवाही ज़रूर होगी, एक गँवार आदमी होते हुए भी मैं इतना भली-भाँति समझ सकता था।

हाँ, मैं यह सुनने को उत्सुक था कि पिअरिया की क्या गवाही होती है । क्या पिअरिया मेरे खिलाफ़ गवाही देने आयगी ? क्या वह कहेगी

कि मैंने उससे ज़बर्दस्ती की ?—यही कौतूहल था। जेल के भीतर आने पर कितनी ही बातें याद आतीं, माँ की याद तो रुला-रुला मारती ; किन्तु इस कौतूहल के कारण ये सब बातें तले पड़ जातीं। जेल का वह अभक्ष्य भोजन, वार्डरों का वह यमदूती व्यवहार, रास्ते में सिपाहियों का वह हुँरपेटा—किन्तु इन सबपर भी वह कौतूहल बढ़ कर था। जिस दिन यह मालूम हुआ कि पिअरिया की गवाही होगी, उस रात में नींद नहीं आई। रात-भर पिअरिया आँखों के सामने नाचती रही ।

जब तक प्रेम-पात्र सामने रहता है, उसकी खूबी और खराबी हमारी आँखों में उतनी नहीं चढ़ती। हमपर एक प्रकार की मुह्यता, मुग्धता सवार रहती है, जिसका केवल एक ही तकाज़ा होता है—मैं उसे देखा करूँ और वह मुझे देखा करे । किन्तु, जब किसी कारण-वश बीच में अन्तराल आ जाता है, जब कोई घटना दोनों को दो विपरीत दिशाओं में फेंक देती है, तब सिंहावलोकन करने की प्रवृत्ति जाग उठती है—हम अपने प्रेम-पात्र की एक-एक बात, उसके सम्बन्ध की एक एक घटना, उसके अंगों की एक-एक हलचल का विश्लेषण करने लगते हैं। किन्तु एक विचित्र बात है ! वह विश्लेषण संहारात्मक न होकर रचनात्मक होता है—यानी इस विश्लेषण के द्वारा हम अपने प्रेम-पात्र की खराबियों का उतना पता नहीं पाते, जितना उसकी खूबियों का। यहाँ तक कि ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, केवल खूबियाँ-ही-खूबियाँ निखरने लगती हैं। समय की आग खोटेपन को भस्मीभूत कर हमारे प्रेम-पात्र को खरा सोना-सा हमारी आँखों कें सामने चमका देती है ।

ठीक यही बात थी। इधर मेरे चिंतन का एक ही विषय था—वह थी पिअरिया। पिअरिया ही नहीं, उसकी खूबियाँ ! उसकी बचपन से लेकर आज तक की जीवनी पर दृष्टि डाली; उसके जीवन की जितनी घटनायें याद थीं, सबका विश्लेषण किया। कहीं भी, थोड़ी-सी भी, बुराई नज़र नहीं आई। उसकी खूबियाँ-ही-खूबियाँ नज़र आईं। फिर वही पिअरिया कल मेरे खिलाफ़ गवाही देगी—भरी अदालत में, इतने लोगों के सामने ? क्या यह सम्भव है ? किन्तु संसार में कितनी ही असम्भव बातें सम्भव हो जाती हैं। हुआ करें ! पिअरिया ऐसा नहीं करेगी, हर्गिज नहीं। तो, फिर, उसका नाम गवाह में क्यों दिया गया है ? क्या कोई दूसरी दफ़ा मुझपर नहीं लगाई जा सकती थी ? मारपीट

भी तो हुई थी। क्या यही कई वर्षों के लिए मुझे जेल में डाल रखने के लिए काफ़ी नहीं थी? 'रेपकेस' चलाया है, तो निस्संदेह पिअरिया की सहमति से ही। पिअरिया ...पिअरिया....तू क्या हो गई है ? पिअरिया....पिअरिया.......

इन्हीं बातों को सोचते हुए, आँखें मूंद, मैं वार्ड में अपने कम्बल पर लेटा पड़ा था कि जमादार साहब के बूट गरज उठे, फाटक पर ताली झनझना उठी ! भोर हो गई थी। मेरे लिए यही अच्छा था।

निश्चित समय पर मैं अदालत में लाया गया और कठघरे में खड़ा कर दिया गया। मेरी उत्सुक आँखें पिअरिया को ढूँढ़ने लगीं। पिअरिया के बाबूजी सिर नीचा किये एक ओर खड़े थे। वह पिअरिया का भाई बननेवाला हरामी भी था—उसके सिर में अभी तक पट्टी बँधी थी। मैं खूब खुश हुआ। मेरी ओर देखते ही वह मूँछों पर ताव देने लगा—मैं इससे जला नहीं, मुझे हँसी आ गई। इसमें कितनी कायरता भरी थी। छिः ! शत्रु को बेबस फँसा जान कर इठलाना—इससे बढ़ कर कायरता तो शायद ही दुनिया में कोई हो ! मैंने उसकी ओर तब से आँख भी नहीं उठाई,—जब कभी अकस्मात् नज़र जाती, मैं हँस देता, वह कट मरता।

इतने ही में पिअरिया की पुकार हुई। रेपकेस का मुक़द्दमा बड़ा ही दिलचस्प समझा जाता है। उस दिन अदालत के कमरे ठसाठस भरे होते हैं। हम कितने कामी हैं, यह इसका सूचक है। हम अपनी काम-वासना को अस्वाभाविक रूप में दबाये रहते हैं, फलतः वह जहाँ-कहीं भी थोड़ी-सी सुराख़ पाती है, निकल भागकर हमारा भंडाफोड़ कर देती है। रंडियों के नाच में इतनी भीड़ क्यों होती है? आशिक-माशूक की ग़ज़लें हम क्यों गुनगुनाते रहते हैं? रेपकेस की कहानी हमें क्यों प्रिय लगती है? सबका एक ही उत्तर है—क्योंकि हम काम के गुलाम हैं। ऊपर से अपने शरीर में चंदन या लवेण्डर लगाये रहते हैं, भीतर उसमें काम-वासना की गन्दी नाली बहती रहती है, जो अस्वाभाविक अवरोध पाकर इस तरह सड़ जाती है कि दुर्गन्ध से नाक फट जाय। रेपकेस के मुकदमे की भीड़ एक और घृणित मनोवृत्ति का सूचक है। हममें इतना पतितपना अभी बना हुआ है कि दूसरे की इज़्ज़त से अपना मनोरंजन करने में हमें शर्म नहीं आती। ऐसे ही पतितों और बेशर्म लोगों से अदालत का कमरा भरा हुआ था। पिअरिया की पुकार होते ही, सबकी आँखें चमक उठीं—उत्सुकता से और आनन्द से भी !

शिकार को देख कर शिकारी को आनन्द-विह्वल होना ही चाहिए। किन्तु मेरी हालत विचित्र थी। मैं उस मनोभाव का वर्णन कर नहीं सकता। मालूम होता था, शरीर की सभी क्रियाओं—रक्त संचालन, हृदय की धड़कन, श्वास-प्रश्वास—में एक प्रकार की उथल-पुथल मच गई है! मैं खड़ा था, देख रहा था, तो भी संज्ञाशून्य था।

एक लड़की ने कमरे में प्रवेश किया। दर्शकों के हृदय खिल उठे। मैं आश्चर्य-चकित रह गया! यह तो पिअरिया की चचेरी वहन थी। क्या यह भी गवाही देगी? इसका क्या प्रयोजन यहाँ? गवाही शुरू हुई। पूछा गया — तुम्हारा नाम?

'मेरा नाम पिअरिया।'

'पिअरिया!' मैं चिल्ला उठा। सब लोग मेरे मुँह की ओर देखने लगे। मैं समझ गया—पिअरिया के राज़ी नहीं होने पर इनलोगों ने दूसरी लड़की को उसके नाम पर अदालत में घसीटा है! पिअरिया! वाह पिअरिया!! तुमने मेरे मुँह की लाली रख लीं। मैंने मुस्कुराते हुए पूछा—

'ओहो, तुम्हीं मेरी पिअरिया हो?' और खूब ज़ोर से ठठा उठा!

मैजिस्ट्रेट ने क्रोध भरी मुद्रा में मेरी ओर देखा—शायद इस गुस्ताखी पर! मुद्दई के वकील धड़ल्ले से अँगरेजी में दाँत-किट-किट करने लगे। पेशकार को कुछ हुक्म हुआ। उसने मुझसे कहा—'ख़बरदार, अब बीच में कुछ बोलोगे या हँसोगे, तो सज़ा होगी। तुम्हारी ख्वाहिश हो, तो, आख़िर में ज़िरह करना।'

ज़िरह करे मेरी बला। मैं तो जीत गया था। पिअरिया ने मेरे मुँह की लाली रख ली—अब दो न जितनी सज़ा चाहो!

तबसे मैं मस्त रहता। बहुत दिनों तक जेल से अदालत, अदालत से जेल होता रहा। मैं आता-जाता। एक-एक करके गवाहियाँ गुज़रतीं। वे क्या-क्या कहते? न मुझे सफाई पेश करनी थी, न वकील किया था। मस्त था—क्योंकि मेरी पिअरिया ने मेरे मुँह की लाली रख ली थी। वाह री मेरी पिअरिया!

अब, जज के निकट, सेशन में मुक़द्दमा चल रहा था। एक दिन जेल में खबर हुई, एक मुलाकाती आये हैं। मैं चकित हुआ। भला कौन मुझ व्यभिचारी से मिलने आवेगा? देखा, वही, मोहन है — जिसने

पहले दिन मुझसे दिल्लगी की थी ; बीच में एक दिन समझाया था ; अन्तिम दिन टाँग-टूँग कर घर पर पहुँचाया था। आते ही वह रोने लगा--किन्तु मैं तो हँस रहा था । वह चकित हुआ। मैंने ही उसे ढाढ़स दिया । ख़ैर, रोते-ही-रोते उसने यह बतलाया कि मेरी माँ मर गईं— जिस दिन मैं आया उसी दिन से बीमार हुईं और मेरा नाम लेते-लेते चल बसीं ! इस समाचार से मुझे और भी खुशी हुई—एक यही चिन्ता थी, वह भी दूर हुई । मैं ठहाका मार कर हँसने लगा। वह मेरी ओर चकित होकर देखता था । अन्त में उसने कहा —

'मरते समय, भैया, आपकी माँ ने मुझे बुलाकर एक जगह बतलाई, जहाँ से खोदने पर एक काँसे के लोटे में ५००) निकले । इन रुपयों को उन्होंने आपकी पत्नी के लिए बचा रखा था। उन्होंने मुझे आदेश दिया है कि इन रुपयों से मैं आपके लिए एक अच्छा वकील करके मुकदमा लड़ूँ । खैर, वह तो चली गईं। अब हमलोगों की राय है कि मुकदमा ज़रूर लड़ा जाय —क्योंकि यह शुरू से आख़िर तक झूठा मुकदमा है । गाँव के कुछ लोग कहने को तैयार हैं कि यह पिअरिया नकली है।'

मुझे जैसे याद हो आई; मैंने पूछा—'अच्छा, पिअरिया कहाँ है?'

उसकी आँखें एक बार और सजल हो गईं। उसने कहा—पता नहीं, कहाँ है? उसी दिन वह घर से निकल गई, न जाने कहाँ गई? हाँ, अपने गाँव के कुछ लोग जब जनकपुर मेला जा रहे थे, तो उन्होंने एक वैसी ही लड़की देखी थी—वह चिथड़ा लपेटे, पगली सी....'

इतना कहते-कहते वह रुक गया—जैसे उसका दम घुँट रहा हो। फिर वह बोला—.....'वह जब तब मनोहर भैया—मनोहर भैया' कहकर चिल्लाती थी !

मैं तो सन्न हो गया। दूसरे ही क्षण मेरी आँखों से अविरल अश्रु-धारा चल रही थी। रोते-रोते मेरी हिचकी बँध गई। तब तक मुलाक़ात का समय भी पूरा हो गया था। जमादार साहब ने कहा—'अब रोना धोना ख़तम करो, समय हो ग़या।' मैं कुछ चैतन्य हुआ। मैंने मोहन से कहा—'हाँ, हाँ तुम जाओ। मेरे लिए चिन्ता मत करो। मेरे लिए वकील या पैरवी की ज़रूरत नहीं। यदि मैं बाहर जाऊँगा, मैं भी पागल हो जाऊँगा। मैं पागलपन का सुख भोगना नहीं चाहता। पिअरिया—पिअरिया ! मैं उसके नाम पर कुछ दिन एकान्त में धूनी रमाना

चाहता हूँ! जेल से बढ़कर एकान्त स्थान कहाँ? हाँ, ये रुपये—सो इन्हें तुम हिफ़ाज़त से रखना। जब मैं छूटकर आऊँगा—इसीसे एक मन्दिर बनवा दूँगा..............'

वह रोता-धोता चला गया। मैं हँसता -रोता अपने वार्ड में आया! हँस रहा था, अपने भाग्य पर; रो रहा था—पिअरिया के लिए! मैया!—उनके नाम पर भी आँसू की कुछ कम बूँदें नहीं गिर रही थीं। आह! बेचारी को कितना कष्ट हुआ। मेरे ही लिए उन्होंने अपनी भरी-जवानी ख़राब की; फिर भी मैंने उन्हें धोखा दिया! बेचारी मर न जाय, तो क्या करे? ऐसा बड़ा सदमा किसी भी आदमी को मारने के लिए काफ़ी है!

भीतरी झाँकी

१—यह पाषाण-पुरी

यह पाषाण-पुरी !

पत्थर के बड़े-बड़े ढोंकों से बनी ये ऊँची दीवारें—बेडौल, बद-शकल; कुरूप, घिनौनी ।

जोड़ों पर सिमेंट की टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें, जो ज़माने के थपेड़ों से काली-काली बन गई हैं—ये काली नागिनें !

पत्थर की दीवारों पर काली नागिनें ससर रही हों , मानों ।

पत्थर के ढोंके आत्माओं को कुचल रहे हैं; ये नागिनें कुचली आत्माओं को डँस रही हैं।

जहाँ देखिये, पत्थर-पत्थर —नागिनें, नागिनें !

इन पत्थरों ने यहाँ की हर चीज़ को पत्थर बना डाला है; इन नागिनों ने हर जीव को मूर्च्छित और बेदम बना रखा है !

यहाँ न आप कोमलता पा सकते हैं, न प्राण पा सकते हैं, बाबू !

पत्थर की दीवारों में एक ही दरवाज़ा—इस्पात का !

इस्पात ने आपको भीतर किया; पत्थर ने चारों ओर से घेर लिया !

जब पहले-पहल आया और एक भीषण चीत्कार के साथ यह दरवाज़ा खुला, मालूम हुआ, मानों नरक ने अपना मुँह खोला हो।

जहाँ नरक, वहाँ यमदूत भी !

कौन कहता है, ये आदमी हैं !

ये पत्थर की दीवारें क़ैदियों को ही आदमी नहीं रहने देतीं, ऐसी बात नहीं है। क़ैदियों से पहले तो वार्डरों, जमादारों, जेलरों की इन्सानियत ख़त्म करतीं हैं ये ।

शिकारी पहले मरता है, शिकार तो बाद में !

एक का शरीर मरता है; दूसरे की आत्मा मर चुकी होती है !

अभी वह पहला दिन नहीं भूला, जब मैं इस पाषाण-पुरी में लाया गया था !

हाथ में लोहे की कड़ियाँ थीं; कमर में सूते का मोटा रस्सा था। उस रस्से को एक सिपाही पकड़े था—दूसरा उसकी बग़ल में चल रहा था।

थानेदार ने कह दिया था, मैं बड़ा ही दबंग असामी हूँ।

तेज़ी से चलता था, तो थप्पड़ लगते थे—साले, भागना चाहते हो ! धीरे चलता था, तो कुन्दे का हुँरपेंटा लगता था—'साले, पैर नहीं उठ रहे हैं !' 'कैसा मज़ा किया होगा, उस छोकड़ी के साथ !'

क्या इसके बाद भी मैं होश में रह सकता था ? मैंने घूमकर सिपाही की ओर देखा—घूमकर, घूरकर। क्या मेरी आँखों में कुछ था ? उसने कहा—'तुम्हारी आँखों में कुछ देख रहा हूँ—भलेआदमी की तरह सीधे चल, नहीं तो देख यह संगीन !'

संगीन—सिपाही के कंधे पर संगीन चम-चम कर रही थी !

मोहन ने कहा था—'भैया, तुम्हें पिअरिया की क़सम, थाने या जेल में क़ोई ऊधम नहीं करना।'

संगीन की नोंक में मैंने पिअरिया की क़सम पढ़ी !

फिर चलने लगा ! जेल आया, फाटक खुला।

'ओ चौड़ी छातीवाला, सिर नीचा कर के चल, नीचा करके। यह ससुराल नहीं है !'

वह जमादार बोल रहा था—वही जमादार, जो आपलोगों के आगे दुम हिलाता फिरता है ! और, मुझे आपलोगों के साथ देखकर आज भी दाँत पीसता है !

यह ससुराल नहीं है ; क्या यह कहने की बात थी ? और, यह ससुराल होती, तो जमादार साहब से मेरा क्या रिश्ता होता, बाबू ? किन्तु अगर शादी में मेरी ज़रा भी सुनी जाती, तो क्या मैं कोई भी सम्बन्ध उससे जोड़ सकता था ?

मैंने घूमकर उसे एक बार अच्छी तरह देख लेना चाहा !

आज भी याद है सूरत ! सिर पर लाल पगड़ी—मालूम होता था, तुरत-तुरत ख़ून से रँगी गई है। चेहरे पर सबसे नुमायाँ सघन काली

मूछें, जिनकी नोकें बरछी-सी तनीं—कितने खून कर चुकी हैं ये नुकीली बर्छियाँ ! ललाट पर, ऐसा लगता था, सिर्फ भौहें ही भौहें हैं, जिनके नीचे, खड्ड में छोटी-छोटी जलती आँखें—मानों, किसी दरार में दो अंगारे धधक रहे हों ! चिपटी नाक—भद्दी; उभड़े होंठ, जिन्हें देख कर ही उकबाई आये। बाबू, मैं सात जनम में भी उसे अपना ससुर नहीं बना सकता था !

मैंने सिर मोड़ा ही था कि पीछे के क़ैदी ने कहा—'क्या देखते हो, आगे बढ़ो।' वह अनुभवी था, उसने पीछे चलकर मेरी बड़ी मदद की !

और ये पाषाण-पुरी के सुन्दर प्रकोष्ठ !

ईंट के बने, चूने से पुते। ऐसा मकान साधारण आदमियों को ज़िन्दगी में कहाँ नसीब होता है, बाबू !

भीतर कत्तार में ऊँचे चबूतरे बने। एक चबूतरा मेरे हिस्से का हुआ। एक टाट, तीन कम्बल। टाट को मुलायम बनाने के लिए एक कम्बल उसपर डाल दीजिए; एक कम्बल का तकिया बना लीजिए, और एक, जाड़ा लगने पर ओढ़ लीजिएगा ! ओहो, है तो ससुराली का ठाठ ! पलंग की जगह चबूतरा, तोशक की जगह टाट, रज़ाई की जगह कम्बल ! एक कसर—सो कभी जमादार साहब पूरी कर ही देंगे; मैं मन ही मन मुस्कराया !

शाम होने को थी। घंटी बजी। खाना आ रहा है।

लोहे के दो तसले मेरे सामने रख दिये गये। एक बड़ा, दूसरा छोटा। बड़े में खाइये, छोटे में पीजिए ! खाइए—बिहारी डैट ! दिन में भात, रात में रोटी ! ये रोटियाँ—काली—काली। क्या मँहुवे की हैं ? गेहूँ की हैं, गेहूँ की ! गेहूँ की रोटी, और ऐसी काली ? किन्तु, यह घर नहीं है कि माँ से सवाल-जवाब कीजिएगा। खाइए। खाइए और समझिए।

मुँह में रखी। घुन की गंध, मिट्टी का स्वाद, कंकड़ की किचकिच। इसे निगला जाय तो कैसे ? ज़रा तरकारी मुँह में डाल लीजिए। तरकारी—सामने के सेंमल के पेड़ में फूल लगे थे। फूल की तरकारी, सेंमल के फूल की। सेंमल के फूल—डालों से तोड़े, गँड़ासे से काटे, बड़े कड़ाह में विशुद्ध पानी में उबाले गये। और, ऊपर से नमक छोड़ दिया। सेंमल के फूल—कलेजे की तरह लाल-लाल ! गुस्से में किसीका कलेजा आप खा जा सकते हैं; किन्तु क्या मजाल

कि पहली वार सेंमल के फूल की इस तरकारी को ज़वान पर ले जाकर आप न थूक दें !

'खाओ भैया, खाओ ! एक दिन की नहीं है; न-जाने कव तक.....'

यह नन्हकू था ! वही, जो मेरे पीछे आ रहा था। अनुभवी—चतुर ! किन्तु क्या मैं खा सकता था ?

रात में पेट में हाहाकार था ही —गिनती का हाहाकार समूची पाषाण-पुरी को तरंगित कर गया !

एक-दो-तीन-चार; पाँच-छः-सात-आठ ....

साठ असामी ठीक हैं—जंगला-वत्ती ठीक है —गिनती करो पाँच नम्वर ! !

एक-दो-तीन-चार; पाँच-छः-सात-आठ........

चौव्वन असामी ठीक हैं—जंगला-वत्ती ठीक है—गिनती करो वारह न—म्वर र।..........

ओहो, क्या ये रात भर सोने नहीं देंगे ? और, यह गर-गर-गर-गर क्या हो रहा है ? हर दो-तीन मिनट पर–हर दो-तीन मिनट पर। गर-गर—गर-गर—गर-गर—गर-गर !

ऊपर से मच्छड़ का धावा, नीचे से खटमल की चढ़ाई—ऊपर से जर्मन-वायुयानों के गोले वरस रहे हैं ; नीचे से अँगरेजों की सवमैरिन के हुदक्के लग रहे हैं। एक-दो-तीन का लगातार हाहाकार—फिर रह-रह कर गर-गर-गर-गर !

पेशाव—एक वड़ा-सा टव रखा है ; उसीमें खड़े खड़े यह गर-गर-गर-गर ! वदवू, उकवाई; उकवाई वदवू ।

भोर हुई—वदन ऐंठ रहा था; आँखें झिप रही थीं ! घंटी वजी, शौच को चलो !

खुले पाखाने, क़ैदी को शरम क्या ? 'एक'—वैठ जाओ; 'दो'—उस नल पर नंगे आकर पानी छुओ ; 'तीन''–हौज में हाथ-मुँह धोओ !

हुक्म पर उठना, हुक्म पर बैठना, हुक्म पर सोना, हुक्म पर जागना, हुक्म पर शौच जाना, हुक्म पर पानी छूना, हुक्म पर मुँह धोना—और ये पिछले तीनों काम पन्द्रह मिनट में ! जल्दी करो, नहीं तो डंडे खाओ ! उफ्—

और, लो यह खिचड़ी! खिचड़ी—चावल-देवता, इसमें आप कहाँ हैं? दाल देवी, आप कहाँ हैं? हल्दी —तुम्हारी जय! बस, एक ज़िंदा हो तो तुम्हीं, यद्यपि तुमपर भी लोहे के बर्तनों ने काला नक़ाब डाल दिया है! कुछ पतली-पतली, पीली-मटमैली चीज़ गट-गटकर कंठ के नीचे उतारिए —बस, खिचड़ी का कैसा शानदार जलपान!

फ़िर, दिन के भात-दाल का क्या पूछना? भात में चावल अधिक थे या कंकड़? चावल में कंकड़ थे या कंकड़ में चावल? दाल में डुबकी लगाकर भी अगर खेसारी या मसूर का एक दाना ढूँढ़, लें, तो समझिए क्षीर-समुद्र मथकर आपने अनन्त-देवता पा लिया! अरहर-चने का सपना भूलिए।

शाम को आया था; अब दिन के प्रकाश में लोगों के चेहरे देखे—सबके चेहरे खिंचे; सबकी आँखें सुर्ख़! काली धारी के बिनाबाँही के कुर्त्ते और मुश्किल से जाँघ तक ढँकने वाले अधपजामों की किट ने लोगों की सूरत को और भी भयानक बना रखा था। बालों ने, दाढ़ी-मूँछों ने उस्तुरों की याद भी भुला रखी थी! उफ़, ये आदमी नहीं; दिन में ही चलते-फिरते भूत मालूम होते हैं ये।

और, उन भूतों को हाँक रहे थे वार्डर—रूपी भूतनाथ!

ये भूत, ये भूतनाथ! ये पत्थर, यह इस्पात; यह हाहाकार, यह गर-गर-गर-गर!

पाषाण-पुरी, पाषाण-पुरी! उर्फ़, तुम्हीं में सात साल गुज़ारने हैं! लगभग ढाई हज़ार दिन—जिनका एक-एक दिन न जानें कितने दिनों का होगा; जिनकी एक-एक रात न जानें कितनी लम्बी-चौड़ी होगी!

आह, उफ़!

बाबू, उस पहले दिन की बिपता की कल्पना भी आप कर सकते! खुद मैं भी आज उसकी कल्पना नहीं कर पाता!

२—कोल्हू का बैल

पहले तीन दिन कोरटीन में बीते। इन तीन दिनों के अन्दर डाक्टरी हुई, शरीर की नाप-तौल हुई। नन्हूक ने कहा—जेल में आना था, तो यह साँड़ का-सा शरीर ले कर क्यों आये? भगवान ही तुम्हारी रक्षा करें!

और, भगवान भी मेरी रक्षा नहीं कर सके!

चौथे दिन मुझे भी वह किट पिन्हा दी गई और हुक्म हुआ, चलो कोल्हू में।

कोल्हू में? हाँ, साँड़ की-सी देह लेकर जो आया था मैं यहाँ? इस देह पर सब की नजरें गड़ीं—जमादार की ख़ूनी नज़रें सबसे भीतर तक घुसीं!

यह कोल्हू है, यह दस सेर सरसों है; पूरे ढाई सेर तेल निकालना है तुम्हें! साँड़ हो, तो कोल्हू में बहो।

आदमी—साँड़! कोल्हू—तेल! दस सेर सरसों, ढाई सेर तेल! कोल्हू में सरसों रखकर ज़ोरों से पेरे जाओ—सुस्ती की, तो फिर तेल सूख गया। और तेल सूख गया—तो ....

पेरे जाओ, पेरे जाओ। घर पर इतना दूध पीया, इतना घी खाया; इतनी कसरत की, इतनी कुश्ती लड़ी। पेरे जाओ, दस सेर सरसों, ढाई सेर तेल! देखं नहीं रहे हो, वे लोग पेर रहे हैं; पेरे जाओ, सुस्ती की, तो तेल सूख जायगा। और तेल सूख गया—तो....

छाती पर दस मन के महन का बोझ—ठेले जाओ, पेरे जाओ। साँड़ हो, चले चलो। धीरे-धीरे! धीरे-धीरे क्यों? तेज़ी से। तेज़ी से—

चर-चों—चर-चों! वह तेल चू रहा है, पीली-पीली धारा। ले लिया है, बढ़े चलो। तेज़ी से बढ़े चलो। ललाट पर पसीना, बदन में पसीना; सिर का पसीना पैर से चू रहा है। चूने दो, बढ़े चलो!

कोल्हू से तेल चू रहा है, बदन से पसीना चू रहा है। तेल से बरतन भर रहा है, पसीने से रास्ता गीला हो रहा है! हाँ, हाँ, रास्ता गीला। किन्तु बढ़े चलो—

महन घूम रहा है, सिर घूम रहा है। कोल्हू से पीला तेल गिर रहा है; आँखों के सामने का संसार अब पीला-ही-पीला है।

कोल्हू नाच रहा है, तुम नाच रहे हो, संसार नाच रहा है। नाचने दो, बढ़े चलो, तेज़ी से। सुस्ती की, तो तेल सूख जायगा तेल सूख गया—तो.........

तो....तो......तो..............

पैर थरथरा रहे हैं, शरीर भहरा रहा है, आँखों के आगे अंधेरा! अंधेरा.......अंधेरा.........

और, जब आँखें खुलीं, तो देखा, कुछ लोग मुझे घेरे हुए हैं ! मुझे पानी पिलाया जा रहा है, एक-आदमी फटे गमछे से हवा कर रहा है ! और, सामने, वह जमादार ....

'ओ चौड़ी छातीवाले, कहा था न कि सिर झुकाकर चलो......'

उसने मूँछों को उमेठा ! मूँछ, बरछी ! आँख —अंगार ! पगड़ी से खून चू रहा और उसके पीले भद्दे दाँतों से.....उफ़, मेरी आँखें खुली न रह सकीं बाबू !

रात में नन्हूक ने कहा—कहा था न, यह साँड़ का-सा शरीर लेकर क्यों जेल में आये ? यह साला जमादार तुम्हारी जान लेकर रहेगा !

'नन्हकुआ, तू क्या जाने ! चुप रह। जेल है, तो हम भी हैं। जेल हमें पहचानता है, हम जेल को। यह बेचारा नया फँसा है, यह भी सीख जायगा। हाँ, पहले ही दिन बुरा फँसा; किन्तु कोई बात नहीं—सब ठीक हो जायगा ....'

'सब ठीक हो जायगा !'

यह दूसरा क़ैदी था। उसने बड़े प्रेम से पूछना शुरू किया—तुम कौन हो ? तुम्हारे घर की हालत क्या है ? घर पर कौन है ? एक तो मेरे अंग-अंग टूट रहे थे, सिर घूम रहा था, समूचा शरीर घूम रहा था, मालूम होता था, अब भी कोल्हू से बँधा हूँ। फिर, क्या बताता ? घर की बात बताने के लायक़ ही क्या थी ? थोड़ा जो कहा, मालूम हुआ, उससे वह सन्तुष्ट नहीं हुआ—'राम ही मालिक' कहकर अपने चबूतरे पर चला गया।

'बच गये दोस्त, बच गये !'—नन्हूक बोला। 'तुम जानते नहीं, यह साला जमादार का दलाल है। जमादार दिन में लोगों से कोल्हू चलवाता है, रात में इसे भेज कर रुपये ऐंठता है।'

'रुपये ?—जेल में रुपये कहाँ से आयँगें ?'

'जेल में रुपये आते हैं, यहाँ रुपयों की कमी नहीं है।,'

'आते हैं, कमी नहीं है ?'

'जान जाओगे, जान जाओगे ? लेकिन तुम बच गये। अगर मालूम होता कि तुम मालदार हो, तो फिर तुम्हारी ख़ैर नहीं थी। तुम्हारी नस-नस दूह लेता यह साला !'

बाबू, आप जान नहीं सकते, यहाँ क्या-क्या होता था, क्या-क्या होता है ! ज्यों ही कोई मालदार आया, उसे कोल्हू में जोता गया। फिर सौदा होना शुरू हुआ। दस हजार, पाँच हजार—पाँच सौ से कम का सौदा तो होता ही नहीं ! सौदे में वार्डर, जमादार, जेलर सब शामिल। बड़े सौदे में सुपरिंटेंडेंट भी। सौदा तय हो जाने पर एक जमादार छुट्टी लेता है, क़ैदी का खत लेकर उसके घर पर जाता है, वहाँ से रुपये लाता है और फिर सब बाँट-बूट लेते हैं।

किन्तु, यदि ख़त के बावजूद रुपये नहीं मिले तो ?

३––गीदड़-कुटान

अभी-अभी उस दिन आया था वह, बाबू !

सुन्दर, गभरू जवान––जैसे घी के कुप्पे में से निकाला गया हो। माँ के लाड़, पिता के प्यार का एक ही प्रतीक। लक्ष्मी-मैया का यह वरद पुत्र, कार्त्तिकेय का अवतार ही मालूम होता था।

धनी आदमी, खून के केस में फँस गया था। फाँसी से बच गया था, कालापानी ले आया था।

कालापानी––लेकिन कितना निर्द्वन्द्व लगता था वह ! जो होना था, हुआ; रोने-धोने से क्या फायदा ?

वह भी कोल्हू में जोता गया।

तब तक मैं अभ्यासी हो गया था। पहले दिन मूर्च्छा आई थी; दूसरे, तीसरे दिन तक मतली आई थी; हफ्ते-भर देह में ऐंठन रही, एक महीने तक सोये रहने पर भी मालूम होता था जैसे चाक पर रखकर मुझे घुमाया जा रहा है; किन्तु उसके बाद, सब ठीक।

मैं नियत समय पर दस सेर सरसों लाता; नियत समय पर ढाई सेर तेल जमा कर आता।

यारों ने तेल निकालने की कला बता दी थी ! पहले धीरे-धीरे, जब तक सरसों कुचल न जाय। फिर तेजी से, जब देह गरमा जाय, सरसों गरमा जाय। तेल चूने लगे, फिर सम !

किन्तु, वह बेचारा यह कला क्या जाने ! और, सामने जमादार ! उसे सिखाये कौन, बताये कौन ?

नया शिकार फँसा था ! जमादार रह-रहकर मूँछों पर ताव दे रहा था !

ठीक मेरी-जैसी हालत हुई, मुझसे भी बदतर ! बेहोश होकर गिरा, तो एक घंटे के बाद होश हुआ उसको !

रात में सौदा तय हुआ; दिन में वह अस्पताल भेज दिया गया।

एक हफ्ते के बाद देखा, वह फिर कोल्हू में लाया गया। उसकी शामत, घरवालों ने रुपये नहीं दिये। क्यों नहीं दिये--वह बेचारा भी समझ न सका। इस बार जमादार साहब की त्यौरी कुछ और भी चढ़ी हुई थी।

और, मालूम होता है, उसने भी तय कर लिया था, सबकुछ का सामना करेगा वह ।

चार-पाँच दिनों तक वह ज़ोर-शोर से कोल्हू चलाता रहा । किन्तु --जो शरीर फूलों से बना था, वह कोल्हू में डट सके। वह रोज़-रोज़ छीजने लगा। देहात में कहावत है, साग की तरह गल जाना--बाबू, वह उसी तरह गल रहा था ! एक हफ्ते में ही उसके गाल की हड्डी उभड़ आई !

फिर दलाल जुटे, फिर खत लिखा गया, इस बार खुद जमादार गया--किन्तु, फिर वह खाली हाथ लौटा !

उसने रोकर मुझसे कहा--शायद अब मुझे जीने नहीं देंगे ये लोग !

मैंने उसे ढाढ़स बँधाया; नन्हकू ने समझाया। किन्तु, जैसे वह धीरज खो बैठा था।

और, जमादार साहब भी धीरज खो बैठे थे--साले के दरवाज़े पर हाथी बँधा है और रुपया निकालते नानी मरती है। या, इसके खत ही में कोई इशारा रहता है न देने का ? बच्चू सीखेंगे....

गीदड़-कुटान !

जमादार का ब्रह्मास्त्र है गीदड़-कुटान।

देहात में ज्यों ही बैसाख आया, गीदड़ों का शिकार शुरू हुआ। गेहूँ कटा, अरहड़ कटी। समूचा सरेह वीरान हो गया। अब गीदड़

छिपे तो कहाँ ? अपनी माँद में भी वह चैन से कहाँ रह पाता है ? माँद का पता लगा और लड़के अपने कुत्तों को साथ लिये पहुँच गये। हाथ में डंडे, लाठियाँ, भाले भी। भूसे में मिर्चा मिलाकर माँद के छेदों में उसका धुक्कन दिया गया। धुएँ से व्याकुल होकर गीदड़ माँद से निकला। निकला, भागा। कुत्ते पीछे पड़े, वच्चे पीछे पड़े। दौड़-धूप हुई, गीदड़ थका, कुत्ते टूटे, डंडे वरसे, भाले चमके। उफ़ री वुरी मौत ! गीदड़ की मौत !

घायल गीदड़ पड़ा है और कोई कुत्ता टाँग पकड़कर खींच रहा रहा है, कोई उसकी अँतड़ी पर दाँत गड़ाये है। डंडों से उसके सिर को भुरता बनाया जा रहा है, भालों से उसकी अँतड़ियाँ निकाली जा रही हैं—उफ !

गीदड़-कुटान ! जेल में इस नाम से ही क़ैदी काँप उठते !

वह बेचारा गीदड़-कुटान की ज़द में आ रहा !

चलो सेंटर में, जमादार साहब बुला रहे है।—कल्लू ने उससे कहा। सेंटर; जमादार साहब; कल्लू ! चलते समय उसने कैसी करुण दृष्टि हम पर डाली और ज्यों ही वह चला, नन्हकू की आँखों में पानी छलछला उठा — सेंटर में.....जमादार साहव........कल्लू ....

'क्यों बे, ठीक से काम क्यों नहीं करता ?'

'करने की कोशिश करता हूँ जमादार साहब ! जितना कर सकता हूँ, करता हूँ !'

'सकता हूँ ?—सकता हूँ का साला। काम करना पड़ेगा—'

'करूँगा जमादार साहव !'

'तो करता क्यों नहीं है बे ? उल्टे हमीं लोगों को धोखा देता है ! कल्लू, इस साले को सेंटर के भीतर ले जाओ !'

सेंटर के भीतर क्या हुआ, कल्लू से पूछिए ! किन्तु सेंटर के भीतर क्या होता है, कौन नहीं जानता ? कल्लू का एक रद्दा —पहलवान भी थौंस जाय। ज्यों ही गिरा, ऊपर से कम्वल—जिसमें चिल्लाहट वाहर सुनाई न पड़े, शरीर पर कोई दाग़ नुमायाँ न हो। कोई कम्वल के नीचे पड़ा है और ऊपर से वूटों की ठोकरें और डंडों के हुँरपेंटे लग रहे हैं। चिल्लाहट तो नहीं, कराह सुनाई पड़ती है, जो सेंटर में ही गूंजकर रह जाती है !

आह, आह! बाबू आज भी उसकी सूरत याद आ रही है। गीदड़कुटान तो हुआ; किन्तु वह गीदड़ नहीं था, जिसके प्राण कलेजे की सातवीं तह के नीचे होते हैं। वह तो मृग-छौना था। बूटों और डंडों ने उसकी क्या दुर्गति कर दी ....

कल्लू उसके शरीर को उठाकर हौज की तरफ दौड़ा। वहाँ हौज में पटक दिया। जमादार ने सीटी बजाई। कई वार्डर दौड़े।—जाओ, डाक्टर को खबर दो, इसे मिरगी आ गई है।

मिरगी आ गई है? —हाँ, मिरगी आ गई है!

हौज में उसका शरीर पड़ा है। मिरगी आ गई है, पानी में गिर गया है। मिरगी पानी खोजती है न? किन्तु उसकी नाक से, उसके मुँह से जो खून निकल रहा है? मुँह के बल गिर गया है? शायद इसीसे नाक चिपक गई है, गाल पर कट गया है। क्या एक बूट यहाँ भी पड़ गया था? किन्तु, क्या कह रहे हो? इसे तो मिरगी आ गई है! मिरगी? मिरगी में लोग हाथ-पैर फटकारते हैं—यह तो सुन्न पड़ा है, मुर्दे-सा? तो मिरगी में लोग मर भी जाते हैं! बदन में वही बिना बाँह का कुर्त्ता है, किन्तु हाथ पैर में काले निशान उगते आ रहे हैं। मिरगी में काले निशान? किन्तु, तुमलोग यहाँ खड़े क्यों हो—भागो यहाँ से!

डाक्टर आये, डाक्टर आये! लाश को, हाँ, अब लाश ही कहिए, हौज से निकलवाया। नब्ज़ देखी, कलेजे पर आला लगाया। जमादार की ओर रहस्य की आँखों से देखा। जमादार ने खीसें निपोड़ दीं। लाश अस्पताल गई। दूसरे दिन डोमों ने उसे दफना दिया! जेल में मर गया, तो मच्छड़; भाग गया, तो शेर!

जिस समय उसे उठाकर ले जा रहे थे, नन्हकू तो धाड़ मारकर रो पड़ा। मेरा तो होश फाख़्ता था। जिसे कुछ घंटे पहले हँसते-बोलते देखा था, उसीकी कुछ ही देर में यह हालत! कोई प्लेग नहीं, कोई हैजा नहीं—और, आदमी अचानक चल दे! और, वह भी इस बुरी तरह। जैसे फूल को मसल दीजिए, आप पहचान नहीं सकेंगे, यह बेला है या गुलाब; ठीक वही हाल उस बेचारे की लाश की थी। कुछ ही देर में आदमी कितना बदल जाता है? शरीर तो निर्जीव था, हाँ आँखें खुली थीं। शरीर निर्जीव होने पर भी, मालूम होता था, आँखें संसार को कह रही हों—यही संसार है, जिसपर लोगों को

इतना गर्व है ! संसार, हमने तुम्हें कितना चाहा, लेकिन तुमने मेरे साथ क्या किया ?

उसकी वे आँखें बहुत दिनों तक मुझे परीशान करती रहीं, बाबू ! कई रात सोने नहीं दिया उन्होंने। जिधर देखता, मालूम होता, वे आँखें पूछ रही हैं—यह मेरे साथ क्या हुआ ? जमादार की ओर तो मैं अब देख नहीं सकता था। हाँ, कल्लू पर बहुत गुस्सा आ रहा था। आखिर कल्लू भी तो क़ैदी है ! उस अभागे ने यह क्या किया ? किन्तु हाथी को तो हाथी ही फँसाता है बाबू !

४--जेल कल्लुओं का है !

किन्तु जेल चले नहीं, अगर उसके अन्दर कल्लू-ऐसे कैदी नहीं हों।

कौन कहता है, जेल को जेलर, जमादार या वार्डर चलाते हैं। बिल्कुल ग़लत बात। जेल को चलाते हैं कल्लू ऐसे क़ैदी—जो खुद जेल में मौज उड़ाया करते हैं और क़ैदियों को मोटी रस्सी में नाथ कर मन-मानी चलाया करते हैं।

'पहरा' से उनका दर्जा शुरू होता है 'मेठ' तक जाता है । जेल के इतने काम के होते हैं ये कि इनका मुशाहरा भी बँधा हुआ होता है। मुशाहरा ? हाँ, हाँ—महीने में चार ही आने सही, लेकिन ये पैसे इन्हें मिला करते हैं सरकारी खजाने से।

जमादार की पारखी आँखें तुरत चुन लेती हैं कि सारे क़ैदियों में से उसके काम के कौन हो सकते हैं ? कुछ ही दिनों में उनके सिर पर काली टोपियाँ पड़ जाती हैं और होते-होते कनविक्ट-वार्डर के बिल्ले भी उनकी कमर में चमकने लगते हैं।

ये लोग ज़्यादातर लम्बी मुद्दत के क़ैदी होते हैं। प्रायः ये दबंग होते हैं। जेल में आये नहीं कि इनकी मुठभेड़ शुरू हो जाती है । पहले इन्हें तोड़ने की कोशिश होती है, बाद में इन्हें मिला लिया जाता है !

फिर तो ये वैसे कुकर्म करने लगते हैं, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इनके सौ खून माफ़ होते हैं !

कल्लू, दशरथ, हबीब—हमारे जेल के इस त्रिरत्न को ही देखिए। तीनों ने खून किया था—कल्लू ने अपने भाई का; हबीब ने अपनी

लुगाई का; दशरथ तो नामी डकैत ठहरा। उसके द्वारा की गई हत्याओं की क्या गिनती !

उससे पूछिए, किस फख्र से उन हत्याओं का वर्णन करता है—किसी-की गर्दन काट दो, उसकी लाश तड़प रही हो, खून के फव्वारे छूट रहे हों—क्या इससे भी बढ़कर कोई सुन्दर दृश्य हो सकता है ? और, आदमी की गर्दन कितनी मुलायम ! भुँजाली का एक झटका दीजिए, सिर अलग, धड़ अलग ! सिर को उठाकर लेते जाइए और किसी खड्ड में गाड़ दीजिए — फिर कौन खून का पता लगा सकता है ? वह मज़े ले-लेकर ऐसी बातें किया करता है ।

एक बार उसने एक डकैती के सिलसिले में सारे परिवार का नाश कर दिया । बाप को मारा, बेटे को मारा, दो छोटे-छोटे पोतों को मारा और अन्त में पुतोहू के पेट में भुँजाली घोंपकर चलता बना ! वह कहता है—औरत का मरना बड़ा कारुणिक होता है । उसका देखना बहुत मुश्किल है ! तबसे वह औरत पर हाथ नहीं उठाता।

हबीव को शक था, उसक़ी बीवी पड़ोस के एक नौजवान को प्यार करती है । वह खुद कलकत्ता रहता था। एक बार कलकत्ता से लौटा, तो उस नौजवान को अपने घर से निकलते देखा। पास में छुरा लाया ही था। नौजवान तो निकल चुका था, बीवी पर टूटा। और, बाबू, जानते हैं, अपनी स्त्री का ख़ून उसने कैसे किया ? उसके गाल पर छुरे मारे, उसके स्तन पर छुरे मारे और आख़िर में समूचा छुरा उसकी जांघों के बीच में घुसेड़ कर चलता बना। बारह साल तक फरार रहा ; सबूत तो मिट चुके थे—काला पांनी लेकर आया है !

और, यह कल्लू ? यह नराधम ! एक बित्ता जमीन के लिए अपने ही भाई को गँड़ासें से बोटी-बोटी काट डालने में हिचक नहीं हुई इसे; जेल में आने पर तो कुछ दिनों तक यह पागल-सा बना रहता था। रह-रहकर मल्लू, मल्लू चिल्ला उठता, रोता। फिर जब शान्त हुआ है, तो यह जेल के लिए क़हर हो गया है। जमादार को बुरा-से-बुरा काम कराना होता है, कल्लू को एक दम गाँजा पिला दिया —फिर, जो चाहा करा लिया ! इस जेल में कितने की जानें ली हैं इसने, कितने को ज़िंदगी भर के लिए बेकाम बना दिया है इसने ।

दशरथ, हबीब, कल्लू—इस जेल के राजा ये ही तीन हैं। जेल में रोगियों के लिए जो दूध आता है , उसकी सारी मलाई ये तीन खाते

हैं। गोश्त की सिर्फ हड्डी ही अस्पताल में जा पाती है । शाम-सवेरे देह में तेल की मालिश—फिर, दंड बैठक ! जमादार के ये शिकारी जानवर हैं; जेलर इनसे डरता है, सुपरिंटेंडेंट चाहता है कि इनसे सामना भी न हो !

कल्लू जल्लाद है, दशरथ हत्यारा; किन्तु, इस हबीब की मत पूछिए ! इसकी औरत इसके शरीर पर जैसे हमेशा सवार रहती है ! और, जेल में औरत कहाँ से आवे ? नतीजा यह है कि यह हमेशा अपनी ड्यूटी छोकरा-किता में लेता है ! बच्चे इसकी सूरत देखते ही काँप जाते हैं ! किन्तु वे करें, तो क्या ? जाल की मछली, भाग कहाँ जायगी ? अभी कुछ दिन पहले एक लड़के ने आत्महत्या कर ली ! गमछे को फाड़ कर महीन रस्सी बाँटी और जँगले से लगाकर लुढ़क पड़ा ! गरदन लम्बी हो गई थी, आँखें निकल आई थीं । और, हबीब ने दूसरे लड़कों से कहा—देखो, जो मेरी बात नहीं मानेगा, उसकी यही गति होगी !

बाबू, बाबू, यह सचमुच पतितों का देश है !

यह कल्लू, यह दशरथ, यह हबीब—सिर्फ इनसे ही जेल नहीं चल सकता बाबू ! ये तो पुराने पापी हैं; पाप न करें, यही अचरज की बात हो। किन्तु, मैंने देखा है, कितने शरीफ आये, कुछ दिनों तक शराफत दिखाते रहे। इस शराफत के चलते कुटे-पिटे। किन्तु, पीछे अपनी ग़लती महसूस की। शरीफों की अक्ल उनमें थी ही। अक्ल से काम लेना शुरू किया—जमादार कौन कहे, जेलर और सुपरिंटेंडेंट तक की नाक के बाल बन गये वे ! सारे जेल पर उनका दबदबा; सारे जेल को वे जिस तरह उठायें, बिठायें !

एक ऐसे ही आदमी थे सुन्दर सिंह। नाम सुन्दर सिंह, किन्तु कुरूपता की मूर्त्ति ! न जाने किसने उनके साथ बचपन में ही यह नाम रखकर दिल्लगी की ! सारे चेहरे पर चेचक के दाग़; काला रंग । किन्तु, एक बड़े जमींदार के घर से थे। आपसी पट्टीदारी के झगड़े के सिलसिले में ख़ून-खराबा हुआ, दस साल की सज़ा लेकर आये। कोल्हू में जुते; जमादार और जेलर को सलामी पहुँचाई, पहरा हुए, मेठ बने ! जेलर को एक हजार की सलामी दी थी और यहाँ से लौटे पाँच सौ अर्शाफियाँ लेकर !

पाँच सौ अशर्फियाँ ?—हाँ, पाँच सौ अशर्फियाँ ! जेल का सिक्का रुपया नहीं है, नोट नहीं है। जेल के सिक्के दो हैं—अशर्फियाँ या चवन्नी ! चाँदीवाली छोटी चवन्नी। जेल में जो सिक्के पहुँचते हैं, या तो गले होकर या गुदा होकर।

'गुदा होकर ?'

जी, गले होकर या गुदा होकर। जेल में घुसते समय इतनी कड़ी तलाशी होती है, और बाद में जेल में जो बार-बार तलाशियाँ हुआ करती हैं, उनके चलते कैदियों ने—कैदियों में से पुराने पापियों ने—यह तरकीब निकाली है। शीशे की गोली में चूना लगाकर उसे कंठ में रखते जाते हैं। जबड़े के निचले हिस्से में छेद बनता जाता है। होते-होते इतनी जगह बन जाती है कि दस-दस अशर्फियाँ या चवन्नियाँ उसमें रख ली जायँ। इन सिक्कों का पता पाने पर भी इन्हें जेलवाले निकलवा नहीं सकते। यों ही, आठ-आठ, दस-दस अशर्फियाँ या चवन्नियाँ गुदा-मार्ग में रखकर जेल में आते हैं और जब ज़रूरत पड़ती है, निकाल लेते हैं !

रुपये बड़े पड़ेंगे न? और, नोट तो गल जायँगे ! इसलिए जेल के सिक्के अशर्फियाँ और चवन्नियाँ ही हैं !

इन सिक्कों के बल पर जेल में क्या-क्या न होता है ? जेल तो जुए का अखाड़ा है ही; शराब की चुस्की या गाँजे का दम न हो, तो जुए में क्या मज़ा ? और जब शराब आई, गाँजा आया, तो कौन कुकर्म बाकी रहा ? औरतों और बच्चों पर मरनेवाले हबीब तो कम हैं, यहाँ मर्दों पर मर्द मरा करते हैं, बाबू !

सुन्दर सिंह इन्हीं जुआबाज़, शराबी और दुराचारी लोगों के सरग़ना बन गये। उनकी अशर्फियों को भुनाने का काम इनका, जुए का अड्डा ठीक करने का काम इनका, शराब और गाँजा मँगा देने का काम इनका, लौंडा जुटा देने का काम इनका ! लौंडों पर माहवार बँधा हुआ है, सौदा कीजिए, माल लीजिए। उन्हें लेकर हाथ-हथफेर और उधारखाता भी चलता है यहाँ !

यह काम अकेले नहीं चला करता और बिना जमादार-जेलर की मर्ज़ी से यह चल नहीं सकता। सुन्दर सिंह का एक बड़ा गिरोह है; जिसमें उन्हींकी तरह के कितने रईसज़ादा क़ैदी शामिल हैं ! उन्हें आप

जेल का तहसीलदार और खजांची भी कह सकते हैं। जमादार या जेलर को जब रुपये की ज़रुरत हुई, सुन्दर सिंह को हुक्म हुआ — रुपये हाज़िर ।

जेल चलता है, कल्लुओं सें; जेल चलता है सुन्दर सिंहों से— जेल के छकड़े के ये दो पहिए हैं—निर्मम, निष्ठुर !

५—कामदेव कहाँ नहीं हैं ?

कामदेव ने किसको न नचाया ?

शिवजी-महाराज सती की सड़ी लाश लेकर वर्षों पागल-सा दौड़ा किये !

शिवजी-महाराज ! —सड़ी लाश !

सड़ी लाश—बाबू, क्या हम-आप सभी सड़ी लाश नहीं ढो रहे हैं !

कहाँ है ज़िन्दगी ? चारों ओर सड़न !

ज़िन्दगी ! —'ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है !'

जिसमें उमंग हो; न तरंग, उछाह हो न उत्साह, लास हो न उल्लास, उबाल हो न उछाल—वह ज़िन्दगी कैसी बाबू ?

जो गेंद-सी उछली नहीं, गरम जल के कुंड-सी उबली नहीं; हर्ष में जिसने उल्लास न दिखाया, प्रेम में जिसने लास न पाया; कठिनाइयाँ जिसमें उत्साह न पैदा कर सकीं, बाधायें जिसमें प्रगति न भर सकीं; जिसमें नदी-सी तरंग न हो, समुद्र-सी उमंग न हो—भला वह भी कोई ज़िन्दगी है बाबू !

जिसमें दुर्गन्ध हो, पीव हो, कीड़े हों—उफ री वह ज़िन्दगी, आह री वह ज़िन्दगी !

जिस ज़िन्दगी में बाहर भी सड़न हो, वह इस पाषाण-पुरी में कैसी बन जा सकती है, कल्पना कीजिए !

जेल दुराचारों का अड्डा है और इसका सबसे बड़ा अड्डेदार है यह जमादार ।

सेंटर पर बैठा, हर शाम को नये आनेवाले क़ैदियों के चेहरे घूरा करता है यह; और उसकी बगल में वह पापी-शिरोमणि हबीब !

जिस चेहरे पर थोड़ी लाली हो, जिस गाल पर थोड़ी चिकनाहट हो, जिस आँख में थोड़ा रसीलापन हो—बस, टूट पड़े दोनों।

दोनों में आँखों-आँखों बातें हुईं। खास खटालों में उसे रखा गया। खास आदमी उसके अगल-बगल सोये। खास गुर्गे उसके आस-पास डोलने लगे। किन्तु, 'भय बिनु होहिं कि प्रीत!' जिन गालों को चूमना जरूरी है, उनपर पहले कुछ थप्पड़ रसीद करने से स्वाद बढ़ जाता है! आँखों का रसीलापन तब निखरता है, जब उनसे कुछ आँसू पहले टपका लिये जायँ! चेहरे का गुलाब शाम को खिलेगा, दोपहर को उसे सख्तियों की धूप में तपा लिया जाय ; !

भय—प्रलोभन; प्रलोभन—भय। आग—पानी; पानी—आग! लोहे पर पानी तब चढ़ता है; काम का देवता तब प्रसन्न होता है!

अच्छे-अच्छे लोगों को यहाँ टूटते देखा है, बाबू!

किन्तु, हमलोग क्या जानते थे कि कामदेवता का ताल एक दिन हमारे भोले-भाले नन्हकू पर टूटेगा!

और किसके साथ? —उस चुड़ैल जमादारिन के साथ!

जेल की जमादारिन! अच्छा है कि जमादारिनों के चुनाव में कुरूपता सर्वप्रधान सिफत मानी जाती है!

वे काली-काली, ढली-गली औरतें—उन्हें काली पोशाक देकर चुड़ैल नहीं, चुड़ैल की चाची बना दिया जाता है।

दिन में चुड़ैल-सी लगें और शाम को? खैरियत है कि रात में उन्हें जेल में आने भी नहीं दिया जाता!

इसी चुड़ैल जमादारिन से बेचारे नन्हकू की लड़ गई! और, ठीक शाम के वक्त!

इधर नन्हकू रसोइया में काम कर रहा था। 'ये कबहूँ नहिं दूबरो होत, रसोई के विप्र कसाई के कूकुर।' इस कथन की सचाई आपको जेल में ही सोलह आना दिखाई पड़ेगी!

अस्थि-कंकालों के बीच में मुस्तंडे लोग—नमक के समुद्र में हरेभरे द्वीप!

किन्तु नन्हकू तो रसोइये में गया मेरे चलते! वहाँ रहूँगा, तो तुम्हारे लिए दो-चार अच्छी रोटियाँ बना लाऊँगा! और, वह लाता था, मैं खाता था। मेरा रोआँ-रोआँ उसे आशीर्वाद देता था। किन्तु, कोई आशीर्वाद उसके काम नहीं आया।

रंडी-किता में वह कुछ दिनों से खाना देने जाता था।

रंडी-किता! हाँ, जेल के नामकरण भी कुछ अजीब होते हैं बाबू! चाहे जो औरत जिस जुर्म में आवे—यहाँ वे सब-की-सब रंडी हैं! रंडी-किता, छोकड़ा-किता, फाँसी-किता—और आपलोग जहाँ ठहरे हैं, वह बाबू-किता! और हमलोगों का खटाल-ही-खटाल। खटाल नं० १, नं० २, नं० ३ आदि!

तो, नन्हकू रंडी-किता में जाया करता था।

वह ज्यों ही भीतर घुसना चाहता; देखता, फाटक के सूराख से एक जोड़ा आँखें चमक रही हैं!

एक जोड़ा आँखें चमक रही हैं! चमक रही हैं? क्या इनमें सिर्फ चमक है? चमक-चमक! नहीं, भूख-भूख!

भूखी आँखें; इन्हें भोजन चाहिए!

भोजन—मिट्टी के तसले में एक के बदले डेढ़ करछुल खिचड़ी पड़ने लगी। डेढ़ करछुल खिचड़ी; डेढ़ नप्पा भात; दो की जगह तीन रोटियाँ! किन्तु भूख मिटती नहीं, बढ़ती जा रही है।

छेद से दीख पड़नेवाली आँखों में चमक बढ़ती जाती है—भूख बढ़ती जाती है!

अब कितना दूँ?

मैं सब समझ रही हूँ निगोड़े—जमादारिन बीच में कूद पड़ी। कितना दूँ? क्या दूँ—'यह पूछ उस हरामज़ादी से। बेवा है बेवा। ज़िन्दगी भर की भूखी! पहले शौहर को खाया, अब तुझे खायगी! निगोड़ी के चूतड़ की खाल खींचकर नमक न छिड़का जाय, तब तक इसकी ....'

और, तेरे पुट्ठे पर भी अब माँस चढ़ गये हैं नन्हकुआ!

जमादारिन की पीली धँसी आँखों में चमक महसूस की नन्हकू ने। वह उसके पुट्ठे की ओर क्यों घूर-घूरकर देखा करती है?

चमक, भूख!

और, क्या नन्हकू की भूख भी जगी? क्या भूख भी संक्रामक होती है?

भगवान जाने, क्या बात हुई !

एक दिन नन्हकू तेज़ी से जा रहा था रंडी-किता की ओर। कुछ देर हो गई थी जो ! सैकड़ों भूखियों के पेट भरकर वह लौटा, तो मुँह अँधेरा हो चला था ! रंडी-किता और रसोईघर के बीच में गौशाला पड़ती थी।

एक हल्ला, जमादार की सीटी !

यह नन्हकू को सेंटर की ओर लाया जा रहा है। उसके दोनों हाथों को जमादार ने पीछे की ओर मोड़कर पकड़ रखा है और उस पर धौल-धप्पड़ों की वर्षा हो रही है। वह सिर नीचा किये है; आँखें उठाये तो कैसे ?

और, यह पीछे कौन है ?

जमादारिन रोती आ रही है ! मुए ने मेरी इज़्जत लूट ली ! ज़बर्दस्ती पटक दिया ....

हाँ, ज़बर्दस्ती पटक दिया — किन्तु, किसने किसको ?

नन्हकू को जाननेवाले कहते थे—बदमाशी इस चुड़ैल की चाची की होगी। वह सीधा-सूधा जानवर ! कभी खूँटा छोड़ते, रस्सा तोड़ते देखा गया था उसे ? बेचारे को बरगलाया, फँसाया और अब रोदन पसार रही है, हरामज़ादी। रंडी-किता से क्यों गोशाला तक आई ? क्या यही घसीट लाया था ? तो घसीटने के समय क्यों नहीं चिल्लाई ? पीठ में जो यह गोबर-गोवर लगा रखा है—पीठ में गोबर ! भठियारिन !

किन्तु, पाषाण-पुरी में दलील और तर्क की जगह नहीं। रोती-धोती जमादारिन जेल के फाटक की ओर गई, नन्हकू सेल में भेज दिया गया ! कल बेंत लगेंगे—रात में ही सारे जेल में यह चर्चा फैल गई !

इस जेल में कौन कुकर्म नहीं होता—किन्तु नन्हकू को बेंत लगेंगे ! हबीब को क्यों नहीं बेंत लगते ? जमादार को क्यों नहीं बेंत लगते—जिसने इस सेंटर को ही भटियारखाना बना रखा है ? दुपहरिया में जब सब 'सुस्ती' में सोते हैं, इस सेंटर में वह रास-लीला रचा करता है ! रास-लीला ? नहीं, रास-लीला में औरतों का रहना लाजिमी होता है। जमादार की पाप-लीला के लिए कोई दूसरा नाम खोजना पड़ेगा। किन्तु, जब तक कोई नाम नहीं मिलता, तब तक वह अपराध कहाँ ? नन्हकू एक स्त्री के साथ ......

हाँ, जेल में स्त्री सब से अधिक वर्ज्य प्राणी है ! रंडी-किता में जमादार भी अकेले नहीं घुस सकता। सुपरिंटेंडेंट का सबसे कड़ा ध्यान इसपर रहता है कि किस स्त्री का मासिक धर्म कब हुआ ? बाज़ाप्ता चार्ट रखे जाते हैं। ज्यों ही चार्ट में ज़रा गड़बड़ी हुई, हलचल मच जाती है ! पूछताछ, दौड़धूप ! जेलर, डाक्टर ......

जेल में सबसे अधिक वर्ज्य प्राणी है तो स्त्री ! और, नन्हकू ने यही किया ! आज जमादारिन, कल कोई रंडी !

नहीं, नहीं—नन्हकू को बेंत लगने ही चाहिए, कल लगकर रहेंगे !

६--तिकठी और बेंत

भोर से ही जेलभर में तहलका—आज बेंत लगेंगे, नन्हकू को बेंत लगेंगे।

नन्हकू और जमादारिन ! दोनों को लेकर तरह-तरह के क़िस्से गढ़ लिये गये ! थोड़ा सा दिन चढ़ते-चढ़ते उस क़िस्से में जमादार भी शामिल था।

जमादार, जमादारिन में गड़बड़ चल रही थी। बीच में पड़ गया यह ग़रीब नन्हकुआ और — 'दो पाटन के बीच में साबित बचा न कोय ?'

नौ बजे सुपरिंटेंडेंट पहुँचा। वह सीधे उस जेल में गया, जहाँ नन्हकू था और दस बजते-बजते सेंटर पर तिकठी खड़ी कर दी गई !

तीन पैरवाली, तीन काठ की, यह तिकठी !

देहात में कहावत है—तीन तेकट, महा बेकट। हाँ, तीन का समागम हमेशा विकट होता है।

तीन लोक, तीन काल, तीन देव, तीन वेद; तीन गुण—इन अनेक त्रिकोणों के चलते ही दुनिया में इतनी परेशानी है बाबू !

मैं तीन देखते ही घबरा जाता हूँ बाबू ! त्रिगुट दुनिया की सबसे बुरी गुट होती है।

इस जेल में सुपरिंटेंडेंट, जेलर और जमादार—दशरथ, हबीब और कल्लू —त्रिकोण, त्रिगुट, तिकठी।

तिकठी—सेंटर में खड़ी हुई कि सारा जेल थर्रा उठा !

तिकठी के सामने एक तिपाई पर बेंत रखे गये !

लाल-लाल बेंत ! कबसे तेल पिला-पिलाकर पोसे जाते रहे हैं ये ? छोटे, बड़े, मँझोले ! मोटे, पतले ! बहुत दिनों के बाद उन्हें पोंछा जा रहा है—तेल लगा-लगा कर कपड़े से पोंछा जा रहा है ।

सुक्खू डोम का चेहरा यों भी खूँख़ार लगता था—आज उसकी आँखें शिकारी जानवर की तरह लहक रही हैं।

सुक्खू—पुराना चोर, मगहिया चोर। साल में चार महीने बाहर रहता है, आठ महीने यहाँ !

चोरी करता है, तब आता है; जेल में सफैय्या की ज़रूरत हुई, तब भी आता है ।

क्या नौकरी पर ?

नहीं, हर थाने में मगहिया डोमों की सूची रहती है । इस पूरी क़ौम को ही ज़रामयपेशा क़ौम मान लिया गया है । ज्यों ही जेल में सफैय्या की कमी हुई, थाने में ख़बर की गई, उनमें से दो, चार, दस को पकड़कर १०९ या ११० दफ़े में चालान कर दिया गया !

सुक्खू सफैय्या का भी काम करता है और जल्लाद का भी। फाँसी के रस्से पर मोम वह लगाता है, बेंत को वह पोसता और पोंछता है।

हर फाँसी पर उसे चार रुपये का इनाम मिलता है, हर बेंत के दिन उसे एक बोतल ठर्रा मिलता है !

तिकठी खड़ी है, बेंत पड़े हैं। सेंटर पर बेंत लगते हैं, जिसमें सभी क़ैदी समझ जायँ, जेल क्या चीज़ है !

फाँसी सुपरिंटेंडेंट के सामने होती है, बेंत सुपरिंटेंडेंट के सामने लगते हैं! तिकठी की बग़ल में एक टेबुल और एक कुर्सी रख दी गई है ।

फिर स्ट्रेचर आता है; बैंडेज के लिए कपड़ा, रूई और टिंचर रख दिये जाते हैं ।

और, वह नन्हकू को लाया जा रहा है । नन्हकू—रातभर में ही कैसा काला पड़ गया है ! किन्तु ज़रा भी बोलता नहीं—सिर झुकाये आ रहा है । क्या शर्म लग रही है ? क्या पश्चात्ताप हो रहा है ?

दूसरी ओर से सुपरिंटेंडेंट आते हैं, जेलर और डाक्टर आते हैं।

डाक्टर साहब नन्हकू के स्वास्थ्य की जाँच कर रहे हैं! सभ्यता का युग है न? मारने के पहले देख लेना पड़ता है कि कितनी मार लगने तक इसकी जान नहीं जा सकती है!

तीस बेंत!

हजूर—नन्हकू ने मुँह खोला। शायद कुछ कहना चाहता था, किन्तु जमादार ने डाँट दिया—चो.......प्!

पैंट और कुर्त्ता हटा दिये गये। नंगा करके तिकठी पर चढ़ा दिया गया। नंगा करके—कहीं कपड़े में बेंत न उलझ जायँ!

दोनों हाथ और दोनों पैर तिकठी के दो पायों में अलग-अलग बाँध दिये गये। तिरछी खड़ी है यह तिकठी। उसपर तिरछा लेटा हुआ है नन्हकू।

तिकठी पर नंगी मानवता लेटी है!

चूतड़ पर टिंचर लगाया जा रहा है! बेंत की सज़ा चूतड़ पर होती है! जहाँ माँस, वहाँ बकोट!

फिर टिंचर में भिगो कर कपड़े की एक पट्टी साट दी जाती है। इधर सुक्खू बेंत सम्भाल रहा है—उन बेंतों में से एक लम्बा मज़बूत बेंत उसके लिए चुन लिया गया है!

जमादार गिनती कर रहा है; एक-दो-तीन ......

सुक्खू बेंत मार रहा है—तड़ाक्, तड़ाक् तड़ाक् ....

पहले बेंत से ही सारा जेल काँप उठा! नन्हकू काँप रहा है, तिकठी काँप रही है, सेंटर का टावर काँप-सा रहा है!

चार–पाँच–छः–सात.........

चूतड़ की ऊपर की खाल कट गई, पट्टी गिर गई, खून चू रहा है—किन्तु नन्हकू बोलता तक नहीं; क्या वह बेहोश हो गया है? चूतड़ पर टिंचर से भिगोई दूसरी पट्टी रख दी गई। जमादार की गिनती फिर शुरू हुई —

आठ–नौ–दस—

और, अब यह चीख़ ! हृदय-विदारक ! बाबू, आपलोग भी इस शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु हृदय-विदारक क्या चीज़ है, आप तब तक नहीं जानेंगे जब तक बेंत की सज़ावाले की चीख़, न सुनेंगे ! चीख़ने वाले का जब हृदय विदीर्ण होता है, तभी हृदय-विदारक चीख़ निकलती है। नन्हकू का चूतड़ पहले फट चुका था; अब उसका हृदय फट रहा था। अब बेंत चूतड़ पर नहीं पड़ रहे थे, उसके हृदय पर पड़ रहे थे !

आठ.........नौ ....दस........

तड़ाक्.........तड़ाक्.........तड़ाक्.............

हा.......हा........हा........

हाँ, वह आह नहीं कर रहा था, उह नहीं कर रहा था। हा–हा–हा–मालूम होता था, उसके फेफड़े की आखिरी साँस उसके मुँह से निकल रही है। समूचे वातावरण में उसकी हा-हा-हा छा रही थी !

ग्यारह––बारह––तेरह––

तड़ाक्––तड़ाक्––तड़ाक्––––

हा––हा––हा––––

चौदह–पन्द्रह––सोलह ; तड़ाक्–तड़ाक्–तड़ाक् ; हा–हा–हा– । बाद में सिर्फ हा–हा–हा ! सिवा–हा–हा–के कुछ नहीं सुनाई पड़ता । चूतड़ पुर्ज़ा पुर्ज़ा कट चुका है; उसपर पट्टी पर पट्टी रखी जा रही है; माँस के लोथड़े गिर रहे हैं ; खून की धारा गिर रही है––और, वह आगे ?

क्या कम्बख्त ने पेशाब कर दिया ! नहीं, नहीं––यह उजला-उजला––तार-सा बँधा ! बाबू-बाबू, निर्लज्जता या अश्लीलता का दोष मत दीजिए ! छिपाऊँ कैसे, बताऊँ कैसे ? उसके चूतड़ से खून चू रहा था; उसकी जननेन्द्रिय से धातु का तार लगा था !

आदमी, आदमी ! तू आदमी की क्या दुर्गति कर देता है आदमी ?

आदमी की यह गति ? इस युग में ? जब सभ्यता का इतना ढोंग है !

किन्तु, आदमी जितना सभ्य होता जा रहा है उतना ही क्रूर भी, निर्मम और निर्लज्ज भी। चूतड़ पर मारना, नंगा करके मारना, इस तरह मारना, इतना मारना कि एक ओर से रक्त, दूसरी ओर से धातु !

थोड़ी देर के बाद उसका हा-हा भी बन्द !

जमादार ने तीस की गिनती पूरी की; सुक्खू ने बेंत रखकर सुपरिंटेंडेंट को सलाम किया। डाक्टर साहब स्ट्रेचर लेकर दौड़े और नन्हकू को—बेहोश नन्हकू को—तिकठी से उतारकर , स्ट्रेचर पर लिटाकर, एक कम्बल ओढ़ाकर अस्पताल ले गये !

कुछ देर तक ऐसा सन्नाटा छाया हुआ था, जिसे मौत का सन्नाटा कह सकते हैं। सुपरिंटेंडेंट और जेलर फाटक की ओर जब चले, तो उनके जूतों के शब्द आप गिन ले सकते थे !

खट्, खट्, खट्, खट्,........एक, दो, तीन, चार, ...

७—पगली-घंटी !

टन् टन् टन् , टन् टन् टन्, टन् टन् टन्,........

पहले दिन जब ये शब्द गूंज उठे थे, कौतूहल हुआ था ।

शब्द सुनते ही सारे क़ैदी भागे, खटालों के भीतर आ रहे। खटालों के दरवाज़े पर वार्डर खड़े हो गये। गिनती शुरू हुई। एक-दो-तीन-चार.....

उधर जेल के कोने-कोने में बाहर से आये वार्डर दौड़ने लगे। कुछ इस ओर जा रहे हैं, कुछ उस ओर। कोई खाली पैर, कोई खाली सिर। किसीकी कमर में धोती लिपटी , तो कोई सिर्फ लंगोट लगाय। किसीके हाथ में डंडा , किसीके हाथ में जलावन की लकड़ी। यह तो अजीब हालत है ? यों क्यों दौड़ पड़े ये लोग ?

यह पगली घंटी बजी है। नियम है कि ज्यों ही जेल का कोई कर्मचारी यह घंटी सुने, जहाँ जैसे हो, दौड़ पड़ फाटक की ओर और सामने जो कुछ पावे, हाथ में लेकर भीतर घुस जाय ।

वार्डर चारों ओर दौड़ ही रहे थे कि हथियारबंद सिपाहियों का एक दस्ता भीतर घुसा—लेफ्ट, राइट, लेफ्ट.......

सेंटर टावर से अब लाल झंडा दिखाया जा रहा था। जिस ओर उससे इशारा किया गया ; दस्ता उस ओर चला। दस्ता गोशाला की ओर जा रहा था !

फिर फायरिंग की आवाज़ हुई । क्या गोलियाँ चलाई जा रही हैं ? किनपर गोलियाँ चलीं, कौन उसके शिकार हुए ? आह रे, पत्थर की इन दीवारों के अन्दर जान इतनी सस्ती है ?

लेकिन यह सब कुछ खिलवाड़-खिलवाड़ था । पगली घंटी का यह रिहर्सल हो रहा था । जेल में कोई ऊधम हो जाय, या जेल से कोई भाग जाय, तब यह खतरे की घंटी बजती है ।

जेल से कोई भाग जाय ? दिन में छः बार गिनती—रात में गिनती ही गिनती । इतनी ऊँची दीवारें—दीवारों पर पहरे पड़ रहे । कोई भागेगा कैसे ?

लेकिन पगली घंटी बजती है, तो कोई भागता ज़रूर होगा।

और, किसीने भागकर दिखा ही दिया कि यों भागा जाता है।

रात का वक्त था, एकाएक पगली घंटी घनघना उठी; अभी-अभी हमलोग सोये थे । घंटी सुनकर अचानक जगे और अवाक रह गये । इस पाषाण-पुरी में जैसे प्रेत लुकाठी लेकर दौड़ रहे हों ।

जेल के फाटक पर हमने प्रायः ढेर-की-ढेर मशालें रखी देखी थीं उन मशालों का क्या उपयोग—यह आज देख रहे हैं।

इधर हा-हा, उधर हू-हू। जेल की दीवारों के निकट मशालों की कतारें खड़ी हो गईं । फिर कई दल मशाल लेकर खटालों की ओर दौड़े। पहरों से पूछे जा रहे हैं, मेठों से पूछे जा रहे हैं । पाखानों में देख रहे हैं, छतों पर देख रहे हैं । फिर पेड़ की डाली-डाली पर मशालों से रोशनी की जाती है ।

'उतर साला, उतरता है या गोली मार दी जायगी !'

कई वार्डर एक साथ ही पेड़ पर चढ़ जाते हैं और उसे उतार लाते हैं ।

'बोल, तुम्हारे और साथी कहाँ है ?'

वह क्या बताता ? उस बेचारे को तो धोखा दिया गया, अब वह उन्हें किस तरह अपना साथी कहे ।

एक पुराना डकैत आया था, अभी वह हाजत में ही रखा गया था। हाजत में थोड़ी ढिलाई रहती है। अभी वे पूरे क़ैदी तो समझे नहीं जाते—इसलिए उनपर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। क़ौन जानें, छूट ही जायँ ! ज़मानत पर तो अधिकांश लोग चले ही जाते हैं ।

किन्तु वह डकैत जानता था, वह न तो छूट सकता है, न ज़मानत पर जा सकता है । कई ख़ून उसके सिर पर नाच रहे थे !

हाल में जब कचहरी गया था, शीशे की थोड़ी बुकनी लेता आया था। इस बुकनी को डोर में लगाकर वह रात-भर खिड़की के छड़ को काटता रहता। लेटा हुआ है, डोर को दोनों हाथों से खींच रहा है, धीरे-धीरे, जिसमें शब्द न हो। लोहे के दो मोटे छड़ों को सूत की डोर ने, शीशे की मदद से, क़ाट डाला !

फिर तीन पुराने पापियों का गिरोह बनाया उसने। गिरोह बनाने की कला में डाकू प्रवीण होते ही हैं ।

आज पहरे को उसने बड़े प्रेम से गाँजा पिलाया था। गाँजा पीकर वह लुढ़क गया और गिनती करता रहा —ए...दो....ती.....चा.........

तब तक चार क़ैदी नौ दो ग्यारह हो चुके थे !

दोमंजिले पर ये लोग थे। छड़ को तिरछाकर खटाल से बाहर निकले और पानी गिरने के लिए लगाये गये बम्बे को पकड़ते हुए नीचे उतर आये !

हौले पैर दीवार के नज़दीक पहुँचे। एक के कंधे पर एक, यों चौथा आदमी—वह मशहूर डाकू—दीवार के ऊपर था। पहले से ही धोतियों की सीढ़ी बना ली गई थी। वह दीवार से ससर कर नीचे आया, दूसरा भी सीढ़ी का आसरा लेकर दीवार पार कर गया ! किन्तु यह तीसरा ! दीवार के उस पार कूद गया ! धम्म —

पहरे का सिपाही जागा। तीनों क़ैदी धम्म-धम्म करते भागे । पगली घंटी बजी—जो बेचारा भीतर रह ग़या, वह क्या करे ? कुछ सूझ नहीं पड़ा, तो पेड़ पर जा चढ़ा !

पेड़ पर से वह नीचे उतारा गया और कुटाई-पिसाई के बीच उसे सेल पहुँचाया गया। किन्तु जेल में जो भाग गया वह शेर, जो मर गया वह मच्छड़ !

अब इस मच्छड़ को मारने से ही क्या होता है ? शेर तो निकल चुके थे, तीन तीन। भोर से सारे ही ज़ेल में मातम छाया हुआ था। यहाँ हत्यायें देखी हैं, बेंत लगते देखा है, फाँसियाँ देखी हैं—किन्तु क्या कभी ऐसा मातम देखा गया था ? दो दिनों के अन्दर ही अन्दर

आई० जी० आ गये और हफ्ता भी नहीं लगा कि जेलर और जमादार की बदली हो गई। उनके ओहदे तोड़ दिये गये और उनके मुशाहरे में भी कमी कर दी गई।

वह डाकू क्या गया, जेल के क़ैदियों को निहाल कर गया। जो नये जमादार और जेलर आये, उन्होंने सख्तियों में कमी नहीं की, किन्तु उनकी धाक जमने में भी देर लगी और उनके प्रपंच शुरू होने में तो देर हुई ही। कल्लू, हबीब की चलती में भी कमी हुई। क़ैदियों के रोम-रोम का आशीर्वाद उस डाकू को मिला करता!

किन्तु, यह क्या बात है, बाबू, कि जेल का भागा हुआ आदमी छः महीने के अन्दर ही ज़रूर गिरफ्तार होता है! ज़्यादातर तो ऐसा होता है कि भागा और तीन दिनों के अन्दर ही फिर आ पहुँचा। जेल की पोशाक खासकर धोखा देती है। बाहर की उजली, काली या रंगीन पोशाक में जेल की धारीधार किट खप नहीं पाती। किन्तु, ये लोग भागे थे हाजत से—इसलिए इनके अपने कपड़े थे। लेकिन, कपड़े ने तो बचाया, पाप जो बचने दे। भागे हुए क़ैदी की मनोवृत्ति ही कुछ अजीब क़िस्म की हो जाती है—हर आवाज़ पर चौंक उठेगा, हर अपरिचित सूरत पर काँप उठेगा। छोटे से घेरे से वह निकल भागता है, किन्तु सारे संसार को अपने लिए घेरा बना लेता है। उसका जेल फैल जाता है, उसके वार्डरों और जमादारों की संख्या अनगिनत हो जाती है। आखिर, किन्हीं काँइयों की नज़र पड़ी और वह फिर जेल में!

फिर जेल में—और, तब की दुर्गति की मत पूछिए। उसके सिर पर की लाल टोपी हमेशा खतरे की सूचना देती है—सब उससे चौकस, सब होशियार। हर ओर घूंसा, हर ओर हुँरपेटा! जेल का अछूत—कोई उससे बोलना नहीं चाहता; जो बोला वह भी गया! अलग खाना, अलग सोना! किन्तु रौरव की कल्पना रखते हुए भी संसार में पापियों की तादाद तो घटी नहीं!

८-फाँसियाँ भी देखीं

हाँ मैंने—फाँसियाँ भी देखीं बाबू! दर्जनों फाँसियाँ देखी हैं, किन्तु तीन क़ैदियों की फाँसिया को मैं भूल नहीं सकता। उनमें एक सियार की मौत मरा, दूसरा साँड़ की मौत और तीसरा शेर की मौत।

हाँ एक सियार की, दूसरा साँड़ की और तीसरा शेर की मौत मरा। जिस तरह क़ैदी क़ैदी में अन्तर है, उसी तरह फाँसी-फाँसी में भी अन्तर होता है बाबू !

वह, जो सियार की मौत मरा ।

वह जंगली था। अपनी सास की, डायन होने के सन्देह पर, गर्दन काटकर आया था । अपनी सास की—क्योंकि उसको शक था कि उसके जो बच्चे होते हैं, उन्हें वह डायन खा जाती है । डायन सबसे अधिक अपने ही लोगों पर चोट करती है न ? वह खब्बीस बुढ़िया एक के बाद एक करके लगातार अपने तीन नातियों को खा चुकी थी !

एक के मरने पर सन्देह हुआ, दूसरे पर निश्चय किया; और, तीसरे पर प्रतिहिंसा जग उठी । वह जंगल में लकड़ी काटने गया था । लौटा तो मालूम हुआ, तीसरा बच्चा भी मर चुका ! कई दिनों से बीमार था वह बच्चा । उसने सास को चेता दिया था—खबरदार, मेरे बच्चे को इस बार खाया, तो समझ लेना । किन्तु, बुढ़िया ने खा कर ही दम लिया । और खाकर अब रो-धो रही थी मक्कार ! कुल्हाड़ी उसके हाथ में थी । उसी कुल्हाड़ी की धार से उसकी गर्दन काटकर उसके 'पास' से सिर को थुकचा-थुकचा कर दिया और ख़ुद थाने में हाज़िर हो गया ! खुद थाने मे हाज़िर हुआ और अपराध स्वीकार कर लिया —जैसे, उसने एक सुकर्म किया हो !

किन्तु, यह जोश, या खब्त कहिए, क़ायम नहीं रह सका। जब फाँसी की सज़ा हुई और उसका दिन भी तय हो गया, तो दूसरा दौर शुरू हुआ —दिन रात रोता रहता, चिल्लाता रहता। जब फाँसी के सेल से कोई आवाज़ नहीं होती, तो समझ लेते, वह सो गया है । फाँसी के दिन तो उसने कमाल किया, बाबू ! अमूमन फाँसी भोर को होती है । जब भोर में वार्डर उसके सेल के निकट गये, तो उसने घिनौनेपन की हद कर दी। पाखाना करके रखे हुए था। उसे पेशाव में घोल लिया था। और, अब उसके छींटे वार्डरों पर दे रहा था !

वार्डर छीः-छीः करते, नाक-भौं सिकोड़ते भागे । किन्तु, क्या घिनौनेपन से फाँसी टल सकती है ? पहले समझाने-बुझाने की कोशिश की गई । तब दरवाज़ा खोला गया — वह गंदगी उड़ेलता जाता था । झपट कर उसे बेक़ाबू किया गया । फिर टाँग टूंगकर

पीटते-पाटते फाँसी के तख्ते पर ले आये उसे। हाथ पीछे बाँध दिये गये, सिर पर फाँसी की टोपी रख दी गई। तख्ते पर खड़ा कराकर गर्दन में फंदा डाल दिया गया। सुपरिंटेंडेंट के हाथ से रूमाल गिरा और वह फाँसी के अंधकूप में चला गया।

किन्तु, यह क्या ? जहाँ दो तीन मिनट में ही रस्सी का हिलना बन्द हो जाता है, वहाँ दस मिनट के बाद भी रस्सी हिल रही है! क्या बात हुई ? देखा जाय ?

अरे, यह तो खून-खून हो रहा है। रस्सी ठीक से गर्दन में बैठी नहीं, जीभ निकल आई, जिसपर दाँत गड़ गये। गर्दन फाँसी में लम्बी हो ही जाती है ; किन्तु, यह तो अजीब लम्बी हो गई है। तो भी जान निकली नहीं—न यह जी रहा है, न मर रहा है! सारा शरीर बेतहाशा काँप रहा है। सास का भूत भगाना चाहता था; अब जैसे आप ही भूत के पंजे में हो। क्या किया जाय ? कुछ देर और देखा जाय? उफ री छटपटाहट ! कितनी देर देखा जाय यह मर्मान्तिक दृश्य ! तो फिर नये सिरे से फाँसी दी जाय ?

फँासी के अंधकूप से वह ऊपर लाया गया। गर्दन की रस्सी फिर से बाँधी गई। फिर तख्ते पर रखा गया। फिर अंधकूप में झुलाया गया। तब कहीं उसकी जान निकली !

कहिए, यह सियार की मौत नहीं है, तो क्या है? यह जंगली सियार—सियार की तरह मरा; या मारा गया ?

किन्तु दूसरी मौत थी साँड़ की।

यह गाँव से आया था, किसान था। बपौती ज़मीन के लिए मार-पीट हुई। ख़ून हो गया। ख़ून इसने नहीं किया था; इसके आदमियों ने किया था। किन्तु, उसकी ज़िम्मेवारी से यह अपने को बरी नहीं करता था। इसको अफसोस था कि ख़ून हुआ और ख़ून हुआ उसका, जिसे यह ज़िन्दगी भर चाचा कहकर पुकारता था। उस भोर में भी यह चाचा से मिला था और आरजू की थी कि पंचायत से नहीं तो मुक़द्दमे से मामला तय करा लिया जाय। चाचा भी राज़ी हो गये थे—किन्तु चाचा के बेटों ने नहीं माना। खेत में हल चढ़ा दिया। यह दौड़ा, इसके आदमी दौड़े। ठन गई। अब लाठी की मार तो होती नहीं कि खोपड़ी फूटकर, हड्डी टूटकर, रह जाय। गँड़ासे की मार, बरछे की मार। ख़ैरियत समझिए कि एक ही ख़ून

हुआ। चाचा का खून हुआ; मेरा भी खून हो सकता था—यह वीत-राग सा सारी कहानी सुनाता और खून के बदले खून के न्याय को मानकर अपने को पहले से ही मरने को तैयार कर लिया था इसने।

थोड़ा पढ़ा-लिखा था; रामायण पढ़ता, हनुमान चालीसा का पाठ करता। क्या गरुड़-पुराण सुनवा दीजिएगा जेलर बाबू? इसकी शान्ति और निश्चिन्तता से सब हैरान थे। इसकी यह इच्छा भी पूरी कर दी गई—फाँसी के मौके पर राक्षसता में भी मानवता उमड़ आती है बाबू! भोर में फाँसी होने को थी, उसके पहले दिन गोदान भी करा लिया इसने।

गोदान के दिन इसकी माँ आई थी, स्त्री आई थी। बूढ़ी माँ, जवान स्त्री! वे चिल्ला-चिल्लाकर रो रही थीं—किन्तु, इसने तो जीवित रहते ही निर्वाण प्राप्त कर लिया था जैसे। न कहीं हर्ष था, न कहीं विषाद। खून का बदला खून! अपने दुधमुँहे बच्चे को चूमकर माँ को दिया और कहा—अब तेरा बेटा यही है माँ! पृथ्वी का बदला पृथ्वी पर ही चुकाकर जा रहा हूँ—नहीं तो हत्या का फल कुम्भीपाक में भुगतना पड़ता!

घर के लोग चले गये, तो जेलर से कहा—जेलर साहब, सुनते हैं, स्वर्ग में भी पान, केला और दही नहीं मिलते। क्या इनका इन्तजाम कर दीजिएगा? जेलर ने इन्हें मँगा दिया, रात में इन्हीं का फलाहार किया इसने!

फाँसी का दिन—बहुत तड़के उठा! शौचादि से निवृत्त हुआ, पानी मँगाकर स्नान किया, रामायण का थोड़ा पाठ किया और हनुमान चलीसा पढ़ते हुए फाँसी के चबूतरे की ओर चला!

हमलोग जाग गये थे। अपने-अपने खटालों से इसके पैर की बेड़ी के झनझन में इसके मुँह से निकलते हुए पाठ को स्पष्ट सुन रहे थे।

जयराम—जयराम—जयराम!

सबका अभिवादन किया—जेलर का, सुपरिंटेंडेंट का, जमादार का, जज का भी—जो फैसला सुनाने की विधि पूरी करने आये थे। फिर फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया; चढ़ गया, झूल गया, जय......रा...

चलते-चलते एक निवेदन कर गया था—ब्राह्मण का बेटा हूँ, मेरी लाश चांडाल को नहीं छूने दीजिएगा! जब खटाल खुला, देखा, चार ब्राह्मण वार्डर उसकी लाश को स्ट्रेचर पर लादे गेट की ओर ले जा रहे हैं। भोर-भोर, सूरज की सुनहली किरणों में, उन चारों की आँखों के कोर चमक रहे थे। पत्थर पसीज गया था बाबू!

कहते हैं, उस दिन जेलर के घर में खाना नहीं बना—और दो दिनों तक सुपरिंटेंडेंट जेल के भीतर नहीं आया, यह तो हमने पाया ही!

सब समझ रहे थे, जैसे एक साँड़ की बलि चढ़ा दी गई! कितना सूधा था यह साँड़। कितना निर्दोष, कितना शान्त! उसका शरीर भी साँड़ की ही तरह था बाबू! स्ट्रेचर पर जब उसकी लाश ले जा रहे थे, मालूम होता था, एक साँड़ को ही ढोकर ले जा रहे हैं वे? सारा स्ट्रेचर मसर-मसर कर रहा था!

और तीसरा तो शेर था; शेर की ही तरह फाँसी पर फाँदकर चढ़ गया वह।

कुछ दिनों से कानों कान एक कानाफूसी चल रही थी, कोई बड़ा भयानक क़ैदी जेल में आनेवाला है। जेलर ने कई बार फाँसी-सेल का मुआइना किया। एक बार खुद सुपरिंटेंडेंट उस ओर देखा गया और जब उस दिन जेल के चारों ओर सशस्त्र पुलिस का पहरा पड़ने लगा, तब हमने समझा—वह आ रहा है!

एक आधी रात को वह आया और उसी समय समूचे जेल को गुंजित कर दिया उसने। जहाँ सिर्फ हाहाकार और चीत्कार था; वहाँ गगनभेदी नारे और उच्चकंठ से गाये जानेवाले संगीत की ध्वनि-प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी। सख़्त मनाही थी कि फाँसी-सेल की ओर कोई न जाय। किन्तु यह बात भोर में ही फैल गई कि वह एक नौजवान है, बिल्कुल अठ्ठारह उन्नीस साल का। गोरा रंग है उसका और घुंघराले बाल। वह कोई मोटा तो नहीं है, किन्तु सारी मांस-पेशियाँ कसी हुई हैं। जब खुले बदन खड़ा था, तो मालूम होता था, सोने की मूर्त्ति किसीने खड़ी कर दी है!

उसे फाँसी होनेवाली है और अभी परसों। जल्दी-जल्दी की जा रही है, जिसमें बाहर किसीको खबर न हो। चुप-चोरी रात में उसे लाया गया है यहाँ और चुप-चोरी फाँसी दी जायगी! चुप-चोरी—

हाँ, हाँ; वह बम-पार्टी का आदमी है। एक सरकारी गवाह का ख़ून करके आया है। सरेबाज़ार, भरीशाम को उसने उसे जहन्नुम पहुँचा दिया और किसीकी हिम्मत न हुई कि उसे पकड़े। आख़िर उसके एक साथी ने ही धोखा दिया और अब वह फाँसी पर झुलाया जायगा।

दो दिन और दो रात में ही उसने इस जेल का काया-कल्प कर दिया। जेलर उससे डरता है, सुपरिंटेंडेंट ने कुछ शान दिखाई तो इस तरह घुड़का कि उसकी सारी शेखी हवा हो गई। जमादार की बुरी गत है; वह उसके सामने होने से भय भी खाता है। किन्तु जो क़ैदी उसे खिलाने जाता है, उससे यह बड़े प्रेम से मिलता है—हँसकर बातें करता है और कहता है, डरते क्यों हो? ये सारे-के-सारे भूत हैं। भूत कुछ नहीं है, अपने मन का डर है। डर दूर करो, भूत अपने आप भाग जायगा!

जेल के अफसरों की यह दुर्गति हो सकती है, इसकी कल्पना भी किसीने नहीं की थी। एक अकेला आदमी सिर तान कर खड़ा है और सब विरोधी, अत्याचारी शक्तियाँ थरथर काँप रही हैं! यह क्या बात है भाई? यह कौन-सा जादू है? हर क़ैदी यह सोचने लगा और ज्यों ही सोचना शुरू कीजिए, आदमी का बदलना शुरू हो जाता है। कायरता ही संक्रामक नहीं है, वीरता भी!

जिस दिन फाँसी होने को थी; रात-भर हमने नारे सुने, गाने सुने। जेल में शायद ही कोई सोया हो। और, भोर में सारा जेल फौजी पड़ाव बन गया था। जहाँ देखिए, हथियारबन्द पुलिस किरचें ताने खड़ी हैं। सुनते हैं, बाहर भी पहरे बिठा दिये गये थे!

बेड़ियों की झनझन में अपने कंठ का मादक स्वर भरते हुए वह फाँसी के चबूतरे की ओर बढ़ा। बीच-बीच में नारे लगाता जाता था!

'लाइए, यह फंदा ख़ुद गले में डाल लूँ; ज़रा चूमने तो दीजिए ही—गुलाम देश की नौजवानी के लिए यह जयमाल है न?'

सब दंग, सब भयभीत। कोई आवाज़ नहीं; उसने अपने को सौंप दिया—लीजिए, जैसी आपकी मर्ज़ी, वही कीजिए।

फाँसी को टोपी—हाथ पीछे करके हथकड़ी—पैर तख़्ते पर—फंदा गले में।

'अँगजी राज नाश हो''—'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद!'

वह चल बसा! वीरों की मृत्यु! चारों ओर बन्दूकें, किरचें। दुश्मन से घिरा। मृत्यु सामने खड़ी। किन्तु ज़रा भी भय नहीं; झिझक नहीं। मरण का वरण —हँसते-हँसते! देखनेवालों ने बताया, फाँसी के अंधकूप से जब उसका निष्प्राण शरीर निकाला गया, तब भी उसके चेहरे पर हँसी थी—यद्यपि उसकी गर्दन लम्बी हो गई थी।

वह चल बसा—किन्तु, बहुत दिनों तक इस जेल में रह-रह कर नारे का स्वर सुनाई पड़ने लगा था। कोई-कोई कहता—उसकी आत्मा यह नारे लगा जाती है। क्या यह सच हो सकता है?

चाहे जो हो, चलते-चलते वह जेल का काया-कल्प तो कर ही गया। उसी दिन से जेल की सूरत बदलने लगी बाबू! वह फाँसी पर नही चढ़ा, सुपरिंटेंडेंट, जेलर, जमादार, वार्डर सबकी शान एकबारगी ही फाँसी पर चढ़ गई। उस शान को जिलाने के लिए कोशिशें की गईं; किन्तु फाँसी पर चढ़े हुए शव में कहीं जान आती है!

एक शेर गया कितनों शेरों के लिए उसने पिंजड़ा खोल दिया—पाषाण-पुरी कुछ ही दिनों में 'सिंहों की माँद' बन गई।

लेकिन एक बात बाबू—चाहे सियार की मौत हो, साँड़ की मौत हो या शेर की मौत हो—फाँसी फिर भी फाँसी है!

क्या हत्या की सज़ा हत्या ही हो सकती है? हमने हत्या की, तब तो हमारी हत्या की जा रही है। किन्तु, हमारी हत्या जो कर रहे हैं, क्या उनपर यह नियम लागू नहीं?

हत्या की सज़ा हत्या—तो यह शृंखला रुकेगी कहाँ?

सरकार के द्वारा की गई हत्या हत्या नहीं है, यदि यह मानते हैं तो यह भी मानिए कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति!'

फिर क्या फाँसी के लिए कोई मानवोचित उपाय काम में नहीं लाया जा सकता जो बर्बर युग की इस प्रणाली को जीवित रखा जा रहा है?

दस दिन, बीस दिन पहले से ही खबर कर देना कि अमुक दिन तुम्हारी हत्या की जायगी — हर दिन यह पूछना कि क्या खाना चाहते हो, किससे मिलना चाहते हो —हर आदमी उसके नज़दीक पहुँच कर कह जाया करे कि हाय, बेचारा जा रहा है—फिर दस दिन पहले से ही उस हत्या की तैयारी—

रस्से पर मोम लगाया जा रहा है—उसीकी वज़न का एक बुत बनाकर उसके गले में फाँसी लटकाये जाने का अभ्यास किया जा रहा है—फाँसी के फ्रेम को खड़ा करके अच्छी तरह मुआइना किया जा रहा है कि ठीक से काम करता है या नहीं—और, इस एक-एक की खबर उस बेचारे के पास पहुँच रही है—वह ज़िन्दा ही तिल-तिलकल छीजता जाता है! कहिये, यह कोई मनोवोचित प्रक्रिया है?

और, यह गले की फाँस! फाँसी द्वारा तीन ढंग से मौत होती है बाबू, यह डाक्टर लोग बताते हैं। सबसे अच्छी मौत है झटके की। ज्यों ही तख़्ता हटता और क़ैदी अंधकूप में लटकता है, कि इस तरह का झटका लगता है कि उसकी गर्दन की हड्डी टूट जाती है और तुरत मृत्यु हो जाती है। इसमें शायद ही एक मिनट लगे। दूसरी मौत, छाती की धड़कन बन्द होने से होती है—अंधकूप में पहुँचते ही आदमी की साँस अचानक रुक जाती—और छाती की धड़कन एकाएक बंद हो जाती है। इस मृत्यु में भी ज़्यादा कष्ट नहीं होता। किन्तु तीसरी मौत? गले में रस्सी कसती जा रही है; धीरे-धीरे साँस बन्द हो रही है, आदमी छटपटा रहा है—उफ़ अजीब छटपटाहट! समूचा शरीर कभी सिकुड़ रहा है, कभी तन रहा है, कभी धनुषाकार हो जाता है, कभी कुंडलाकार—आह यह मौत है या.............

हत्या की सज़ा यदि हत्या है, तो हत्या का कोई दूसरा उपाय निकलवाइये बाबू! गोली से मार दीजिये, बिजली से मार दीजिये—किन्तु आदमी का दम घोंट घोंटकर मारने की इस पाशविकता को तो दूर ही कराइये!

फाँसी में अधिकांश मृत्यु इसी तरह गला घुटने से होती है। जिसका कलेजा मजबूत है, उस बेचारे की सबसे बुरी गत होती है—बशर्ते कि वह झटके से न मर जाय!

९—पत्थर पर फूल

कहीं पत्थर पर फूल खिलते हैं?

और, पहाड़ों पर तो फूलों की कमी नहीं होती?

किन्तु क्या पहाड़ सिर्फ पत्थर है?

जहाँ पहाड़ सिर्फ पत्थर हैं, वहाँ फूल नहीं खिलते, पौदे नहीं उगते। किन्तु पहाड़ का पत्थर भी हवा-पानी, गरमी-जाड़ा से प्रभावित होता है। पत्थर पसीजता है, टूटता है, चूर होता है, और जहाँ चूर हुआ कि मिट्टी बना !

मिट्टी बना और पौदे उगे, फूल खिले !

जिन्होंने पाषाण-पुरी की रचना की होगी, उन्होंने सोचा होगा यहाँ फूल खिल न सकेंगे। उनकी यह पाषाण-पुरी भीतर जाने वाले फूलों को भी मसल देगी।

किन्तु, वे भूल गये थे—'रंग लाती है हेना पत्थर पर घिस जाने के बाद !'

कुछ ऐसे भी फूल हो सकते हैं, पत्थरों पर घिसने से जिनका रंग और खिल उठ सकता है, जिनकी गंध और भी फैल सकती है—काश, वे जाने पाते यह सत्य।

और, कहीं हवा-पानी, जाड़ा-गरमी के असर ने पत्थर को मिट्टी बना दिया, तो फिर क्या कहना ?

एक दिन हमने देखा, इस पाषाण-पुरी में पाँच फूल उग आये !

हाँ, फूल ही ! ।

फूल-सा रंग, फूल-सा रूप, फूल-सी गंध !

समूचा जेल जगमगा गया, गमगमा उठा !

शाही क़ैदी थे वे—शाही क़ैदी ! क़ैदी भी शाही हो सकता है ? इसकी तो कभी कल्पना भी नहीं की गई थी इस पाषाण-पुरी में !

एक पूरा खटाल उनके लिए रिज़र्व हुआ। खटाल के चबूतरे तोड़ दिये गये, पलंग बिछ गये। पलंग, गद्दे, तकिए। चादर, रजाई, दुशाले। खटाल में ही बाथ-रूम बना—साबुन, सेंट, लोशन, स्नो। एक खास रसोई-घर बनाया गया—पूड़ी-हलवा, पोलाव-शोरबा, केक, टोस्ट ! ओ हो !

समूचा जेल जगमगा गया, गमगमा उठा !

सुपरिंडेंटेंट रोज़ आकर कुशल-छेम पूछ जाते; जेलर शाम-सुबह हाज़िरी बजा लाते—और, जमादार ! वह कुत्ता; कुत्ते-सा अब दुम हिलाता फिरता।

कभी कलक्टर आते, कभी आई० जी० ।

जहाँ सूरज, वहाँ अंधकार कहाँ? प्रकाश फैलता जाता था, अंधकार सिमटता जाता था !

अब क्या जेल में अत्याचार हो सकता था ?

सबसे अधिक भाग्य खुला मेरा वावू ! इन दावुओं के लिए कुछ पनियों की ज़रूरत हुई—जो साफ-सुथरे हों, शऊर-शलीका जानें, उनकी सेवा अच्छी तरह कर सकें । पहले ही वैच में मैं उनके साथ कर दिया गया ।

वात प्रचलित थी कि वे लोग वड़े भयंकर जन्तु हैं, इसीलिए सरकार ने उन्हें पकड़कर जेल में रख दिया है। वे वड़े आदमी हैं, इसलिए उन्हें पूरे आराम के साथ रखा जा रहा है । खुद वादशाह सलामत के वे मेहमान हैं —इसलिए, उनका यह शाही आदर-सत्कार !

किन्तु, नज़दीक जाकर देखा, उनके ऐसे सरल, सूधे आदमी तो कहीं देखे नहीं । हाँ, वे वड़े आदमी ज़रूर थे । खूव पढ़े, लिखे, उनमें से दो तो वैरिस्टर थे वावू ! । मैं जिनकी खिदमत में रखा गया, वह कालेज के एक प्रोफेसर थे ।

प्रोफेसर साहव की प्रोफेसरी जारी रहनी चाहिए—मुझपर ही उनकी सारी विद्या खर्च होने लगी। उन्होंने मुझे पढ़ाया, लिखाया; सोचना सिखाया, वोलना सिखाया; पाषाण-प्रतिमा में उन्होंने ही प्राण-प्रतिष्ठा की, वावू !

पूरे दो साल तक वे रहे यहाँ। दो साल तक उनके चरणों के नीचे बैठकर मैं सीखता, समझता रहा ।

मेरे इस पढ़ने-लिखने से जमादार कुड़वुड़ाता—किन्तु, किसकी मजाल थी, जो उनलोगों की इच्छा के प्रतिकूल कोई काम करे !

सुपरिंटेंडेंट उनके साथ चाय पीता; जेलर उनके साथ ताश खेलता ।

सिर्फ ताश ही नहीं, तरह-तरह के खेल भी होते अब—भीतरी खेल, वाहरी खेल । शतरंज, चौपड़—वैडमिंटन, टेनिस । दिन-दिन उनकी तादाद भी बढ़ती जा रही थी। देश के कोने-कोने से पकड़-पकड़ कर उन्हें जमा किया जा रहा था, इस पाषाण-पुरी में !

जिस प्रकार अचानक वे लोग, स्वर्ग के वरदान की तरह, इस पाषाण-पुरी में पधारे थे, एक दिन उसी प्रकार बसंत के आखिरी झोंके की तरह वे लोग यहाँ से चल पड़े !

किन्तु, अब तो इसका पूरा कायाकल्प हो चुका था, बाबू !

जमादार ने मुझे धमकाया था—बाबुओं के साथ बाबू बना था साला, अब नानी मरेगी !

मेरी नानी को वह मार न सका था कि आप लोग आ धमके !

अब यह पाषाण-पुरी पुष्पपुरी बन चुकी थी—अब जमादार के नाक भौं सिकोड़ने से क्या हो सकता था, बाबू ?

आपकी सेवा में भी एक साल गुज़रा। अब तो अपनी रिहाई के दिन नज़र आ रहे हैं, बाबू !

किन्तु, चलते-चलाते यह क्या पिछली याद दिला दी आपने ! क्या यह कहानी भी कहने की थी ? क्या यह भी कहानी सुनने की थी ? पतितों की कहानी; पतितों के देश की कहानी !

खैर, मेरे जेल के दिन पूरे हो रहे हैं बाबू ! अब तीन-चार महीनों में मैं बाहर जाऊँगा । बाहर जाना —क़ैदियों के लिए कितनी खुशखबरी की बात है ! किन्तु, मेरा मन तो रह-रहकर हहर जाता है । बाहर ! —बाहर मेरे लिए क्या धरा है ? माँ मर ही गई है; पिअरिया से भेंट होगी नहीं—वह भी ज़रूर चल बसी होगी ! फिर, बाहर जाकर कहाँ रहूँगा, कैसे रहूँगा ?

किन्तु, मैं चाहूँ या न चाहूँ; मुझे बाहर जाना ही पड़ेगा। ठीक उसी तरह, जिस तरह नहीं चाहने पर भी मुझे यहाँ आना पड़ा !

और, बाहर जाने पर क्या करूँगा, इसकी चिन्ता नहीं है। आपलोगों के आशीर्वाद से ऐसी बुद्धि आ गई है कि अपने लिए कोई पथ चुन लूं।

किन्तु, बाबू, आपसे सच कहूँ, ज्यों-ज्यों जेल से बाहर जाने के दिन क़रीब होते जाते हैं, कई प्रश्न मेरे मस्तिष्क को बुरी तरह व्याकुल कर रहे हैं ? क्या आप उन प्रश्नों के सुलझाने में मेरी मदद कर सकेंगे ?

सोचता हूँ, पिअरिया से यों प्रेम करना, क्या मुनासिब था ? एक तो—हम दोनों दो जाति के थे, फिर हमें क्या हक़ था कि यह जानते हुए भी हम एक-दूसरे से उलझें । किन्तु, इसका जवाब तो मैं दिये लेता हूँ । जात-पाँत सो अब आखिरी साँस ले रही है, दम तोड़ रही है । यदि हम दो-चार लात लगाकर उसका अन्त और निकट ला दें, तो अच्छा ही है ! वह घुट-घुटकर तो मर ही रही है, सो, ज़रा जल्दी ही क्यों न खतम हो जाय ? किन्तु, एक प्रश्न जबर्दस्त है । पिअरिया की भी शादी हो चुकी थी और मेरी भी। फिर , यह प्रेम क्या उचित था ?

किन्तु, यहाँ सवाल होता है, शादी ही क्या चीज़ है ? क्या शादी उसीको कहा जाय , जिसमें 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती का कुनबा जोड़ा' की कहावत के अनुसार दो प्राणियों को दो जगहों से लाकर ज़बर्दस्ती गठबंधन कर दिया जाय ? क्या विवाह के लिए दो हृदयों के पारस्परिक मिलन की कोई अनिवार्यता है ही नहीं ?

यदि है—तो, हम उसे क्या कहें, जिसमें हृदय-मिलन तो हुआ नहीं, और गठबंधन हो गया ? क्या उसे तोड़ने का हक़ हमें नहीं होना चाहिए ?

व्यभिचार—व्यभिचार ! आज समाज व्यभिचार के नाम से ही चौंक पड़ता है ! ठीक भी है । समाज में नैतिकता होनी चाहिए, सदाचार होना चाहिए । किन्तु, व्यभिचार की परिभाषा क्या है ? यही न, जो संभोग विवाह-सम्बन्ध के बाहर किया जाय ! किन्तु, जहाँ विवाह ही शुद्ध रूप में नहीं हुआ, वहाँ व्यभिचार का सवाल ही कहाँ उठता है बाबू ? मेरे खयाल से तो सबसे बड़ा व्यभिचारी 'पति'-नामधारी वह महापुरुष है, जो 'पत्नी'-नाम्नी एक अबला पर, हृदय-मिलन की आवश्यकता को विना महसूस किये ही, केवल इसीलिए कि वह किसी पंडितजी या कुछ बड़े-बूढ़ों के द्वारा पति क़रार दिया गया है, अपनी पाशविक तृष्णा की पूर्ति करता है ! कैसा भयंकर अंधेर ! तथाकथित विवाह की ओट में होनेवाली दिन-रात की इस व्यभिचार-लीला पर तो कुछ विचार नहीं किया जाता और यदि कभी इकले-दुकले युवक-युवती हृदय की पुकार से बाध्य हो परस्पर मिलते हैं, तो व्यभिचार-व्यभिचार का तूमार खड़ा कर दिया जाता है !

और, मैं तो आपसे कहूँ, बाबू, इस सम्बन्ध में हमारे पुरखे हमसे कहीं ज़्यादा बुद्धिमान थे। वे 'गठबंधन' को कभी भी महत्त्व नहीं देते थे, 'हृदय-मिलन' ही उनके लिए सब कुछ था। यदि ऐसी बात न होती तो शकुन्तला, मत्स्योदरी, गंगा आदि 'देवियों' और भरत, व्यास, भीष्म आदि उनके 'सपूतों' की चर्चा हम अपने ग्रन्थों में दूसरे ही रूप में पाते! भला बतलाइये न, इन देवियों के परिणय के लिए कब मंडप रचाया गया था? कब ब्राह्मण-देवता ने मंत्रोच्चार किया था? कब इनकी बरात सजी थी? कब गठबंधन हुआ था? तो भी इनके 'सपूत' हमारे महापुरुष हैं! हम उनके नाम लेते नहीं अघाते।

यदि उस समय की हालत से इस समय की तुलना की जाय, तब पता चले, हम कितने पानी में है! ज़रा कल्पना कीजिए, हमारी बहनें या बेटियाँ बिना हमसे पूछे, किसी बसंतकालीन दुपहरिया में किसी लता-कुंज के नीचे, या प्रातःकालीन कुहासे में किसी नदी के किनारे, या चकमक चाँदनी-चर्चित कलस्विनी की मध्य धारा में किसी युवक को देखकर ललच जायँ, उससे उलझ जायँ, अजी अपने हृदय की प्यास बुझा लें, तो, खबर मिलने पर क्या आप उन्हें ज़िन्दा दरग़ोर किये बिना छोड़ेंगे?—उनके बच्चों को भरत, व्यास या भीष्म की तरह पूजा पाने का सौभाग्य तो दूर रहे; क्या वे बेचारे दुनिया की रोशनी भी देख पायँगे!

किन्तु, मैं कहाँ बहक रहा हूँ, बाबू? मैं पतित ठहरा—मुझे क्या हक़ कि धर्मात्मा समाज की कार्रवाइयों पर उँगली भी उठाऊँ? किन्तु, एक बात!

कुछ दिनों में आपलोग भी बाहर जायँगे। बाहर जायँगे, और जैसा कि आपलोग कहा करते हैं, इस पृथ्वी पर स्वर्ग बसाने की कोशिश करेंगे। पृथ्वी पर स्वर्ग!—कितनी सुन्दर कल्पना! यह सपना सत्य हो, सफल हो!

पर, क्या आपलोगों के उस पृथ्वी के स्वर्ग में भी पतित रहेंगे बाबू? और, सबसे बढ़कर, क्या उसमें भी पतितों का यह देश आबाद रहेगा?

जहाँ पतित हों, जहाँ पतितों का देश हो—क्या उसे स्वर्ग के नाम से अभिहित किया जा सकता है?

जहाँ कल्लू हो, जमादार हो; जहाँ बेंत की तिकठी हो, फाँसी का तख़्ता हो—वह स्वर्ग तो हो नहीं सकता। ये तो पृथ्वी के ही कलंक हैं—स्वर्ग की तो बात अलग।

स्वर्ग बना सकें, बसा सकें—फिर क्या कहना? किन्तु मैं कहूँ, यदि पृथ्वी से इन कलंकों को दूर कर दें, तो कम से कम यह आदमियों के रहने लायक़ तो हो ही जाय।

देवता हम पीछे बनेंगे, पहले हम पूरे आदमी तो बन लें।

———

लाल तारा

शहीद बैकुंठ शुक्ल को

जो स्वयं एक जाज्वल्यमान तारा था !

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

नये रूप में

'लाल तारा' मेरे शब्दचित्रों का पहला संग्रह है। इसका पहला रूप उस ज़माने में निकला था, जब मैं सिर से पैर तक लाल–लाल था।

दूसरे संस्करण में इसका कुछ रूप बदला और अब तीसरे संस्करण में यह बिल्कुल नये रूप में पाठकों के हाथ में आ रहा है।

इसकी कुछ चीजें, जिनका गुलाबी रंग था, नई पुस्तकों में रख दी गई हैं, कुछ और चीजें इसमें जोड़ दी गई है, जो अन्यत्र संग्रहीत थीं, किन्तु जो अपने अंगारे के-से रंग के कारण, इसीके लिए उपयुक्त जँचीं!

मेरे विचार से, अपने इस नये रूप में, यह अपने नाम को और भी सार्थक करता है।

'लाल तारा' एक नये प्रभात का प्रतीक था। वह प्रभात अब अधिक सन्निकट है। शायद इसीलिए अंधकार भी अधिक सघन हो चला है।

यह अंधकार छँटे, नये प्रभात का स्वर्णोदय हो, इसी कामना के साथ।

आश्विन की अमावस्या
१९५३

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी



लाल तारा

निविड़ अन्धकार और घने कुहासे के पर्दे को फाड़कर वह लाल तारा पूरब के क्षितिज पर जगमग-जगमग कर रहा था!

गरभू उठा। पूस का जाड़ा, पुआल की तहों को छेद, इस आखिरी रात को गरभू के कलेजे तक पहुँच चुका था। पहले दमा उठा, फिर गरभू।

गरभू उठा, झोपड़ी के बाहर आया।

एक बार काँपते-काँपते उसने खलिहान को, चारो ओर नज़र दौड़ाकर, देखने की चेष्टा की। खलिहान–उसकी वर्ष भर की मेहनत जहाँ बोझों के अम्वार और अन्न की रास के रूप में पड़ी थी।

वर्ष भर की मेहनत—धान की सुनहली बालियों के रूप में। इस सोने पर, जब कि वह सोया हुआ था, किसी चोर-छिपार की बुरी नज़र न लगी हो!

देखने ही से संतोष नहीं हुआ। एक बार खलिहान के चारों ओर वह घूम आया।

फिर बटुवे से सुर्ती निकाली, चुनौटी से चूना। दो-चार बार कसके चुटकी लगाई और एक मीठी थपकी दी। अँधेरे में ही, स्पर्श के द्वारा, कुछ महीन सुर्ती अलग कर नाक में डाली, शेष मुँह में।

नाक से छींक आई, सिर का बोझ दूर हुआ। सुर्ती की एक पीक गले के नीचे उतारी, शरीर गरमा गया।

क्या वह सोये ?

उँह, यह भभूका--लाल तारा-उग चुका ! यह तो रामनाम की बेला है।

गरभू प्रभाती टेर रहा था-

'लाज मोरी राखहु हो ब्रिजराज !'

× × ×

यह लाल तारा !

गरभू के कितने सपनों का साथी है वह !

उसका वह बचपन !

लाल तारा देखते ही उसका बाप उसे उठा देता। गरभू उठता, आँखें मलता, बथान में जाता और तुरत की ब्याई उस गुजराती भैंस को खोलकर पसर चराने को निकल पड़ता।

कितनी ही चाँदनी रातों में दप-दप सुफेद साड़ी पहने चुड़ैलों ने उसे फुसलाया !

कितनी ही अँधेरी रातों को काले प्रेतों ने उसे डराया-धमकाया !

किन्तु गरभू जानता था, जब तक वह भैंस की पीठ पर है, उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। लक्ष्मी के निकट कहीं भूत-प्रेत आते हैं !

लोही लगने पर वह लौटता। चारों ओर हरे-भरे खेत, ओस के मोतियों से लदे। उसकी अघाई भैंस झूमती, बच्चे के लिए चुकरती,

घर की ओर भागी आ रही। और, गरभू उसकी पीठ पर बैठा—उसे वह अनुभव होता, जो किसी इन्द्र को अपने ऐरावत की सवारी पर।

× × ×

जब वह जवान हुआ–

इस लाल तारे को केन्द्रित कर उसके कितने न स्वर्ण-जाल बने !

स्वर्ण-जाल ? उतना ही क़ीमती, उतना ही रंगीन; किन्तु कितना क्षणिक !

सोने का जाल ? या मकड़ी का जाला !

गरभू को वे दिन–नहीं, रातें–अब भी याद हैं। अपनी नवोढ़ा पत्नी के साथ, अपनी कुटिया में लेटे-लेटे, वह सारी रातें गपशप में बिता डालता। इतने में ही उसकी पूरब की छोटी खिड़की से यह लाल तारा उसके घर में झाँकने लगता।

'ऐं, भोर हो गई !' उसकी नवोढ़ा बोल उठती। इस आवाज़ में कितनी तड़प, कितनी चाह और कितनी आकुलता भरी होती !

वह सोचती—दिन आ रहा, उसके और उसके इस अलबेले के बीच एक कठोर अन्तराल खड़ा हो जायगा !

रूढ़ियों की दीवाल !–पत्थर की दीवाल से भी ठोस, कठोर, हृदयहीन !

दोनो आँगन में आते। देखते, परखते—हाँ, यह लाल तारा ही तो है ? तब–

तब, एक बार हुलसकर लिपटते और विदा होते। एक दरवाज़े की ओर—दूसरी, अपनी उस प्रणय-पर्ण-कुटीर की ओर।

उनकी आँखों में भी तारे चमकते—उजले-उजले, काली-काली बरौनियों की सघनता को भेदते, चाँदनी के स्पर्श से मोती-सी दिपते !

× × ×

और यह प्रभाती, यह गाना !

गाना—गरभू कितना गाता, कैसा अच्छा गाता ? आज तो दो पदों के बाद ही उसका गला बैठा जा रहा है।

गरभू गाने के लिए बदनाम !

हाँ, गरभू गाने के कारण बदनाम भी हो चुका है। न उसके पास श्याम की बाँसुरी थी, न उसमें वह भुवन-मोहन रूप था; किन्तु उसके अटपटे गाने कितनी ही 'राधाओं' को उसके पास खींच लाते !

न यमुना, न वृन्दावन, न कदम्ब, न कुंज-कुटीर !

किन्तु तो भी इस गाँव के कितने ही स्थल हैं, जहाँ पर उसके प्रणय-चिन्ह अदृश्य कूचियों से अंकित हैं !—बाबुओं की अमराई, तालाब का कछार, सरसों के खेत, गाँव की अँधेरी गलियाँ !

वह गाते-गाते जगता, गाते-गाते सोता ! काम भी करता गाते-गाते ! कन्धे पर हल लिये खेत की ओर जा रहा है, गाते-गाते। हल चला रहा है, गाना हो रहा है और ताल टूटता है—बैल के पुट्ठे पर ! "चल बे पट्ठे"—बैल नाचने-से लगते, वह गाने लगता—

'आम की डाल कोयलिया कुहके,
बनवा में कुहके मोर;
मोरा अँगना में कुहके सोने की चिड़इया,
सुन हुलसे जिया मोर।'

'हाँ जी, सुन हुलसे जिया मोर !!'

गाते-गाते कभी परिहथ छोड़ कर वह नाचने भी लगता !

गाँव के लोग इस अलबेले हलवाहे पर फब्तियाँ कसते, उसके बाप से शिकायत करते। किन्तु बाप—

बाप कहता—जिस दिन से गरभू ने हल पकड़ा, उसके खेत सोना उगलते हैं, घर मोती सँजोते हैं।

टट्टी की जगह मिट्टी की दीवाल। फूस की जगह खपड़ैल का छाजन। उसके बाप के वदन पर सुफेद अँगोछा—माँ की देह पर कोर-दार साड़ी !

और रंग-बिरंगी चूनर पहननेवाली तो पीछे आई !

पर आज ?

कहाँ गये बाप, कहाँ गई माँ ? अच्छा हुआ, ये दुर्दिन वे न देख सके !

मिट्टी की दीवाल की जड़ नोनी लगने से खोखली हो चुकी है, आज गिरे या कल ! खपड़ैल के बीच-बीच फूस है, ठीक उसी तरह, जैसे उसकी स्त्री की पुरानी चूनर में ननकिलाट के पेवन्द !

और, मानो गरभू आज उस बेचारी के ही शब्दों में गा रहा है—

'लाज मोरी राखहु हो ब्रिजराज !'

× × ×

गरभू का गला भर आया। गाया न गया। इस जाड़े में भी उसका शरीर पसीने-पसीने हो गया।

झोपड़ी से निकल वह खलिहान में घूमने लगा ।

यह बोझों का अम्बार—यह अन्न की रास ?

क्या ये उसके घर जा सकेंगे ?

कितने गिद्धों की नज़र न लगी होगी इनपर—मानों ये गरभू की मेहनत के नतीजा न हुए, कोई लावारिश लाश हैं।

जब तेज़ी थी, लगान बढ़ते-बढ़ते आसमान से जा लगी—अब मन्दी में भी वह वहीं लटकी है। वह क्यों उतरे ?

बक़ाया ! बक़ाया ! बक़ाया—साल-साल देते जाओ, देते जाओ, तो भी बक़ाया !

परिवार बढ़ा—आमदनी घटी। कर्ज़। फिर सूद—और दरसूद। कितना दोगे ? और जिनसे अन्न लेकर खेती की, उनका ड्योढ़ा तो सबसे पहले चुकाना होगा।

इस अम्बार की एक-एक बाली का हिसाब लगा हुआ है; इस रास के एक-एक कण का जमा-खर्च बँधा हुआ है।

साल भर दिन-रात एक की। माघ का जाड़ा घुटनों में सिर छुपाकर काटा। जेठ की दुपहरिया कुदाल की छाया में गँवाई। भादो की रिमझिम कीचड़ में खड़ा-खड़ा, हँस-हँस, गुज़ार दी।

किन्तु जब फल खाने का वक्त हुआ, ये गिद्ध !

ये गिद्ध ?—हाँ, ये गिद्ध नहीं तो क्या हैं ? ये गिद्ध हैं—मांस-खोर हैं। गिद्ध तो मुर्दार मांस खाता है। ये गिद्ध के भी चचा हैं, ज़िन्दा मांस खाते हैं।

उफ़, मेरा बच्चा—कितनी तपस्या के बाद मिला बच्चा ! दिन-दिन सूखता जा रहा है। वह हँसता-खेलता बच्चा, क्या-से-क्या हो

गया ! दिन-रात बुखार, खाँसी। पहले कफ़ थूकता था, अब खून उगलता है।

और, उसकी वह बहिन—गरभू की इकलौती बेटी ! बेचारी की जवानी अकारथ बीती जाती है। पैसे नहीं कि उसका गौना करा दूँ। कैसी पीली पड़ती जा रही है।

मेरी······कहाँ गई उसकी चूनर ? बेचारी की लाज तक ठीक से नहीं ढँक पाती।

आज क्या यह मुनासिब नहीं था कि अपनी मेहनत की इस कमाई से अपनी सुख-दुख की साथिन की लाज ढँकता, अपनी बेटी की जवानी को बर्बाद होने से बचाता और—और अपने प्यारे बच्चे····

वैद्यजी कहते थे—वह अब भी बच सकता है।

किन्तु ये बचने देंगे ? बिना उसको खाये इनको चैन होगा ?

क्या बाबूसाहब को पैसे की कमी है ? क्या साहूजी का तोड़ा ज़रा भी खाली है ? फिर लगान-लगान, सूद-सूद की यह कैसी रट ?

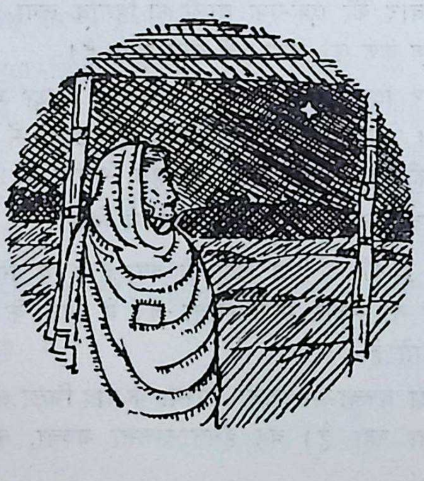
नहीं, ये गिद्ध के चचा हैं—बिना ज़िन्दा मांस खाये...

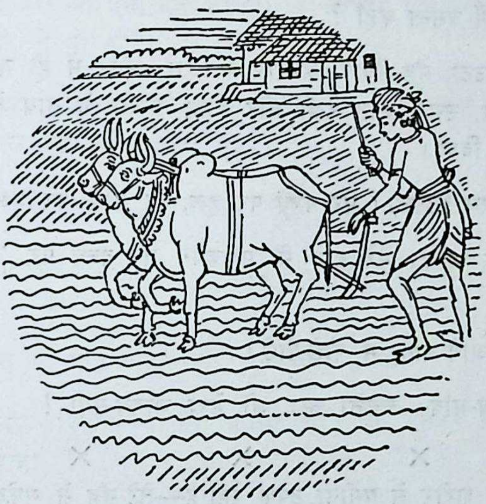
गरभू काँपने लगा, गिर पड़ा।

पहले बड़बड़ाहट—फिर नाक की आवाज़—तब सन्नाटा।

और उधर—

निविड़ अन्धकार और घने कुहासे के पर्दे को फाड़कर वह लाल तारा पूरब के क्षितिज पर जगमग-जगमग कर रहा था !





हलवाहा

आँव-आँव—चलता चल, ओ मेरा जीवन-संगी, चलता चल !

न जाने, किस कुक्षण में मेरा-तेरा संग हुआ कि तूने मुझे आत्मसात्-सा कर लिया है।

हाँ, मैं मनुष्य होकर भी आज बैल हो रहा हूँ।

स्वयं घास-पात पर गुज़र कर दूसरों के लिए पृथ्वी का कलेजा चीरता और उसके विविध रत्नों से उनका भण्डार भरता।

छड़ी-चाबुक खाते-खाते इतना अभ्यस्त हो गया हूँ कि अब सींग-पूँछ हिलाना भी छोड़ दिया है।—पूरा बछिये का ताऊ बन गया हूँ।

आँव-आँव—चलता चल, ओ मेरा जीवन-संगी ! चलता चल !

× × ×

जीवन-संगी !

हाँ, तू ही तो मेरे जीवन का सदा का साथी है।

भोर हुई, आकाश में लाली छाई, बाग में फूल चिटखे।

किन्तु मेरे भाग्याकाश को तो सदा अँधियाला रहना ही बदा है–मेरे बाग़ में वसन्त कहाँ ?

मैं उठा, मुँह-अँधारे, अभ्यास के सहारे, अँधेरे में ही जल्दी-जल्दी कुट्टी काटी, उसमें भूसा रखा और थोड़ी खल्ली के साथ तेरे निकट उसे रख दिया।

किरन छिटकी। मेरे कन्धे पर हल, तेरे कन्धे पर जूआ।

खेत पहुँचे। मेरे हाथ में 'परिहथ', तेरे कन्धे पर 'पालो' का बोझ।

तू आगे-आगे, मैं पीछे-पीछे।

आँव-आँव––चलता चल, ओ मेरा जीवन-संगी !

× × ×

मेरे शरीर से पसीना टपक रहा है––तेरे मुँह से सुफ़ेद झाग चू रहा है। उफ़ ! यह धूप है या अगिन-वान ?

वह ! वह कौन आ रही है ?

वही तो है।

मँड़ुए की एक रोटी, टिकोरे की थोड़ी चटनी, एक पूरा सूखा मिर्चा, थोड़ा-सा नमक, बस !

एक टुकड़ा तू भी खा ले, ओ मेरा जीवन-संगी ! अपने को तो सदा अधपेटा रहना ही है।

तिपहरिया––दोनो थके-माँदे; किन्तु मुझे तो तेरी ख़बर लेनी ही है।

आह ! यदि मेरा हलवाहा भी मेरी ख़बर इसी तरह लेता।

वह तो दिन भर मुझे जोतता है और शाम को यह ख़बर भी नहीं लेता कि कभी मुझे भरपेट खाना भी मिला।

मैं तेरी चिन्ता करता हूँ—यह वेचारा अधपेटा रहेगा, तो फिर कल हल कैसे खींचेगा ? किसी उपाय से तेरा पेट भर ही देता हूँ।

किन्तु वह ?

वह दिन भर मुझे जोते रहता—वारह मास जोते रहता है; किन्तु एक वार भी ऐसा नहीं सोचता कि आख़िर इस मनुष्य-रूपी वैल के भी पेट है या नहीं।

उलटे, जव कभी संयोग से मेरे निकट 'हरी घास' देख पाता है, झपटकर स्वयं हड़प जाता है।

खेत मेरा, खलिहान उसका; भूसा मेरा, अन्न उसका।

उफ़–ओह !

× × ×

चल ओ मेरा जीवन-संगी, ज़रा तेजी से चल !

सुना, द्वापर में भी एक हलधर था। हाँ, हलधर ही तो–मेरा सगा-सम्वन्धी !

एक बार वह विगड़ा।

अपने हल की नोक, उसने, ज़मीन में कुछ गहरे धँसा दी; फिर, समूची पृथ्वी को, उस हल के बल खींचकर, समुद्र में डुवोने को वह उद्यत हुआ।

हाँ, वह हलधर था और अपने हल की नोंक से समूची पृथ्वी को खींचकर समुद्र में डुवोने चला।

कहा जाता है, सब व्याकुल हो उठे। उसके पैरों पर गिरे। हलधर ही तो था—पसीज पड़ा वेचारा। पृथ्वी वच गई—बच गई उस-पर की सारी सृष्टि !

किन्तु, मैं नहीं पसीजूंगा, ओ मेरे जीवन-संगी !

ओ मेरे जीवन-संगी ! ज़रा तेज़ी से चल !

आज इस समूची पृथ्वी को, अपने हल की नोंक से खींचकर, मैं समुद्र में डुवो दूंगा।

वह पृथ्वी रहकर क्या होगी, जहाँ मनुष्य बैल बन जाता है ? जहाँ उस बैल को दिन-रात खटाया जाता है, किन्तु चारा भी नहीं दिया जाता ?

जहाँ वह भूखों मरता है जो पैदा करता है। जहाँ वह मौज उड़ाता है, जो अजगर–सा बैठा रहता है।

जीवन-संगी ! तेज़ी से चल। इस पृथ्वी को समुद्र में डुबोऊँगा, चलता चल, तेज़ी से चल ! आँव-आँव !

× × ×

आह रे, हलवाहे का हृदय !

यदि सचमुच एक बार वह कठोर हो पाता।

जीवन-संगी, यदि सचमुच मैं कठोर हो पाता !

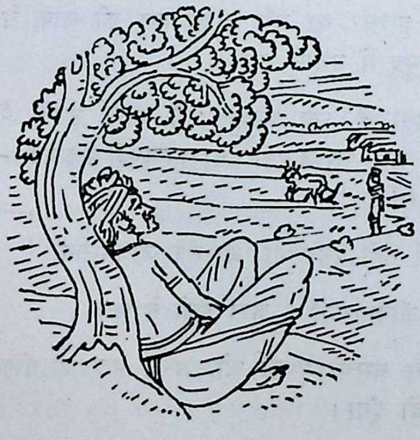
पसीने से पृथ्वी को मुलायम और ज़रखेज़ बनाने के बदले एक बार अपने खून की खाद से इसे सींचता और उर्बर बना पाता।

आँसू तो बहुत बरसाये—एक बार चिनगारियाँ चमका पाता।

जीवन-संगी, तेरे ये दो सींग मेरे मस्तक पर उग आते।

तेरी तरह पूँछ तो बहुत हिलाई। अब ज़रा सींग फटकारने की अक़ल भी मुझे दे—ओ मेरे जीवन-संगी !

आँव-आँव, चलता चल, चलता चल......





यह और वह

हज़ारीबाग रोड स्टेशन ! चार बाबू-क़ैदी वेटिंग रूम से निकल-कर प्लैटफार्म पर हवाखोरी कर रहे हैं।

दिनभर की कड़ी धूप के बाद यह शाम कैसी अच्छी मालूम हो रही है ! चारो ओर धूसर पहाड़ियाँ—दूर पर एक पहाड़ी को सुशोभित करता पारसनाथ का वह मंदिर ! पश्चिम में सूर्य अपना बचा-खुचा सोना बाँटकर, हँसता हुआ, विश्रामागार को जा रहा है। पूरब में चतुर्दशी का चाँद अपना चाँदी का थैला लिये, मानों दान के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में है—भला इस गोधूलि बेला में भी कोई पुण्य कर्म किया जाता है ?

रह-रहकर हवा का एक शीतल झोंका दिन भर की गर्मी को भुलाने की चेष्टा करता हुआ सन्-सन् करके निकल जाता है।

कि इतने में ही एक बालिस-ट्रेन प्लैटफार्म आ लगती है।

खुले डब्बों की एक लम्बी कतार! डब्बों में गिट्टियाँ भरीं। गिट्टियों पर कुछ आदमी बैठे, अपने हथौड़े चलाये जा रहे हैं। कुछ लोहे के चूल्हे में कोयला रख उसे धधकाने की चेष्टा में हैं–धुआँ-धुआँ हो रहा है! कुछ गिट्टियों पर पड़े, पत्थर का तकिया किये, सोये हुए हैं, उनकी नाक की 'सर-सों' आवाज़ साफ सुनाई पड़ती है। उनके सिरहाने अध-सूखे पत्तोंवाली डाल हिकमत से खड़ी की हुई है। मालूम होता है, कुछ पहले धूप से बचाव के लिए उन्होंने यह तरकीब की थी। कुछ खड़े होकर स्टेशन की ओर देख रहे हैं। उनमें से कुछ के ध्यान को तो इन बाबू क़ैदियों की ओर जाना ही था।

यह वबुआना वेश और पुलिस की निगरानी में!

एक अपने डब्बे से कूदकर बाबू क़ैदियों के नज़दीक आता है–शायद इस अजीबो-ग़रीब जानवर की अच्छी तरह पहचान रखने के लिए!

'तुम्हें कितनी मजदूरी मिलती है, भाई?'

'भाई'—वह पूछनेवाले बाबू-क़ैदी को सिर से पाँव तक देखता है! 'भाई'—इस अपरिचित शब्दों से जैसे वह घवड़ा जाता है। उसे जिन शब्दों से आज तक वाबुओं ने पुकारा, उनमें यह शब्द तो नहीं था!

'मैं तुम्हींसे पूछता हूँ दोस्त। वोलते क्यों नहीं?'

पहले भाई, अब दोस्त। हिचकिचाते हुए उसने कहा—"चार आने।'
'और, काम कब से कब तक करते हो?'

इस फिजूल सवाल का क्या अर्थ?–उसकी घबराहट बढ़ती मालूम होती है।

'यहीं—भोर से शाम तक।'

दिनभर में छुट्टी नहीं मिलती?'

'बीच में खाने के लिए एक घंटे की।'

'अच्छा, तुम्हारे घर में कितने आदमी हैं?'

'पाँच—मा, मैं, मेरी स्त्री, दो बच्चे।'

'दो बच्चे ?'

'जी हाँ।'

'बाप मर चुके ?'

उसने सिर हिलाकर 'हाँ' भरी।

'चार आने में पाँच प्राणियों की गुज़र कैसे चलती है ?'

अब तो उसकी घबराहट अन्तिम छोर पर पहुँच चुकी थी; लेकिन इसी समय इंजिन ने सिटी दी—वह दौड़ता हुआ अपने डब्बे में चढ गया। ट्रेन चल दी। उस धुँधले प्रकाश में बाबू-क़ैदी ने देखा, वह दोनो हाथ मस्तक से सटाये उन्हें अभिवादन कर रहा है।

× × ×

'ज़रा स्नान क्यों न कर लिया जाय'—एक बाबू-क़ैदी ने अपने दूसरे साथी से, रेल के स्टेशन पर बड़ी तेज़ी से चलते हुए पानी के के नल को देखकर, कहा।

झर-झर-झर–नल का पानी उसके सिर पर गिर रहा है; लेकिन उसका दिमाग़ तो अभी तक ठंढा नहीं होता–साफ़ नहीं होता। खड़-खड़-खड़-खड़ करती हुई वह बालिस-ट्रेन उसके दिमाग में कुहराम मचाये हुई है। बालिस-ट्रेन पर चलता हुआ वह हथौड़ा मानों उसके मस्तक पर तड़ातड़ पड़ रहा हो और जलता हुआ वह चूल्हा उसके अन्तर में भट्ठी फूँक रहा हो। गिट्टी पर पत्थर का तकिया लगाये सोये हुए उस मजदूर की नाक से निकली आवाज़ सायँ-सायँ कर उसमें भाथी चला रही है और सबसे बढ़कर उस नौजवान की आकृति, उसकी चार आने मजदूरी, फिर पाँच प्राणियों की गुज़र और अन्त में उसका वह प्रेम-पूर्ण अभिवादन! एक साथ ही–धू-धू हू-हू! चिता भी जल रही है, तूफान भी चल रहा है। भला ऐसे दिमाग़ को पानी के ये फुहारे क्या फायदा पहुँचा सकते थे ?

इसी समय प्लैटफार्म के नीचे, शंटिग की लाइन पर, रेल का एक डब्बा जगमगा उठा।

उस जगमग में उसके भीतर के दृश्य साफ नज़र आ रहे हैं।

एक सज्जन—नहीं, वह 'साहब' कहलाना ज़्यादा पसंद करेंगे—तो, एक साहब कुर्सी पर बैठे हैं। तुरत-तुरत गुस्ल-खाने से निकले

हैं। बिजली की रोशनी में उनके भींगे केश पर की बूंदें कैसी चमक रही हैं, जैसे हरी घास पर ओस के कण, जिन्हें सूर्य-किरणों ने रंग-बिरंगा बना दिया हो। बड़े आईने के सामने, सोफियाने ब्रश से, अपने बाल को सम्हाल रहे हैं। किंतु बिजली-पंखे की हवा से उड़-उड़ कर वे मुलायम बाल बार-बार उनके चेहरे पर लटक आते हैं। मालूम होता है, बालों का कौतुक उन्हें भी पसंद है—बार-बार ब्रश फेरते और बीच-बीच में ठहर-ठहरकर उनके बिखरने की प्रतीक्षा करते हैं। फिर, कुछ उजली-उजली, मक्खन-सी चीज़ निकालकर चेहरे पर मलते हैं। कमीज़ पर कालर और नेक्टाई बाँधते हैं—ऊपर से कोट डालते हैं। तब एक बार गर्व से आईने में देखते हैं। उनकी असल और नक़ल दोनों सूरतें—यहाँ, इस नल पर से, साफ-साफ दिखाई पड़ रही हैं।

इतने ही में खानसामा पहुँचता है। हाथों में ट्रे है और चेहरे पर एक दहशत। टेबिल पर ट्रे रख देता है। ट्रे के ऊपर से सुफेद कपड़े को हटा कर एक बार साहब सरसरी नज़र से सब चीज़ों को देखते हैं—फिर, भौं कुछ टेढ़ी करके खानसामे की ओर ताकते हैं। पचास गज़ के फासले से भी उस बिजली की रोशनी में, खानसामे पर जो आतंक छाया, उसका पता साफ-साफ चल रहा है। एक घुड़की—उसका पीछा हटना। फिर ट्रे की कुछ चीज़ों का उठाना—दृश्यपथ से गायब होना। कुछ देर के बाद लौटना, कुछ लिये-दिये।

काँटे-छुरे चमक रहे हैं। बीच-बीच में छोटी-छोटी प्याली में कुछ रंगीन तरल पदार्थ कंठ से नीचे उतारा जा रहा है।

नहाने वाला बाबू उद्विग्न हो उठता है, जैसे आँख मूंद कर वहाँ से चल देता है। वेटिंग रूम में आता है।

'यह कौन साहब हैं ?'

'उस सैलून में ?'

'हाँ।'

'रेलवे के कन्ट्रैक्टर हैं—अबरख का भी आपका बड़ा कारबार है।' इतने में—'लारी आ गई, चलिए' की पुकार।

लारी की अगली सीट पर चारों बाबू-क़ैदी बैठे हैं; दारोग़ाजी ड्राइवर की बग़ल में—चारों सिपाही पिछली बेंच पर।

आधी रात का सन्नाटा—उस पहाड़ी प्रदेश में वह लारी चली जा रही है।

सड़क के दोनों ओर हरे-हरे दरख्त—दूर क्षितिज की गोद में सिर रखकर सोई-सी पहाड़ियाँ—चाँदनी, समूची दुनिया मानों तरल चाँदी में स्नान कर रही हो ! ठंढी पहाड़ी हवा मन-प्राण को जुड़ा रही है।

लेकिन उस समय भी एक का दिमाग़ इस तरह व्याकुल है, जैसे चिलचिलाती धूप में, जल से बाहर रख दी गई, मछली ! वहाँ द्वंद्व मचा हुआ है—

यह हैं कन्ट्रैक्टर—रेलवे कन्ट्रैक्टर—रेलवे की लाइनें बनाने, सुधारने का काम—पुल, स्टेशन भी बनवाते होंगे।

वह बालिस ट्रेन; वे कुली—इन्हींकी मातहत तो वे वेचारे काम करते होंगे।

यह कन्ट्रैक्टर साहब ! यह कौन-सा काम करते हैं ? देखभाल ? —झूठी बात—देखभाल तो इनके दूसरे नौकर करते होंगे, जिन्हें हम ओवरसियर कहें, इंजीनियर कहें।

तब ?

तब इनके रुपये हैं, उन रुपयों से इन मजदूरों को—नहीं, तो उनकी मजदूरी को ही कह लीजिए—खरीदते हैं—उनसे मनमाने काम लेते हैं। और, उनके काम पर मनमाने दाम वसूल करते हैं।

यों मेहनत किसीकी, नफ़ा किसीका !

और, अवरख का कारबार होता है ?—क्या कारबार ? ऐसा ही...या कोई खान होगी हज़रत की।—कुछ कुली, कुछ कारीगर मरते होंगे और उनका यह श्राद्ध रचा रहे हैं ?

लेकिन, एक बात तो सोचनी होगी ही—आखिर रुपये के लिए कुछ तो मिलना ही चाहिए।

लेकिन यह रुपया आया कैसे ? इसी तरह कभी-न-कभी किसीको मूड़कर आया होगा। नफ़े के रूप में नहीं सही, किराये के रूप में, सूद के रूप में, मालगुज़ारी के रूप में।

तमाशा है, जो मेहनत करे, वह उस बालिस-ट्रेन में...

और जो......जो.....

दारोग़ाजी अचानक बोल उठते हैं, 'वाह हजारीबाग़ की आब-हवा भी इस गर्मी में क्या चीज़ है, न्यामत ही समझिए'--उन्होंने पीछे की ओर देखा ।

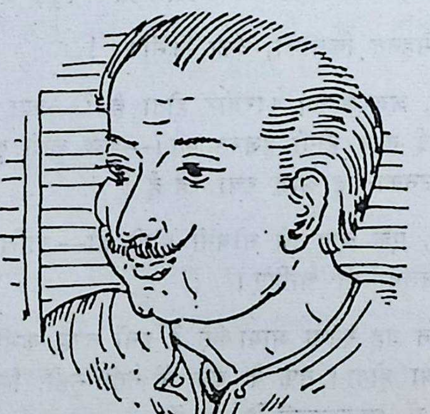
वह मानों, इन बाबू-क़ैदियों पर सहानुभूति और धैर्य की एक साथ वर्षा करना चाहते थे। इन भलेमानसों पर उन्हें थोड़ा रहम तो ज़रूर आता होगा, जो इतना पढ़-लिखकर इस तरह बार-बार जेलों में जाने के कारनामे करते रहते हैं। पागलों पर भी तो रहम होता ही है।

किन्तु, अफसोस--उनके इस तरह सहानुभूति-प्रदर्शन, इस धैर्य-दान पर दाद कौन दे ? बाबू-क़ैदियों में से तीन की आँखें बन्द थीं--न जाने, वे किस स्वप्नलोक में विचर रहे थे ?

और, चौथा जगा था ज़रूर ! लेकिन उसके कान, उसकी आँखें, उसकी सभी इन्द्रियाँ, जानें., कहाँ कहाँ थीं ?

अपने विचार-सूत्र को जारी रखते हुए वह बड़बड़ा उठा--

'और इतने पर भी लोग कहते हैं, तुम क्या समाजवाद, समाज-वाद चिल्ला रहे हो !'





हँसिया और हथौड़ा

सर्, सर्, झिन्-झिन्—पके धान की सुनहली बालियों के संचय में लगी है, हँसिया !

खट्-खट्, धड़ाम-धड़ाम—तपे हुए लाल लोहे पर बरस रहा है, हथौड़ा !

चमचमाती देह, पतली कमर,—हँसिया नाज़नी-सी इठला रही है !

मुस्तंड वदन, घन-गर्जन—हथौड़ा तो औद्धत्य का अवतार ठहरा।

एक दिन दोनों में नोंक-झोंक हो रही थी—

'मैं संचय की रानी, विश्व की अन्नदात्री, सदा हँसती, हमेशा इठलाती — देखो मेरी इन बतीसियों को।' — वह ज़ोरों से हँस रही थी !

'मैं सभी उद्योगों का जनक, दुनिया को सभ्यता मैंने दी। नहीं मानोगी ? तो......।'—वह आँखें गुरेड़ रहा था !

"मेरी दुबली देह पर मत जाओ—पतलापन काट करने की ताक़त का सूचक भी होता है; और दुनिया जानती है, बड़ा कौन—धार या प्रहार ?"

'मैं अबला से मुँह नहीं लगाता !'—क्या हथौड़ा के पास कोई जवाब नही था ?

× × ×

हँसिया-हथौड़ा ! शक्ति और कर्तृत्व के ये दो प्रतीक हैं !

कृषि और उद्योग के !

प्रकृति और पुरुष के !

संसार-रथ इन्हीं दो पहियों पर बढ़ा जा रहा है। हाँ, दोनों पहियों पर–'

एक पहिया भी गिर जाय, तो यह रथ एक पग बढ़ने का नहीं ! हँसिया-हथौड़ा संसार-रथ के ये दो पहिये हैं।

× × ×

हँसिया रो रही थीं !

हथौड़ा उदास बैठा था !

'क्यों, बहना ?'

"यह कबतक बर्दाश्त किया जा सकेगा ?"

'मैं भी तो यही जानना चाहती हूँ।'

'उफ ! कहाँ है तुम्हारी वह चमक—वह हँसी ?'

'तुम्हारी मांसल भुजाएँ भी क्या भूलने की चीज़ हैं ? और, वह मस्तानापन !'

'उठो बहन !'

'बढ़ो भाई !'

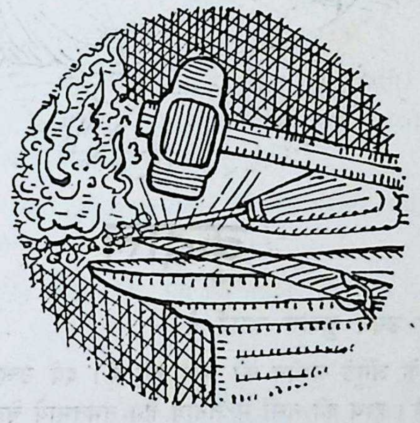
दोनों बढ़ रहे थे—

'दुनिया को दिखा दूँगी, मैं संचय की ही देवी नहीं, संहार की धात्री भी हूँ।'

'निर्माण का कार्य हमसे खूब लिया गया, दुनिया अब ज़रा हमारा प्रहार भी देखे!'

'बढ़े चलो, भैया!'

'हाथ बँटाओ, बहिनी!'





कुदाल

आज उसने कुदाल उठाई है।

पैर के अँगूठे ज़मीन को चापे हुए हैं। दबे उच्छ्वासों से छाती फूल उठी है। हाथ की नसों में तनाव है। तमतमाये चेहरे पर कुदाल की चमचमाती धार की परिछाईं कौंध रही है।

यह तेज़ धूप ! ये लू की लपटें ! गर्मी की दुपहरिया का यह सन्नाटे का आलम। दिशायें थर्राहट में। निरानन्द-निस्पन्द नील आकाश में कभी-कभी चील की चीख़।

इस फिज़ा में उसने आज फिर अपनी कुदाल उठाई है। पृथ्वी का वज्र-हृदय उसके प्रहार के पहले ही सिहर कर टूक-टूक होना चाहता है।

खेत की झुलसी तृण-राजि थरथर काँप रही है। किन्तु, क्या इसके प्रहार का लक्ष्य ये तुच्छ तृण-पुंज हैं ?

× × ×

आज वह रत्नगर्भा की छाती छेदकर किस रत्न को अतल से निकालना चाहता है।

समुद्र को मथा देवों और दानवों ने। तरल समुद्र; मन्दर के समान मथानी, शेषनाग-से रज्जु। आज यह मनु का बेटा ठोस मिट्टी को अकेले मथने की तैयारी में है ! मथने ? — नहीं भुस्स उड़ाने !

देवों-दानवों ने जल-तल के सभी रत्न प्राप्त कर लिये–उच्चैः-श्रवा, ऐरावत, लक्ष्मी, अमृत !

थल-तल के अछूते रत्न आज पहली बार सृष्टि का प्रकाश देखेंगे।

उसके पसीने की बूंदों की तरह ये रत्न जगमगा उठेंगे—चकमक, झलमल।

आज उसने इसलिए इस फिज़ा में कुदाल उठाई है !

× × ×

क्या कहा ?—कहीं दूसरा गरल निकला तो ?

छिः—गरल क्या बिगाड़ेगा इसका ? देखते नहीं, इसके शरीर का काला रंग। कोई समुद्र का गरल पीकर नीलकंठ हुआ—यह पृथ्वी का सारा ताप-दाप पीकर नखशिख नीलवर्ण है।

विश्वास रखो, गरल के लिए भी यह किसी शंकर की शरण में नहीं गिड़गिड़ायगा !

यह डरपोक देवता नहीं, मनु का मर्दाना बेटा है।





डुगडुगी

(एकांकी नाटक)

पात्र

१-बूढ़ा सुक्कन भगत

२-उसकी बेटी सोना रानी

३-उसकी पत्नी

४-ज़मीन्दार का तहसीलदार

५-तहसीलदार का नौकर, जेठरैयत आदि

पहला दृश्य

(फूस के एक मकान का बाहरी बरामदा। टूटी खाट पर नीचे पैर लटकाये, एक बूढ़ा हुक्का पी रहा है। चेहरे पर झुर्रियों का अड्डा,

जिसपर गर्द की एक परत पसीने से कीचड़ बनी। खाली बदन, कमर में एक फटी धोती। ताबड़तोड़ हुक्के का कश खींचता और बीच-बीच में खाँस उठता है। ज़मीन की ओर निगाह; ध्यानमग्न !

आँगन से एक लड़की निकलती है। हाथ में पानीभरा लोटा। चौदह-पन्द्रह बरस की साँवली सुन्दरी, एक फटी चूनर, फटी चूनर के भीतर मसकी चोली, जिसके अन्दर से उसकी जवानी की किरणें बर-बस झाँक रहीं । वह पानी लेकर बूढे के पैरो से ज़रा हटा कर रख देती और एक ओर खड़ी हो जाती है। बूढ़े ने, मानों, न लोटे को देखा, न लड़की को। वह हुक्का पिये जा रहा है। कुछ देर बाद—)

लड़की—बाबूजी ! (बूढ़ा ध्यान नहीं देता—कुछ देर ठहरकर फिर कहती है।) बाबूजी ! (फिर भी बूढे का ध्यान नहीं टूटता—अब ज़रा आवाज़ तीखी करके) बाबूजी, मैं क्या कह रही......!

बूढ़ा-(नज़र उठा कर एक बार लड़की को पैर से सिर तक देखता है। फिर मुस्कुराने की चेष्टा करता हुआ) क्या बेटी–!

लड़की–मैं कह रही हूँ, पैर धोइए, चलिए, खाइए।

बूढ़ा–पैर धो लेता हूँ--क्यों न धोलूँ ? मेरी सोना रानी कहती है और न धोऊँ ? लेकिन, बेटी, भूख तो नहीं है !

लड़की--भूख नहीं है ? तिपहरिया आई और भूख नहीं है ? बिना अन्न दाना के दिनभर कुदाल चलाते रहे और भूख नहीं है ?

बूढ़ा—कुदाल चलाता रहा ! ठीक तो, कुदाल चलाता रहा; किन्तु न चलाने से कैसे बनेगा, बेटी ! मेरी ऐसी ही अच्छी तक़दीर रहती, तो तू बेटा न होती ?

(लड़की उदास हो जाती है, उसकी नज़र अपने पैर के अँगूठे पर चली जाती है। बूढ़ा भी अन्यमनस्क हो फिर हुक्का का कश खींचने और खाँसने लगता है। इसी समय एक अधवयस स्त्री भीतर से आती है। ननकिलाट की मैली साड़ी, फटी। चोली नहीं–साड़ी से ही देह को लपेटे-सी। बाल अस्त-व्यस्त। आते ही कहती है)

स्त्री—यह क्या तुम्हारी आदत है ? जब तब मेरी सोना को उदास कर देते हो—तू बेटा न हुई, तू बेटा न हुई। क्या बेटा होना उसके हाथ की बात थी ?

(बूढ़ा जैसे अपनी ग़लती महसूस करके उठता है, सोना के निकट पहुँचता है। उसकी ठुड्डी को ऊपर उठाता, गद्-गद् कंठ से बोलता है)

बूढ़ा—तू सचमुच उदास हो गई, मेरी रानी बेटी ! माफ करना सोना, बूढ़ा हुआ, ज़बान से अंट-संट निकल आती है। मेरे अँधेरे जीवन की तू ही एक रोशनी है ! यदि तू ही नाराज़ हो गई, तो मैं कहाँ का रहूँगा, मेरी बिटिया !

(लड़की कुछ नहीं बोलती—धीरे से मुँड़, आँचल से आँखें पोछती, घर के अन्दर चली जाती है)

स्त्री—आख़िर तुमने मेरी सोना को रुलाकर ही छोड़ा !

बूढ़ा—(दयनीय आकृति कर गिड़गिड़ाते हुए कहता है) हाँ, सोना रानी रो पड़ी। मैंने ही रुलाया ! लेकिन मैं कहूँ, तुम्हें विश्वास होगा—मैं तो दिनरात रोता रहता हूँ ?

स्त्री—विश्वास की क्या बात, मैं अंधी हूँ क्या ? लेकिन, देखो, दिन-रात के इस रोने से क्या फायदा ? अब जो विधना ने दिया, उसे तो हँसी-खुशी भुगतना ही है !

बूढ़ा—रोने से क्या फायदा ? मैं भी देख रहा हूँ, रोने से क्या फायदा होता है ? और सब गया था, आँखों की नूर बची थी, वह भी जा रही है। अब अच्छी तरह दिखाई भी नहीं पड़ता। लेकिन करूँ क्या ? बिना रोये रहा भी तो नहीं जाता, सोना की अम्मा !

स्त्री—करना क्या है ? धीरज धरना है।

बूढ़ा—धीरज ? धीरज धरना है ? धीरज धरूँ ? देखो, इस घर को—तीन साल से छाजन में एक तिनका नहीं रखा। पहले साल पानी से बचाव नहीं हुआ; दूसरे साल जाड़े से और अब धूप से भी बचना मुश्किल ! दीवारें ढह रहीं, बाँस तक सड़ गये। देखो, इस बाहरी आँगन को। अब तक खूँटों के ये निशान मौजूद हैं। यहाँ जोड़ा बैल बँधते थे, उस जगह वह कामधेनु बँधती थी, उस नाद के निकट वह भैंस—नब्बे रुपये में खरीदा था उसे, याद है न ? (एक लम्बी उसाँस लेकर) कहती हो, धीरज रखो। और-तो-और, कहाँ से धीरज लाकर तुम्हें इस रूप में देख सकूँ—तुम्हें और अपनी सोना-रानी को। बुढ़ापे में कितने देव-पित्तर पूजने के बाद एक बेटी मिली। उसके

शरीर पर एक गहना दे सका ? कभी एक अच्छी साड़ी पिन्हाई ? और, अब तो उसे किसी योग्य हाथों सौंपने का बन्दोबस्त चाहिए ? किन्तु, बन्दोबस्त का भी कोई सरोसंजाम है ? धीरज धरूँ—कहाँ से धीरज लाऊँ ?

(बूढ़ा शोक-उत्तेजना में खाट पर ढह पड़ता है और कमर से धोती का फेंटा खोल उससे मुँह ढाँक लेता है। स्त्री कुछ देर चुप-चाप खड़ी रहती है। फिर, खाट के निकट जा बैठती और धोती के फेंटे को उसके मुँह से हटाती हुई कहती है—)

स्त्री—तुम फिर रोने लगे ? बताओ, ऐसा करोगे, तो हमारी क्या गत होगी ? एक तो बुढ़ापे का शरीर—फिर, यह रोना-धोना। कितने दिन चलेगा यह ? और, तुम न रहे, तो हम कहाँ ?—सोना को ही कौन पूछेगा ?

(इसी समय ज़मीन्दार का एक सिपाही दरवाज़े पर आता और अपनी वज़नी लाठी ठाँय से पटकता है। आवाज़ सुनकर स्त्री उस ओर चौंक कर देखती, अस्तव्यस्त हो उठती और ठिठक कर दरवाज़े से लग कर खड़ी हो जाती है। बूढ़ा उठकर बैठता है। सिपाही के पैर में उठी हुई नोक का भयंकर चमरौंधा जूता है। घुटने से ज़रा ही नीचे लटकती मोटी धोती। बादामी रंग का कुर्त्ता और सिर पर लाल पगड़ी। लाठी अपनी कद से एक फुट ऊँची, पोर-पोर लोहे से बँधी—नीचे ऊपर लोहे के गुल्म।)

सिपाही—सुक्कन भगत, कचहरी में बुलाहट है।

(बूढ़ा उठता है—अपनी कमर से कुछ निकालता हुआ उसकी ओर बढ़ता है। झुककर सलाम करता है और धीरे से उसकी मुट्ठी में थम्हाकर हाथ जोड़ कर बोलता है)

बूढ़ा–सिपाही जी, बस, दस दिन की और मुहलत दो, बड़ी मिहर-बानी होगी, धरम होगा।

(सिपाही हाथ झाड़ देता है—एक छोटी-सी चमकीली चीज़ अलग गिर पड़ती है।)

सिपाही—भगत, यह न होगा। बहुत मिहरबानी कर चुका। अब मेरे बूते के बाहर की बात है। तुम्हारी अठन्नी पर मैं अपनी नौकरी नहीं खोऊँगा। खुद तहसीलदार साहब आये हैं, तहसीलदार साहब—

बूढ़ा–तसीलदार साहेब, आयँ, तसीलदार...!

(सिपाही तमककर चल देता है—गुर्राती आँखों से बूढे को देखता हुआ; बूढ़ा कुछ देर तक निस्तब्ध खड़ा रहता है, फिर खाट पर ढह पड़ता है।)

दूसरा दृश्य

(ज़मीन्दार की कचहरी—एक अच्छा खासा बँगला। लोगों की भीड़। एक कुर्सी पर नौजवान तहसीलदार साहब साहबी ठाट में बैठे, सिगरेट का धुआँ उड़ा रहे। साहबी ठाट—जो देहात में किसी अर्द्धशिक्षित के पाले पड़कर अजीब रूप धारण कर लेता है। हैट है, कालर है, टाई है, कोट है, पैंट है, मोजे हैं; बूट हैं—किन्तु सब भोंड़े ! हाँ, देहातियों पर रोब जमाने के लिए काफी। सामने के टेबिल पर इधर-उधर विखरे रुपये–जो सलामी में चढ़ाये गये हैं। कुछ हटकर एक चौकी पर पटवारी बैठा—बहियों का एक दफ्तर-सा फैलाये। बेचारा कुछ लिखता जा रहा है—बूढ़ा है वह, आँखों पर चश्मा, जो एक तरफ का फ्रेम टूट जाने से तागे के द्वारा कान से बँधा। गोड़ाइत, जेठरैयत, सिपाही तथा किसानों के समूह इधर-उधर बैठे-खड़े। बूढ़ा सुक्कन भगत तहसीलदार साहब के सामने हाथ जोड़कर खड़ा–)

बूढ़ा–दोहाई माँ-बाप की, मैं बहाना नहीं करता...

तहसीलदार–बहाना नहीं, तो यह क्या है ? एकाध बरस की बात हो, तो टाली भी जाय–मुंशीजी वतला रहे हैं, आज चार वर्षों से तुम मालगुज़ारी नहीं अदा कर रहे हो ?

बूढ़ा–हुजूर, हर साल देता हूँ; किन्तु पूरी अदाई नहीं हो पाती है। कोशिश करके भी नहीं हो पाती है !

तहसीलदार—क्यों नहीं हो पाती है ? सबकी हो पाती है, तुम्हारी क्यों नहीं होती !

बूढ़ा–सबकी हालत कैसे बताऊँ, हुजूर ! अपनी जानता हूँ। इधर चार-पाँच वर्षों से खेत ने मानों फसल देने से इन्कार कर दिया है। खेत बेचारा क्या करे ? कभी 'मघा' की बाढ़ से तबाही होती, तो कभी 'हथिया' ही नहीं बरसता। भदई-रब्बी भी खुलकर नहीं आती। कुल मिलाकर इतनी उपज भी नहीं होती कि खेती का खर्च ठीक से

निकले। घर के खर्च और दूसरे खर्चों की तो बात अलग । कर्ज़ से डूबा हूँ, तक़ाजों के मारे नाकोदम है। इतने यहाँ पंच हैं, पटवारी जी से ही पूछिए, सुक्कन ने कभी किसीका तकाज़ा सहा ? लेकिन, तक़दीर जो न कराये, सरकार !

तहसीलदार–मैं तुम्हारी तक़दीर की कहानी सुनने नहीं आया, सुक्कन ! उपज नहीं होती तो कर्ज ले, बैल-गोरू बेंच, गहनें बेंच, खेत बेंच–जो भी बेंच सको, बेचो ! किन्तु रुपये दो। नहीं तो, नालिश होगी, नीलाम होगा। तब तुम जानों, तुम्हारा काम जानें !

बूढ़ा—हुज़ूर का हुक्म सिर-आँखों पर—मैं कर्ज लेने को तैयार हूँ कोई दे, तो। और गोरू और गहनें ? उन्हें कब न बेंच चुका सरकार ! रह गया है सिर्फ बाप-दादे का चार बीघा खेत। सो, सोचता हूँ, मैं कौन होता हूँ उसका बेचनेवाला !

(इसी समय एक जेठरैयत तहसीलदार के निकट पहुँचता है और उसके कान में कुछ फुसफुसाता है। तहसीलदार प्रसन्न होकर कहता है—)

तहसीलदार—ठीक तो, बाप-दादे की चीज़ क्यों बेचों, अपनी ही चीज़ जब है, तब...

बूढ़ा (आश्चर्य मुद्रा से)—मेरे पास अब बेचने को क्या चीज़ बची है ? जेठरैयतजी, सरकार को आपने क्या कहा ? बताइये न, वह क्या चीज़ है ?

(जेठरैयत खीसें निपोड़ देता है—तहसीलदार ठहाका मारकर हँसता है।)

तहसीलदार–भगत, तब न तुम्हें बाप-दांदे की चीज़ पर इतनी ममता है। ठीक भी तो, साँप भी मरे, लाठी भी बची रहे।

बूढ़ा–दुहाई सरकार, ग़रीब को भूलभुलैये में मत रखिए—आपका क्या मतलब है ?

तहसीलदार–अच्छा भगत, ज़रा नज़दीक आओ।

(बूढ़ा काँपता-काँपता तहसीलदार के नजदीक जाता है। तहसीलदार मुस्कुराता, उसके कानों में फुसफुसाता है, सुक्कन चौंक उठता है।)

बूढ़ा–हुजूर, मुझे उमीद न थी कि कचहरी में बुलाकर मुझे इस तरह बेइज्ज़त किया जायगा।

(उसकी आँखों में आँसू डबडबा आते हैं। तहसीलदार आग-बबूला होकर चिल्ला उठता है—)

तहसीलदार–हैं, बड़ा इज्ज़तवाला बना है ! यही इज्ज़त थी, तो इतनी बड़ी हुई, शादी क्यों न कर दी ? तुम्हारे ऐसे हज़ारों ने बेटी बेची है। फिर मेरा नौकर—अबे बूड्ढ़े, देख तो ऐसा वर भी कहीं मिलेगा ? भगेलू, ओ भगेलुआ ! कहाँ गया साला ?

(एक अठारह-बीस वर्ष का नौजवान हुजूर-हुजूर कहता दौड़ा आता है। शोहदे-सा उसका चेहरा। बड़े-बड़े बाल चेहरे पर लटक रहे। गले में सोने की चार-पाँच ताबीज़ें। एक चुस्त रंगीन बनियाइन पहने। आकर तहसीलदार साहब के सामने खड़ा हो जाता है।)

तहसीलदार—देख तो, इसके पैर का रूप भी तुम्हारी बेटी में मिलेगा ? मैंने तो उपकार करना चाहा—तीन सौ रुपये कोई छोटी रक़म नहीं होती बुड्ढे—कभी एक साथ देखा होगा इतना पैसा ?

बूढ़ा–(आकाश की ओर मुँह करता, सूरज की ओर देख कर कहता है—) हे दीनानाथ, तू ही साखी रहना। मुझे भरी सभा में बेइज्ज़त किया जा रहा है और किसी के मुँह से चूँ तक नहीं निकलती।

(इतना कह वह तेज़ी से निकल पड़ता है। जितने लोग हैं, सभी स्तब्ध उसकी ओर देखते है। उसके जाते ही तहसीलदार क्रोध से काँपते हुए उठता और ज़ोर से बूट रगड़ता कहता है—)

तहसीलदार—अभी ऐंठन बाकी है, देखना है कब तक...

तीसरा दृश्य

(लहराता हुआ धान का खेत। लम्बी-लम्बी हरी सुनहली धान की बालियाँ हवा के झोंके से झूम रहीं। बूढ़ा सुक्कन सोना के कंधे के सहारे खड़ा उत्सुक नज़रों से उन्हें देख रहा। चेहरा तुरत के उठे मरीज़-सा। झुर्रियाँ और घनी हो गई हैं। एक हाथ में पतली लाठी; आधी टेक उसपर रख कर—)

बूढ़ा—सोना, यह सब तुम्हारे हाथ की बरकत है। उँह—इधर पाँच-छ साल से क्या ऐसे धान आये थे ?

सोना—बाबूजी, यह आप क्या कह रहे हैं ?

बूढ़ा—क्या झूठी मुँहपुराई कर रहा हूँ, बेटी ? जब मैं बीमार पड़ा, मैंने समझा, सब गया। लेकिन, तू तो बाप की सच्ची बेटी निकली। आखिर खेती सम्हाल ही ली। सच कहूँ—ऐसी फसल इधर कई वर्षों से नहीं देखी थी। (बढ़कर धान की कुछ बालियों को हाथ में लेता, झुककर उन्हें चूमता फिर कहता है—) खाट पर पड़ा-पड़ा ऊब गया था। आज सोचा, ज़रा देखूँ तो। सो, देखा क्या, निहाल हो गया। (फिर एक-एक बाली को बड़े ग़ौर से, जैसे उसके एक एक दाने को देखता हुआ) सोना रानी देखती हो, इन बालियों में कैसे दाने भरे हैं। समूची बाली में एक भी खँखरी नहीं। बेटी, बेशक यह तेरे हाथ की बरकत है ! ख़ाहिश होती है, इनकी आरियों पर घूमता ही रहूँ—बेटी, ज़रा मन भर घूमें तो।

(दोनों खेत की आरियों पर घूमते हैं—बूढ़ा एक हाथ से लाठी टेकता और एक हाथ से सोना के कंधे का आसरा लिये चलता है। रह-रहकर वह खड़ा हो जाता और धान की बाली को पकड़ता, ग़ौर से देखता और चूमता है। आरियों के एक मोड़ पर जाकर वह खड़ा हो जाता और चारों ओर नज़र दौड़ाकर देखता है और मुस्कुराते चेहरे से कहता है—)

बूढ़ा—बेटी, एक बात कहूँ, बुरा नहीं मानेगी ? बोल...

सोना—यह क्या बोल रहे हैं आज, बाबूजी ! मैं बुरा मानूँ ? आपकी बात से ?

बूढ़ा—ठीक-ठीक, तू बुरा क्यों मानेगी ? लेकिन तू लजायगी तो नहीं ? (सोना शर्माती-सी उसके चेहरे की ओर देखती है, बूढ़े की बतीसी चमक उठती है। वह कहता है—) मेरी लजीली बेटी ! लेकिन आज मैं बिना कहे नहीं रहूँगा। अच्छा ज़रा बैठ जा, पैर दुख गये; तब कहूँगा। (दोनों बैठ जाते हैं। बूढ़ा बेटी के हाथ को अपने हाथ में लेकर उसे सहलाता हुआ) सोना, यह फसल तेरी है। मैं सोचता हूँ, यह तुझी में लगे। जिसकी चीज़, उसमें लगे और मुफ्त में मेरा मनोरथ पूरे।

सोना—(लजा जाती है) आज यह क्या खुराफात सूझ रही है आपको बाबूजी !

बूढ़ा–(ज़ोर से हँसकर) हाँ, खुराफात ही तो। लेकिन ज़िन्दगी में खुराफात भी कर ही लेनी चाहिए और जल्दी हीं। कौन, जाने-पका आम हूँ, कब टपक पड़ूँ ? (कुछ देर रुककर फिर कहता है—)। हाँ, तो खुराफात होगी! एक अच्छा दूल्हा खोजूँगा—खूब खूबसूरत दामाद। वह पालकी पर आयेगा—बरात आयगी, वाजे आयँगे–मेरे दरवाज़े पर दिनरात बाजे झहरते होंगे—पोंपों-पोंपों-पीपी-पीपी—डुगडुग, डुगडुग..........

(इसी समय कहीं से डुगडुगी की आवाज़ सुनाई देती है। बूढ़ा चुप हो जाता है और उसकी बातें सुनकर जो शर्म के मारे गड़ी जा जा रही थी, उस सोना से पूछता है—)

बूढ़ा—सोना, यह तो डुगडुगी की आवाज़ है न ? कहाँ से आ रहीं है। लगन के दिन तो नहीं—अगहन में कहीं लगन होती है ? देख तो बेटी, (सोना खड़ी हो जाती है—बूढ़ा भी लाठी के सहारे खड़ा हो जाता है; ध्यान-पूर्वक सुनकर)—तो यह आवाज़ डुगडुगी की ही तो है। कहाँ से आती है, किधर से आती है, रानी बिटिया ?

सोना—अपने उस खेत के नज़दीक से—हाँ, वहीं से तो। बहुत लोग हैं। कुछ लड़के, कुछ सयाने ?

बूढ़ा–(आतुरता से) किसी को पहचानती हो ? क्या अनजान लोग हैं ?

सोना—लोग तो पहचान के मालूम होते हैं। वह शायद बुद्धू चमार है, वही मालूम पड़ता है। कुछ और लोग हैं। चार-पाँच मालूम होते हैं, अरे लाल पगड़ियाँ भी हैं !

बूढ़ा—(आश्चर्य से) लाल पगड़ियाँ हैं ?

सोना—हाँ, लाल पगड़ियाँ हैं, कुछ लोगों के हाथों में लाठियाँ भी हैं–लम्बी-लम्बी !

बूढ़ा—ओहो, वुद्धू है, लाल पगड़ियाँ हैं, कुछ लाठियाँ हैं! तो क्या किसी का खेत नीलाम हुआ है ? दखलदिहानी कराने आये हैं! यह कौन हत्यारा है ? यह किसपर वज्र गिरा है ? भला इस भरी फसल में दखलदिहानी कराई जाती है ? यह हत्यारापन नहीं तो और क्या है ? जिसकी तैयार फसल लुट जायगी, वह बेचारा कैसे रहेगा ? देख तो बेटी, वे किधर जा रहे हैं ?

सोना—कहा न, इधर ही तो आ रहे हैं। वह क्या, आ गये, नज़दीक तो आ गये।

(वूढ़ा आँखों पर हथेली की ओट किये उस ओर निर्निमेष देखता है। वे सब-के-सब उसके खेत की उस तरफ की आरी पर आकर रुक जाते हैं। वुद्धू अपनी डुगडुगी बजाता है। आवाज़ होती है। वूढ़ा घवराया-सा)

वूढ़—वेटी, यह क्या हो रहा है ? क्या मेरे खेत को नीलाम कराया गया है ? दखलदिहानी लेने आये हैं ? सोना, बोल-बोलती क्यों नहीं ?

सोना—बोलूँ क्या वावूजी, ये तो सचमूच हमारे खेतपर बोली बोल रहे हैं।

वूढा—समझा, समझा ! यह उस तहसीलदार के वेटे की शैतानी है। उसे सोना ही चाहिए न ? न आँगन का सोना, तो खेत का ही सही।

सोना—यह क्या बोल रहे हैं आप वावूजी ? सोना चाहिए ? क्या वे मुझे चाहते हैं ? वावूजी......

वूढ़ा—(एकवारगी गम्भीर हो जाता है) न जीते जी खेत दूंगा, न सोना। अच्छा, वह तहसीलदार का जना भी है ? ज़रा अच्छी तरह देख तो।

सोना—हाँ, वही तो है वावूजी, वह हमलोगों की ओर देख कर हँस रहा है !

(बूढे में, न जाने कहाँ से, ताक़त आ जाती है। वह सोना के कन्धे को छोड़ कर हिरन की तरह उस ओर दौड़ता है। सोना एक क्षण स्तब्ध रहती है—फिर वावूजी, बावूजी कहती उसके पीछे दौड़ती है। वूढ़ा जाकर अपनी लाठी तहसीलदार के सिर पर चला देता है। तहसीलदार पर लाठी लगते ही सिपाहियों की लाठियाँ उसपर वरसने लगती हैं। सोना चिल्लाती है—वूढ़ा गिरता है। सब भागते हैं। खून से लथपथ वूढ़े की लाश को उठाती सोना धाड़ मार कर रोती है)

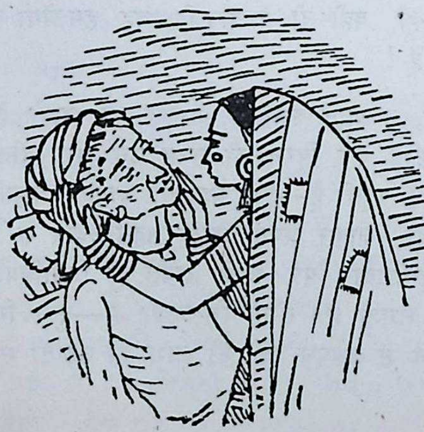
सोना—बावूजी, बावूजी......

(बूढ़ा एक बार नज़र खोलता है। सोना के चेहरे को घूरता है—फिर लपक कर धान की एक मुट्ठी बालियों को पकड़ कर चूमने की-सी चेष्टा करता और लुंघड़ पड़ता है। फिर आँखें खोलता, बड़बड़ाता है।)

बूढ़ा– सोना चाहिए, खेत चाहिए ! धन लेंगे या धरम लेंगे ! दौलत दो या इज्ज़त दो। बदमाश, शैतान ! (हँसता हुआ) अहा कैसी लाठी लगी—तुम्हारा एक चुल्लू खून—हमारा एक घड़ा खून ! खून—खून ! ओहो ! (दर्द महसूस करता हुआ) पानी, बेटी पानी ! (दुर्बलता में खड़ा होता हुआ) वह आया बेटी, वह आया ! लाठी लाठी—खून-खून ! दौलत दो या इज्ज़त दो ! लाठी बेटी, लाठी ! (गिर पड़ता है)

सोना—(व्याकुल होकर) बाबूजी,बाबूजी !

बूढ़ा–बेटी सोना, पानी ! पानी ! (सिर से निकलते खून की धारा को प्यास की अधिकता में अँगुली से पोंछकर चाटता है !) खून, उफ ! (थूकता है) खून लो, शैतानो, खून लो ! खून पीओ ! (उठने की चेष्टा करता हुआ) तुम कसाई हो, राक्षस हो, जोंक हो ! राक्षस, जोंक, कसाई ! खून पीओ, खून पी...... (बूढ़ा ढह पड़ता है, उसकी साँस बंद होने लगती है)





शहीदों की चिताओं पर

"मातृ-मन्दिर में हुई पुकार,

चढ़ा दो हमको हे भगवान !"

हाँ, माता ने पुकार की।

माता ने — बन्दनी माता ने। जिसके पैरों में बेड़ियाँ थीं, हाथों में कड़ियाँ थीं। जिसकी आँखों में आँसू थे, जिसकी पुकार में गुहार थी।

बन्दती माँ पुकार रही थीं, गुहार रही थीं। किन्तु किसे फुर्सत थी सुनने की ? सब अपने में भूले थे, सबको अपनी पड़ी थी।

बड़े-बड़े विद्वान—दिग्गज विद्वान ! बड़े-बड़े बलवान—कलियुगी भीम ! माँ बन्दिनी थी, किन्तु बन्ध्या न थी। विद्वानों, बलवानों, कवियों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों से अब भी गोद भरी थी उसकी।

किन्तु किसे फुर्सत थी, उसकी पुकार सुनने की ? गुहार सुनने की ?

विद्वान अनुसन्धान में लगे थे। बलवानों को आपसी ज़ोर-आज़माई से ही फुर्सत नहीं थी। कवि दिवा-स्वप्न देख रहे थे, कलाकार रंगामेज़ी में लगे थे। वैज्ञानिकों को प्रयोगशाला ने उलझा रखा और दार्शनिकों का 'तत्वमसि' का मसला हल नहीं हो पाता था।

आँसुओं से माँ का आँचल भींगा जा रहा था; पुकार से उसका गला रुँधा जा रहा था !

"ओ मेरे बेटो, कहाँ हो ? ओ मेरे बेटो ! किधर देख रहे हो ? क्या कर रहे हो ?

अरे, ये मेरी बेड़ियाँ, ये कड़ियाँ ! और यह मेरा बुढ़ापा ! तुम क्या कर रहे हो ! क्या सुन रहे हो !

क्या मेरा उद्धार न करोगे ? क्या मैं यों ही तड़प-तड़पकर मर जाऊँ ? क्या इसी लिए दूध पिलाया था ? क्या इन्हीं दिनों के लिए तुम्हें गोद खेलाया था ?

तुम बेटे हो मेरे ? तो फिर क्यों नहीं सुनते ?"

किन्तु कौन सुने ? फुर्सत किसे थी ? विद्वानों का तत्त्वान्वेषण समाप्त नही हो रहा था, बलवान अखाड़े पर डंड पेल रहे थे, कवियों का दिवा-स्वप्न टूट नहीं रहा था, कलाकारों का कल्पना-लोक विस्तृत ही होता जाता था, वैज्ञानिकों को प्रयोगशाला छोड़ती नहीं थी और दार्शनिक इस जगत्याम् जगत के झमेले में अपने को क्यों लगायें ?

और, माँ पुकार रही थी, गुहार रही थी, रो रही थी, चीख़ रही थी।

कि लोगों ने देखा—वह कोई बढ़ रहा है !

कोई बढ़ रहा है ! पागल-सी सूरत, भोलेपन की मूरत। आँखों में प्रमाद की-सी छाया। किन्तु पैरों में, चाल में एक अजीब दृढ़ता !

वह बढ़ा-बढ़ा; बढ़ता गया—बढ़ता गया !

× × ×

"सफलता पाई अथवा नहीं
उन्हें क्या ज्ञात दे चुके प्राण,

विश्व को चहिए उन्च विचार ?

नहीं; केवल अपना बलिदान!"

जब वह चला, किसी ने कहा—पागल ! किसी ने कहा—बददिमाग़ !

अरे गुस्ताख़ है, गुस्ताख़ ! जहाँ बिजली-बत्ती भी बुझ जाय, वहाँ यह चिराग़ जलाने की जुर्रत करने चला है ?

रुको—आगे में मत कूदो। तुम आदमी हो, पतंगा क्यों बनते हो ?

किन्तु इन बातों पर उसने मुस्करा दिया ! वह बढ़ता गया !

"नाथ ! कहाँ चले तुम मुझे छोड़कर नाथ ?"

"भैया, भैया ! कहाँ जा रहे हो, हमें छोड़कर ?'

"बेटा ! उफ़्, कितनी तपस्या के बाद तुम्हें पाया। मेरी गोदी क्यों सूनी कर रहे हो, बेटा ?"

"मित्र, ज़रा हमारी ओर भी तो ध्यान दो !"

अब हँसी की जगह उसके चेहरे पर करुणा थी ! किन्तु वह बढ़ता गया।

दम्भी शासन ने उसे ललचाया !

दम्भी शासन ने उसे धमकाया !

दम्भी शासन ने अपना ख़ूनी पंजा बढ़ाया।

ललचाया, धमकाया, ख़ूनी पंजा बढ़या ! ख़ूनी पंजा—मृत्यु का पंजा !

दुनिया चीख उठी—आह, आह ! प्रकृति चीख उठी—आह, आह !

हवा काँपी, ज़मीन काँपी, हृदय काँपे !

किन्तु, वह बढ़ता गया—दृढ़ चरण, सम गति, धमनियों में उल्लास की तरंगें; चेहरे पर आनन्द की लहरियाँ।

"नाथ !.................."

"भैया !................."

"बेटा !....................."

"मित्र !................."

कान में यह क्या साँय-साँय आवाज़ ? क्षण भर के लिए वह चौंका, वह रुका ! कान में यह कैसी साँय-साँय आवाज़ ?

किन्तु, इसी समय फिर उसके कानों में भनक आई—"ओ मेरे बेटो ! अरे, ये मेरी बेड़ियाँ................."

"आया माँ, आया !" वह चिल्ला उठा, वह बढ़ा चला ! सामने सनसनाती गोलियाँ; उसनें सीना खोल दिया ! आगे फाँसी का तख़्ता; वह उछल कर चढ़ गया !

खून की कुछ बूंदें ज़मीन पर गिरीं !

एक क़ीमती जान घुटकर चल बसी !

नीचे दुनिया रो रही थी, ऊपर वह तराने लगाता जा रहा था ! नीचे स्वजनों और परिजनों की हिचकियाँ ! ऊपर किन्नरियों के नृत्य, अप्सराओं के पंखों की फटफटाहट !

बुढ़िया माँ ने देखा, उसकी ज़ंजीर की एक कड़ी कट चुकी है !

× × ×

"ऐ शहीद ! उठने दे अपना फूलों भरा जनाज़ा !"

शहीद का जनाज़ा—वह फूलों से भरा उठाना ही चाहिए !

जिसने अपने को देश पर, आदर्श पर कुर्बान कर दिया, उसके प्रति अपना अन्तिम सम्मान भी तो हम प्रकट कर लें।

काश, ऐसा हो पाता ?

कितने ऐसे शहीद हुए, जिन्हें यह अन्तिम सम्मान भी प्राप्त हो सका ?

जिन्होंने उन्हें शहीद बनाया, उन्होंने यह भी कोशिश की कि उनकी लाश तक किसी को नसीब न होने पाये।

उनकी जान लेकर ही उन्हें सब्र न हुआ, उनकी लाश की दुर्गत कराने से भी वे बाज़ नहीं आये !

फिर, शहीद न्यौता देकर तो मरने जाते नहीं—प्रायः उन्होंने ऐसी जगहों पर प्राणार्पण किये, जहाँ उनका अपना कोई नहीं था !

सन् संत्तावन के शहीदों के कारुणिक निधन पर बाग़ी बादशाह 'ज़फ़र' ने आँसू बहाये थे—

न दबाया ज़ेरे चमन उन्हें,

न दिया किसी ने कफ़न उन्हें,

किया किसने यार दफ़न उन्हें,

वे ठिकाना उनका मज़ार है !

संत्तावन के शहीदों की यह परम्परा हमारे देश में हमेशा क़ायम रही !

कूका-विद्रोह के शहीदों का कहीं मज़ार है !

१९०५ से १९१५ तक के बम-पिस्तौल-युग में जिन शहीदों ने कानाडा से अमृतसर और बंगाल से कुस्तुन्तुनिया तक अलौकिक कारनामे दिखाये, क्या उनका नामोनिशान भी हम कहीं पा रहे हैं, आज !

१९२१ से १९४२ तक के, गाँधी-युग के, अनेक शहीदों का भाग्य भी कुछ दूसरा नही रहा !

सरदार भगत सिंह को किस चमन में दफ़नाया गया ? सरदार नित्यानन्द को क्या कफ़न भी दिया जा सका ?

आज़ाद-हिंद-फौज के जिन सैनिकों ने अपने खून से शौनान से मणिपुर तक की भूमि को सींचा, उनकी चितायें कहाँ जलाई गईं ? बयालीस के बाद जिन बाग़ियों ने देश के कोने-कोने में शहादत की धूनी रमाई, उनका ठौर-ठिकाना भी क्या आज मिल सकता है ?

जब हम युद्ध में होते हैं, हमें पीछे देखने की फुरसत कहाँ रहती है ?

जब हम युद्ध से बाहर होते हैं, आगे की तैयारियाँ या निर्माण की समस्यायें ही हमें इस तरह आ दबोचती हैं कि चाहकर भी हम पीछे देख नहीं पाते।

ज़िन्दों के मसले हमपर इस तरह हावी हो जाते हैं, कि मुर्दों की ओर कौन ध्यान दे ?

आह, ओ शहीद !

हाय, ओ शहीद !

× × ×

शहीदों की चिताओं पर
जुड़ेंगे हर बरस मेले,
वतन पर मरने वालों का
यही बाक़ी निशाँ होगा।

तो भी यह कहा गया है। इसे गाया गया है!

क्या यह झूठ है ? क्या ऐसा इसलिए कहा गया है कि कुछ बेवकूफ़ आगे बढ़ कर जान दे दें ? या किसी भावी शहीद ने अपने को आत्मवंचना में रखने के लिए ये पंक्तियाँ लिख दी थीं ?

आज हम आज़ाद हैं, खूब मेले लगा रहे हैं। किन्तु शहीदों की चिताओं पर एक भी मेला जुटते आज तक कहीं देखा गया ?

किसी ने यह पता लगाने की कोशिश की कि वे कौन थे ? उनकी चितायें कहाँ-कहाँ पर जलीं ?

आत्मवंचना ! विश्वप्रपंच !!

किन्तु ऐसा मत कहो, ऐसा मत कहो !

सत्य का सूर्य प्रायः बादल से ढँकता है। किन्तु बादल बादल है, सूर्य सूर्य !

शहादत सत्य है; फानूस में ढँपी दीप-शिखा की तरह विस्मृति की धुँधलाहट से घिरी शहादत और भी सुन्दर लगती है।

अलग-अलग घर से दीये आते हैं, देवस्थान पर पहुँच कर उनकी भिन्नता नष्ट हो जाती है, वे सब एक दीपावली के नाम से अभिहित होते हैं!

तुम किसी शहीद का नाम भुला दो, उसकी बलि-भूमि की भी याद तुम्हें न रहे—किन्तु शहादत को तुम भूल नहीं सकते, शहीद भुलाये नहीं जा सकते !

जब-जब शहीदों की चर्चा होगी, हमारी आँखें गीली हो उठेंगी।

जब-जब शहीदों की चर्चा होगी, हमारे हृदय उच्छ्वसित हो उठेंगे !

जब-जब शहीदों की चर्चा होगी, हमारे सिर आप-ही-आप झुक जायेंगे !

रक्त के बने हम प्राणी, रक्त-दान को हम नहीं भूल सकते !

धन्य हैं, वे जो रक्त-दान देकर अमर हो गये !

उनका स्थान सदा वहीं होगा, जहाँ अमरों का अधिवास है।

जहाँ जरा नहीं है, जड़ता नही है, ज्वर नही है, जाड़ा नहीं है।

जहाँ सदा वसंत है, अक्षय स्वास्थ्य है, निर्धूम चेतना है, शाश्वत यौवन है।

जहाँ क्षुद्रता न है, विस्मृति न है।

हमारे शहीद वहाँ पहुँच चुके हैं, जहाँ से वे हमारी स्मृति-लघुता पर मुस्करा रहे होंगे; हमें अनेक क्षुद्र स्वार्थों में उलझे देख सिहर-सिहर उठते होंगे !

वे पृथ्वी पर आये थे, किन्तु अमरों के वंश से थे।

इसलिए पृथ्वी के पाप-ताप उन्हें न दबोच सके, और पहला मौक़ा पाते ही हमें मरने-जलने को छोड़ कर वे चलते बने !

उनकी स्मृति ही उनकी चिता है। वह चिता मानव-मन में हमेशा धू-धू करके जलती रहेगी और उनके आस-पास सदा मेले जुड़ते रहेंगे।

मेले—जहाँ पत्नियों के आँसू होंगे !

मेले—जहाँ माताओं की उसाँसें होंगी !

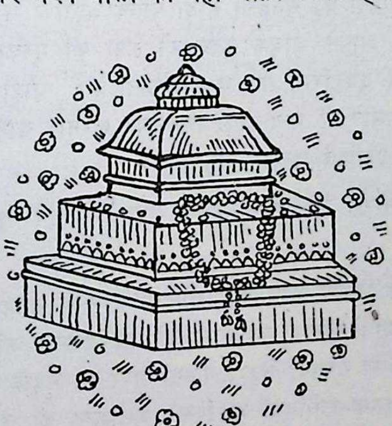
मेले—जहाँ बहनों के सूखे चेहरे होंगे !

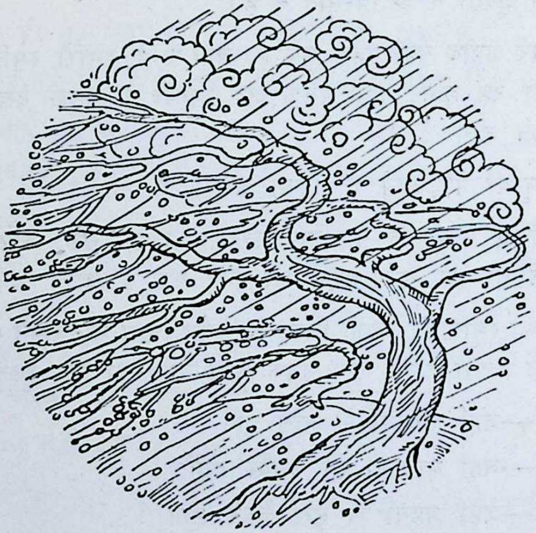
मेले—जहाँ मित्रों के मुरझाये मन होंगे !

मेले—जहाँ हर आदमी के हाथों में श्रद्धांजलि की मालायें होंगी !

हाथों में माला; आँखों में आँसू—

"वतन पर मरने वालों का यही बाक़ी निशाँ होगा।"





आँधी में चलो

आप खिली चाँदनी में चलना चाहते हैं, मैं चिलचिलाती धूप में। आपको संध्या की सुनहली साड़ी पसन्द आती है, मुझे निशीथ का कज्जल अंचल। आपके भावुक हृदय को ऊषा की मुस्कान जँचती है, मेरा ऊसर मन दुपहरिया की धू-धू खोजता है। योंही, आप शीतल मन्द सुगन्ध समीर में मन्द-मन्द विचरण करना चाहते हैं और मैं आँधी के बीच इठलाते चलना चाहता हूँ।

कितने नीरस हो तुम—कहेंगे आप! कितने खूसट हैं आप—कहूँगा मैं!

न मालूम किसने और क्यों सौन्दर्य के साथ कोमलता का गठ-बन्धन कर दिया। सौन्दर्य का नाम लेते ही हमारी आँखों के सामने किसी कामिनी का गुलाबी चेहरा, किसी पुष्प की मृदुल कलिका, किसी उपवन की झलमल रंगीनियाँ या किसी जलाशय की चंचल लहरों पर

चाँदनी का नृत्य नाचने लगता है। मेरे जानते ये मानव-जाति की शिशुता की कल्पनायें हैं। बच्चे ही रंगीन चीज़ों को ज़्यादा पसन्द करते हैं ?

शिशुता की कल्पना होने पर भी इसमें पुरातनता की सड़ी गन्ध है। इसीसे मैं कहता हूँ, आप खूसट हैं।

ज़रा नये ढंग से सोचिए—नवीन रुचि, नवीन प्रवृति, नवीन-इच्छा, नवीन आकांक्षा; नई चाह, नई राह—जवानी का यही तो श्रृंगार है। यदि यह नहीं; तो जवानी कहाँ, यौवन कहाँ !

यदि आप ग़ौर करेंगे तो पायेंगे कि आपकी धारणायें आप की अपनी नहीं हैं, या तो आपने उधार लिया है या चुपके से, चोर की तरह आपके दिमाग़ में घुस कर उन्होंने घर कर लिया। ऐसा घर कि घरवाले के लिए घर में जगह नहीं। चोर बोलता है, और हम समझते हैं हम बोल रहे हैं। आह ! मनुष्य अपने को कितना गुलाम बनाये हुआ है ? हमारी आँखें अपनी होती हैं, किन्तु देखते हैं दूसरे की नज़र से; हमारे कान अपने होते हैं, किन्तु श्रवन-शक्ति दूसरे की; हमारा मस्तिष्क अपना होता है, किन्तु चिन्तन-प्रणाली अन्य की। यदि आप स्वतंत्र होना चाहते हैं तो अपनी ज्ञानेन्द्रियों को गुलामी से छुड़ाइये—अपनी आँख से देखिए, अपने कान से सुनिए; अपनी नाक से सूँघिए, अपनी जीभ से चखिए। सोचिए अपने ढंग से, बोलिए अपनी बात।

आप चाँदनी का सौन्दर्य देखते हैं पुरानी नज़रों से; ज़रा नई नज़र से चिलचिलाती धूप के सौन्दर्य को देखिए। मन्द समीरण का मज़ा, पुरानी रुची के अनुसार बहुत लूट चुके, अब ज़रा आँधी की बहार भी लूटिए।

सौन्दर्य का क्षेत्र सीमित नहीं है। जहाँ कहीं भव्यता है, प्रोज्वलता, महत्ता और अलौकिकता है, वहीं सौन्दर्य है। हाँ देखनेवाली आँखें चाहिए।

पुष्पवाटिका में विचरण करनेवाली "कंकण किंकिणी नुपुर-धुनि" वाली कुमारी जानकी में सौन्दर्य है, तो अशोक-वाटिका में बैठी, रुक्ष केश, शुष्क बदन, तपस्या-रत अर्द्धांगिनी सीता में भी कम सौन्दर्य नहीं है। जनकपुर में दुलहे के रूप में बैठे 'कोटि मनोज लजावन

हारे' राम में सौन्दर्य है; तो समुद्र से राह माँगकर भी न पाने वाले क्रुद्ध मूर्त्ति, कुटिल भृकुटि, बाण चढ़ा कर धनुष की प्रत्यंचा खींचते हुए रुद्र-रूप राम में भी अपार सौन्दर्य है। आप गोकुल की रास-लीला में लीन कन्हैया में सौंदर्य पाते हैं, किन्तु भीष्म के बाण से व्याकुल कुरुक्षेत्र के चक्रधर में नहीं, तो मैं कहूँगा आपका दुर्भाग्य है। हरिणी की निरीह आँखें सौन्दर्यमयी हैं, और क्रुद्ध सिंह की जलती आँखें भी। चाँदनी में मज़ा है, तो धूप में भी ! सन्ध्या को आप वहुत टहलते होंगे, एक दिन आधी रात को टहलिए––चारों ओर घोर अन्धकार, निस्तब्धता का साम्राज्य, कोई राही नहीं, कहीं राह नहीं और आप दनादन अकेले आगे बढ़ते जा रहे हैं, ? आह ! कितना मज़ा !!

और आँधी के बीच ? मत पूछिए। दिन रात "इन्क़लाब ज़िन्दा-बाद" चिल्लाते हुए भी आपने यदि आँधी का मर्म नहीं जाना, तो मैं कहूँगा आप अभी ऊपर की सतह पर हैं, चीज़ों के मर्म में घुस कर देखने की सतत जाग्रत प्रवृति आपमें है नहीं।

हड़ हड़ हड़, हा हा हा––वृक्ष उखड़ रहे हैं, पत्ते उड़ रहे हैं, धूल और तिनके का नाम निशान मिटना चाहता है। हड़ हड़ हड़ हा हा हा––खिड़कियाँ टूट रही हैं, छतें हिल रही हैं, छप्पर उखड़ रहे हैं। हड़ हड़ हड़, हा हा हा––मनुष्य व्याकुल हो राम-गुहार कर रहे हैं; पशु व्याकुल हो इधर-उधर मारे-मारे भाग रहे हैं, और वेचारे पंछी – कितने के डैने टूट गये, कितने के चंगुल में मरोड़ पड़ गया–– पतली डालियों को चंगुल से जकड़ कर वे बचना चाहते थे। कड़ कड़ कड़––वह डाली टूटी; हड़ हड़ हड़––वह छप्पर उड़ा; हा हा हा––वह क्रन्दन सुनिए––कोई दुर्घटना हुई क्या ?

और, ऐसी आँधी में चलना। आँखों में धूल, देखने की किसकी हिम्मत ? कानों में एक ही स्वर, और कुछ सुन नहीं सकते। कभी एक झोंका पूरब की ओर घसीट ले जाता है, कभी दूसरा दक्षिण की ओर। तो भी चलते रहना––अपने निश्चित लक्ष्य की ओर। कैसे ? एक दिन चल कर देखिए––बताने से ऐसी चीज़ें समझ में नहीं आतीं।

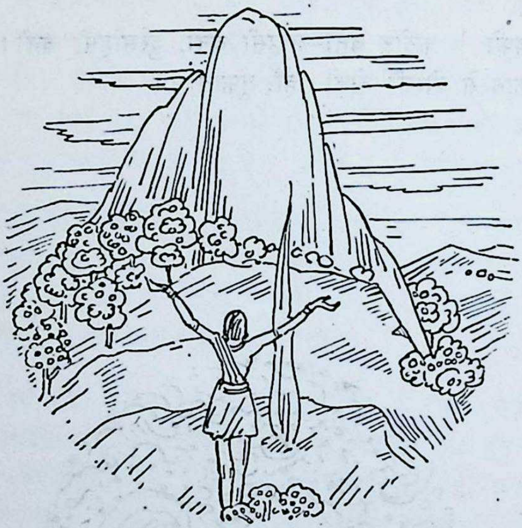
आँधी, तूफान, ज्वार, बाढ़, इन्क़लाब, विप्लव, क्रान्ति, रेवोलूशन सब प्रकृति की एक ही उद्दाम–लीला के भिन्न-भिन्न नाम हैं। हाँ।

किसी ने कहा है, Think dangerously—खौफ़नाक ढंग से सोचो। दूसरे ने कहा है—Live dangerously—ख़तरे में रहो। मैं कहता हूँ—दोनों को अपनाओ, ये एक दूसरे का पूरक हैं।

कोमलता बचपन है, कठोरता जवानी। बुढ़ापे की बात, बूढ़े जानें।

युवको ! कठोर बनो–साहसी बनो, दुस्साहसी बनो। आँधी में चलो, तूफ़ान से दोस्ती जोड़ो। हाँ, तूफ़ान से।





कस्मै देवाय हविषा विधेम

'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?'

किस देवता के श्री चरणों में मैं अपनी अँजलि अर्पित करूँ—कौन है वह देवता जो मेरी इस श्रद्धांजलि के पाने का उपयुक्त पात्र है ?

वह—वह जो अभी आने को है, किन्तु जिसकी झलक अभी से उस पर्वत की चूड़ा पर दीख पड़ती है। क्या वह उपयुक्त पात्र है, मेरे इस दिव्य उपहार के पाने का ?

वह प्रकाशमान है, ज्योति-दाता है। है—मैं मानता हूँ। किन्तु साथ ही वह वही तो है जिसकी पहली किरण पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर पड़ती है, दुपहरिया में सबसे ऊँचे स्थान में रह कर जो दीनों पर

अग्निवाण बरसाता है और अंत में भी जिसकी उच्चप्रियता कम नहीं होती, अपनी अंतिम उसाँसों से--अपने कलेजे के खून से--आकाशचारी बादलों को रक्त-रंजित कर जाता है।

नहीं--कदापि नहीं।

वह, जो इतने विशाल रूप में हमारे सामने खड़ा है ?

उसका उज्वल धवल ललाट कितना आकर्षक, कितना मोहक है--प्रातः संध्या को वह और भी कितना सुन्दर रूप धारण कर लेता है। उसके वक्षस्थल का पीत रंग, उसके कटि-देश का धूसर रंग और उसके पद-प्रदेश का नेत्ररंजक कलित हरित रंग--कैसा सुहावना है वह। किन्तु इतने झरनों, नालियों और नदियों का जल-दाता होकर भी तो वह पत्थर-हृदय है।

नहीं, कदापि नहीं।

किसकी मधुर स्मृति में यों गुनगुनाती जाती हो--सहचरी सरिते ! कितनी ही ऊषा, सन्ध्या और निशीथ तेरे इस अव्यक्त गान का अर्थ लगाने में मैंने व्यतीत कर दिये, कितनी ज्वालाओं को तेरी तरंगों-तेरे हृदय के फफोलों के साथ खेलने को छोड़ दियां; कितनी ही कामनाओं को तेरी अन्तर्धारा में लीन कर दिया। हे जगत के पाप-ताप तिरोहित करनेवाली तरंगिनी ! इच्छा होती है, यह अर्घ्य भी तुम्हारे ही चरणों में चढ़ा दूँ। किन्तु तुम नगराज कन्या जो हो। यह विद्रोही, राज-सत्ता को कैसे स्वीकृत करे !

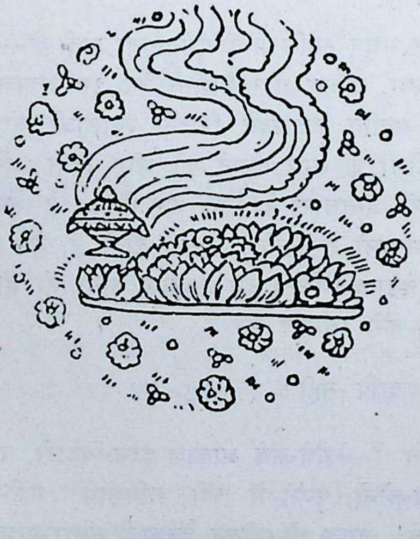
नहीं, कदापि नहीं।

वनस्पति ?--ऊँचे-ऊँचे, आकाश-हृदय-विदारी, पादप-पुंज; उनसे लिपटी लोनी-लोनी, पुष्पों से लदी, लतिकायें; गले-से-गले हिले-मिले रंग-बिरंगे पौधे; जगत को जीवन देनेवाली संसार-प्राण-स्वरूपा श्यामल शस्यराजि; और, पृथ्वी की सरसता का अनेक पद-प्रहारों को सह कर भी अक्षुण्ण रखनेवाली प्यारी-न्यारी दूब--मन उमगता है, हृदय उछलता है तुम्हारे ही ऊपर अपनी इस अंजलि को अर्पण करने का। किन्तु विनाश की गोद में खेलनेवाला यह विद्रोही केवल शिवं-सुन्दरम् की उपासना कैसे करे ?

नहीं—कभी नहीं !

तो फिर वह कौन है, वह अमंगल-मूर्ति, सुन्दरता-सदन; प्रलय-पटु, सृष्टि-कुशल;—जिसके पावन पदों में यह अर्घ्य अर्पित हो—सादर समर्पित हो ! कौन है वह देवता—कहाँ है वह देवता—हे मेरे अन्तर के प्रभु, बताओ। बताओ—

'कस्मै देवाय हविषा विधेम !'





इन्कलाब जिन्दाबाद

भगतसिंह की शहादत पर

अभी उस दिन की वात है। हिन्दुस्तान की नामधारी पार्लियामेन्ट—लेजिस्लेटिव-एसेम्वली में बम का धड़ाका हुआ। उसका धुआँ विद्युत-तरंग की तरह भारत के कोने-कोने में फैल गया। बड़े-बड़े कलेजेवालों के होश ग़ायब हुए; आँखें वंद हुईं—मूर्च्छा की हालत में कितने ही के मुँह से कितनी ही अंट-संट वातें भी निकलीं।

उस धुएँ में एक पुकार थी, जो धुआँ के विलीन हो जाने पर भी, लोगों के कान को गुंजित करती रही। वह पुकार थी:—"इन्क़लाब ज़िन्दाबाद।"

"लौंग लिव रेवोल्यूशन"—"इन्क़लाब जिन्दावाद"—"विप्लव अमर हो।" इस पुकार में न जाने क्या खूबी थी कि एसेम्वली से निकल

कर भारत की झोपड़ी-झोपड़ी को इसने अपना घर बना लिया। देहात के किसी तंग रास्ते में जाइए, खेलते हुए कुछ बच्चे आपको मिलेंगे। अपने धूल के महल को मिट्टी में मिला कर उनमें से एक उछलता हुआ पुकार उठेगा––"इन्क़लाब" एक स्वर में उसके साथी जवाब देंगे "जिन्दावाद ?" फिर छलाँग भरते वे नौ दो ग्यारह हो जायँगे !

सरकार की नज़र में यह पुकार राजद्रोह की प्रतिमा थी, हममें से कुछ के विचार में इसमें हिंसा की बू थी। इसके दबाने की चेष्टायें हुईं। किन्तु ऐसे सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए। लाहौर काँग्रेस के सभापति पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपने भाषण को इसी पुकार में समाप्त कर इसपर वैधता की मुहर लगा दी। अब तो यह हमारी राष्ट्रीय पुकार हो गई है।

हम नौजवान इस पुकार पर क्यों आशिक हैं ? क्रान्ति को हम चिरजीवी क्यों देखना चाहते हैं ? क्या इसमें हमारी विनाश-प्रियता की गन्ध नहीं है ?

युवक समझते हैं कि हमारी सरकार, हमारा समाज, हमारा परिवार आज जिस रूप में है, वह बरदाश्त करने लायक, निभाने लायक, किसी तरह काम चलाने लायक भी, नहीं है। उसमें व्यक्तित्व पनप नहीं सकता, बन्धुत्व और समत्व के लिए उसमें स्थान नहीं, मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार स्वातंत्र्य तक का वह दुश्मन है। आज मनुष्यता इस मशीन में पिस रही है–छटपटा रही है, कराह रही है। कुछ तोड़-जोड़, कुछ काट-छाँट, कुछ इधर-उधर से अब काम चलने-वाला नहीं। यह घर कभी अच्छा रहा हो, किन्तु अब जान का ख़तरा हो चला है; अतः हम इसे ढाह देना चाहते हैं, ज़मींदोज़ कर देना चाहते हैं। क्योंकि इस जगह पर हम अपने लिए एक नया सुन्दर हवादार मकान बनाना चाहते हैं। हम विप्लव चाहते हैं–क्या करें, सलाह-सुधार से हमारा काम चल नहीं सकता।

और, हम चाहते हैं कि विप्लव अमर हो, क्रान्ति चिरजीवी हो। क्यों ? क्योंकि मनुष्य में जो राक्षस है, उसकी हमें ख़बर है। और ख़बर है इस बात की, कि यह राक्षस, राक्षस की ही तरह, बढ़ता और मनुष्य को आत्मसात कर लेता–उसे राक्षस बना छोड़ता है। इस लिए कि यह राक्षस शक्तिसंचय न करने पाये, मनुष्यता को

कुचलने न पाये, हम क्रान्ति का कुठार लिए उसके समक्ष सदा वद्धपरिकर रहना चाहते हैं। क्रान्ति अमर हो, जिसमें मानवता पर राक्षसता का राज्य न हो; क्रान्ति अमर हो, जिसमें कँटीले ठूँठ विश्व-वाटिका के कुसुम-कुंजों को कंटक-कानन न वना डालें; क्रान्ति अमर हो, जिसमें संसार में समता का जल निर्मल रहे, कोई सेंवार उसे गँदला और विषैला न कर दे। प्रवंचना, पाखंड, धोखा, दग़ा के स्थान में सदयता, सहृदयता, पवित्रता और प्रेम का वोल-वाला रहे—इसलिए विप्लव अमर हो, क्रान्ति चिरजीवी हो।

विनाश के हम प्रेमी नहीं हैं किन्तु विनाश की कल्पना-मात्र ही हममें कँप-कँपी नहीं लाती; क्योंकि हम जानते हैं कि विना विनाश के निर्माण का काम चल नहीं सकता।

इन्क़लाब ज़िन्दावाद का प्रवर्तक आज हममें नहीं रहा। विप्लव के पुजारी की अन्तिम शय्या सदा से फाँसी की टिकटी रही है। भगत सिंह अपने वीर साथियों—सुखदेव और राजगुरु के साथ हँसते-हँसते फाँसी पर झूल गया। झूल गया—हँसते-हँसते, गाते-गाते—'मेरा रँग दे वसन्ती चोला'। सुना है, उसने मैजिस्ट्रेट से कहा—"तुम धन्य हो मैजिस्ट्रेट कि यह देख सके कि विप्लव के पुजारी किस तरह हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करते हैं"। सचमुच मैजिस्ट्रेट धन्य था, क्योंकि न केवल हमें, किन्तु उनके माँ-वाप सगे-सम्वन्धी को भी उनकी लाश तक देखने को न मिली। हाँ, सुनते हैं, किरासिन के तेल में अधजले माँस के कुछ पिंड, हड्डियों के कुछ टुकड़े और इधर उधर विखरे खून के कुछ छींटे मिले हैं। ज़हे किस्मत !

भगत सिंह न रहा। गाँधी का आत्मवल, देश की सम्मिलित भिक्षा-वृति, नौज़वानों की विफल चेष्टायें—कुछ भी उसे नहीं वचा सका। ख़ैर भगतसिंह न रहा, उसकी कार्य-पद्धति आज देश को पसन्द नहीं, किन्तु उसकी पुकार तो देश की पुकार हो गई है। और, केवल इस पुकार के कारण भी वह इतिहास के लिए अजर-अमर हो गया।

सभी ऋषि मंत्र-निर्माण के अधिकारी नहीं, उनमें भी गायत्री का प्रवर्त्तक तो व्रह्मा ही हो सकता हैं। इन्क़लाव-ज़िन्दावाद साधारण

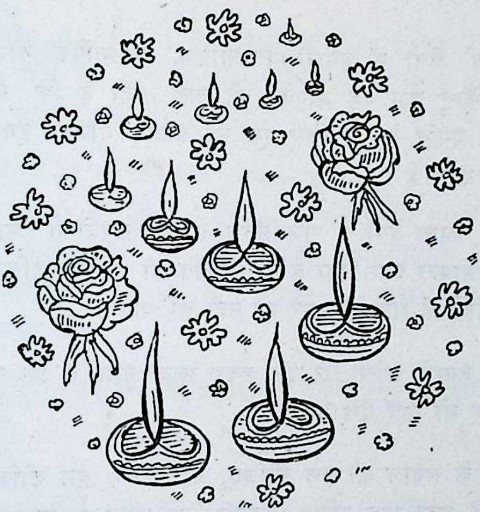
मंत्र ही नहीं रहा, वह राष्ट्र का गायत्री-मंत्र हो चुका है। इसके ब्रह्मा ने कमण्डलु की जल से नहीं; अपने खून के छींटे से इसे पूत किया है।

आज भारत का ज़र्रा ज़र्रा पुकार रहा है—

"इन्क़लाब ज़िन्दाबाद।"

(इस लेख पर लेखक को गोरी सरकार से डेढ़ साल की सख़्त क़ैद की सज़ा मिली थी !)





नई संस्कृति की ओर

हिन्दोस्तान आज़ाद हो गया। आज़ाद हिन्दोस्तान का ध्यान एक नये समाज के निर्माण की ओर केन्द्रित हो रहा है।

यह नया समाज कैसा हो ?—उसका मूल आधार कैसा हो, उसका विकास किस प्रकार किया जाय ? हिन्दुस्तान का हर देश-भक्त इन प्रश्नों पर सोच-विचार कर रहा है।

समाज को अगर एक वृक्ष मान लिया जाय, तो अर्थनीति उसकी जड़ है, राजनीति तना; विज्ञान आदि उसकी डालियाँ हैं और संस्कृति उसके फूल !

इसलिए नये समाज की अर्थनीति या राजनीति आदि पर ही हमें ध्यान देना नहीं है बल्कि उसकी संस्कृति की ओर सबसे अधिक ध्यान देना है; क्योंकि मूल और तने की सार्थकता तो उसके फूल में ही है।

फिर इन तीनों का सम्बन्ध परस्पर इतना गहरा है कि आप इन्हें अलग-अलग कर भी नहीं सकते। नई अर्थनीति और राजनीति के साथ एक नई संस्कृति का विकास हमारी आँखों के सामने हो रहा है– भले ही हम उसे देख न पायें या उसकी ओर से अपनी आँखें मूँद लें।

अन्य क्षेत्रों में हमारी पंच-वार्षिक, दश-वार्षिक योजनाएँ आ रही हैं, किन्तु क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि संस्कृति के विकास में प्रगति देने के लिए एक भी व्यापक योजना हमारे सामने नहीं आ रही है !

गत पचास वर्षों के राजनीतिक आर्थिक संघर्षों ने हमारे दिमाग़ को इतना भोथरा वना दिया है कि संस्कृति की सुकुमार दुनिया हमारी पथराई आँखों के सामने आकर भी नहीं आ पाती।

गेहूँ हमारी आँखों पर इस क़दर छाया हुआ है कि गुलाब को हम देखकर भी नहीं देख पाते।

गेहूँ के सवाल को हल कीजिए, और ज़रूर हल कीजिए, किन्तु किसलिए ? सदा याद रखिए, आदमी सिर्फ चारा या दाना खानेवाला जानवर नहीं है।

समाज की सारी साधनाओं की परिणति उसकी संस्कृति में है। जड़ में खाद-पानी दीजिए, तीनों की डालियों की रक्षा कीजिए; किन्तु नज़र रखिए फूल पर !

फूल पर, गुलाब पर, संस्कृति पर !

नये समाज की वह हर योजना अधूरी है, जिसमें नई संस्कृति के लिए स्थान नहीं।

× × ×

सूरज डूबने जा रहे थे, उन्होंने कहा कौन मेरे पीछे इस संसार को आलोक देगा !

चाँद थे, सितारे थे—सब चुप रहे। छोटा-सा मिट्टी का दीया। उसने बढ़कर कहा—देवता, यह भारी बोझ मेरे दुर्वल कंधों पर !

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता की यह एक कड़ी है।

जब राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री दूसरी बड़ी-बड़ी योजनाओं में लगे हैं; ओ कलाकारो चलो, हम अपनी परिमित शक्ति से इस क्षेत्र में कुछ काम कर दिखायें।

आखिर यह क्षेत्र भी तो हमारा ही है। गुलाब की खेती के माली तो हमी हैं; फूलों के संसार के भौंरे तो हमीं हैं। हम न करेंगे तो यह काम करेगा कौन ?

हमारी यह गुलाब की दुनिया—फूलों की दुनिया—रंगों की दुनिया—सुगन्धों की दुनिया—इतनी सुकुमार, इतनी नाजुक दुनिया है कि कहीं अर्थशास्त्रियों के हथौड़े और राजनीतिज्ञों के कुल्हाड़े उसका सर्वनाश न कर दें या प्रेमचन्द के शब्दों में—'रक्षा में हत्या' न हो जाय !

इसलिए, हमें ही यह करना है ! उन्हें कुछ दूरदूर ही रखना है।

× × ×

नई संस्कृति—नये समाज के लिए नई संस्कृति ! किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हम पुरानी संस्कृति के निन्दक या शत्रु हैं। पुरानी संस्कृति की सरज़मीन ही पर तो नई संस्कृति की अट्टालिका खड़ी करनी है हमें !

पुरानी संस्कृति से हम प्रेरणा लेंगे, पाठ लेंगे। वह हमारी विरासत है, हम उसे क्यों छोड़ेंगे ?

किन्तु पुरानी संस्कृति नष्ट हो रही है; क्योंकि उसमें सड़न आ गई है–घुन लगा हुआ है। इसलिए नई संस्कृति की रूप-रेखा नई होगी ही; नये साधनों को अपनाने से भी हम न हिचकेंगे।

हमारा उद्देश्य होगा, जीवन के हर सांस्कृतिक पहलू का इस प्रकार विकास करना कि हमारा सामाजिक जीवन स्वतंत्रता, समता और मानवता के आधार पर पुनर्संगठित हो और वह सौन्दर्य एवं आनन्द को पूर्ण रूप से उपलब्ध कर सके।

हाँ स्वतंत्रता, समता, मानवता ! नई संस्कृति के आधार तो यही हो सकते हैं !

किन्तु इनका अर्थ हम सिर्फ राजनीतिक और आर्थिक अर्थों में नहीं लगाते। तीसरा शब्द मानवता हमारे उद्देश्य को स्पष्ट और पुष्ट कर देता है !

हम सारी दासताओं से—सारी विषमताओं से मानव को मुक्त कर उनके परस्पर के सम्बन्ध को विशुद्ध मानवता पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। क्योंकि हम मानते हैं कि तभी आदमी अपने जीवन में सौन्दर्य और आनन्द की उपलब्धि कर पायेगा।

सौन्दर्य और आनन्द ! नई संस्कृति को इसी ओर चलना है, बढ़ना है !

आज के समाज में कुरूपता ही कुरूपता है, पीड़ाओं की विविधता है, बहुलता है। हम इसे सुन्दर बनायेंगे—हम इसे सुखी बनायेंगे।

लेखकों को, कवियों को, पत्रकारों को हम इकट्ठा करेंगे कि वे परस्पर विचार-विनिमय करके जनता के जीवन के अभावों और अभियोगों का सही चित्रण करें और साहित्य को उस पथ से ले चलें जिसके द्वारा जनता स्वतंत्र और पूर्ण जीवन का उपभोग कर सके।

इतना ही नहीं—जो कलाकार नाटक, संगीत, नृत्य और चित्रकारी में लगे हैं, उन्हें भी एकत्र करेंगे और उन्हें प्रोत्साहित करेंगे कि वे अपनी कलाकृत्तियों में जनता की इच्छाओं और आकाँक्षाओं को प्रतिफलित होने दें और सामाजिक जीवन को सौन्दर्यमय बनाकर उसे आनन्द से परिपूरित करें।

इस तरह हम उन सभी कलाकारों का आह्वान कर रहे हैं जो अपनी लेखनी या कूची, वाणी या वाद्यों द्वारा समाज को 'सत्य' 'शिवं' 'सुन्दरम्' की ओर ले जाने में लगे हैं किन्तु एक व्यापक संगठन नही होने के कारण जिनकी साधनायें इच्छित फल नहीं दे पा रही हैं।

इनका संगठन करके हम शहरों और गाँवों में ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र खोलना चाहते हैं जिनमें उनकी कलाकृतियों का प्रदर्शन हो सके और जहाँ से नई संस्कृति का सन्देश भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा हम देश के कोने-कोने में फैला सकें।

× × ×

हम बार-बार जनता पर ज़ोर दे रहे हैं—क्योंकि हमने देखा है और दुख के साथ अनुभव किया है कि आज़ की संस्कृति कुछ अभिजात्य लोगों तक ही सीमित और परिमित है।

नया समाज जनता का समाज होगा; संस्कृति को भी जनता की संस्कृति होनी है।

नये समाज का भविष्य महान है; नई संस्कृति का भविष्य महान है।

अब तक की संस्कृति मानवता के सैकड़े एक का भी सही प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती थी। जो सौ में सौ का प्रतिनिधित्व करेगी, वह कितनी बड़ी चीज़ होगी – कल्पना कीजिए।

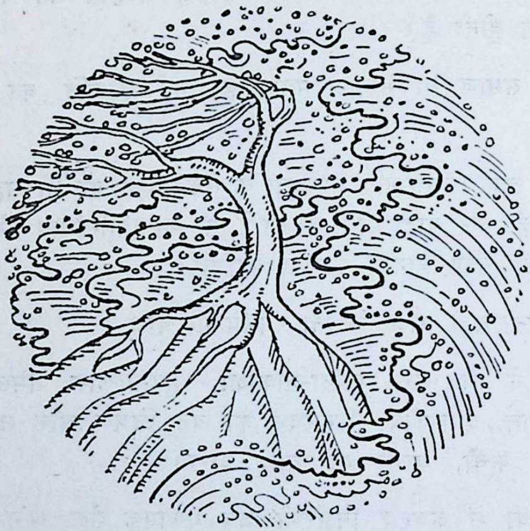
कितनी बड़ी चीज़, कितनी रंग-विरंगी चीज़ !

सौ में सौ की इच्छा-आकाँक्षा, हर्ष-उल्लास, मिलन-विरह शौर्य-बलिदान, दया-क्रोध, पीर-रुदन का वह चित्रण और उनकी ही कलम या कूची, वाणी या वाद्य द्वारा।

सदियों से अवरुद्ध निर्झरणी जब एकाएक शैल श्रृंग से फूट पड़ेगी। युगों से पिंजर-वद्ध विहगी जन वन-विटपी की फुनगी पर पर तोलते हुए कलरव कर उठेगी।

कल्पना कीजिए, खुश होइए और आइए हमारे इस सदुद्योग में हाथ बटाइये।





कुछ क्रान्तिकारी विचार

(बर्नार्ड शॉ के क्रान्तिकारियों के जेबीकोष से)

क्रान्तिकारी वह है जो तत्कालीन सामाजिक विधान को परित्याग कर नये की परीक्षा करना चाहता है।

जो ज़िन्दगी में खास महत्व प्राप्त करते हैं, वे सब के सब क्रान्तिकारी की हैसियत से ज़िन्दगी शुरू करते हैं। जो जितना महान होता है, वह ज्यों-ज्यों बूढा होता है, उतना ही क्रान्तिकारी होता जाता है; यद्यपि लोग उसे कट्टरपंथी समझने लगते हैं, क्योंकि सुधार के प्रचलित तरीक़ों पर से उसका विश्वास उठता जाता है।

जो आदमी तत्कालीन समाज के विधान को समझते हुए भी अपनी तीस साल की उम्र के अन्दर क्रान्तिकारी नहीं बना तो समझो वह पूरा आदमी नहीं है।

× × ×

जिसमें ताक़त है, वह करता है। जिसमें ताक़त नहीं, वह उपदेश देता है।

विद्वान आदमी उस आलसी का नाम है, जो अध्ययन के ज़रिये वक्त बरबाद करता है। उसके झूठे ज्ञान से बचो; उसके ज्ञान से अज्ञान अच्छा।

ज्ञान तक पहुँचने की एक सड़क है—सतत कार्य।

× × ×

जो आदमी अपनी भाषा का मर्मज्ञ नहीं है; वह दूसरी भाषा सीख नहीं सकता।

× × ×

जिस तरह मृत्यु की क्षतिपूर्ति नहीं की जा सकती, उसी तरह कैद की भी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती।

मुज़रिम कानून के हाथों नहीं मरता है—वह आदमी ही के हाथों मारा जाता है।

फाँसी की तख्ते पर की गई हत्या सब हत्याओं से बुरी है; क्योंकि यह हत्या समाज की स्वीकृति से की जाती है !

जुर्म वह खुदरा माल है, जिसके थोक माल का नाम है कानून।

जब तक जेलखाना क़ायम है, तबतक यह सवाल फिजूल है कि हममें से कौन उसके सेलों में है।

ज़रूरत सिर्फ यह नहीं है कि हम फाँसी पाये हुए मुज़रिम को हटा दें। अब ज़रूरत यह है कि इस फाँसी पाये हुए समाज को ही हम हटा दें।

× × ×

प्राउधों ने कहा था—धन चोरी का माल है। इस विषय पर इससे ज़्यादा सही बात कभी नहीं कही गई।

× × ×

उस आदमी से डरो जिसका भगवान आसमान पर रहता है।

× × ×

पाप से बचने का नाम पुण्य नहीं है। पुण्य वह है जिसमें पाप की ओर प्रवृति नहीं जाय।

× × ×

ज़िन्दगी का ज़्यादा से ज़्यादा उपयोग करने की कला का ही नाम किफायतशारी है।

× × ×

बेवकूफ राष्ट्रों में प्रतिभाशील व्यक्ति देवता बना दिया जाता है—उसकी पूजा सब करते हैं; किन्तु उसके रास्ते पर कोई नहीं चलता।

× × ×

आनन्द और सौन्दर्य सहकारी पैदावार हैं।

खुशी और खूबसूरती सीधे बेवकूफी तक पहुँचाती है।

सुन्दरी नारी से आजीवन आनन्द पाने की कामना ठीक वैसी ही है, जैसा हमेशा मुँह में शराब भरे रखकर उसका मज़ा पाने की चेष्टा करना।

बड़ा-से-बड़ा आनन्द ज़्यादा देर तक उपभोग किये जाने पर असहनीय पीड़ा पैदा करता है।

× × ×

जिसके दाँत में दर्द होता है, वह समझता है कि सभी अच्छे दाँतवाले सुखी हैं। ग़रीबी से परेशान आदमी धनियों के बारे में ठीक ऐसा ही सोचता है।

आदमी के पास उसकी ज़रूरत से ज़्यादा जितनी ही चीज़ें इकट्ठी होती हैं, उतना ही वह चिन्ता से चूर होता जाता है।

कुरूप और दुःखी संसार में धनी आदमी सिर्फ भद्दापन और तकलीफ ही ख़रीद सकता है।

बदशकली और बदबख़्ती से बचने के लिए धनी उन्हें और भी बढ़ा देता है। महलों की एक-एक गज रौनक़ झोपड़ियों की विभीषिका को बीघों में बढ़ा देती है।

× × ×

आज के ज़माने में भला आदमी वह है जो विना उपजाये ही उपभोग करे।

आधुनिक भद्रता के मानी है परोपजीविता।

भले आदमी के लिए देश का दुश्मन होना ज़रूरी है। लड़ाई में वह अपने देश की रक्षा के लिए नहीं लड़ता; वल्कि इसलिए लड़ता है कि कहीं उसके वदले कोई विदेशी उसके देश को नहीं लूटे। इन लड़ाकू लोगों को देशभक्त कहना वैसा ही है, जैसे हड्डी के लिए लड़नेवाले कुत्ते को पशुओं का हितैषी समझना।

यदि आप शिक्षा में, क़ानून में और शिकार में विश्वास करते हैं, तो सिर्फ थोड़ा धन मिल जाने से ही आप भले आदमी बन जायँगे।

× × ×

आदमी अनुभव के अनुपात में नहीं, अनुभव ग्रहण करने के अनुपात में बुद्धिमान होता है।

सिर्फ अनुभव से ही वुद्धि आती, तो राजधानी की सड़कों के रोड़े सवसे ज़यादा बुद्धिमान होते।

× × ×

जवानी के सौ खून माफ हैं––लेकिन जवानी अपने को नहीं माफ करती। बुढ़ापा अपने को माफ कर देता है, लेकिन उसे माफ नहीं किया जाता।

जहाँ ज्ञान नहीं है, वहाँ अज्ञान विज्ञान का नाम पाता है।

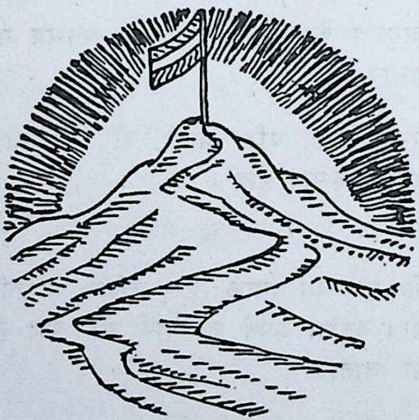
स्वामित्व की उपार्जित भावना प्राकृतिक भावनाओं से ज़्यादा मज़बूत होती है।

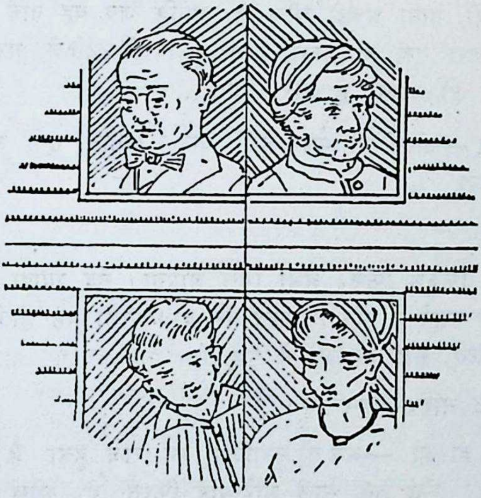
उस आदमी से होशियार रहना, जो तुम्हारा घूंसे का ज़वाव नहीं देता। वह न तुम्हें क्षमा करता है और न तुम्हें यह मौक़ा देती है कि अपने को क्षमा कर लो।

दो भूखे आदमी एक भूखे आदमी से दुगुने भूखे नहीं हो सकते, लेकिन दो शैतान आदमी एक शैतान आदमी से दस गुना ज़्यादा ज़हरीले हो सकता है।

विनाश को तभी अपनाया जाता है, जब वह उन्नति का बुर्का पहन लेता है।

सामाजिक समस्याओं पर माथापच्ची करना फिजूल है—ग़रीबों की एक ही समस्या है, वह है ग़रीबी; धनियों की एक ही समस्या है, वह है बेकारी !





रेलगाड़ी

फर्स्ट क्लास

(बाह्य)

स्प्रिंगदार गद्दे—साफ-सुथरे। ऊपर बिजली के पंखे सायँ-सायँ कर रहे। रोशनी चमचमा रही।

एक बर्थ पर राजा साहब। सिर पर पगड़ी—सोलहवीं सदी के कट की। जवाहरात की कलँगी, एक बड़ा हीरा झलमल कर रहा। शरीर में अँगरखा—सुफेद, फेन की तरह। कन्धे पर, गले में, आस्तीन पर पक्का 'काम'। चूड़ीदार पाजामा। कामदार मखमली जूते।

दूसरे बर्थ पर सेक्रेटरी! चुस्त-दुरुस्त नौजवान।

(अन्तः)

लखनऊ ! साली भागी जा रही है।

वह—कैसी आग-भभूका ! कहीं ऐसी खूबसूरती होती है ? लेकिन 'वह' तो 'उससे' भी अच्छी – कितनी मासूम ? गाती भी है; गाना भी क्या बला है ? तान, ताल – जहन्नुम में जायँ ये चोंचले। लेकिन नहीं, गाना अच्छी चीज़ है, क्योंकि जब वह गाने लगती है, उसका चेहरा सुर्ख हो जाता, गाल गुलाब हो उठते हैं, गरदन लम्बी सुराहीदार हो जाती है और सीना....

'वह'—उसमें भी मज़ा है ! धन्य रे इन्सान, तूने भगवान को भी छकाया !

उँह...

यह फिजूल फिक्र। अभी मिल जायगा। सूद ज़्यादा देने पड़ेंगे, पड़ें। लोग कहते हैं, मैंने रियासत बेच दी। साली यह होती है किस दिन के लिए, कोई बेवकूफों से पूछे तो ?

लाट साहब—इन्टरव्यू।

हा हा हा —अव तो सुराजियों का राज हुआ है। ये गाँधी टोपीवाले ! कल तक साले मारे-मारे फिरते थे, भीख माँगते थे, आज नवाब के नाती बने हैं ! नहीं, हम उनसे मिल नहीं सकते ?। मिलना ?—उनसे ? अभी कितने दिन बीते, आये थे चन्दा माँगने ! कितनी देर धरनिया दिये रहे !

यह कौन स्टेशन है ? अरे, गाड़ी धीमी......

सेकेन्ड क्लास

(वाह्य)

डब्बा फर्स्ट क्लास की ही तरह; किन्तु कुछ घटिया—सेकेन्ड क्लास है न।

सेठजी वैठे हैं। सिर पर मारवाड़ी पगड़ी । हाथ में एक अंगरेज़ी अखबार, मानो उसको पढ़ने की कोशिश कर रहे।

एक कोने में उनका सामान धरा। मोटे-मोटे होलडौल। बड़ी-बड़ी पेटियाँ। बेंत के बने फलों के टोकरे। एक सुराही, चाँदी का ग्लास जिसके सिर पर।

उनके सामने के वर्थ पर एक सपत्नीक सज्जन।

(अन्तः)

देशी कारवारों के लिए यह अच्छा दिन है। कम्पनी चलकर रहेगी। न भी चले, अपने को तो कभी घाटा नहीं। और, घाटा हुआ भी तो ? जिस तरह आया, उस तरह जायगा।

एक लड़ाई ठन जाय ? इच्छा होती है, हिटलर के पास कोई सौग़ात भेजूं। लेकिन वह क्या करे वेचारा--दुनिया तो हिजड़ा हो गई, वह लड़े किससे ? अपने जानते उसने लड़ाई के लिए कुछ उठा रखा है ?

वाह री जर्मनी की वह लड़ाई--एक फूंक में पँचकौड़ीमल से मैं सेठ करोड़ीमल बन गया ! हे युद्ध के देवता, कहाँ छिपे हो, इस धराधाम पर अवतार लो, अपने भक्तों की रक्षा करो !

हाँ, यह पिछला कौन शहर था ? यहाँ कोई धर्मशाला है ? लेकिन यहाँ धर्मशाला बनना किस काम का ? यहाँ अपना रोज़गार होता, तो गाहक जुटाने में मदद होती, जिधर निकलता, तारीफें होतीं।

ये भलेमानस--क्यों वीवियों को साथ लिये फिरते हैं ? क्या यह अपने देश का धर्म है ? लेकिन, यह स्त्री है खूबसूरत ! बड़ी चोखी ! एक मेरी भी सेठानी है !

लेकिन मेरी 'वह'--अप्सरायें तो देवताओं के घर में भी हैं ! उसके नज़दीक यह चुड़ैल है ! पर नहीं--इसमें भी कुछ है !

राम, राम। यह अधर्म हुआ ! मैंने उस दिन गीता देखी थी, गोरखपुर की टीका। भगवान ने कहा है–मानसिक पाप...

भगवान...हा हा...

गाड़ी धीमी क्यों ?—हाँ, यह कौन स्टेशन है ?

इन्टर क्लास

(वाह्य)

वेंचों पर गद्दे—लेकिन, फटे, पुराने। पंखा नहीं–रोशनी के दो धीमे वल्व !

एक बेंच पर दो, एक पर तीन सज्जन बैठे और एक पर अकेले एक सज्जन मुँह ढाँप कर सोये।

इधर-उधर की जगहें सामानों से ठसीं !

(अन्तः)

मुझे उठ बैठना चाहिए, यह कोई भलमनसाहत है कि किसी को बैठने की जगह न हो और मैं लेटा रहूँ !

किन्तु, क्या बैठ सकता हूँ मैं ?

भलमनसाहत, तेरा बुरा हो !

ये साफ-सुथरे कपड़े, ये कटे-छँटे बाल, यह घुटा-घुटाया चेहरा, यह इन्टर का सफर ! लोग समझते होंगे, कितना सुखी हूँ मैं।

किन्तु, क्या यह सच है ?

इस हरे-भरे उद्यान के भीतर जो रेगिस्तान हाहाकार कर रहा है, कौन समझे, कौन जाने ?

हम कहीं के न रहे ? ग़रीबी और अमीरी के बीच की अजीब हमारी है स्थिति। ग़रीब हमें बेगाना समझते हैं, अमीर हमसे घृणा करते हैं। हम समाज के त्रिशंकु हैं।

हम—मैं क्यों 'हम' पर आ गया। हममें भी कोई सुखी हो सकता है। मैं तो अपनी देखूँ, अपनी जानूँ।

बड़ी तपस्या के बाद तो नौकरी मिली। नौकरी मिली, तो बला आई। परिवार की आँखें मुझपर, कुटुम्बियों की आँखें मुझपर। सब मुझे चूसना चाहते हैं। उधर आफिस में कितनी जोड़ी आँखें दिन-रात मुझपर गड़ी रहती हैं।

बीवी की झड़प—बच्चों की चिल्ल-पों !

फिर भी चेहरे पर हँसी रखनी ही है, भले आदमीपन के सभी तकाज़े पूरे करने ही हैं।

बीवी—वह बेचारी भी क्या जानती होगी, किसके पाले पड़ी ?

और, बच्चे जब बाबूजी कहकर गले से लिपट जाते हैं और पड़ोसियों के बच्चों के हाथ में देखी किसी चीज़ की माँग करते हैं, तब...उफ......

नहीं-नहीं, अब मुँह ढँका नहीं रह सकता—मेरा दम घुटा जा रहा है।

थर्ड क्लास

(बाह्य)

चारों ओर काठ-काठ। काठ पर बैठे, काठ पर पैर लटकाये, सिर के ऊपर काठ – अगल-बगल काठ। काठ—ठेठ काठ।

भीड़-भड़क्का। कोई बैठा, कोई खड़ा। बिना टिकट का वह बेचारा बेंच के नीचे लेटा और एक 'बाबूसाहब' सामान रखने के ऊपर के लटकते छपरखट्ट पर नाक बजा रहे।

कहीं थूक, कहीं राख; कहीं पानी, कहीं जलेबी का रस, कहीं मूँगफली के छिलके !

कोलाहल !

(अन्तः)

न-जाने वह कैसा देश होगा ?

सुना, दाल-भात तो दोनों वक्त मिल जाता है, मछली भी खूब मिलती है। किन्तु मलेरिया तुरत हो जाती है।

मलेरिया—बाबा रे, वह तो जिन्दा भूत है। हड्डी-हड्डी हिला देती, कलेजे के कलेजे को भी कँपा डालती है।

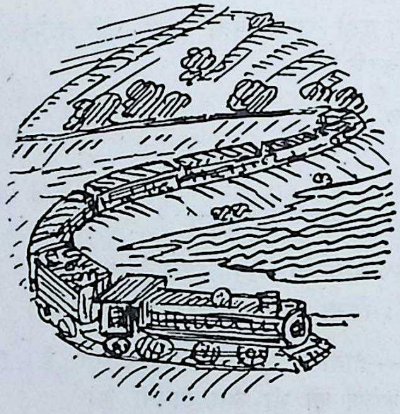
मैं किस फेर में पड़ गया ?

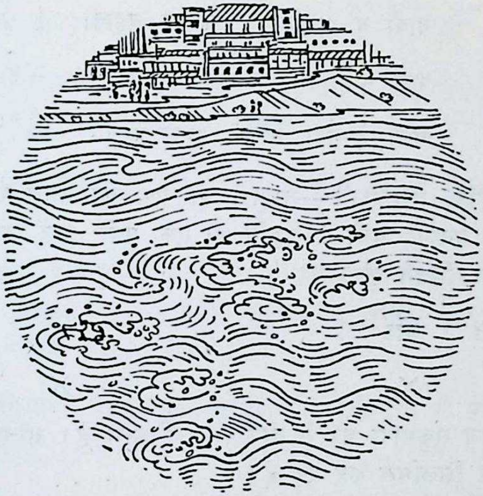
मिन्नू की शादी मैंने क्या की, आफत में फँस गया। वह बीस रुपये का कर्ज़ा—न जाने, किस-किस लोक में हमें घुमायेगा ?

सुना है, पैसे वहाँ तुरत मिलते हैं।

मैं तो मजबूत हूँ। खूब काम करूँगा। खूब पैसे मिलेंगे। उन पैसों में से कर्ज़े का रुपया अलग रख, बाक़ी से अपने लिए कोट बनाऊँगा, मिन्नू के लिए एक रेशमी कमीज, उसकी बीबी के लिए साड़ी लूँगा और मिन्नू की माँ—हाँ, उसके लिए भी कुछ लेना ही होगा।

हम सब जब ये कपड़ेलत्ते पहनेंगे, तो पड़ोसी खूब सिहायेंगे !
सिहाया करें—इसके लिए लोग अपना शौक-मौज छोड़ दे ?
उस दिन मिन्नू की माँ मुझे कितना प्यार करेगी ?
मैं उस दिन उससे एक गंडा चुम्मा वसूल करूँगा। क्यों न ?
वह—मेरे घर की लक्ष्मी !
किन्तु, आह ! अब कब उससे भेंट होगी ?
कब मिन्नू को गोद लूंगा ?
मेरी लक्ष्मी—मेरा मिन्नू !





जवानी

हिन्दी के एक पुराने कवि ने जवानी की उपमा चढ़ती हुई नदी से दी है।

कितनी उपयुक्त है यह उपमा !

चढ़ती हुई नदी—

तीव्र प्रवाह—बड़ी-बड़ी नौकाओं को भी खतरे में डालनेवाला। जगह-जगह भीषण भँवर—जिनमें फँस कर बच निकलना मुश्किल ही नहीं, असम्भव। कीचड़ और खर-पात से गन्दा दीख पड़नेवाला पानी—किन्तु उसमें कितनी जीवनी शक्ति !

कगारे टूट-टूट कर गिर रहे हैं। बड़े-बड़े वृक्ष उखड़ कर अररा रहे हैं और तिनके की तरह बहे जा रहे हैं।

चढ़ती हुई नदी—मानो प्रकृति की खुली चुनौती !

लो, एक भीषण उफान आया। अब कगारे, किनारे कुछ दीख नहीं पड़ते। सहस्रमुखी हो नदी मानों संसार-विजय को निकली हो—

करोड़ों कगारों को धड़धड़ गिराती,
नावों व' गाँवों को सरसर बहाती,
पलक में ही नालों व खालों को भरती,
चली है नदी, नापती मानो धरती !

प्रकृति, सम्हलो !—तुम्हारी ही एक बेटी आज चंडिका बन चुकी है। मनुष्यो, बचो !–प्रकृति की एक पुत्री तुम्हें बताने आई है कि तुम कितने तुच्छ हो !

बाढ़ ! बाढ़ !!

× × ×

आज सुकुमारी घर से दीये लेकर निकली है। आँचल की ओट में वे कैसे झिलमिल कर रहे हैं।

सुकुमारी दीये लेकर निकली है !

आज गंगा-मैया उसकी कुटिया के निकट पहुँची हैं, दीपदान क्यों न दे ?

घर-घर से सहस्रों दीप आ रहे हैं !

तिनके के छोटे-छोटे बेड़े—बेड़ों पर कच्ची मिट्टी के दीये। एक के बाद एक—वे छोड़े जा रहे हैं। प्रकाश की एक लम्बी लड़ी के ऐसे वे तीव्र प्रवाह में भँसे जा रहे हैं !

कगारों को ढहानेवाला, वृक्षों को आमूल गिरानेवाला, नाश और महानाश का प्रत्यक्ष रूप—यह उद्दाम प्रवाह तिनके के तुच्छ बेड़े पर रखे कच्ची मिट्टी के इन क्षण-भंगुर दीपों, को अपनी छाती पर रखे मानों दुलारा रहा है, नचा रहा है, खेला रहा है !

जहाँ तक देखो जगमग !

विनाश की मूर्त्ति का यह अर्घ्यंदान धन्य ! अर्घ्यंदान की ज्योति से जगमगाते यह विनाश की मूर्त्ति धन्य !

झकझक—झलमल !

× × ×

यह दीपदान क्यों न हो ?

दुनिया की जितनी बड़ी-बड़ी सभ्यतायें हैं, सब नदियों के किनारे ही तो पनपीं, वढ़ीं, फूलीं, फलीं, फैलीं !

संसार के जितने बड़े नगर हैं, सब नदियों के किनारे ही बसे हैं ।

कला, कविता—सब का चरम विकास तो स्रोतस्विनी के पावन तट पर ही हुआ है ! वही स्रोतस्विनी जो अपनी 'चढ़ती' में इतना भयंकर मालूम पड़ती थी।

विध्वंस से घबड़ा उठने वालो ! ज़रा निर्माण के इस पहलू को भी देखो !

× × ×

तो, जवानी की उपमा चढ़ती हुई नदी से दी गई है।

जवानी—चढ़ती हुई नदी !

वहाँ जीवन—यहाँ जीवन ! जीवन में प्रवाह—दोनों ओर !

हहर-हहर कर बहने वाली नदी—हाहा-हूहू में मचलने वाली जवानी !

कितने अरमानों के भँवर हैं इसमें !

उच्छुंखलता का कैसा नग्न नृत्य है यहाँ ?

मैं सीमाओं को तोड़ूंगी; बंधनों को काटूंगी।

मैं संसार को छा लूंगी—उसपर अपना रंग चढ़ा कर छोड़ूंगी !

तुम्हारी हरी-भरी दुनिया डूबती है, डूबने दो; तुम्हारे शत-सहस्र वर्षों के परम्परा-वृक्ष उखड़ते हैं, उखड़ने दो !

अजी, संसार आपादमस्तक हरा-भरा हो, इसके लिए कुछ हरे पौदों को खाद बनाना ही होगा। यह ठूँठ रूख गिरेगा नहीं, तो नये विरवे पनपेंगे कैसे ! फिर नये भवन के लिए लकड़ियाँ भी कहाँ से आयँगी ?

× × ×

माँझी, अपनी नाव की ख़ैर चाहते हो, तो हमारे प्रवाह का रुख़ समझो, सम्हलो ! नहीं तो तुम्हारी यह नाव डूबी !

बाढ़-बाढ़ मत चिल्लाओ !

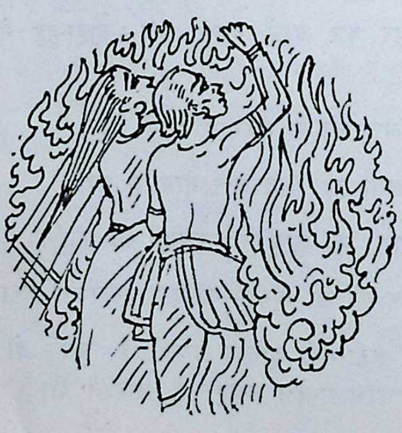
चतुर और दूरदर्शी किसान की तरह अपने खेतों की मेंड़ें मज-बूत करो। यदि एक फसल वर्वाद भी हूई, तो यह ऐसी खाद दे जायगी कि दूसरी फसल में निहाल हो जाओगे !

सुन्दरियों से कहो—हमें अर्ध्यदान दें !

ओ हमारे ताण्डव-नृत्य पर भय-चकित होनेवाले क्षुद्र हृदय मानव जीवो ! हमीं शिव हैं, इसे क्यों भूलते हो ?

व्याघ्र का चालक, श्रृंगी का वादक, श्मशान का निवासी, उत्तुंग शिखर का प्रवासी वही वृषभ-वाहन, गणेश पिता, गौरी-पति अब-ढर दानी, शंकर, शिव भी है !

वोलो—शिवम् ! सत्यम्, ! सुन्दरम् !





कलाकार

पटना जेल के सेल के निकट का वह वार्ड। आँगन में बड़ा पीपल का पेड़। पेड़ पर दो चार कीलें ठुकी हुईं। जिन्हें सेल से भी संतोष न हो, वे ज़रा अपनी हथकड़ियों को इन कीलों में लगाकर, ऊर्ध्ववाहु हो, झूले का मज़ा लें !

पानी का यह नल––नल के नीचे पक्के गच का, ईंट का बना विस्तृत 'टव' !

आँगन में बेले के कुछ पेड़—सूखे ! हमने उनमें रस डालना शुरू किया। पहले पत्तियाँ निकलीं, फिर कलियाँ फूटीं। पटना का 'मोतिया' एक नामी चीज़ है न ? जेल का वह हिस्सा गमगमा उठा। रात में जब हम वार्ड में बन्द होते, खिड़कियों की राह चैत की चाँदनी में इन मोतियों का चिटखना स्पष्ट सुनते !

जरा बाहर जाकर इस चाँदनी में, इन बेलों की क्यारियों में घूम पाता ? आह रे—'बेला फूले आधी रात, गजरा केकर गले डालूँ ?' किन्तु, यहाँ तो गजरे पाने की कौन बात, देखने की इच्छा भी नहीं पूरी होती !

भोर होते-होते फूल भी ग़ायब ! जो अपने कर्कश बूट-रव से रात में सोना हराम करते, उनके 'सुर्ती-सनित' पाकेटों में पड़ कर वे जेल के बाहर पहुँच चुके होते !

× × ×

किन्तु, मैं बहक गया ! जिस तरह वकील साहब बनने की आकांक्षा करता हुआ 'गान्ही बाबा का भोंटियर' बन गया था, जिस तरह सम्पादक बनने की इच्छा में हिन्दी-सम्पादन-संसार का पीर-बवर्ची-भिस्ती-खर यानी प्रूफ-रीडर, मैनेजर, कन्वासर, एडिटर आदि सब एक ही बार हो गया—उसी तरह आज भी बहक रहा हूँ।

× × ×

तो उस दिन एक छोटा-सा बच्चा लाया गया और उस सेल में रखा गया !

बच्चा छोटा-सा—और जेल नहीं, सेल में !!

एक दिन वह सेल के दरवाज़े पर पलथी मारे बैठा था—बड़ी ही विचित्र उदासीन मुद्रा में। मैंने उसे देख कर भी न देखा। अपने मोतिये में पानी डालने में लग गया कि वह दौड़कर मेरे निकट आया और खड़ा हो गया। कितना चपल ! उसकी आँखों से प्रतिभा टपक रही थी। मैं उससे कुछ पूछता ही कि वार्डर गरज उठा—'इससे मत बोलिये बाबू, साला गिरहकट्ट है; कई बार आ चुका।'

बच्चा बेशर्म-सा खिलखिला पड़ा ! बोला—'नहीं सुराजी बाबू, ये तुहमत लगाते हैं। मैं कब आया था यहाँ सिपाहीजी ? वह दूसरा होगा कोई साला; मुझे बेकसूर पकड़ा गया है।' फिर कानों में कुछ सट कर फुस-फुसाया—सुराजी बाबू, ज़रा हलवा दीजियेगा ?'

मेरी उसकी दोस्ती हो गई।

वह सेल से छूटते ही मेरे पास दौड़ आता। हलवा लेकर खा लेता और गप्पें करने लगता। मैं जानना चाहता था कि वह कौन

है, क्या करता था, जेल में क्यों लाया गया ? किन्तु वह तो प्रति-दिन बातें बदलता। इतना-सा छोटा बच्चा, इतनी शरारत कहाँ से आई इसमें ?

एक दिन, दुपहरिया में, पीपल के पेड़ के निकट बैठा वह खेल रहा था। खेलता क्या था, कुछ बनाने में मस्त था। मैं दबे पाँव गया। अरे, यह तो विचित्र.........

लाल सुर्खी, उजले चूने और हरी दूब के संयोग से, ज़मीन पर जैसे कारचोबी के काम कर दिये हों उसने ! और, उसके बीच में सुन्दर नागरी हरूफों में लिखा है—पिअरिया !

'अरे, तू पढ़ा-लिखा भी है ?'

मुँह बना, सिर हिला, उसने हामी भरी !

'यह पिअरिया कौन है ?'

अब उसकी आँखें सुर्ख थीं। फिर छलछला उठीं। अपने को जैसे वह रोक न सका हो, भूत-सा बकने लगा।

वह कहने को किसी भंगी का बेटा है। माँ हैजे में मर गई। बाप चोरी में पकड़ा गया, तब से न लौटा। पिअरिया उसी की बहिन है—उससे बड़ी। बहिन ने कोशिश की कि वह म्युनिसिपल स्कूल में पढ़े। किन्तु फीस और किताबों का अभाव; उसपर आये दिन उपवास का निमंत्रण !

इतने में एक 'दोस्त' मिल गये—ठीक उस दिन जब कि कई शाम का भूखा वह स्टेशन पर मारा-मारा फिर रहा था।

'दोस्त' जी ने इसे 'जेब-कतरन-कला' सिखलाई।

कैसा मज़ा—चुपके-चुपके एक बच्चा टिकट कटाते समय आपके निकट आ खड़ा हुआ या रेल के डब्बे में बग़ल में आ बैठा। आप लापरवाह हैं, बच्चा अपनी घात में। टिकट की खिड़की से आपके हटते ही वह हट गया। क्या यों ही, नहीं जनाब, आपकी जेब सहित ! आप इधर कई स्टेशन जाने पर जब पान-सिगरेट के लिए पैसे निकालने लगे, घबराये, चिल्लाये। और वह 'दोस्त' के निकट पहुँचा, थैली उसे दी। माल उसने रख लिया। बच्चे को मिले—पूरी-जलेबी, पान सिगरेट, सिनेमा-थेटर ! कुछ पैसे बहिन के लिए भी !

लड़का चालाक—मैं कहूँ प्रतिभाशील ! मेहनत करूँ मैं, पैसे पायें 'दोस्त', यह क्यों ? 'दोस्त' कहते–अरे, दारोगाजी को भी हिस्सा देना होता है न ? झगड़ा हुआ—बच्चे ने स्वतंत्र पेशा अख्तियार किया; किन्तु उसी दिन पकड़ लिया गया। बच्चा कह रहा था मुझसे–'साले 'दोस्त' ने पुलिस से मिल कर पकड़वाया है बाबू ! अच्छा बच्चू को मैं फँसाऊँगा ।'

मुश्किल से ११-१२ वर्ष का बच्चा है। इतनी अक्ल ! फिर उसकी यह कारीगरी ! मेरी आँखों में सुर्खी-चूने से बने कारचोबी के काम चमचमा उठे।

'अरे, तुझे तो आर्ट-स्कूल में पढ़ना चाहिए !' मैंने कहा—'इन शैतानियों को छोड़ बाहर जाकर पढ़ना-लिखना शुरू करना।'

वह हँसा ! फिर बोला—'बहिन भी पढ़ने को ही कहती थी सुराजी बाबू ! किन्तु, क्या किया जाय, आप ही कहिए ? फीस तो माफ है। किताबें तो चाहिए ही ; फिर पेट भरने पर ही तो अक्षर सूझते हैं।' वह संजीदा-सा होकर बोला–'पढ़ना-लिखना तो बड़े लोगों का काम है, बाबू।'

'और तुम्हारा काम है जेल जाना ?'

"जेल भी कोई बुरी चीज़ नहीं—खाने को ठीक समय पर मिल जाता है । ...लेकिन बहिन की याद आती है. ....!'

उसकी आँखें फिर उमँड़ आईं !

× × ×

मैं कभी सुर्खी, चूना, दूब से बने उस चित्रकारी की ओर देखता, कभी उसके मुँह की ओर ! मेरे दिमाग़ में हाहाकार मचा था !

और उस हाहाकार को द्विगुण कर दिया एक और घटना ने।

× × ×

जेल से छूट कर गंगाशरण की माँ को प्रणाम कर आना जरूरी ही था।

गंगा के गाँव में एक छोटा-सा जंगल है—जंगल का 'पाकेट एडीशन' कहिए। हमलोग वहीं बैठे थे। माघ बीत रहा था। फगुनहट

सबके दिमाग़ में गरमी भर रही थी। वृक्षों पर बैठी बुलबुल इतने ज़ोर से चहक रही थी मानों भंग पी ली हो। कुछ और चिड़ियों के स्वर की सवारी पर चढ़ जब-तब कोयल की कूक भी सुनाई पड़ती थी। ईरान और हिन्दुस्तान का यह सांस्कृतिक सम्मिलन था !

कि इतने ही में–

'छोटे-मोटे सैयाँ हो।'

जंगल की एक ओर से आवाज़ आई। स्वर में इतना सुरीलापन था कि समूचा जंगल गूँज-सा उठा। श्यामनन्दन बाबा ने कहा—'वह आ गया ! लकड़ी तोड़ने आया होगा; मैं बुला लाता हूँ, सुनो उसका गाना !'

दौड़े गये वह और एक छोटे-से बच्चे को कंधे पर टाँगे ले आये। बाबा ठहरे—हमलोगों के सार्वजनिक बाबा। बच्चे के हाथ में अब भी एक सूखी टहनी थी।

उसे बीच में बैठाया गया। वह गाने लगा। गाने निस्सन्देह ही ग्रामीण रुचि के पोषक थे, किन्तु उसका गाना !

स्वरों का चढ़ाव-उतार, आवाज़ का कम्पन और दर्द, कंठ का वह सुरीलापन—एक समाँ-सा बँध गया। मालूम होता था, संगीत सपक्ष होकर वहाँ चारों ओर उड़ रहा हो। थोड़ी देर के लिए मालूम हुआ जैसे बुलबुल चुप हो गई हो, कोयल शरमा गई हो, दूसरी चिड़ियाँ आश्चर्य-चकित हो रही हों।

'बाबा, यह है कौन ?'

'अरे, यह है, सो है। क्या पूछो हो, लड़के ?'

मालूम हुआ, एक अनाथ बच्चा है—हाँ, माँ बची है। किन्तु, माँ के रहते भी तो अनाथ ही है। पिता इसके नामी गवैया थे। पैसे भी कमाये, किन्तु खर्राच—कफ़न के लिए भी छोड़ कर नहीं मरे। बड़ी मुश्किल से दिन कटते हैं—यह बच्चा जब-तब जलावन तोड़ने इस जंगल में आता है।

'क्यों न इसे उच्च संगीत की शिक्षा दी जाय, गंगा ?'

'क्यों न हमें स्वराज्य मिल जाय, हज़रत!'

'जरा ज़मीन पर पैर रख के वतिआइए, बेनीपुरीजी!'—यह रामचन्द्र ने कहा!

× × ×

कला और कलाकार की जब चर्चा सुनता हूँ, दोनों बच्चे आँखों के निकट घूमने लगते हैं।

एक जेल की हवा खा रहा था—दूसरा लकड़ियाँ तोड़ रहा था। हमारे रविवर्मा, हमारे तानसेन जेलों में सड़ते हैं, इंधन के गट्ठर ढोते हैं।

और, उसी समय अपने दो मित्र-तनयों की याद आती है। एक ७५) महीने खर्च कर शांति-निकेतन में फ़कत लकीरें खींचा करते हैं, दूसरे ५०) मासिक एक संगीतज्ञ पर खर्च कर जब-तब भोर की मेरी अनमोल नींद हराम करते हैं।





दीप-दान

एक

'बिटिया, यह क्या कर रही है ?'

वह गीली मिट्टी और पतली अँगुलियों के संयोग से छोटे-छोटे दीपों की रचना कर रही थी। अपने काम को जारी रखती, मेरी ओर मुँड़ कर मुस्काराती हुई बोली—

दीये बना रही हूँ; आज दिवाली है न ?

'हाँ, आज अमावस्या है। कहाँ वह घन-अंजन अन्धकार और कहाँ मिट्टी के ये छोटे दीये !'

किन्तु शायद दुस्साहसिकता पर ही तो संसार क़ायम है।

× × ×

लोग कहते हैं, यह लक्ष्मी की तिथि है। मैं कहता हूँ, यह शक्ति की तिथि है—वैसी शक्ति, जो प्रकृति पर भी विजय प्राप्त करने की हिम्मत रखती है।

प्रकृति कहती है—आज अन्धकार रहेगा, मेरा यही आदेश है, मेरा यही नियम है।

मनुष्य की अन्तर्हित शक्ति गरज उठती है—नहीं, आज यहाँ उजाला रहेगा, प्रकाश रहेगा, मेरा यही प्रयत्न है। तेईस अमावस्या तेरी, एक अमावस्या मेरी।

युग-युग से प्रकृति और मनुष्य का यह संग्राम जारी है। अभी तक किसीने हार नहीं मानी।

× × ×

बहनें दीप जला रही हैं—या दीपों की माला से घर-आँगन जगमगा रही हैं। जगमगा रही हैं और गुन-गुनाकर कुछ गा रही हैं।

भाई खर-पात के मशाल बना, हमजोलियों की टोलियाँ बाँध, गाँव के बाहर खेत और सरेह में हाहा-हूहू मचा रहे हैं।

घर-बाहर गाँव-सरेह सबमें उजाला है।

अन्धकार का राज्य तभी दूर होगा, जब घर में बहनें और बाहर भाई—दोनों तुल पड़ें। घर में बहनें दीप सजा रही हों, बाहर भाई मशालें लिये दौड़ रहे हों। बहनें गुनगुना रही हों, भाई हाहा-हूहू कर रहे हों।

× × ×

ये दीपक, ये पतंगे !

एक हँस रहा है, दूसरा जल रहा है।

हम बैठे कवितायें बनाते हैं।

शायद दुनिया इसीका नाम है।

कोई हँसे, कोई जले, कोई इन दोनों का आनन्द ले !

× × ×

आज लक्ष्मी आने वाली है।

क्या लक्ष्मी का प्रवेश अन्धकारमयी तिथि में ही हुआ करता है ? क्या लक्ष्मी को अन्धकार से प्रेम है ?

उल्लू पर जो सवार है, उसके लिए कुहू-निशा से वढ़कर कौन तिथि हो सकती है ?

× × ×

स्नेह में तूल न दो—लोगोंको कहते सुना है।

'स्नेह' और 'तूल' के संयोग से ही दीपावली मचती है—अपनी आँखों देखा है।

कान का विश्वास करें या आँख का ?

शायद सत्य इन दोनों से परे है।

× × ×

उनके घर में शायद आज घी के चिराग़ जल रहे हैं !

इस घी के लिए कितने मूक प्राणियों ने अपने ख़ून को दूध के रूप में परिणत किया होगा; कितने बछवों के मुँह का आहार छिन गया होगा; कितनी कोमलांगियों के हाथ मथानी के चक्कर में घिस गये होंगे !

अफसोस, यदि वे इन वातों को सोच सकते–समझ सकते !

× × ×

दो

बाहर चकमक-झकमक, भीतर अंजनोपम अन्धकार ! दरवाज़े पर केले के खम्भों की हरीतिमा, आँगन में सड़ी हुई मोरियों की गंध ! कहीं मिठाइयों की लूट; कहीं टुकड़ों पर क्षुधित दृष्टि ! कहीं चौसर की बाज़ी; कहीं जीवन का दिवाला ! हम आज इसे ही दिवाली कहते हैं न ?

× × ×

माँ आज अपने घर दीये नहीं जलेंगे ?'

माँ चौंकी ! चिकनी मिट्टी सानी ! दीये गढे। अंचल से चीथड़े फाड़ कर वत्ती वनाई।

किन्तु तेल ?

माँ की आँखें छलछला उठीं—बरस पड़ीं। सामने पड़े दीये उससे भर चले। फिर गिली मिट्टी के इन स्नेह-पात्रों को मिट्टी के रूप में परिणत होते कितनी देर लगती ?

बच्चा माँ का मुँह देख रहा है।

किन्तु माँ ?

× × ×

जिस दिन हमने दिवाली का पर्व मनाना प्रारम्भ किया, उसी दिन हमारे घर में 'दिवाला' नामक शिशु का जन्म हुआ !

× × ×

लक्ष्मी जब पूजन और प्रदर्शन की चीज़ बन जाय, उपभोग और उपयोग की चीज़ नहीं रहे, समझिए, उसी दिन वह 'काली' बन गई ? तब वह रक्त पीती है—मानव रक्त !

× × ×

बाँस की कोपलों पर लिपटे सूखे छिलकों को कमाँची में गाँथ-गुँथ कर लुकाठी बनाये गाँव की सड़कों पर अग्नि-लीला दिखाने वाले नटराजो ! देखो, कबीर बाबा तुम्हें एक दोहा सुना रहे हैं; क्योंकि वह भी तुम्हारे-से ही खिलाड़ी हैं—भले ही वह बूढ़े हों।

वह क्या कह रहे हैं, सुनो—

'कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ,

जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ।'

जाओगे उनके साथ, प्रकाश-पुंज को खेलवाड़ समझनेवाले ओ नटराजो !

× × ×

दिवाली की रात के आखिरी प्रहर में हमारी बूढ़ी मातायें उठीं और सूप को सनई की डंटल से पीट-पीट कर हमारे घर से दरिद्रता को भगाने का मन्त्रोच्चार करने लगीं।

भला, इतने पर भी हमारे घर में दरिद्रता क्यों रह पाती ?

वह भागी, किन्तु.........

वह भागी, किन्तु हमारे खेतों और खलिहानों में ही उसने अपने अचल आसन जमा दिये। भला उसके लिए भी तो कहीं जगह चाहिए ही ?

× × ×

महलों पर शत-सहस्त्र दीप-मालिकायें देख, वह बोल उठे—वाह !

किन्तु मैंने ज्यों ही उस ओर नज़र की, मेरी आँखें झिप गईं।

मेरी पगली पुतलियों ने कुछ विचित्र ही दृश्य देखा—

मनुष्य की कलेजी को काट-कूटकर दीये बनाये गये हैं; उसमें उनका हृदय-रक्त भर दिया गया है, उनके अरमानों की बत्ती बनाई गई है, जो बिना दियासलाई छुलाये ही निर्धूम जल रही है !

लोगों ने देखा—चकमक ! चकमक !

मेरी पगली पुतलियों ने मुझे दूसरा ही दृश्य दिखाया।

× × ×

आज झोपड़ी को भी दिवाली मनाने की सूझी है !

आखिर मज़ार पर भी तो दीये जलाये जाते हैं !

× × ×

अभागे, यह नन्दा दीपक सजाना तुझे क्या भाया ?

जिसके वाहनों ने तेरी यह दुर्गत की, उसीकी अभ्यर्थना !

यदि प्रकाश ही चाहता है, तो इस झोपड़ी में ही चिनगारी छुला देख।

दो घड़ी की कैसी जगमगाहट रहेगी !

और, यदि कहीं इसकी लपटें महलों की ओर भी बढ़ सकीं......



चिता के फूल

रामू और राघो

ऐसे

पटना–कैम्प–जेल

के

अनेक साथियों

को

जिनके बलिदान

और

त्याग

से

देश आज़ाद हुआ !

ये फूल !

काश, ये फूल होते ! हमारे पूर्वज कैसे तत्त्वज्ञ थे, जिन्होंने चिता-भस्म में चमकती हड्डियों को फूल का आस्पद दिया। मृत्यु और संहार की विभीषिका को ढँकने की यह चेष्टा धन्य है !

अपनी इन सात कहानियों में देश और समाज की विषम स्थिति से उत्पन्न मृत्यु और संहार की विभीषिकाओं को ही मैंने कलात्मक रूप देने की चेष्टा की है। किन्तु इनमें ढँकने की कोशिश कहीं नहीं की गई है, बल्कि उभारने का ही प्रयास है। हम इन विभीषिकाओं को देखें, समझें और अपने समाज को ऐसा नया रूप देने की चेष्टा करें, जिसमें हमें ऐसे दृश्य न देखने पड़ें।

मेरी कहानियों का यह पहला संग्रह है। बहुत दिनों तक ये फूल इधर-उधर बिखरे पड़े थे—धन्यवाद है उन मित्रों को, जिनके बार-बार के आग्रह ने इन्हें संग्रहीत होने और प्रकाश में आने को बाध्य किया।

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

चिता के फूल

(१)

दोपहर से ही खेतों और मेड़ों से एक-एक तिनका इकट्ठा करता हुआ शाम को रामू घास के एक बड़े गट्ठर के साथ घर पहुँचा। गट्ठर पटक आँगन में घुसा। माँ ने मकई की चबेनी तैयार कर रखी थी। हरी मिर्च और नमक के साथ जल्द-जल्द उसने दस-पाँच फँक्के मुँह में रखे और लोटा-भर पानी छाक लिया। फिर दरवाज़े पर आ घास की कुट्टी काटी, उसमें थोड़ा रबिया भूसा मिलाया। खूँटे से बँधी, व्याई भैंस चुकर रही थी। छीटी-भर उसके निकट रखकर वह चला बुझावन दादा के दरवाज़े।

क्योंकि आज शुक्रवार है न? आज ही तो बुझावन दादा के पास अखबार पहुँचता है, क्योंकि डाक-पिउन का बीट आज ही का है। रामू ने पढ़ा-लिखा बहुत ही कम; किसी तरह टो-टाकर काम चला लेता है। माँ-बाप का एकलौता ठहरा। बाप ने स्कूल में पढ़ने को ज़रूर भेजा, किन्तु एक तो माहवारी फ़ीस और साप्ताहिक 'सीधे' की ज़बरदस्त माँग, दूसरे, अकेले बाप से खेती-गृहस्थी सँभलती न थी, अतः वह अधिक दिनों तक स्कूल में नहीं रह सका। किंतु देश और संसार की खबर जानने का उसे बड़ा शौक़ है। हर शुक्रवार को, जब अखबार आता, रामू बुझावन दादा के नज़दीक ज़रूर जाता और उनसे देश का हाल-चाल जानता। बुझावन दादा भी अपने इस किशोर श्रोता को बहुत मानते, क्योंकि देहात में अखबार की खबरें जानने के लिए उत्सुक लोगों

की संख्या ही कितनी होती है ?

जाड़ा शुरू हो रहा था। वुझावन दादा के दरवाज़े पर एक अच्छी-सी धूनी जल रहीं थी । लोग उसके चारों ओर इकट्ठे हो रहे थे । वुझावन दादा भी वहीं वैठे थे । रामू ने वहाँ पहुँचकर छूटते ही पूछा—"दादा, अखवार का हाल कहिए न । गाँधी बावा का जहाज़ बम्बई पहुँचा या नहीं ?"

"हाँ-हाँ, उसी जहाज़ पर गाँधीं बावा रामू के लिए स्वराज्य ला रहे हैं । क्यों रामू, स्वराज्य में से थोड़ा हमें भी दोगे ?".—धूनी तापनेवालों में एक ने व्यंग्य से कहा और ठठाकर हँस पड़ा। रामू इस हँसी पर उबल पड़ा, और वह अपनी ज़वान का चरखा चालू ही करनेवाला था कि वुझावन दादा, एक तो विवाद शांत करने के लिए, दूसरे, उस दिन खबर भी ऐसी न थी कि ज़्यादा समय तक ज़ब्त रखी जा सके, कह उठे—"अरे, वड़ा अंधेर हो गया, रामू ! जवाहरलालजी गिरफ़्तार हो गये, और गाँधीजी भी हो ही चुके होंगे !"

"क्या ? जवाहरलालजी गिरफ़्तार ? गाँधीजी भी ? कहाँ, क्यों—यह क्या ?" आदि कितने ही प्रश्न दनादन किये जाने लगे । वुझावन दादा सवको समझाने लगे—किस तरह गाँधी जी ने राउँड-टेवुल-कॉन्फ्रेंस में पूर्ण स्वराज्य का दावा रखा; किस तरह उनकी बातों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया । किस तरह उसके अंदर यहाँ, अपने देश में, युक्त प्रांत के किसानों ने सस्ती की वजह से अपनी मालगुज़ारी कम करने की बात पेश की; किस तरह उनकी माँग ठुकरा दी गई; किस तरह उन लोगोंने कर-वंदी शुरू की, तो उनका नेतृत्व करने के कारण पं० जवाहरलालजी को गिरफ़्तार किया गया है । फिर वुझावन दादा ने बताया—जिस समय जवाहरलालजी गिरफ़्तार किये गये, लगभग उसी समय, सीमाप्रांत में किस तरह 'लाल कमीज'-दल के संगठन के लिए खान अव्दुलग़फ़्फ़ारखाँ भी सपरिवार निर्वासित किये गये । अब गाँधीजी के लौटने पर वंबई में कांग्रेस-कार्य-समिति बैठी है औंर वायसराय से खत-कितावत चल रही है । आज के अखबार में इतनी ही खवर है, किन्तु उसमें लिखा है कि गाँधीजी का गिरफ़्तार होना भी निश्चित जान पड़ता है; क्योंकि सरकार पहले से ही तैयार वैठी है और नये वायसराय का दावा है कि वह एक महीने के अन्दर ही इस आंदोलन को दबा लेंगे ।

लोगोंने यह समाचार बड़ी उत्सुकता से सुना। फिर वहस-मुबाहसा प्रारंभ हुआ। किसीने कहा—भविष्य-पुराण में लिखा है, अँग्रेजों का सात 'टोपियों' तक राज्य रहेगा, अभी तो तीन ही हुई हैं, स्वराज्य कैसे हो? किसीने कहा—"विना युद्धेन केशव!"—कहीं विना लड़ाई के राज्य मिलता है? किसीने कहा—देशी राजे गाँधीजी को मदद दें, तो आज स्वराज्य हो जाय। फिर किसीने प्रह्लाद की उपमा देकर, तो किसीने "रावण रथी, बिरथ रघुबीरा" की चौपाइयाँ पढ़कर यह सिद्ध किया कि गाँधीजी ज़रूर जीतेंगे, स्वराज्य ज़रूर होगा। किन्तु रामू चुपचाप सब सुनता रहा। यही नहीं, वहस-मुवाहसे के शोर-ग़ुल के वाद लोगों ने पाया कि रामू वहाँसे खिसक चुका था।

ठीक ही रामू वहाँसे खिसक चुका था। यह समाचार ही उसके लिए दुःखदायी था। फिर, इस वहस-मुवाहसे ने तो उसके हृदय को छलनी कर दिया। वह ज़्यादा पढ़ा-लिखा नहीं था, किन्तु बुझावन दादा की संगति और टो-टाकर अख़बार पढ़ने के कारण अपने देश से, अपनी मातृभूमि से, उसे ममत्व हो चला था। स्वराज्य में सोने-चाँदी की वर्षा होगी, या भाई का गला भाई काटेंगे—इस वात पर उसने कभी ग़ौर नहीं किया था। किन्तु वह इतना ज़रूर जानता था कि दुनिया में केवल एक उसीका देश है, जो ग़ुलामी का तौक़ पहने हुए है। यह अवस्था उसके लिए असह्य थी। जब गाँधी-इरविन-सुलह हुई, और गाँधीजी राउँड-टेबुल-कॉन्फ्रेंस में गये, तो उसने समझा—ग़ुलामी की जंजीर कटेगी तो नहीं, कुछ ढीली ज़रूर होगी; किन्तु इस खबर ने उसकी इस आशा पर भी पानी फेर दिया। सबसे ज़्यादा उसे खटका नये वायसराय का यह दम्भ कि एक महीने के अंदर ही वह इस आंदोलन को दबा दे सकेंगे। वह चुपचाप घर आया। भैंस दुहने वैठा—कहा नहीं जा सकता, दूध की कितनी धार झबई में पड़ी और कितनी ज़मीन पर। उस दूध की मीठी धार में उसकी आँखों की नमकीन धारा की दो-एक बूंदें पड़ीं या नहीं—यह भी किसे मालूम? भोजन करने के बाद वह चुपचाप सोने गया। दूसरे दिन उसकी माँ उसकी लाल आँखें देख चौंक पड़ी। उसने समझा, उसकी तबीयत खराब है—शरीर छुआ, ज्वर तो नहीं था। किन्तु, वह बेचारी क्या जानती थी कि एक ज्वर ऐसा भी होता है, जो शरीर को ठंडा रखता है, परंतु हृदय को जलाता है।

दिन-भर रामू ने अपने दैनिक कर्म भलीभाँति संपन्न करने की चेष्टा की, किन्तु किसी काम में भी उसका मन नहीं लगा। यों ही दो-तीन दिन और बीते। वह मशीन-सा सब काम करता रहा। धीरे-धीरे ख़बर मिल गई कि गाँधीजी एवं देश के अन्य सभी नेता एक-एक कर गिरफ़्तार कर लिये गये—कांग्रेस-कमीटियाँ ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गईं—चारों ओर गिफ़्तारी, ज़ब्ती आदि की धूम है। ऐसी हर ख़बर पर रामू की आत्मा जोर से उससे पूछती—"रामू, यह क्या हो रहा है? तुम्हारा भी कोई कर्त्तव्य इस समय है कि नहीं? उसकी व्याकुलता दिन-दिन भीषण रूप धारण करती जाती।

एक दिन बड़े तड़के रामू घर से निकल पड़ा। उसका कोमल मन इतना हृदय-मंथन बरदाश्त नहीं कर सकता था।

(२)

घर से चलकर रामू शहर में आया। उसे मालूम था कि कांग्रेस का जिला-ऑफ़िस शहर में है। किन्तु कांग्रेस तो ग़ैर-क़ानूनी घोषित हो चुकी थी, वह किससे पूछे कि कांग्रेस का ऑफ़िस कहाँ है? शहर में आने पर यह भी पता चला कि जहाँ पहले काँग्रेस का ऑफ़िस था, वहाँ अब पुलिसवालों ने अपना डेरा डाल रखा है—जहाँ तिरंगा झंडा लहराता था, वहाँ यूनियन जैक उड़ रहा है।

रामू असमंजस में पड़ा हुआ था कि उसने अकस्मात् देखा, उसीकी उम्र के पाँच-छः किशोर झंडे लिये, गीत गाते, आगे बढ़े आ रहे हैं। कांग्रेस तो ग़ैर-क़ानूनी है, फिर ये नौजवान कहाँसे निकल पड़े? झंडे कहाँसे मिले इन्हें? वे बढ़ते जा रहे थे। रामू उन्हें देखकर मन-ही-मन अनेक तर्क-वितर्क करता उसी ओर आगे खिसक रहा था कि उसने देखा, कुछ पुलिस के जवान दौड़ते हुए उन किशोरों के निकट जा पहुँचे। जाते ही उन्होंने झंडे छीनना शुरू किया। कुछ खींच-तान हुई, पर किशोरों के सुकुमार हाथ पुलिस के इस्पाती हाथों से कब जीत सकते थे? झंडे छीन लिये गये और उन्हें गिरफ़्तार कर पुलिस थाने की ओर बढ़ी। वे अब भी जय-जयकार कर रहे और गीत गा रहे थे। उनके पीछे एक छोटी-सी भीड़ भी जमा हो गई थी।

भीड़ और गिरफ़्तार लोगोंके साथ पुलिस कुछ दूर चली

कि पीछे से सुनाई पड़ा—"महात्मा गाँधी की जय !" सबका ध्यान आकृष्ट हुआ। लोगोंने देखा, एक किशोर-वयस्क बालक हाथ में झंडा लिये जय-जयकार कर रहा है। पुलिस में से एक जवान दौड़ा हुआ उसके निकट पहुँचा, और उसे भी गिरफ़्तार कर लिया। यह कौन था ? यह था रामू। पुलिस और स्वयंसेवकों में झंडों को लेकर जब छीना-झपटी हो रही थी, एक झंडा उछलकर अलग जा गिरा था। रामू ने उसे छिपाकर रख लिया था, और ज्यों ही वे लोग बढ़े, वह झंडे को उड़ाते हुए जय-जयकार करने लगा। उसने सोचा, कांग्रेस के ऑफ़िस की तलाश कहाँ तक की जाय, उसे पता भी चले या नहीं ? क्यों न इन्हीं लोगों-के साथ हो ले ? जेल होगी ? तो, इसीलिए तो वह आया है। इनसे जान-पहचान हो जाने पर पीछे काम करने में भी सहूलियत होगी।

रामू उन साथियों के साथ थाने पर लाया गया। उसने सोचा, रात में उसे थाने में रहना पड़ेगा, कल मजिस्ट्रेट के सामने वह पेश किया जायगा, जब कि उसे सज़ा मिलेगी। किन्तु, यहाँ उसने विचित्र ही हालत देखी। कुछ पुलिस के अफ़सरों ने सारे क़ानून को अपने हाथों में कर लिया है। वे इस आंदोलन को दबाने के लिए ज़ुल्म और ज़्यादती की हद कर रहे हैं। रामू अभी कच्चा सोना था, किन्तु पहली बार ही उसे खरी कसौटी पर चढ़ना पड़ा। थाने के पुलिस-अफ़सर ने इन सात सुकुमार बच्चों की सब प्रकार परीक्षायें लीं—थप्पड़, बेंत, ठोकर, कान पकड़कर उठना-बैठना, दीवार में नाक रगड़ना, कहाँ तक गिनाया जाय ? किन्तु वाह रे रामू ! उसने एक बार भी आह न की, वरन् साथियों को भी ढाढ़स दिलाता रहा। इस अपराध के चलते तो उसे और भी सज़ा भुगतनी पड़ी, किन्तु वह डटा रहा—डटा रहा। पीछे इन सातों को स्टेशन ले जाया गया। कहा गया—तुम पटना-कैंप-जेल में भेजे जाओगे। किन्तु उन्हें गाड़ी पर चढ़ाकर, जब गाड़ी खुलने को हुई, साथ के सिपाही वहाँसे चलते बने। कड़ाके के जाड़े में, ठिठुरते हुए, सातों बच्चे दूसरे स्टेशन पर उतरे, तो उनकी दुर्दशा का क्या पूछना ? उनका क्षत-विक्षत शरीर देखकर स्टेशन-मास्टर को भी दया आ गई। उनकी वह रात उस दयालु स्टेशन-मास्टर की ही शरण में कटी, और भोर ही, छः मील पैदल चलकर ये कांग्रेस-शिविर में आ पहुँचे—वह गुप्त शिविर, जिसकी खबर सिर्फ कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को ही रहती थी।

कांग्रेस-शिविर में पहुँचकर रामू को सबसे प्रसन्नता यह देखकर हुई कि ग़ैर-कानूनी क़रार दिये जाने पर भी कांग्रेस के कामों की श्रृंखला पूरी तरह अक्षुण्ण है। देहातों से लोग लगातार आते-जाते हैं। थाने-थाने में कांग्रेस के कार्य-क्रमों को अच्छी तरह सम्पन्न किया जाता है और उसकी बाज़ाब्ता रिपोर्टें आती हैं। ये रिपोर्टें डाक से न आकर खास स्वयंसेवकों द्वारा आती हैं। स्वराजी डाक का एक बाजाब्ता संगठन हो गया है। एक ज़िले का दूसरे ज़िले से और सब ज़िलों का प्रान्त से घनिष्ठ संबंध इस स्वराजी डाक के कारण बना हुआ है। राष्ट्रीय अख़बार बंद हैं, किन्तु कांग्रेस की बुलेटिनें नियमित रूप से प्रकाशित ही नहीं होतीं, बाज़ार में बिकती भी हैं। सबसे विचित्रता तो यह है कि पुलिस प्रायः इधर-उधर छापा मारा करती है; किन्तु वह आज तक यह पता नहीं पा सकी कि कांग्रेस का शिविर यथार्थतः है कहाँ ? शिविर के स्थान प्रायः बदलते रहते—एक तरह से शिविर एक चलता-फिरता पड़ाव बना हुआ है। कांग्रेस के सभी कार्य-कर्त्ताओं में फ़ौज़ी प्रवृत्ति बढ़ रही है। वे प्रकट और गुप्त लड़ाइयों की कलाएँ धीरे-धीरे जानने लगे हैं। नये वायसराय ने कहा था, वह एक महीने में आंदोलन को कुचल देगा; उसकी शेखी धूल में मिल गई—रामू के आनन्द का क्या कहना ?

रामू की वीरता की कहानी उन किशोर स्वयंसेवकों से सुनकर शिविर-पति ने उसकी प्रशंसा की, उसकी पीठ ठोकने से भी वह नहीं चूक सके। रामू की उम्र यही तेरह-चौदह साल की थी—बड़ा भोला-भाला-सा लगता था उसका चेहरा। किन्तु उसकी तत्परता और उत्तरदायित्व के ज्ञान ने शिविर के सभी लोगोंके मन मोह लिये। जो काम उसे सुपुर्द किया जाता, वह भली-भाँति सम्पन्न करता। पीछे चलकर डाक ले आने और पहुँचाने में तो उसने बड़ी नामवरी हासिल की। न केवल देहातों से, किन्तु ज़िला-ऑफिस से प्रांतीय ऑफ़िस में डाक ले जाने और ले आने का काम भी वही करता। सरेआम स्टेशन पर जाता, टिकट कटाता, रेल पर सवार होता, प्रांतीय ऑफ़िस में पहुँचता, किन्तु क्या मजाल कि कोई उसे पकड़ पावे। वह भोला-भाला चेहरा! फिर वेष भी तो वह प्रायः बदलता! एक दिन जब भिखमंगे की सूरत उसने बनाई, तो सभी साथी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। यों ही एक दिन उसने गूंगे का स्वाँग रचा, तो ठहाके-पर-ठहाके

लगे। सी० आई० डी० कीं पूरी पलटन के रहते हुए भी आखिर तक सरकार इस डाक-प्रबंध का पता न पा सकी, उसमें रामू-ऐसे कुछ किशोरों की दिलेरी और कौशल ही काम करते थे।

हाँ, सिर्फ़ कौशल का ही नहीं, यह दिलेरी का काम भी था। सबके सामने, सरेआम, गुप्त चीज़ों को लेकर यों आना-जाना क्या कम हिम्मत का काम है? फिर जब कभी 'स्वराजी डाक' के हरकारे पकड़े जाते, उनकी जो सेवा-शुश्रूषा की जाती, उसे मत पूछिए। यह आग से खेलवाड़ करना था, काले नाग से खेलवाड़ करना था।

किन्तु कुछ दिनों तक इस काम के करने के बाद रामू का मन इस आँख-मिचौनी से ऊब उठा। वह खुलकर मोर्चा लेना चाहता था। और, जहाँ चाह, वहाँ राह!

एक दिन सरकार द्वारा ज़ब्त किये गये कांग्रेस-आश्रम पर चढ़ाई करने का कार्य-क्रम निश्चित हुआ। जब पुलिस हमारे आश्रम पर जबर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लेती है, तब हम अपने आश्रम को फिर से दखल करने की कोशिश क्यों न करें? सुना गया, पुलिस इसकी भनक पाकर पहले से तैयारी कर रही है। कहा जाता था, वह बड़ी सख़्ती से काम लेगी इस बार। गोलियाँ भी चलाई जायँगी, इसकी भी अफ़वाह थी। इन बातों को सुन-सुनकर रामू का हृदय और भी उछलता। कभी-कभी माँ-बाप का ध्यान आने पर, यह समझकर कि वही अपने माँ-बाप के बुढ़ापे का एकमात्र सहारा है, अतः यदि उसकी मृत्यु हुई, तो वे बेचारे तड़प-तड़पकर मर जायँगे, वह विचलित-सा होने लगता। किन्तु उसी समय अनेकों शहीदों की स्मृतियाँ उसके हृदय को मज़बूत कर देतीं। वह उत्सुकता से निश्चित दिन की प्रतीक्षा करने लगा।

एक दिन सुबह-सुबह, जब पुलिसवाले झपकियों में ही थे, और शहरवाले भोर की मधुर नींद के मज़े ले रहे थे, 'स्वतंत्र भारत की जय' के शोर से दिशायें निनादित हो उठीं। कांग्रेस-आश्रम के चारों ओर थोड़ी देर तक शोर-गुल रहा—फिर दो-तीन बार गोलियों की धायँ-धायँ सुनाई दी—और अन्त में सन्नाटा! इसे शांति कहना तो इस शब्द की हत्या करना होगा।

(३)

ज़रा हम अब रामू के गाँव चलें !

उसके माँ-बाप उस भोर में उसे न पाकर बहुत चिंतित हुए। भैंस अभी तक बथान में बँधी चुकर रही थी—उसका पाड़ा एक कोने में अलग शोर कर रहा था। रामू भैंस को तड़के घर से बाहर करता, उसे खिलाता, फिर दुहता। आज वह कहाँ चला गया ?

शायद निकट के गाँव में किसी काम से गया हो—माँ-बाप ने ऐसा मान लिया, और उसपर नाराज़ होते हुए कि क्यों बिना खबर दिये वह यों निकल गया, शांत हुए। किन्तु, जब दोनों प्राणी बिना खाये-पिये दोपहर तक राह देखते रहे, और रामू नहीं आया, तो उनकी चिंता बढ़ने लगी। बुझावन दादा से भी कुछ पता नहीं चला, तब तो उनके प्राण सूखने लगे। शाम हुई। अब तो चिंता का पारावार नहीं रहा। माँ से नहीं रहा गया। उस झुटपुटे के वक़्त, जिस समय निकट के दरवाज़े पर देहाती भजनीकों की जमात गा रही थी—"साँझ भई घर आए न मुरारी, कहाँ अटके बनवारी"—वह बेचारी अपने मुरारी के विरह में व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगी। बेचारे पिता की आँखों से भी आँसू बहने लगे। गाँव के कुछ लोग इस क्रंदन-ध्वनि पर आकृष्ट हो उन्हें सांत्वना देने को पहुँचे। रामू-ऐसा सुशील, समझदार बेटा यों एकाएक कहीं चल दे—यह बात सबको आश्चर्यजनक मालूम पड़ रही थी।

किन्तु, यह समस्या भी तुरत ही हल हो गई। इसी गाँव के एक सज्जन कहीं बाहर से घर लौट रहे थे। रामू के दरवाज़े पर आकर उन्होंने खबर दी कि रामू की उनसे रास्ते में भेंट हुई है—उसने कहा है, बाबूजी से कह देना, मैं तीर्थ-यात्रा करने जा रहा हूँ, शीघ्र लौटूंगा। इस खबर ने अनिश्चितता को कुछ हद तक दूर किया—थोड़ा आश्वासन मिला। पर आश्चर्य यही हो रहा था कि इस बालपने में ही यह वैराग्य उसमें कैसे आ गया ?

पर, यह तीर्थ कौन-सा है, और वह वैराग्य कैसा है—इसका पता चल गया उस दिन, जब दारोग़ाजी सदल-बल पहुँचकर गाँव को प्रकंपित और आतंकित करने लगे। उनका दल पूछ-ताछ करते सीधे रामू के दरवाज़े पर पहुँचा, और उसके दरवाज़े पर बँधी भैंस को

क़ुर्क़ किया। मालूम हुआ, रामू कांग्रेस के काम में गिरफ़्तार हुआ है, और उसे छः महीने की सख्त क़ैद और ५०) जुरमाने की सज़ा हुई है, जिस जुरमाने की वसूली में यह क़ुर्क़ी की गई है। दारोग़ाजी की ज़बानी यह भी पता चला कि उस दिन शहर में भीड़ पर गोलियाँ चलीं उसमें रामू भी था, और भाग्य से ही वह बच गया, घायल होकर ही रह गया !

भैंस की क़ुर्क़ी की ज़रा भी परवा उसके माँ-वाप को नहीं हुई। जिस दिन से रामू गया, उसके पिताजी विचित्र ढंग से अन्यमनस्क बने रहते। कुछ दिनों तक तो कुछ काम ही नहीं किया ; अव करते भी, तो जैसे मशीन काम कर रही हो—न रस, न उत्साह। भैंस रामू की सबसे प्रिय यादगार थी। उसके खरीदने में उसकी ज़िद काम कर गई थी, उसके पालने में उसका हाथ था, उसके दूध-दही का सबसे बड़ा भोक्ता भी वही था। रामू के पिता के हृदय में यह भैंस बुरी तरह कसक पैदा करती। वह रामू से ऐसी घुलमिल गई थी कि उसके जाते ही खाने-पीने में उदासीनता दिखलाने लगी। वह सूख चली थी—दूध भी कम देने लगी थी। जब दारोग़ाजी ने उसे क़ुर्क़ किया, और सिपाही उसे खोलकर एक मोटा डंडा उसकी पीठ पर देकर, उसे ले चले, तो एक वार रामू के पिता को ऐसा लगा, मानों कोई कलेजा निकाले जा रहा है। किन्तु, वह कलेजा नहीं, कलेजे का काँटा था। इसके निकालने में दर्द था, परंतु घाव भरने की सूरत भी यही थी। उन्होंने सोचा, जाने दो, रामू ही नहीं, तो भैंस रखकर क्या होगा ? फिर भैंस की क्या परवा करते वेचारे; उन्हें तो रामू के लिए दूनी चिंता हुई। वह घायल हुआ, न-जाने कहाँ-कहाँ घाव लगे हों। वह जेल में है—न-जाने वह कैसे रखा जाता हो ? उसी क्षण, बिना किसीसे कुछ कहे, वह शहर की ओर चल पड़े।

(४)

रामू पटना-कैंप-जेल में है।

भला, यह जेल है, या मेला ? काँटों के तार के घेरे के अंदर है यह जेल, जहाँसे चारों ओर के खेतों में वसंत की बहार देखिए। न वार्डर का पहरा ; न जेल-अधिकारियों की छेड़-छाड़। कहीं सभाएँ हो रहीं हैं, कहीं कवि-सम्मेलन जमा है, कहीं ताश और शतरंज पर लोग जुटे हैं, कहीं स्कूलों के

क्लास लगे हैं। कबड्डी, आसन, कुश्ती, सेवा-दल का परेड, जिसमें जी लगे, शामिल होइए। रविवार के दिन जब मुलाक़ाती आते, एक हुजूम-सा मच जाता। साधारणतः खाना-पीना भी अच्छा ही था—उसमें भी पंद्रहवें दिन जब 'भोज' मिलता, तब का क्या कहना? यहाँ आकर रामू ने कुछ पढ़ना-लिखना भी शुरू किया, और दीन-दुनिया को समझने की भी चेष्टा की। मन के लायक उसे कुछ दोस्त भी मिल गये, जिनको लेकर वह खूब ही मस्त रहता।

इसी बीच एक रविवार को उसके पिता उससे भेंट करने को आ पहुँचे। रामू उनकी दशा देखकर द्रवित हो गया। उसके पिताजी हड्डियों के ढाँचा-मात्र हो रहे थे। रामू ने आश्वासन दिया—यहाँ उसे कोई तकलीफ़ नहीं है, गोलियाँ जब चलीं, तो भाग्य-वश वह बच गया, केवल पैर में कुछ छर्रे लगे। अब तो चार ही महीने की देर है, वह शीघ्र ही आकर माँ के चरण छुएगा।

किन्तु, आह री उसकी माँ और आह रे उसके पिता! क्या उनका ऐसा अच्छा भाग्य था?

कैंप-जेल में ऊपर-ऊपर जितना आनंद था, भीतर-भीतर उसमें उतना ही खोखलापन था। वह बीमारियों का अड्डा बना हुआ था। डिसेंट्री का वहाँ बोलवाला था। निमोनिया वहाँकी मारक बीमारी थी। और भी 'किं रूप किमाकारं' बीमारियाँ वहाँ तांडव-नृत्य करती रहतीं। ऐसा भी समय आया कि कुल आबादी की एक चौथाई बीमार हो शय्याशायी हो गई। वहाँ बीमार पड़ना भी कोई साधारण बात न थी। एक बार जो बीमार पड़ा, वह समझता, अब गया! जेल में डॉक्टर भी थे, दवाइयाँ भी थीं। सुपरिंटेंडेंट अपने को बीमारों का बाप ही समझता और कहता। अपनी समझ से, दूध और फल का भी उसने यथेष्ट प्रबंध कर रखा था, किन्तु न-जाने क्यों, इतने पर भी बीमारी वहाँ एक जीवित भूत थी—एक प्राण-पीड़क आतंक।

रामू भी बीमार पड़ा।

पहले तो उसे डिसेंट्री की थोड़ी शिकायत हुई। अपने वार्ड में रहकर और माँड़-भात खाकर ही उसने उसे भगा देना चाहा। किन्तु पीछे उसे अस्पताल जाना ही पड़ा, क्योंकि डिसेंट्री के साथ बुखार भी आने लगा। अस्पताल क्या था, साधारण वार्डों को ही अस्पताल में परिणत कर लिया गया था, जहाँ बहुतों को जमीन में ही लेटना

पड़ता। अस्पताल के नाम पर दो ख़ास कमरे भी थे, किन्तु एक तो वहाँ 'सीट' कम, फिर, वे तो कुछ 'ख़ास बीमारों' के लिए रिजर्व रखे जाते, अतः रामू को भी उन वार्डोंवाले, नाम के अस्पताल में ही, रहना पड़ा, और इन वार्डों के ही लायक़ उसकी दवा भी हुई। धीरे-धीरे बीमारी बढ़ती गई। कुछ स्वयंसेवकों ने, जो उसकी वीरता को पहचान गये थे, उसके गुणों ने जिन्हें उसका मित्र या भक्त बना लिया था, उसकी सेवा में कुछ भी उठा नहीं रखा; किन्तु बीमारी केवल तीमारदारी से ही तो अच्छी नहीं होती !

अब हालत ऐसी हो गई कि मित्रों ने उसके जीवन की आशा खो दी। ख़ून के दस्त और अत्यधिक बुख़ार। वह प्रायः चेतना-शून्य हो जाता, और अंट-संट बकने लगता। कभी-कभी उसके मुंह से 'माँ', 'बाबूजी' ऐसे शब्द भी निकलते; लेकिन ज़्यादातर वह उन घटनाओं को दुहराता-सा मालूम होता, जो इधर के कुछ महीनों में उसकी जिंदगी में घटी थीं। "स्वराज नहीं देख सकूंगा ?" —एक दिन जब थोड़ी रात बाक़ी थी, उसने टूटे-फूटे शब्दों में यह कहा, और धाड़ मारकर रोने लगा। फिर दो-चार हिचकियाँ और··

अरे, यह क्या हो गया ? उसके साथी भौचक्के हो 'डॉक्टर-डॉक्टर' पुकारने लगे; लेकिन जब तक डॉक्टर आवें, तब तक तो रामू चल बसा था !

लोगोंने देखा, उस वार्ड से भोर में एक लाश निकाली जा रही है। इस तरह लाशों का निकलना कैंप-जेल के लिए नई बात नहीं रह गई थी। शुरू में जब कुछ लोग मरे थे, तो उनकी लाशें चौक पर रखी गई थीं, और जेल के एक-एक राजबंदी ने उनपर फूल चढ़ाये थे। लेकिन फूल भी चुक गये थे, उत्साह भी कुंठित हो चुका था। जहाँ दूसरे-तीसरे दिन लाशें निकलें, वहाँ श्रद्धांजलि की यह प्रथा कैसे जारी रखी जा सकती थी ? हाँ, रामू के कुछ साथी और मित्र ज़रूर उसकी लाश के पीछे-पीछे फाटक तक जा रहे थे। उनकी आँखों से जो मोती झरते जाते थे, वे प्रभात की सूर्य-किरणों के स्पर्श से कभी लाल और कभी फ़िरोज़ी बनकर चमक उठते थे।

घोर देहात में था रामू का घर। उसकी लाश जेल से बाहर ले जाने के लिए समय पर कोई पहुँच नहीं पाया। ऐसे मृत राजबन्दियों के लिए, सरकारी प्रबंध था, कुछ वार्डर ही उनकी

लाशें गंगा-किनारे ले जाते और सरकार द्वारा कृपा कर दी गई तीन मन लकड़ियों से अंतिम संस्कार कर देते । रामू के भाग्य में भी यही बदा था !

किन्तु, यह क्या ? जब उसकी चिता ठंढी पड़ रही थी, अचानक दो व्यक्ति रोते-चिल्लाते आते दिखाई पड़े । रामू-रामू कहते, वे लगातार छाती पीट रहे थे। अब तक वार्डरों के हृदय में एक हल्की उदासी के भाव-मात्र थे, जो ऐसे अवसरों पर स्वभावतः ही आ जाते हैं । किन्तु, इन दोनों को देखते ही जैसे उनके हृदय की करुणा-मन्दाकिनी भी अचानक फूट निकली । वे आगे बढ़कर उन्हें समझाने की चेष्टा करने लगे। बूढ़े को पकड़ा ; वह धाड़ मारकर रो पड़ा, किन्तु उस बूढ़ी को क्या करें जो, लगती थी, इस चिता को ही बटोर कर हृदयस्थ कर लेगी ! अब चेतन की क्या बात, जड़ भी रो रहे थे मानों । गंगा का वह किनारा, किनारे पर का वह बूढ़ा पीपल का पेड़, गंगा की धार—सब आँसुओं में डूबे हुए थे !

कोई वहाँ ऐसा नहीं था, जो इसकी घोषणा करता, कि रामू ने अपने को देश के लिए क़ुर्बान कर दिया; किसीके मुँह से उस दिन रामू का जयकार नहीं निकला; उसका जनाज़ा फूलों-भरा भी नहीं निकल पाया था ! एक जंगली फूल की तरह वह खिला और अनदेखे झड़ पड़ा—उसकी शहादत की अमर साक्षिणी एकमात्र माँ-गंगा रहीं, जिनके पावन-जल में, जी-भर कर रो-धो लेने के बाद, उसके पिता ने काँपते हाथों से उसकी चिता से चुन कर पाँच फूल अर्पित किये—चिता के वे फूल, श्वेत-शुभ्र, पावन-पवित्र !

कहीं धूप, कहीं छाया

(१)

बाबू साहब की बेटी की शादी है। उनके घर की सरगर्मी का क्या कहना ? किंतु उससे भी ज़्यादा सरगर्मी समूचे गाँव में है। गाँव ही क्यों, उनकी जमींदारी-भर के गाँवों में एक हलचल-सी देख पड़ती है।

बढ़ई बुलाये गये और उन्हें आज्ञा हुई कि इतने पलँग, इतनी कुर्सियाँ, इतनी बेंचें आदि तैयार करो; पुराने फ़रनीचरों की मरम्मत अलग। कुम्हारों को हुक्म मिला कि इतनी हाँड़ियाँ, इतने घड़े, इतनी तश्तरियाँ और इतने आबखोरे बनाकर ड्योढ़ी पर हाज़िर करो। छोटी जातियों के सछूत लोगों के दरवाजे पर धान के बोरे 'चिउड़ा' कूटने के लिए रखवा दिये गये; अछूत भी न बचे; दाल और आटे के लिए अरहर और गेहूँ के बोरे उनके आँगनों में फेंकवा दिये गये। तंबोली से पान की और तेली से तेल की फ़रमाइश हुई। लोहार से तंबू-शामियाने के लिए खूँटे और मोखियाँ तैयार करने तथा जलाने के लिए प्रचुर परिमाण में चैला चीरने की ताक़ीद कर दी गई। राज को बुलाकर ड्योढ़ी की दीवारों की मरम्मत और उनपर सफ़ेदी करने का आदेश हुआ। ग्वालों तथा गाय-भैंस पालनेवाले दूसरे लोगोंपर दही और घी के लिए फ़रमान

निकले। इस तरह, जो जिस योग्य था, उसके सिर पर वैसा बोझ लादा गया —किंतु लादा गया सबके सिर पर कुछ-न-कुछ ज़रूर। बाबू की बेटी का ब्याह है या ठट्ठा ?

फिर गाँवों की सरगर्मी और हलचल का क्या पूछना ?

एक पहर रात से ही मूसलों की धम्म-धम्म और चक्कियों की घर्र-घर्र से — जिनमें कभी-कभी काँच की चूड़ियों की खन्-खन् और काँसे के कड़ों की टन्-टन् भी मिली होती थी — सारा गाँव मुखरित हो उठता। कुम्हार का चाक अविरल गति से नृत्य करता, जिसपर उसकी थाप अपने थप्-थप् शब्द से ताल-सी देती रहती। बढ़ई के बसूले की खट्-खट् और लोहार की कुल्हाड़ी के ठायँ-ठायँ की कर्ण-कटुता को तेली के कोल्हू का चर्र-चों और ग्वाले के मटके का घर्र-घों बहुत अंशों में स्निग्ध और मधुर बनाने की चेष्टा करता। बाबू साहब की ड्योढ़ी से सटे, एक कमरे में, दर्जी की सिंगर मशीन हरहराती रहती; दूसरी तरफ सोनार की हथौड़ी-छेनी खुट-खुट करती हुई सोने और चाँदी की निर्जीवता में सजीव चित्रण करने का प्रयत्न करती। कहाँ तक गिनाया जाय, सारे गाँव का वायुमंडल नाना प्रकार के शब्दों से आंदोलित और प्रकंपित रहता !

कोई दौड़ा हुआ तंबू और शामियाने की मँगनी को जा रहा है, तो कोई कहींसे इत्रदान और गुलाबपाश कें गंगा-जमुनी जोड़े ला रहा है। बाजेवाले और आतिशबाजीवाले—सबको साइयाँ दी जा रही हैं। पुराने तालाबों की मरम्मत हो रही है; कुओं का कीचड़ निकाला जा रहा है; टूटी सड़कें दुरुस्त की जा रही हैं; बाग़ों के गड्ढे-सड्ढे भर-भराकर, घास-फूस छील-छालकर, उन्हें साफ-सुथरा बनाया जा रहा है। क्यों न हो? इतनी बड़ी बरात आनेवाली है, उसके आराम-चैन के लिए इतना भी न किया जाय ?

बाबू साहब के घर में भी सरगर्मी है—बाबू साहब बरात के ठहराने, खिलाने-पिलाने, दहेज देने आदि की स्कीमें बनाने में तल्लीन हैं; और उनकी श्रीमतीजी अपने दामाद को नाना तरह के उपहार और अपनी बेटी को अच्छी बिदाई देने का प्रबंध कर रही हैं। यों बाबू साहब के घर की सरगर्मी कुछ कम नहीं है; किंतु उनके घर की सरगर्मी और इन गाँवों की सरगर्मी में कितना अंतर है ! ऊपर की सूरत-शकल मिलने पर भी अंदर में —हृदय में —कितना भेद

है। एक तरफ उल्लास है, आनंद है, मनुहार है—दूसरी ओर लाचारी है, बेबसी है, बेगारी है !

(२)

मखना—मातृभक्त मखना अपनी बीमार माँ के सिरहाने बैठा अनवरत पंखा झलता और जब-तब माँ को उसकी अपनी करनी के लिए कोस रहा था कि किसीने बाहर से पुकारा—'मखना ! ओ मखना ! मखना रे—सुनता नहीं है ? घर से बाहर आता है कि·····"

मखना की माँ आज चार-पाँच दिनों से बीमार है। बीमार तो सभी पड़ते हैं, किंतु इस बीमारी को, मखना की समझ में, उनकी माँ ने स्वयं निमंत्रण देकर बुलाया है, इसलिए सब सेवा करता हुआ भी वह झल्लाया हुआ था।

बात यह थी कि एक दिन बाबू साहब का सिपाही एक मज़दूर के सिर पर एक बोरा धान लिये पहुँचा और फ़रमान सुनाया कि आठ दिन के अंदर इसका चिउड़ा कूटकर ड्योढ़ी पर पहुँचाना होगा। डेढ़ मन धान है, एक मन चिउड़ा होना चाहिए, तौल में कमी हुई, तो ख़ैर नहीं ; चिउड़ा पतला हो ; कन-भूसा ज़रा भी रहेगा, तो अच्छा न होगा। इतना कह, बोरा पटकवा, सिपाही चलता बना। वह कुछ सुनने-सुनाने को राज़ी न था—मालिक की ऐसी ही मर्ज़ी थी।

मखना भी बड़ा जीवट का आदमी था। पुष्ट शरीर पर कुश्ती ने और भी मद लाद दिया था। वह डेढ़ मन के बोरे को अकेले सिर पर रखकर बाबू की ड्योढ़ी की ओर चल पड़ा।

"अंधेर है—दिन-भर बेगारी करते-करते मरा जा रहा हूँ; न खाना, न दाना; आज यहाँ जाओ, कल वहाँ जाओ; आज यह करो, कल वह करो। बाप रे, गाँव-भर परेशान है। यह शादी क्या हुई, हमलोगोंकी जान साँसत में आ गई। अब यह चिउड़ा !—मेरी स्त्री नैहर चली गई, माँ बुड्ढी और बीमार है, कौन कूटेगा ?—उहँ, यह न होगा ; अपनी माँ के गले में खुद फाँसी न लगाऊँगा, न लगने दूँगा ! नहीं-नहीं, मुझीको मार डालें ! यह उनकी बेटी है कि मेरा काल। एक दिन तो मरना ही है—इसी यज्ञ में सही····"

यों ही मन-ही-मन बरबराता जा रहा था कि पीछे से माँ ने आकर उसके पैर पकड़ लिये। वह जानती थी कि इस धान के लौटाने का क्या नतीजा होगा ! आज ही बेटे से उसको हाथ धोना पड़ेगा। मातृममता उमड़ चली। आँगन से दौड़ी और आकर बेटे का पैर पकड़ बैठी।

माँ को इस प्रकार पैर पकड़ते देख वह सन्न हो गया। कुछ देर तक पत्थर की मूर्त्ति-सा अचल खड़ा रहा। फिर बोला—"तू क्या करती है, पगली ! मुझे जाने दे ; मुझसे जितना बेगार करावें, मैं तुझे मरने न दूंगा।"

"इसमें मरना कहाँ है बेटा ? बस, एक मन तो कूटना है। एक पँसेरी भी कर लूँगी, तो आठ दिन में खतम।"

"बड़ी ख़तम करनेवाली बनी है। एक वक़्त रसोई बनानी पड़ती है, तो दम फूलता है, चिल्लाने लगती है कि बहू को बुला, बहू को बुला ला ; और तुझीसे चिउड़ा कूटा जायगा ? नहीं, मैं बिना लौटाये नहीं छोड़ूंगा—जमींदार हैं, तो अपने घर के ; बेगार लेंगे या खाल खींचेंगे......"

बुढ़िया ने ठुड्ढी पकड़ ली—"ऐसा न कहो बेटा ! बाबू की बेटी तो मेरी भी बेटी ठहरी ; क्या अपनी बेटी के व्याह में मैं इतना भी न कर सकूँगी ? मुनिया के व्याह में तो अकेले ढाई मन चिउड़ा मैंने कूट लिया था। उस समय कहाँ थी तुम्हारी बहू ? जैसी मुनिया मेरी बेटी, वैसी बाबू की बेटी भी मेरी बेटी। चल, मेरे लल्ला, लौट......." आदि नाना प्रकार के तर्क-वितर्क और आरजू-मिन्नत के द्वारा वह मखना को लौटा लाई।

किंतु लौटा लाना जितना आसान था, धान को चिउड़ा बनाना उतना आसान न था। तो भी लग पड़ी। ईंधन नहीं था, बग़ीचे से पत्ते बटोर लाई। कुम्हार से कह-सुनकर एक खपड़ी माँग लाई। अब अकेले तारना, भाड़ना, घानी करना और कूटना। कभी चूल्हे-खपड़ी से झगड़ती, कभी ओखल-मूसल से युद्ध करती। बुढ़ापे का शरीर, थोड़ी ही देर में उंगलियाँ ऐंठने लगतीं, हाथ झनझना उठते। किंतु तो भी वह डटी रहती। बेगार से फुर्सत पा, जब कभी मखना घर आता, तो इस प्रकार हँसकर बतियाती, मानों आसानी से सब काम संपन्न हो रहे हैं। मखना को भी अचरज होता। खैर, किसी

प्रकार अपने पर अत्याचार कर और मखना को धोखे में रख उसने चिउड़ा तैयार कर दिया। मखना भी उसे ड्योढ़ी पर तौलवाकर कुछ निश्चिंत-सा हुआ।

किंतु मखना की माँ अपने बेटे को धोखे में डालकर भी प्रकृति को धोखा न दे सकी। अब प्रकृति ने अपने नियम के व्यतिक्रम का दंड चुकाना आरंभ किया। मखना की माँ बीमार पड़ी। चार-पाँच दिनों से वह शय्या पर बेहोश-सी पड़ी थी। अंग-अंग टूट रहे थे, बुख़ार उतरने का नाम ही नहीं लेता था; किंतु ज्यों ही आज थोड़ा बुख़ार घटा कि मखना को शांत करने की कोशिश करने लगी। वह बताना चाहती थी कि बीमारी स्वभावतः हुई है, चिउड़ा कूटने के सबब से नहीं; किंतु मखना को अब धोखे में नहीं डाला जा सकता था। झल्ला-झल्लाकर माँ को कोसता; कहता—"कर अब बेटी का व्याह! कहाँ है बेटी? क्यों नहीं आकर दवा-दारू करती? धनी की बेटी ग़रीबों की मौत होती है! वह बिना खाये तुझे न छोड़ेगी—हाँ, तू भी मरेगी, मैं भी मरूँगा। मैं तुझे अकेले मरने न दूंगा। समझी? मर तो...."

इसी प्रकार क़ी झल्लाहट के बीच एक दिन मखना के कानों में बाहर से पुकार की आवाज़ पहुँची। बोली से ही वह पहचान गया कि बाबू साहब का सिपाही है। ऐसे श्रुति-मधुर शब्द दूसरे किसके मुँह से निकल सकते थे? भर्राई हुई आवाज़ में उसने भी जवाब दिया—"मुझे फ़ुर्सत नहीं; मेरी माँ बीमार है...?"

"तुम्हारी माँ बीमार है, तो क्या इसलिए बाबू साहब की बेटी का व्याह रुक जायगा? चल, भरथुआ चौर से पुरइन के पत्ते लाना है; शाम तक लौट आयगा; चलता है..."

"नहीं चलता। बाबू साहब की बेटी का व्याह नहीं रुकता, तो क्या मैं किसीकी बेटी के लिए अपनी माँ को मार दूं। दूसरा कोई देखनेवाला भी तो नहीं है; मैं नहीं जाता..."

इस सूखे कथन को इस रूखे ढंग से कहा गया था कि सिपाही दाँत पीसता हुआ ड्योढ़ी की ओर चल पड़ा।

(३)

ड्योढ़ी पर आकर सिपाही ने एक की दस-बीस बनाकर सुनाई। मुंशीजी—बाबू साहब के कारबार के एकमात्र कर्त्ताधर्त्ता

मुंशीजी—क्रोध से आग-बबूला हो गये, और "पाँच सिपाही जाकर, टाँग-टूंगकर उस हरामज़ादे को ले आओ—" यह हुक्म उनके मुँह से निकला ही था कि रामधनी मुखिया बीच में पड़ गये। उन्होंने मुंशीजी को बहुत तरह समझाया—"मखना अभी लड़का है, गदेल है; उसका बाप मँगरू ड्योढ़ी का वफ़ादार असामी था। मखना भी सदा बेगार करता रहा है; सचमुच उसकी माँ बीमार है, तो भी उसने ऐसा नहीं कहा होगा, शायद सिपाहीजी को सुनने में धोखा हुआ है। मैं अभी जाकर बुला लाता हूँ..."

रामधनी वृद्ध थे, गाँव के मुखिया थे, मुंशीजी ने उनकी बात मान ली। रामधनी अपनी लाठी टेकते मखना के घर आये, बहुत समझाया। माँ ने भी आजिज़ी प्रकट की। खैर, मखना राज़ी हो गया और ड्योढ़ी पर आया। रामधनी साथ थे। उन्होंने मखना को रास्ते में ही समझा दिया था कि तुम वहाँ कुछ नहीं बोलना; जो हुक्म हो, चुपचाप मान लेना। मखना भी यह निश्चय करके आया था; किन्तु यहाँ तो कुछ दूसरा ही होना था।

मुंशीजी के सामने एक हट्टा-कट्टा नौजवान खड़ा था। उसकी चौड़ी छाती, मांसल बाहों और भरे चेहरे को देखकर मुंशीजी को आनंद नहीं हुआ। जो एक धनी के लिए गुण है, ग़रीब के लिए घोर अवगुण। कौन नहीं जानता कि जब कहीं चोरी होती या डाके पड़ते हैं, तो दारोग़ाजी आस-पास के ऐसे नौजवानों को ही पहले पकड़ते हैं, जो ग़रीब होकर भी हट्टे-कट्टे होते हैं। मुंशीजी ने मखना को देखते ही समझ लिया कि यह ज़रूर बदमाश होगा। रुखाई से पूछा—"हूँ, क्या तुम्हारा ही नाम मखना है?"

मखना ने सिर हिलाकर जवाब दिया। मुंशीजी बोले—"बोलता क्यों नहीं बे, क्या गूंगा है? क्या सचमुच तूने कहा था कि नहीं जाता?"

मखना ने स्वाभाविक स्वर में कहा—"जी हाँ।"

"जी हाँ!"—मुंशीजी का क्रोध ज्वालामुखी-सा एकाएक भड़क गया। बोलते गये—"जी हाँ कहता है? बदमाश, पाजी। क्यों तुमने ऐसा कहा?"

"सरकार, मैया बीमार......"

"तेरी माँ की....."

बस, मुंशीजी ने एक ही साँस में कितनी ही गालियों की गोलियाँ दनादना बरसा दीं। वह सुनते ही सन्न हो गया। एक बार उसने रामधनी की ओर घूरकर देखा, मानों उसकी आँखें कह रही हों—रामधनी चाचा, तुम्हीं आज मुझे बेइज़्ज़त करवा रहे हो। फिर उसने अपनी प्रज्वलित आँखों को मुंशीजी की ओर करके कहा—"मुंशीजी, कहे देता हूँ, गालियाँ मत बकिये..."

"गालियाँ मत बकिये! बकूँगा, तो क्या होगा? बोल, बोल, बोल तेरी......"

मखना के कानों ने सुना, उसकी माँ को न-जानें क्या-क्या गंदी गालियाँ दी जा रही हैं। उसका हृदय चलनी हो गया। उसके गरम मस्तिष्क से विचार-शक्ति भाप बनकर उड़-सी गई। वह कहाँ है, यहाँ क्या हो सकता है—आदि बातों के सोचने की बुद्धि ही उसमें न रह गई। वह पागल-सा हो उठा? बिजली-सा कड़ककर बोला—"गालियाँ रोकिये; रोकिये, नहीं तो..."

"नहीं तो—नहीं तो—नहीं तो क्या...क्या होगा? बोल पाजी।"

यह कहते हुए स्वयं बाबू साहब अपने कमरे से निकले। वह भीतर दालान के कमरे में थे; ओसारे पर मुंशीजी बैठे थे। मखना ओसारे के नीचे आँगन में खड़ा था। कमरे से निकलकर बाज़ की तरह वह मखना की ओर झपटे। पैर में खड़ाऊँ थी। जाते ही उसके सिर पर तड़ातड़ मारने लगे।

बाबू साहब का आना और मारना पलक मारते हुआ। मखना नहीं जानता था कि बाबू साहब भीतर बैठे सब सुन रहे हैं। शायद रामधनी भी नहीं जानते थे। बाबू साहब को देखते ही मखना स्तंभित-सा हो गया। यहाँ तक कि दो-तीन खड़ाऊँ खोपड़ी पर पड़ने पर भी अचल खड़ा था; किंतु जब सिर से लहू की बूँदें टप-टप करके टपकने और उसके ललाट, गाल आदि को भिगोती हुई ज़मीन पर गिरने लगीं, तब जैसे वह कुछ चंचल-सा हो उठा। बाबू साहब उसके एकदम

निकट खड़े खड़ाऊँ मारे जा रहे थे। इस बार ज्यों ही उन्होंने खड़ाऊँ उठाकर उसके सिर पर पटकनी चाही, त्यों ही उसने उस प्रहार को रोकने की नीयत से अपनी बाँह उस ओर बढ़ा दी। खड़ाऊँ सिर तक नहीं पहुँची, किंतु इस प्रकार रोकने से जो प्रतिघात हुआ, उसे बाबू साहब—दुर्बल-काय, शीर्ण-शरीर बाबू साहब—बर्दाश्त न कर सके। वह ढिलमिलाकर ज़मीन पर आ रहे। बाबू साहब को गिरते देख मखना भौंचक हो उठा। लपककर उठाना ही चाहता था कि एक सिपाही ने उसके सिर पर एक ज़बरदस्त लाठी जमा दी।

फिर तो 'मारो-मारो' का तमुल-नाद होने लगा। दो-तीन आदमी बाबू साहब को लेकर ओसारे पर बिठा आये—क्योंकि उन्हें चोट-ओट तो आई नहीं थी, सिर्फ़ कमज़ोरी के कारण ज़रा लुढ़क गये थे। बाक़ी लोग—सिपाही, नौकर, अमले आदि—मखना पर प्रहार-पर-प्रहार करने लगे। लाठी, छड़ी, जूते, लात, सबका विपुल प्रयोग किया जा रहा था।

लाठी-छड़ी, लात-जूते, इन सबका विपुल प्रयोग किया ही जा रहा था कि इतने में उन्हींमें से एक आदमी चिल्ला उठा—"मर गया! मर गया!!" रामधनी अलग खड़े बग़ल से यह सब देख रहे थे। 'मर गया', यह आवाज़ सुनते ही दौड़े, और मखना के शरीर पर लेट गये। इनके लेटने और 'कहीं मर न गया हो, फिर तो कल से ही शादी के बदले......' इस आशंका के कारण भी, यह प्रहार-प्रकरण जहाँ-का-तहाँ रोक दिया गया।

मखना का क्षत-विक्षत शरीर निर्जीव-सा पड़ा है। उस जगह की ज़मीन ख़ून से रँग गई है। खोपड़ी एक जगह फट गई है, जिससे रक्त का अविरल प्रवाह चल रहा है। नाक और मुँह से भी ख़ून निकल रहा है। जहाँ एक मिनट पहले एक हट्टा-कट्टा नौजवान था, वहाँ अब मांस का एक लोथड़ा-सा पड़ा है। रामधनी कभी उसकी नाक दबाते और कभी मुँह में पानी देने की चेष्टा करते हैं। बाबू साहब तो अपने कमरे में पलँग पर जा लेटे हैं, जहाँ उनपर पंखा झला जा रहा है। किंतु मुंशीजी इस घटना के गुरुत्व को—'कहीं मर गया, तो पुलिस के द्वारा कितनी परेशानियाँ उठानी पड़ेंगी', इस बात को समझकर वहाँ खड़े उसे होश में लाने के लिए नाना तरह के उपचार बता रहे हैं। जिन निर्दय हाथों ने

निष्ठुर प्रहार किये थे, वे अब कृत्रिम उपचार में लगे हैं। शायद तड़पने का तमाशा देखने के लिए!

(४)

चार दिनों से समूचे गाँव में धूमधड़क्का मचा हुआ है। बाबू साहब की बेटी के ब्याह की बरात आई है। ऐसी बरात इस जवार में कभी नहीं आई। गाँव के बुड्ढे, जवान, बच्चे, स्त्रियाँ, लड़कियाँ सब बरात देखने में मग्न हैं। दूर-दूर के गाँवों से भी लोग दर्शक-रूप में आते-जाते रहते हैं।

हाथी, घोड़े, मोटर, बग्घी आदि की क्या गिनती? नाच-गान का बाज़ार दिन-रात गरम रहता। रात में थिएटर होता, आतिशबाजियाँ छूटतीं; हा-हा-ही-ही-हू-हू से दिगंत आंदोलित रहता।

खाने-पीने की भरपूर व्यवस्था है। चिउड़ा-दही की कौन बात, दिन-रात गरमागरम पूड़ियाँ-कचौड़ियाँ उड़ती रहतीं। नाना तरह की मिठाइयों की सुगंध से तमाशबीनों की नाक भरी रहती, खानेवालों की जीभ की हालत का क्या वर्णन किया जाय!

बाबू साहब की उमंग का क्या कहना! मुंशीजी के पैर तो ज़मीन पर पड़ते नहीं। यदि बाबू साहब इस महाभारत के दुर्योधन थे, तो मुंशीजी शकुनि। नौकर-चाकर सभी रंगीन कपड़े पहने उड़ते-से दीख पड़ते।

बाबू साहब के महल में संगीत की गंगा-जमुना तरंगें ले रही हैं। सास खुश हैं—योग्य दामाद पाकर; सरहज खुश हैं—सुघड़ ननदोई देखकर; और सालियाँ व्यस्त हैं—सुन्दर बहनोई लेकर।

चारो ओर मस्ती, आनंद, उन्माद, उल्लास का समुद्र लहरा रहा है।

किंतु गाँव में एक ऐसा भी घर है, जहाँ इस समय एक दूसरा ही समुद्र अपना तूफानी रूप दिखला रहा है—न-जाने यह किसकी भरी नाव डुबाएगा।

मखना उस दिन मरा नहीं, किंतु, जी गया घुल-घुलकर मरने के लिए। जब कुछ उपचार के बाद उसे होश आया, रामधनी उसे उठाकर उसके घर ले गये। निस्संदेह चलते समय मुंशीजी ने चाँदी

के कुछ चमचमाते टुकड़े रामधनी के हाथ में रख दिये कि इनसे इसकी दवा-दारू करना, किंतु रामधनी ने विनय-पूर्वक अस्वीकार कर दिया। कहा—"सरकार, अभी मेरे पास कुछ पैसे हैं; जरूरत पड़ेगी, तो ड्योढ़ी पर हाज़िर होऊँगा।" वह अनुभवी थे; जानते थे, ये रुपए उदारता-वश नहीं दिये जा रहे हैं, वरन् जिसमें किसी तरह पुलिस क़ो खबर न लगे, इसके लिए यह घूस मिल रही है।

बेटे की यह हालत देखकर माँ की क्या हालत हुई होगी, कल्पना कीजिए! पहले तो वह चीख उठी। किंतु, तुरत ही अपने को ज़ब्त कर वह बेटे की सेवा-शुश्रूषा में लग गई। न-मालूम उसकी बीमारी कहाँ चली गई? न-जाने उसमें यह शक्ति कहाँ से आ गई?

गाँव के दो-चार नवयुवकों ने थाने में खबर देने की चर्चा की, किंतु बूढ़ों ने डाँट दिया। बाबू साहब से मुक़दमे में कौन जीतेगा; फिर, मुक़दमे के लिए रुपए भी तो चाहिए।

इस दुस्संवाद को सुनकर मखना की पत्नी भी आ गई है। दोनों सास-पतोहू दिन-रात परिचर्या में लगी हैं। रामधनी भी वहीं बैठे रहते हैं।

देहात में परिचर्या ही क्या? कुछ लोगोंने अस्पताल में ले जाने की बात चलाई, किंतु इसकी ख़बर ज्यों ही ड्योढ़ी पर पहुँची कि बाबू साहब ने खुद रामधनी को बुलाकर डाँट दिया। अस्पताल में जाने से पुलिस पर भेद खुल जाने का डर था।

मखना की हालत दिन-दिन खराब होती गई।

वह दिन-रात कराहता रहता। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, पीड़ा घुलती गई, कराहना बढ़ता गया। उसके अंग-अंग कचोटते रहते; रह-रहकर टीस उठती—मानों सैकड़ों सुइयाँ एक साथ चुभोई जा रही हैं। सदा बुखार—जोरों का बुख़ार—बना रहता। वह प्रायः बेहोश ही रहता। वह बेहोशी में अंटसंट बका करता—मैयाँ...... चिउड़ा......सिपाही......मुंशीजी.... तेरी......बाबू साहब... खड़ाऊँ......मारो-मारो......रामधनी चचा—बस, इन्हीं कुछ शब्दों के इर्द-गिर्द उलटा-पुलटा उसका बकना होता। कभी हँसता, कभी रोता, कभी उत्तेजित होकर खड़े होने की कोशिश करता। तीनों प्राणी सँभाल कर रखते और रोते—पत्नी रोती, माँ रोती और रोते रामधनी चाचा।

किंतु आज अकस्मात् मखना की हालत अच्छी देखी गई। न वैसी कराह है, न छटपटी। थोड़ी चेतनता के चिह्न भी दीख पड़े। बुखार कुछ उतर गया था। रात उसे नींद भी आई। भोर में ज्यों ही उसने आँखें खोलीं, माँ ने उत्सुकतापूर्वक हौले से पूछा—"बेटा, जी अच्छा है न ?"

मखना ने सिर हिलाकर 'हाँ' की सूचना दी। माँ जैसे निहाल हो गई। आनंद से उसकी आँखें चमकने लगीं, जिनके कोने पर पानी की कुछ बूँदें डबडबा आईं। फिर मखना ने जैसे कुछ बोलने का प्रयत्न किया—किंतु बोल न सका। बेचैनी की एक रेखा-सी उसके ललाट पर खिंच आई। माँ इसको ताड़ गई। कुछ पूछना ही चाहती थी कि मखना ने इशारे से पानी पिला देने का भाव जतलाया। माँ ने अस्त-व्यस्त होकर बहू से पानी लाने को कहा। बहू ने झटपट पीतल के एक कटोरे में औंटा हुआ पानी लेकर सास के हाथ में दे दिया। माँ ने सोये-सोये ही पानी पिला देना चाहा। किंतु, मखना ने उठाकर पिलाने का संकेत किया। सास-बहू ने मिलकर यत्न से उठाया—रामधनी बाहर गये थे। उठाकर ज्यों ही उसके मुँह से कटोरा लगाया कि मखना को ज़ोर से हिचकी आई। एक...दो...तीन। तीसरी हिचकी के साथ-ही-साथ उसके मुँह से जमे हुए खून का एक लोंदा नीचे गिर गया। उस लोंदे को देखते ही सास-बहू अधीर हो गईं। माँ सिसकियाँ भरती हुई 'बेटा-बेटा' कह ही रही थी कि इधर बेटे की आँखें उलट गईं। वह लुढ़ककर उसकी गोद में गिर पड़ा।

आज बाबू साहब की बेटी की बरात वापस जानेवाली है। रात से ही महफ़िल जमी है, जो भोर तक भी खतम नहीं हुई। रंग-गुलाल उड़ रहे हैं, गुलाब-इत्र का छिड़काव हो रहा है, पान-इलायची कचरे जा रहे हैं। समधी-समधी मिल रहे हैं—हा-हा-ही-ही का बाज़ार गर्म है। नाच-गान का समा बँधा है—हँसी-दिल्लगी के फ़व्वारे छूट रहे हैं। समूचा गाँव इस उत्सव-तरंग में डुबकियाँ ले रहा है। इसी गाँव में, इसी समय, एक घर में, इसी बरात के चलते, जो एक प्रलय-दृश्य उपस्थित है, उसकी ओर कौन ध्याद दे ?

गाँव के एक छोर पर एक फूस के घर से, हृदयवेधी आवाज़ आ रही थी—"हो रजऊ...!" दूसरे छोर पर, एक विशाल शामियाने के नीचे, "गरवा मे गरवा लगा जा हो बालम" का सुरीला स्वर निकल रहा था !

जुलेख़ा पुकार रही है

(१)

दो दिनों तक राँची की ठंढी हवा से दिमाग़ मुअत्तर करने के बाद सोचा, क्यों न घर लौटने के पहले ज़रा उस जगह को भी देख लूँ, जहाँ हिन्दुस्तान भर के वद-दिमाग़ों की वस्ती बसाई गई है? मेरा मतलव काँके से था। फिर क्या, अपना बोरिया-वधना सँभाल वहाँ जा पहुंचा। जब पागलखाना देखने के लिए टिकट पाने की दौड़-धूप में था, तव पता चला, मेरा पुराना क्लास-फ्रेंड हसीब ही उस पागलख़ाने का इन दिनों डिप्टी-सुपरिंटेंडेंट है। हसीब उसी पुराने प्रेम से मिला। हाथ मिलाने से ही उसे तसल्ली नहीं हुई, वह मुझसे भरपूर लिपट गया। खादी के धूमिल कुर्त्ते से दपादप सूट का वह गाढ़ालिंगन देखने ही लायक़ था।

हसीव ने बड़े प्रेम और चाव से मुझे पागलख़ाना दिखलाया, फिर अपने वँगले में ही ठहराया। जब हम खाना खा रहे थे, मैंने कहा—"हसीब, तुमने यह क्या नौकरी पसंद की? यह तो सुना था, तुमने डॉक्टरी लाइन पकड़ी है, लेकिन मैंने यह सपने में भी नहीं सोचा था कि तुम्हारा तूफान मेल यहाँ आ लगेगा।"

यह कहते समय निस्सन्देह मेरे दिमाग़ पर पागलख़ाने के दयनीय और वीभत्स दृश्यों का बोझ था। किन्तु, हसीव ने अपने हँसमुख चेहरे से, मानों मेरे इस बोझ को हल्का करने के लिए ही,

दिल्लगी के स्वर में कहा—"और, मैंने भी यह नहीं सोचा था कि तुम वकील बनने की साध लिये एक दिन क़ौम के फ़क़ीर बन जाओगे। अरे यार, यह दुनिया है—यहाँ आदमी सोचता कुछ और है, और हो जाता कुछ और है।"

खाने-पीने के बाद कुछ इधर-उधर की गप-शप चली। हम दोनों यार बहुत दिनों पर मिले थे। बहुत-सी बातें करनी थीं। हसीब खोद-खोदकर पूछता भी था। लेकिन, मेरा दिमाग़ तो जैसे पागलों की बस्ती में था—"उफ्, आदमी क्या से क्या हो जाता है!" मैं यह सोचता और मुँह से उसके सवालों का हाँ-ना जवाब दिये जाता। आखिर मैंने उसका ध्यान भी इस ओर केंद्रित किया। एक-दो बार उसने बातें टालने की कोशिश भी की, किंतु मेरी अज़हद दिलचस्पी देखकर वह इस ओर रुजू हुआ, और बोला—

"मेरे दोस्त, पागलों से दिलचस्पी तो सब लोग रखते हैं लेकिन भीतर, तह तक, जाने की कोशिश कौन करता है? उन्हें तरह-तरह के स्वाँग भरते, तरह-तरह की भावभंगी दिखाते, तरह-तरह की अजीबोग़रीब हरकतें करते देखकर लोग हँसते हैं, मन बहलाते हैं, दो घड़ी की दिलबस्तगी कर लेते हैं और इस दिलबस्तगी और मन-बहलाव के लिए कुछ खर्च करने को भी तैयार हो जाते हैं। सिर्फ़ तुम्हीं नहीं आये, बहुत-से लोग यहाँ हमेशा आते ही रहते हैं। यह पागलखाना क्या हुआ, चिड़िया-घर हो गया; अलीपुर न देखा, काँके देखा। ये आदमी नहीं, चिड़ियाघर के चित्र-विचित्र जानवर हैं। देखो, हँसो! वह बंदर है, ज़रा छेड़ दो; वह शेर है, ज़रा दूर ही रहो। यही इन दर्शकों की मनःस्थिति इन पागलों के बारे में होती है। भयानक पागलों को अलग-अलग से ही देखा, और सुधुओं से दो-एक दिल्लगी कर ली, मन-भर हँस लिया और चल दिये। ख़ैर, अच्छा ही है, क्योंकि अगर तह तक जाया जाय, तो हँसने के बदले इनपर रोना पड़े, आँसुओं से मुँह धोना पड़े। क्योंकि आज तुम जिन्हें जानवर देख रहे हो, कभी वे तुम्हारी ही तरह इंसान थे—दया, ममता, ख़ुशी-ग़मवाले इंसान! जिन्हें आज तुम यहाँ ढूह की शकल में देख रहे हो, वे कभी सुन्दर इमारतें थीं—हाँ, सुन्दर, मोहक! लेकिन, अचानक ऐसे धक्के लगे कि ये अपने तो गिर ही गईं, कितनों को मलबे के नीचे ले बैठीं—कितने अरमानों, और उम्मीदों को। दोस्त, पागलपन!—यह ट्रेजडी है, ट्रेजडी!"

हम दोनों टेवुल के दोनों ओर कुरसियों पर आमने-सामने वैठे थे। मैंने देखा, हसीव का चेहरा यह कहते-कहते लाल हो उठा है। और, उसकी आँखों में शायद नमी भी थी, जिसे उसका चश्मा छुपाये हुए था। वात यों थी कि गो इस लाइन में वह नौकरी की ग़रज से ही आया था, लेकिन उसका जज़्वाती दिल धीरे-धीरे पाग़लों की जिंदगी में रस लेने लगा था। पागलख़ाना उसके लिए अव सिर्फ़ रोटी का ज़रिया नहीं रह गया था, वल्कि अव वह उसका लेवोरेटरी हो चला था, जहाँ वह नये-नये प्रयोग करता, और नये-नये अनुभव प्राप्त करता। वह सिर्फ़ पागलों का डॉक्टर नहीं था, उनका हमदर्द हो चला था। मैं देख रहा था, जव वह वोल रहा था, उसकी ज़वान ही नहीं हिल रही थी, उसके दिल के तार झनझना रहे थे। थोड़ी देर रुककर, मानों मेरे मनोभावों को पढ़ने की चेष्टा करता हुआ, वह फिर वोला—

"और पागलपन कोई शख़्सी वीमारी नहीं है, दोस्त, यह तो एक सामाजिक रोग है। सिवा चंद ख़ानदानी पागलों के आदमी वज़ातख़ुद पागल नहीं होता, वल्कि पागल वना दिया जाता है। आज शाम क़ो तुमने किसी भलेमानस को भला-चंगा देखा; वह प्यारा पति, भला वाप, नेक वेटा, सच्चा दोस्त था। एक हँसता-खेलता विलकुल नेचुरल इंसान! लेकिन, रात में ही कुछ ऐसी घटना घटी कि रातोंरात उसका चेहरा ही वदल गया! वह अजीव ढंग से वोलने लगा, अजीव ढंग से चलने लगा, अजीव हरकतें करने लगा। दुनिया चिल्ला उठी—वह पागल हो गया! उसे वाँधा गया, वहुत वार पीटा भी गया, फिर रो-धोकर उसकी दवा-दारू कराई गई, और जव कुछ न वन पड़ा, तो काँके के इस काँजीहाउस में उसे डालकर निश्चिंत हो जाया गया। किन्तु, कोई भला-आदमी इसपर कुछ सोचने की तकलीफ गवारा नहीं करता कि आख़िर उसकी यह दुर्गत क्यों हुई? किसने की? आग लगाकर पानी के लिए दौड़ना इसीको कहते हैं।"

इसके वांद उसने कई मिसालें पेश कीं। सुन-सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते। उसने पूरे तीन दिनों तक मुझे वहाँ रोक रखा। कई पागलों को उनके इतिहास के साथ उसने मुझे दिखलाया। किन सिद्धान्तों पर उनकी चिकित्सा होती है, कैसे उन्हें अच्छा किया जाता है, यह सव व्योरे के साथ उसने वताये। अंत

में, जिस दिन मैं जाने की तैयारी कर रहा था, उसने जो एक कहानी सुनाई; क्या मैं ज़िंदगी-भर उसे भूल सकूंगा ?

(२)

शाम का वक़्त था। हसीव अपने बँगले में बैठा हुआ कुछ दोस्तों से गप-शप कर रहा था। उसी समय उसके चपरासी ने एक मुलाक़ाती कार्ड उसके सामने रखा। उसपर एक डिप्टी-कलक्टर साहब का नाम था। वह मुसलमान थे। डिप्टी साहब को हसीव ने बुलाया। अधवयस-सें आदमी, चेहरा सूखा, भर्राया। किस काम से तशरीफ़ लाये, पूछे जाने पर उनकी आँखों से झर-झर आँसू झरने लगे। बड़ी मुश्किल से कह पाये, उनका लड़का—पटना-कॉलेज का शानदार ग्रेजुएट—अचानक पागल हो गया है। बहुत दवायें कीं, अच्छा नहीं हुआ। आखिर उसे यहाँ ले आये हैं। उन्होंने सुना था, हसीव यहाँका डिप्टी-सुपरिंटेंडेंट है। उन्हें थोड़ा धीरज हुआ कि हम-मज़हब होने की वजह इस मुसीवत-ज़दे पर उसका ज़्यादा ख़याल होगा। इसी उम्मीद में उसके पास वह आये हैं। हसीव ने उनसे बीमारी का ब्योरा पूछा। उन्होंने बताया, वह कोई भयानक या गंदी हरकत नहीं करता; न गालियाँ बकता, न चीखता-चिल्लाता है। यों बड़ा भोला-भाला-सा है, लेकिन अचानक वह चौंक उठता है, इधर-उधर कोई चीज़ खोजता है, अगर कोई चीज़ मिली, तो उसे लेकर, नहीं तो हाथों से ही वह ज़मीन खोदने लगता है। ज़मीन खोदता है, रह-रहकर ज़मीन से कान लगाकर कुछ सुनने की कोशिश करता है, फिर खोदता है, और यदि ज़बर-दस्ती पकड़ न लिया जाय, तो तब तक खोदता रहता है, जब तक बेहोश न हो जाय। उसकी उँगलियाँ घिस गई हैं, उन्हें वह खोदते-खोदते लहूलुहान कर डालता है। यह खोद-खाद वह कब शुरू करेगा, कोई ठिकाना नहीं। लोगोंके पूछने पर कि क्या कर रहे हो, होठों में ही कुछ बुदबुदाता है, जो किसीकी समझ में नहीं आता।

उस समय उन्हें धीरज देकर और कल रोगी को लाने को कहकर हसीव ने उनसे फ़ुरसत ली। दूसरे दिन भोर में ही बेटे को लिये वह डिप्टी साहब पहुँचे। बेटा बिलकुल नौजवान था। अभी मसें भींग रही थीं। सूखे, उदास, खोये-खोये चेहरे से भी खूबसूरती टपकी पड़ती थी। बड़ी-बड़ी आँखें, जिनमें से प्रतिभा झाँकती-सी मालूम पड़ती थी। कभी वह बहुत ज़हीन रहा होगा,

इसमें शक नहीं । हसीब ने उसका नाम पूछा, एक वार बड़े ग़ौर से उसने हसीब के चेहरे को देखा, फिर अपना नाम वतला दिया। कहाँ तक पढ़ा है, क्या-क्या विषय लिये थे, कॉलेज में उसके कौन-कौन प्रोफ़ेसर थे, सबका जवाब उसने सही-सही दिया । हसीब ने समझा, मर्ज़ लाइलाज नहीं है । उसकी भर्ती पागलखाने में करा दी । बाप को इत्मीनान दिलाया कि वह घबरायें नहीं, उनका लड़का ज़रूर ही अच्छा हो जायगा ।

पागलों की चिकित्सा में उनकी कहानी जानना सबसे ज़रूरी है । कुछ बातें तो उसने बाप से दरियाफ़्त कीं, कुछ मरीज़ से । क़िस्से से निकट का सम्बन्ध रखनेवाले अन्य कई व्यक्तियों से भी कुछ वातें पूछीं-पुछवाईं । बड़ी मुश्किल से एक-एक कड़ी जुटाकर जो चीज़ बनी, वह यों थी——

डिप्टी साहब का यह एकलौता बेटा है । इसका जन्म तब हुआ था, जब डिप्टी साहब पढ़ ही रहे थे । डिप्टी साहब का परिवार साधारण हैसियत के देहाती काश्तकार का था । काश्तकारी अच्छी थी, अच्छे खाते-पीते लोग थे । डिप्टी साहब के पड़ोस में ही, उनकी ही हैसियत के, उनके एक लँगोटिया यार थे । दोनों की बीवियों में भी खासी दोस्ती गँठ गई थी। डिप्टी साहब के इस बच्चे के जन्म के चार साल बाद उनके दोस्त के एक लड़की हुई। दोनों बीवियों ने हँसी-हँसी में तय कर लिया कि इन दोनों की शादी होगी । दोनों यारों ने यह ख़बर सुनकर एक ज़ोर के ठहाके में स्वीकृति दे दी ।

दिन बीतने लगे । डिप्टी साहब बी० ए० करके सब-डिप्टी फिर पूरे डिप्टी बन गये, लेकिन उनके यार देहात के ही काश्तकार बने रहे । दोनों के बच्चे भी बढ़े । जब दोनों बच्चों को होश हुआ, उन्हें खबर लगी, दोनों का ब्याह पहले से ही तय है । लड़की शुरू से ही शरम करने लगी; बच्चा बचपन से ही उसे छेड़ने लगा । दोनों की जोड़ी जैसे ख़ुदा ने ख़ुद बनाकर भेजी हो । दोनों से ख़ूबसूरती चुई पड़ती । बच्चे का नाम था सलीम, बच्ची का जुलेखा ।

सलीम लोअर, अपर और मिडिल देहात में ही करके अपने डिप्टी बाप के साथ शहर में रहने लगा । जुलेखा घर पर ही

उर्दू लिखना-पढ़ना सीखकर सिलाई-बुनाई में कलाकारी हासिल करने लगी ।

सलीम की माँ घर पर ही रहती । तब वह ज़माना न था, जब डिप्टी साहब लोग अपनी मेम साहब को साथ रखते । पुराने रीति-रिवाज का दौरदौरा था । छुट्टियों में डिप्टी साहब आते, उनका यह एकलौता लड़का आता; जिसके देखने के लिए उसकी माँ छटपट किये रहती । इस लड़के के बाद उस बेचारी के एक बच्ची हुई, जो मर गई । तबसे कोई बच्चा नहीं हुआ । फलतः उसका ध्यान अपने इस बच्चे पर ही हमेशा टँगा रहता । गाँव के नज़दीक मिडिल तक स्कूल था, तब तक उसने अपने इस प्यारे बेटे को आँखों से ओझल नहीं होने दिया था, लेकिन अब तो लाचारी थी । लड़के का पढ़ना-लिखना ज़रूरी था, इसलिए उसे अलग करना पड़ा; लेकिन छुट्टी होने पर अगर उसके पहुँचने में एक-आध दिन की देर हो जाती, वह छटपट करने लगती ।

छुट्टी में जब सलीम आता, शहर की कुछ दिलचस्प सौगात जुलेखा के लिए ज़रूर लाता ! जुलेखा भी उसके लिए रूमाल, तकिए के खोल, टेबुल-क्लॉथ आदि पर कुछ बेल-बूटे काढ़कर तैयार रखती ।

जब सलीम फिर पढ़ने चला जाता, उसकी माँ जुलेख़ा को प्रायः अपने ही घर पर रखती, और उसे तरह-तरह की दस्तकारी और घरेलू काम-काज सिखाती। जुलेख़ा कभी उसके घर को बसायगी ही, फिर वह अभी से उसे तालीम देकर क्यों न योग्य पतोहू और चतुर गृहिणी बनाकर रखे ?

धीरे-धीरे सलीम कॉलेज में गया, मूँछ पर ज़रा-सी काली रेखाएँ आने लगीं। उसकी माँ सोचने लगी, अब जल्द शादी कर दी जाय। जुलेख़ा की माँ भी यही चाहती थी। लेकिन, डिप्टी साहब टालते गये। उनका कहना था, कम-से-कम लड़के को ग्रेजुएट होने दो, शादी हो जायगी। तयशुदा बात है, जल्दी क्या है ? माँ कहती, तुम्हारी शादी तो पहले हो चुकी थी, तो भी तुम पढ़ते रहे, बी० ए० किया, डिप्टी हुए। शादी हो जाने दो, मुझे अकेले घर नहीं सुहाता। डिप्टी साहब हँसकर कहते—पतोहू को घर में तो पहले से ही रख लिया है, अब ज़ाब्तगी की ही तो देर है, घबराहट क्या है ? माँ इस झाँसे-पट्टी में नहीं आती, वह जवाब देती, इसीसे तो और

भी कहती हूँ कि जल्द शादी हो जानी चाहिए। जिसको इतना नज़दीक रखती हूँ, उससे ज़रा भी परायापन महसूस करूँ, यह बरदाश्त नहीं होता। लेकिन, डिप्टी साहब की मर्ज़ी तो सबके ऊपर थी। बात टलती ही जाती। जुलेख़ा और सलीम के कानों में भी ये बातें पड़तीं। जुलेख़ा शर्म से गड़ी जाती, सलीम दिन में सपने देखता।

किंतु कैसी दुःख की बात –माँ बेटे की शादी का अरमान लिए ही अचानक चल बसी। गाँव में हैजा फैला था। वह भी बीमार पड़ी, और जब तक डिप्टी साहब या सलीम पहुँचे, वह साँस तोड़ चुकी थी !

डिप्टी साहब अब छुट्टियों मे घर कम आते, बाद में तो आना ही छोड़ दिया। सलीम चाहकर भी छोटी छुट्टियों में नहीं आ पाता। जुलेख़ा अपने घर रहती। जब कभी बड़ी छुट्टियों में दो–चार दिनों के लिए सलीम इस देहाती गाँव में पहुँचता, जुलेख़ा निहाल हो जाती।

कुछ साल यों ही बीत गये। अब सलीम बीस साल का अच्छा-खास-नौजवान था, जुलेख़ा संस्कृत-कवियों की प्यारी 'षोड़शी' हो चली थी। सलीम भी ग्रेजुएट हो चला था। अगर उसकी माँ रहती, तो कुछ पूछना ही नहीं था, शादी भी हो चुकी होती। लेकिन, उसके अभाव में अब डिप्टी साहब से तक़ाजा कौन करे ? बेटी को इस उम्र में देख जुलेख़ा की माँ को उसकी शादी के लिए चिंतित होना लाज़िम था। उसने अपने पति पर ज़ोर डाला। उस बेचारे ने अपने पुराने लँगोटिया यार डिप्टी साहब को लिखना शुरू किया। लेकिन डिप्टी साहब उन्हें इत्मीनान दिलाते हुए टालते गये। एक साल यों ही बीत गया। अब जुलेखा की माँ ने अपने पति को, ख़त-किताबत पर न रहकर, डिप्टी साहब के पास जाने को लाचार किया। यह महाशय डिप्टी साहब के दरबार में पहुँचे। डिप्टी साहब की उस शहरी शान-शौकत का क्या कहना ? लेकिन, उन्होंने अपने लँगोटिया यार की ख़ातिर में कमी नहीं की। पूरे दुनियादार आदमी थे। उनकी ख़ातिर की, बहुत-सी फालतू बातें भी कीं; लेकिन शादी की चर्चा से बचते रहे। और, जब यार ने लाचार यह प्रसंग छेड़ ही दिया, तो फिर, 'जल्दी क्या है,' कहकर दूसरी बातों में उन्हें बहला दिया।

जब वह घर पहुँचे, जुलेख़ा की माँ बहुत बिगड़ी––तुम समझते नहीं, घर में जवान बेटी रखे हुए हो, और आप यारबाशी करते

फिरते हो। जुलेखा की शादी इस साल होनी ही चाहिए। तुम फिर एक बार जाओ। उनसे साफ़ कहो, यह तो उनकी पतोहू है ही, उसे अपने घर अब ले जायँ। सलीम भी बड़ा हुआ, ख़ुदा उसे सलामत रखे।

लेकिन इस बार जब यह बेचारे डिप्टी साहब के पास पहुँचे, तो प्रसंग चलाने पर वह किस तरह कन्नी काट गये—"अरे यार, तुम निरे देहाती भोले हो, बातों को समझते नहीं। यह ठीक है कि मैं वादा कर चुका हूँ। बात तय-सी थी, लेकिन आजकल के लड़के पढ़-लिख-कर क्या माँ-बाप के रह जाते हैं। ख़ासकर शादी के मामलों में? तुम्हारी लड़की बड़ी ख़ूबसूरत, बड़ी नेक है—एक ज़माना था, सलीम उसे चाहता भी था। लेकिन, आजकल लड़कों की पसंद की बात मत पूछो। मुझे शक है, जुलेखा अब सलीम को भा सकेगी, या वह उसे अपनी बीवी बनाना चाहेगा? तरह-तरह के लोग निस्वत लेकर आ रहे हैं। एक सब-जज साहब हैं, उनकी लड़की इंट्रेंस में पढ़ रही है, दहेज में मोटर देने को तैयार हैं। उस दिन एक एस्० पी० साहब आये थे, लड़की का फ़ोटो भी लाये थे; कहते थे, मेरे यहाँ शादी होने दीजिए, सलीम को मैं पढ़ने के लिए विलायत भेज देता हूँ। यहाँके कलक्टर ने भी एक दिन एक निस्वत की बात चलाई थी! बताओ, यार, इतने पर भी क्या वह तुम्हें अपना ससुर चुनना पसंद करेगा? मुझे अफ़सोस है, लेकिन दूसरा चारा ही क्या है—अब जाओ, जुलेखा की शादी कहीं दूसरी जगह कर दो; पैसे की दिक़्क़त हो, तो कहना, मैं तुम्हारी मदद को हमेशा तैयार हूँ।"

जुलेखा के बाप के सिर पर जैसे वज्र टूटा! वहाँ एक क्षण भी ठहरना वह गवारा नहीं कर सके। भागे-भागे घर आये, बीवी से बातें सुनाईं। बीवी ने एक बार सिर पर हाथ मारा. फिर सँभल-कर बोली—तुम सलीम से नहीं मिले, वह जुलेखा को प्यार करता है! पिछली बार भी जब आया था, दोनों कैसे घुले-मिले थे। वह शरीफ़ लड़का है, वह धोखा नहीं दे सकता। लेकिन शौहर ने दीन-दुनिया समझाई, ज़माने का रंग-ढंग बताया और फिर दोनों नये घर-वर की तलाश में लग गये।

जहाँ चाह, वहाँ राह। आखिर जुलेखा के लिए एक वर ठीक हो ही गया, शादी का दिन भी तय हो गया।

डिप्टी साहब के पास से लौटकर अपने बाप के आने के बाद जुलेखा ने सब सुना था। उसके काटो, तो खून नहीं। लेकिन, न वह रोई, न चिल्लाई, न चेहरा उदास किया, न आँसू बहाये। मानों शंकर की तरह ज़हर का घूँट पीकर रह गई। उसकी माँ को भी आश्चर्य होता, जुलेखा क्या सचमुच सलीम को नहीं प्यार करती थी ? खैर, जब शादी का दिन तय हो गया, और उसके बाप ने अपने लँगोटिया यार डिप्टी साहब को शिष्टाचार-वश निमंत्रण का ख़त भेजा, तो उस ख़त के साथ, माँ के आग्रह पर, ज़िंदगी में पहली बार उसने एक पंक्ति सलीम को लिख दी—"क्या तुम आ सकोगे ? एक बार तुम्हें देख लें, फिर न जाने ज़िंदगी में कभी भेंट होती है या नहीं ?"

निमंत्रण का ख़त पाकर घाघ डिप्टी साहब मुस्कुराये। अब उनकी गोटी लाल थी। अब अपने बेटे की शादी वह मनमानी जगह कर सकेंगे, खूब दहेज वसूल कर पायँगे। ऊँची रिश्तेदारी होगी, खानदान का रुतबा बढ़ेगा। जब बात तय हो ही चुकी, तो एक आख़री रस्म से क्यों मुँह मोड़ें ? अच्छी तरह न्योता पूरा जाय। संयोग की बात; गर्मी की छुट्टियों में सलीम भी कॉलेज से फ़ुरसत पाकर उनके पास, जो एक मुफ़स्सिल शहर में उन दिनों रहते थे, आ गया था। शादी में सिर्फ़ दो दिन रह गये थे। उन्होंने सलीम को न्योते के खत के साथ जुलेखा का वह ख़त भी दिया और उससे आग्रह किया कि तुम्हें ज़रूर जाना चाहिए। मानों, बेटे पर अपनी उदारता की धौंस जमा रहे हों। इसी सिलसिले में यह भी कहा कि जुलेखा के बाप दो बार आये थे, उन्होंने उनसे थोड़ा और ठहरने को कहा था। मगर उनकी लड़की सयानी हो चली थी, कैसे ठहरते बेचारे ? खैर, अब सलीम को उस सब-जज साहब या उस एस० पी० साहब की निस्बतों पर विचार करना होगा। एक पुराने रईस की ओर से ज़िले के कलक्टर साहब ने भी उनसे कहा था। यहाँ तक कि बातें करते-करते एस० पी० साहब के यहाँ से आया फ़ोटो भी उन्होंने सलीम के सामने रख दिया।

सलीम कुछ समझ न सका, कुछ बोल न सका। डिप्टी साहब उसी शाम को बाज़ार गये और न्योते के लिए चीज़ें ख़रीद लाये। जुलेखा के लिए एक बढ़िया साड़ी, सलूका और चादर लाये, और बोले —"उसकी माँ से कहना, इसी को पहनाकर बेटी को ससुराल

भेजे । आह, कहाँ बेचारी मेरे घर आती, कहाँ पराये घर जा रही है ।" डिप्टी साहब की आँखें भी नम थीं ।

न्योता लिये जब सलीम गाँव पहुँचा, बरात आ चुकी थी। जुलेखा के दूल्हे को देखा, अच्छा-खासा खूबसूरत नौजवान था । उसे थोड़ा संतोष हुआ । फिर, जुलेखा के घर पहुँचा । उसके बाप ने उसकी आमद पर खुशी ज़ाहिर की, और बताया, संयोग से जुलेखा को अच्छा घर-वर मिल गया है । उसकी माँ की आँखें सलीम को देखते ही डबडबा आईं, लेकिन इस खुशी के वक्त आँसू के लिए जगह कहाँ थी ? आँखों का पानी आँखों में ही पी गई । उंसने ख़ैरियत पूछी, डिप्टी साहब की सेहत दरियाफ़्त की । सलीम की बोली सुनते ही जुलेख़ा घर से निकली । वह पहले की तरह ही हँसकर मिली। उसपर लगन सोलहो आना सवार थी, वह पूरी दुल्हन मालूम पड़ रही थी।

"खैर, तुम आ गये--इतनी उम्मीद तो मैंने की ही थी"--उसने सलीम से कहा, जब उसकी माँ जान-बूझकर उन दोनों को एकांत देने के लिए वहाँसे हट चुकी थी । सलीम क्या बोले, उसकी समझ में नहीं आ रहा था। ये सारे दृश्य, सारी बातें उसे भौंचक में डाले हुई थीं । यह सबने महसूस किया कि सलीम में न तो पिछला चुलबुलापन है, न उसके होठों पर हमेशा खेलनेवाली वह हँसी है। हाँ, इसके मानी अलग-अलग लोगोंने अलग-अलग लगाये। रात को हँसी-खुशी में शादी हुई। बरात के खाने-पीने और महफ़िल की धमा-चौकड़ी में रात गुज़र गई । सलीम सब चीज़ों में शिरकत करता रहा । लेकिन, सिर्फ़ कल के पुतले की तरह । भोर हुई; किन्तु यह क्या ? ज़ुलेखा के घर से एक चीख़ की आवाज़ निकली ! यह उसकी माँ रो रही थी। शाम को गीत; भोर में रुदन ! जुलेख़ा चल बसी थी !

उसे क्या हुआ था, क्या बात थी, किसीकी समझ में नहीं आया। माँ ने सिर्फ़ यह बताया कि शादी के बाद, बहुत देर तक, वह सखियों से गप-शप करती रही। लेकिन क़ोहबर में जाने के लिए सखियाँ उसकी तैयारियाँ कर ही रही थीं कि उसने बताया, उसका सिर चक्कर दे रहा है, उसे मतली आ रही है। दो-एक बार क़ै उसने की, लोगोंने समझा, भीड़-भाड़ के चलते ऐसा हुआ है। कोहवर की रस्में यों ही पूरी करके उसे निश्चित सोने

का मौक़ा दिया गया। दूल्हा मियाँ रात-भर साली-सलहजों से गप करते रहे, माँ घर के कामों में फँसी रही। भोर में ज्यों ही माँ उसे जगाने को गई, पाया, अरे, यह तो जुलेख़ा की ठंढी लाश-मात्र है!

जुलेख़ा के घर पर, बरात पर, समूचे गाँव पर जैसे मातम छा गया। ख़ैर, जो होना था, हो चुका था। जहाँसे जुलेख़ा की लाल पालकी निकलती, वहाँ से उसकी काली ताबूत निकली! क़ब्रगाह में उसे दफ़नाते वक्त फ़ातहा पढ़ने को उसके बहुत-से बुज़ुर्ग और अज़ीज़ गये; उसका दूल्हा भी गया। लेकिन, लोग़ोंको आश्चर्य हुआ, सलीम वहाँ नहीं था।

बरात वापस गई, दूल्हा वापस गया, हित-कुटुम्ब सब अपने-अपने घर गये। शाम हुई, रात आई। सलीम के घर उसके कुछ बचपन के साथी आ जमे। वे लोग बड़ी रात तक जुलेख़ा और इस आकस्मिक घटना की तरह-तरह चर्चा करते रहे। एक-ने इसी चर्चा के बीच दबी ज़बान से कहा––सलीम भैया, आप फ़ातिहा पढ़ने नहीं गये, यह अच्छा नहीं किया। उफ़, वह बेचारी आपको कितना प्यार करती थी! उसकी रूह क़ब्र में तड़पती होगी! अनमना सलीम इस बात को यों टाल गया, जैसे इसका कोई महत्त्व नहीं। दूसरी चर्चाओं में भी वह बहुत कम हिस्सा लेता रहा। आज दिन में उसे इस बात की भी पूरी ख़बर मिल चुकी थी कि किस तरह उसके बाप ने शादी नामंजूर कर दी थी। इन बातों का उसके सिर पर भारी बोझ था। जब सभी साथी घर गये, सलीम भी सोने का उपक्रम करने लगा। लेकिन, जल्दी उसे नींद आई नहीं। जब गाँव का पहरुआ दूसरा पहरा दे चुका, तब कहीं उसे नींद आई।

नींद आई ?–वह तो सिर्फ एक झपकी थी। और, उस झपकी के बाद ? वह फिर सोया --- ?

भोर में क़ब्रगाह की ओर एक शोर मचा। कुछ ढोर चरानेवाले अपनी भैंसें उसी ओर ले जा रहे थे कि उन्होंने देखा, जुलेख़ा की क़ब्र के नज़दीक कोई पड़ा हुआ है! वे चिल्ला उठे। लोगोंने वहाँ जाकर देखा, क़ब्र की बग़ल में बहुत-सी मिट्टी खोद दी गई है। और, उसी मिट्टी निकलने से बनी ख़ोह में सलीम का सिर

है, और बाकी धड़ बाहर पड़ा है। झटपट उसके सिर को खोह से निकाला, देखा, ज़रा-ज़रा साँस आ रही है। बगल में ही उसकी छड़ी टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरी थी। उसके नाखून लहू-लुहान हो गये थे। लोगोंकी समझ में कोई बात नहीं आई। उसे बेहोशी में ही उठा कर घर ले आये। बेहोशी दूर होती ही नहीं थी। डिप्टी साहब के पास आदमी दौड़ाया गया। वह डाक्टर लेकर दौड़े आये। बहुत उपचार के बाद, पाँच दिनों बाद, उसने आँखें खोलीं। इधर-उधर देखा। फिर आँखें मूँद लीं। दो दिन तक यों ही आँखें खोलता-मूँदता रहा। चिकित्सा होती रही। आख़िर, वह बैठने-उठने लायक़ हुआ। थोड़े दिन बाद मालूम हुआ, अब वह बिलकुल अच्छा होने जा रहा है कि अचानक एक दिन आँगन के एक कोने की ओर दौड़ा। बग़ल में एक लकड़ी पड़ी थी, उसीसे ज़मीन खोदने लगा। लोग पकड़ने दौड़े, लकड़ी छीन ली, तब वह नाखूनों से ही ज़मीन कुरेदता रहा, जब तक कि लोग उसे ज़बरदस्ती उठा नहीं लाये! तबसे यह दौरा बराबर हुआ करता है।

(३)

यह करुण कहानी यहीं समाप्त नहीं होती है---

हसीब ने बताया, इस कहानी को कड़ी जोड़ने में उसे कितनी दिक्क़तें उठानी पड़ी थीं। डिप्टी साहब, जुलेखा की माँ, उसके बाप, गाँव के लोग, सलीम के यार-दोस्त सबसे पूछ-ताछ की गई थी। लेकिन उसके सोने और बेहोश होने के बीच की कड़ी को तो खुद सलीम ही जोड़ सकता था। सबसे बड़ी दिक्क़त की बात यही थी कि ज्यों ही ज़ुलेखा का नाम उसके सामने लिया जाता, वह चौंक उठता, इधर-उधर देखने लगता, सिर झुकाकर ज़मीन से उठती हुई किसी कल्पित आवाज़ को सुनने की चेष्टा करता, किसी चीज़ की तालाश में दौड़ता, न मिलने पर हाथों से ही कभी-कभी मिट्टी खोदने लगता। बड़े धीरज से हसीब ने धीरे-धीरे एक-एक बात पूछी। ज्यों ही देखता, वह चौकन्ना हो रहा है, रुक जाता, दूसरी बातों में उसे बहला देता। फिर धीरे से शुरू करता।

बात यों हुई कि सलीम जब उस रात पहली झपकी में था, उसने ख्वाब में देखा कि ज़ुलेखा वही दुलहन की साड़ी पहने उसपर

मुस्कुरा रही है । व्याकुलता में उसकी नींद टूट गई। उसने सोचा, फ़ातिहा नहीं पढ़ा, इसीसे उसकी रूह शायद मंडला रही है। दिन में जाऊँगा, तो लोग क्या कहेंगे ? बिछावन पर से उठा, टॉर्च जलाई। कपड़े पहन, छड़ी ली और क़ब्रगाह की ओर चल पड़ा। वहाँ टॉर्च से उस नई क़ब्र को देखा, फिर फ़ातिहा पढ़ने लगा। दो बार बैठा-उठा, तीसरी बार जब बैठकर सिर झुकाया, उसे मालूम हुआ, जैसे जुलेखा पुकार रही है—सलीम, मेरे प्यारे ! --- मैं अभी ज़िंदा हूँ --- मुझे इस क़ब्र से निकालो ! --- उफ़्, मेरा दम घुटा जा रहा है --- जल्दी करो !" एँ, यह क्या ? उसने ज़मीन से कान लगाया, आवाज़ और साफ़ सुनाई पड़ी। तो, जुलेखा जिंदा है—यह कैसी ग़लती हुई ? किसीको पुकारने की उसे सुध कहाँ रही ? अपनी छड़ी से क़ब्र खोदने लगा। छड़ी टुकड़े-टुकड़े हो गई, तो उँगलियों से ही बकोटने लगा। इसी खोद-खाद में वह बेहोश हो गया था।

उस रात में उसने किस तरह ख़्वाब देखा और क़ब्रगाह में पहुँचा, इसके जानने में तो पद-पद पर कठिनाई हुई थी। क़ब्रगाह में फ़ातिहा पढ़ने समय की बात कहते-कहते वह जोर से चिल्ला उठा–"जुलेखा पुकार रही है", और एक चीख़ के साथ जो बेहोश हुआ, तो दो दिनों तक उसे होश में नहीं लाया जा सका, और पूरे एक महीने में कहीं जाकर वह चलने-फिरने लायक़ हुआ।

निस्संदेह सलीम के दिल में जुलेखा की गाढ़ी मुहब्बत थी—मुहब्बत उस गहराई तक जा पहूँची थी, जब वह ज़बान की चीज़ नहीं रह जाती। उसकी शादी दूसरी से होगी, वह दूसरे की हो जायगी, इसकी कल्पना भी उसने नहीं की थी। शहर मे रहकर, अँगरेजी की ऊँची तालीम हासिल करके भी, उसने अख़लाक़ नहीं खोया था। जुलेखा को छोड़कर कभी किसी दूसरी लड़की से शादी की बात वह सोच भी नहीं सकता था। फिर, अपनी माँ को वह बहुत ही प्यार करता था। जुलेखा के प्रति उसकी मुहब्बत में उसकी माँ की जुलेख़ा के प्रति जो स्नेह-भावना थी, इसका भी बहुत हिस्सा था। जुलेखा उसकी सिर्फ अपनी ही नहीं थी, बल्कि मातृप्रेम की एक प्रतीक भी थी। किन्तु इन बातों पर दुनियादार डिप्टी साहब का कुछ ध्यान नहीं रहा। अपनी अज़हद चतुराई के कारण वह ख़ुद ठगे गये।

किन्तु सिर्फ डिप्टी साहब की तम्बीह करने से तो कुछ होता-जाता नहीं था। हसीब ने भी तय किया, वह अपनी पूरी कला लगाकर इस मरीज को अच्छा करने की कोशिश करेगा। यह एक ऐसा केस था, जिसपर प्रयोग करने में उसे भी रस अनुभव होने लगा। हाँ, इस रस में करुणा की मात्रा कहीं ज़्यादा थी।

उसने डिप्टी साहब से कहा कि ऐसी एक लड़की ठीक कीजिए, जिसकी सूरत-शक्ल जुलेखा से कुछ-कुछ मिलती हो। उसने यह भी बताया कि वह लड़की ज़रा होशियार हो, उसके कहे मुताबिक वह कर सके। उसे सलीम की चहेती बनना पड़ेगा, और यदि सलीम अच्छा हुआ, तो उससे शादी भी करनी पड़ेगी। डिप्टी साहब को उसने इत्मीनान दिलाया कि खुदा के फ़ज़्ल से वह सलीम को भला-चंगा करने में ज़रूर ही सफलता प्राप्त कर सकेगा।

जुलेखा की ख़ाला की एक लड़की थी, हूबहू जुलेखा की-ऐसी। यद्यपि जुलेख़ा की माँ अपनी बेटी की मौत का कारण डिप्टी साहब को ही मानती थी, उनसे वह बहुत ही नाराज़ थी; लेकिन सलीम से जो उसे प्रेम था, उसके सबब उसने अपनी बहन को राज़ी किया कि वह उस लड़की को सलीम की सेहत के लिए ज़रूर दे। फिर कहीं सलीम अच्छा हुआ, तो इसकी शादी भी हो जायगी, और यों जुलेख़ा की शादी की कलक भी दूर हो जायगी—बेटी की शादी नहीं हुई, बहन की बेटी की हुई! वह लड़की काफी होशियार थी। वह भी तैयार हो गई। उसे लेकर डिप्टी साहब हसीब के पास पहुँचे। हसीब ने उसका रूप-रंग देखकर खुशी जाहिर की। अब उसे विश्वास-सा हो गया कि वह सलीम को भला-चंगा कर सकेगा।

पहले दिन ही जब वह लड़की को लेकर पागलखाने में सलीम के सेल के निकट पहुँचा, सलीम उसे घूर-घूरकर ताकता रहा। उस दिन उसने बार-बार ज़मीन खोदने की भी चेष्टा की—और दिनों से कहीं ज़्यादा। यह प्रतिक्रिया अच्छे शकुन की सूचक थी—हसीब को आनन्द हुआ, उसे ज़रूर कामयाबी हासिल होगी।

धीरे-धीरे वह लड़की सलीम के पास प्रायः भेजी जाने लगी। एक दिन उसने सलीम को सलाम किया, ख़ैरियत भी पूछी। सलीम

चुपचाप सब सुनता रहा। चलते समय पान का एक बीड़ा उसने सलीम की ओर बढ़ाया। उसने हाथ बढ़ाकर ले लिया।

हसीब ने देखा, सलीम की ज़िंदगी पर इस लड़की का असर हो रहा है।

कुछ दिनों के बाद वह सलीम को अपने बंगले पर ही बुला लेता। वह लड़की अब उससे बातें करती, उसे खिलाती-पिलाती। उसकी ख़ाला-जुलेखा की माँ को भी हसीब ने बुला लिया था। वह भी हसीब के कहे मुताबिक़ सलीम से व्यवहार रखतीं। एक दिन सलीम अचानक चौंक पड़ा, जब उन्होंने अपनी इस बहन की बेटी को जुलेख़ा कहकर पुकारा। फिर तो उसपर जैसे भूत सवार हो गया। लगा वे ही पुरानी हरकतें करने। लेकिन, ज्यों ही वह लड़की पहुँची और उसका हाथ पकड़ा, वह सुधुआ गाय बन गया। उसने उसे कुरसी पर ला बिठाया। चाय पिलाई, बातें कीं। ज़रा नाराज़ी के स्वर में यह भी कहा—"तुम यह क्या करते हो ?" सलीम सहमा, सिकुड़ा, आजिज़ी प्रकट करने लगा—"नहीं, मैंने कुछ नहीं किया।" हसीब ने समझा, अब तो मैंने बाज़ी मार ली।

धीरे-धीरे सलीम की हालत सुधरती गई। जुलेख़ा की माँ ने एक दिन उससे यह भी बता दिया कि यह मेरी बहन की बेटी है; जुलेख़ा इसका भी नाम है। इस बात से उसे थोड़ा धक्का लगा, लेकिन इसका असर भी दूर होने लगा। वह लड़की इस तरह उस पर प्रेम-भाव प्रकट करती, उससे यों लगी-लगी रहती कि उसकी ज़िंदगी पर वह पूरी तरह छा गई थी। आख़िर वह दिन भी आया, जब दोनों एक साथ रहते, गप-शप करते, ताश खेलते, कभी-कभी सलीम कोई उपन्यास, कहानी या कविता की किताब लेकर भी उसे सुनाता। इस नई जुलेख़ा पर, उसकी ख़ाला यानी जुलेखा की माँ पर, डिप्टी साहब पर और उससे बढ़कर हसीब पर एक नये आनन्द का रँगीन बादल छाने लगा। सब ख़ुश थे, सब उस दिन की प्रतीक्षा में थी, जब यह रँगीन बादल रंगीन बरसात लायगा, पपीहे की प्यास बुझेगी, दुनिया हरी-भरी होगी।

हसीब अपने फ़न की बारीक चातुरी से एक-एक क़दम आगे बढ़ता गया। उसने सोचा, अब चीज़ें वहाँ पहुँच गई हैं, जहाँ "फाइनल टच" दिया जा सकता है। उसकी राय से एक दिन

जुलेख़ा की माँ ने बातों-ही-बातों उसपर प्रकट क़िया कि वह नई जुलेख़ा से शादी क़र ले। और, शादी की बात पक्की हो गई।

उस दिन हसीब के बँगले पर खुशी क़ी बाढ़ आई हुई थी। कुछ चुने हुए लोग़ोंको न्योता देकर बुलाया गया था। गाना-बजाना हो रहा था, खाने-पीने के इंतज़ाम हो रहे थे। सलीम दूल्हा बना यहाँ-वहाँ घूम रहा था। जो लोग आते, डिप्टी साहब को उनकी खुशनसीबी पर और हसीब को उसके फ़न की उस्तादी और कामयाबी पर मुबारकबाद देते। रात हुई, हँसी-खुशी में शादी हुई। जुलेख़ा की माँ को उस समय अपनी बेटी की याद आई, और याद आई सलीम की माँ की। काश, बेचारी यह खुशी देख पाती! शादी के बाद कोहवर के लिए दूल्हा-दूल्हन ख़िलवत में गये। डिप्टी साहब अब अपने को सँभाल न सके। हसीब के पैरों से वह लिपट गये। हसीब 'हाँ-हाँ' करता रहा, लेकिन वह क्यों मानने लगे, रोते, कहते--डॉक्टर साहब, आप मेरे लिए इंसान नहीं, खुदा हैं। आपने मेरे बेटे को नई जान दी है--मुझ निपूते को फिर एक बार बेटे-वाला बना दिया है। यह सलीम मेरा बेटा नहीं, आपका बेटा है, डाक्टर साहब!

बड़ी रात तक आगंतुकों ने बातें जारी रखीं। शादी और डॉक्टरी--उनकी चर्चा के ये ही दो मुख्य विषय थे। डिप्टी साहब अपनी दुनियादारी पर शर्मिंदा थे, दूसरे लोग इससे सबक़ ले रहे थे। डॉक्टरी, ख़ासकर मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की, तो भूरि-भूरि प्रशंसा हो रही थी। जो लोग कल तक साइंस के नाम से भड़कते थे, वे ही आज उसकी तारीफ़ करते नहीं अघाते थे। बातों से थकथकाकर लोग सुख की नींद सोने गये।

लेकिन भोर होते ही फिर एक चीख़ सुनाई पड़ी। यह नई जुलख़ा की चीख़ थी। जब उसकी नींद टूटी, उसने देखा, सलीम उसके नज़दीक नहीं है। दरवाज़ा खुला था, इधर-उधर उसने देखा, उसे कहीं नहीं पाया। उसका माथा ठनका। वह चीख़ पड़ी। सब लोग जगकर इधर-उधर तलाश करने लगे। सलीम कहाँ गया, क्या हुआ--सबके चेहरे पर हवाई उड़ रही थी, सबके पैरों में पर लग गये थे। आख़िर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते लोगोंने हसीब के बंगले की फुलवाड़ी में जो एक चमेली का पौधा था, उसके नज़दीक उसे पाया। उसे?--नहीं, उसकी लाश को! पौधे के निकट उसने एक खोह-सी खोद रखी थी।

उसका सिर उसी खोह में था। खोह काफी गहरी थी। मालूम होता था, खोदता हुआ अपना सिर उसमें वह घुसेड़ता गया था। खोदते-खोदते उसमें ताक़त नहीं रह गई, वह मूर्च्छित हो गया, और अंत में उस सँकरी जगह में दम घुट जाने के कारण मर गया !

जिस बादल से अमृत की बूंदें बरसतीं, वहाँसे वज्र गिरा ! बेचारे डिप्टी साहब की हालत का क्या कहना ? वह तो ज़िंदा ही मुर्दा बन चुके थे। हसीब के दिल पर भी कम सदमा नहीं लगा ! लेकिन सबसे ज़्यादा असर हुआ इस नई जुलेखा पर। बेचारी ने दुनिया में पैर रखे ही थे कि यह धक्का लगा। इस धक्के को वह बरदाश्त नहीं कर सकी। उसने अपने घर जाने से साफ़ इनकार कर दिया। अब हसीब के घर ही वह रहती है, और हर भोर को उस चमेली के पौधे के निकट जाकर कुछ फूल चढ़ा आती है। हर भोर को—चाहे जाड़ा हो, या गर्मी, वर्षा हो रही हो, या ओले गिर रहे हों ! हसीब का सारा साइंस इस भोली लड़की के नज़दीक पराजय मान चुका है—सिर झुका चुका है।

वह चोर था

(१)

जेल में पहुँचकर लक्ष्मी वाबू ने अनुभव किया, जेल वह भयानक चीज़ नहीं है, जिसकी कल्पना से ही वह घबरा उठते थे, उनके हित-मित्र उदास हो जाते थे; और उनकी श्रीमती आँखों में आँसू लाकर उसाँसें भरने लगती थीं। गाँधी बावा के प्रताप से जहाँ देश-भक्ति आसान चीज़ वन गई है– यही, खादी पहनिए, चंदे में कुछ पैसे दिया कीजिए, हो सके, तो जब-तव चर्खे को गुनगुना लीजिए, और खुदा-न-खास्ता जव कभी मौक़ा आ जाय, तो जेल की गंगा में हल्की-फुल्की एक-दो डुबकियाँ लगा लीजिए। उसी तरह, उनके पुण्य-बल से, यह जेल भी पुरानी जेल नहीं रह गई है, जहाँ पहले कोड़े बरसते थे, वेड़ियाँ खनकती थीं, खाने को पेनल डायट और रहने-सोने को काल-कोठरी मिलती थी। अरे, यहाँ की तो अब दुनिया ही निराली है। माना, लक्ष्मी वावू का वह वड़ा बँगला, वह ड्राइंग रूम, वे क़ालीन और सोफे और वे वावर्ची, वे चाँदी की तश्तरियाँ यहाँ नहीं हैं। किंतु, जो कुछ है, शरीफों की गुज़र के लिए काफी है। वह ए० डिवीजन के राजनीतिक क़ैदी हैं। सरकार ने अपना इंतज़ाम तो किया ही है, उसने इजाज़त भी दे रखी है, आप अपने खाने-पीने, रहने-सहने में और जो कुछ इज़ाफा कर सकते हैं, करें।

लक्ष्मी वावू को रहने के लिए जो कमरा मिला, उसे उन्होंने थोड़े ही दिनों में ऐसा सजा लिया कि वह उनका 'मिनिएचर' बँगला बन चुका था। जो रसोइया था, वह धीरे-धीरे बावर्ची वनता जा रहा

था, और जो पनिया मिला था, उसे तो उन्होंने 'बेरा' कहकर पुकारना भी शुरू कर दिया था। कभी-कभी वह सोचते, काश, ये जेलवाले एक दिन मेरी श्रीमती को भीतर आकर मिलने की इजाज़त देते, तब उस भोली औरत को दिखा देता, जेल के बारे में उसकी धारणा कितनी ग़लत है। वह कमबख्त जब-जब मुलाक़ात करने को आती है, मुँह लटकाए, आँसू बहाती हुई—सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाता है। जेल के फाटक के मोटे-मोटे लोहे के छड़, बड़े-बड़े ताले और संतरियों की किरचों से ही इसके भीतर का भी अंदाज लगाती है !— वह क्या समझे, बैतरनी के बाद ही स्वर्ग की बस्ती है।

जेल में रहने-सहने का इंतजाम पूरा कर आपका ध्यान पढ़ने-लिखने की ओर गया। यहाँ पढ़ने की एक अजीब बीमारी फैली हुई थी, और वह बीमारी संक्रामक थी। उन्हें भी लगनी थी, लगी। फिर, वह अपने को किसी बात में किसी से पीछे क्यों रखें ? सब पढ़ रहे हैं, वह भी पढ़ेंगे। कुछ पढ़क्कू साथियों से मिलकर उन्होंने किताबों की एक लिस्ट तैयार की और थोड़े ही दिनों में उनका सेल्फ़ सुनहली जिल्दों से जगमगा उठा।

यों पढ़ने में कॉलेज के दिनों में भी उनका मन कम लगता था, जब से अपने घर के बड़े कारबार और ज़मींदारी की देख-भाल का बोझ इनपर पड़ा था, किताबों की ओर नज़र उठाने की फुरसत भी कहाँ थी ? किंतु, इस बार जो किताबों पर टूटे, तो क्या कहना ? मानो बहुत दिनों के भूखे के सामने सुस्वादु भोजन से भरा थाल रखा गया हो। दिन-रात किताबों के पन्ने उलटते; नोट के नाम पर कापियों पर-कापियाँ रँगे जाते। चाय के समय, टहलने के वक्त, साथियों से किताबों के विषयों पर बहसें भी करते। रात में बहुत देर तक उनकी लालटेन जला करती— जेल के दो छटाँक किरासिन से काम नहीं चलता, तो 'तिकड़म" भी— सिर्फ इसी काम के लिए—करते।

जेल में यों तो हर विषय के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान था— रेशम के कीड़े पालने के शास्त्र से लेकर आइन्स्टीन की 'रिलेटिविटी' के जटिल सिद्धांत तक के पारायण होते; किंतु, वहाँ सबसे ज्यादा प्रचलित विषय था समाजवाद। लक्ष्मी बाबू अपने को इससे वंचित क्यों रखते ? उन्होंने ज़ोरों से इसका अध्ययन और मनन शुरु किया। हाँ, सिर्फ अध्ययन ही नहीं, मनन भी। और, इस मनन ने उन्हें बताया कि समाज के कल्याण के लिए, संसार में शांति

और सुख की स्थापना के लिए, समाजवाद की अत्यंत आवश्यकता है। पर, सवाल है, समाजवाद की स्थापना कैसे हो ? यहीं जाकर तो झगड़ा शुरू होता है। लक्ष्मी बाबू ने अपने लिए इस झगड़े का निबटारा कर लिया। बहुत ही सरल निबटारा ! कार्ल-मार्क्स को रद्द कर उन्होंने अपने लिये रॉबर्ट ओवन को आदर्श बनाया।

रॉबर्ट ओवेन !– कैसा सरल, संत पुरुष ! धनी होकर भी उसने ग़रीबों की भलाई में अपने को उत्सर्ग कर दिया। मार्क्स की तरह उसने झगड़े नहीं लगाये, वर्ग-युद्ध के नाम पर इस अशांत संसार की रही-सही शांति को भंग नहीं किया, बल्कि उसने त्याग और प्रेम के द्वारा नया संसार बसाने की कोशिश की। उसकी वह 'न्यू लारनाक कालोनी' ! कैसा आदर्श ! पृथ्वी पर स्वर्ग कायम करने की इंसानी कोशिश ! अगर ओवेन के तरह के कुछ संत पुरुष हर देश में जन्म लें, तो सारे संसार का बेड़ा पार । लक्ष्मी बाबू मनन करते-करते ऐसा अनुभव करते कि वह खुद ओवेन हैं और अपनी ज़मींदारी के एक गाँव में उन्होंने भी एक ऐसी ही कालोनी बसा रखी है, जिसे देखने को हिंदुस्थान के कोने-कोने से लोग पहुँच रहे हैं। सबकी ज़बान पर उनकी प्रशंसा है, अखबारों के कॉलम के कॉलम उनकी विरुदावली से रँगे जा रहे हैं।

कालोनी, जिसे वह 'आश्रम' का सुंदर भारतीय नाम देंगे, पीछे खुलेगी। इस जेल में भी इस सम्बन्ध में कुछ किया जा सकता है या नहीं, इस पर विचार करके, 'शुभस्य शीघ्रम्' के आदर्श वाक्य के अनुसार, उन्होंने कार्रवाई शुरू कर दी। उनका प्रयोग दो व्यक्तियों को लेकर शुरू हुआ –एक उनका 'बावर्ची' और दूसरा उनका 'बेरा'। लोगों ने आश्चर्य से सुना, अपने 'बेरा' को वह 'लालू भाई' के नाम से 'आप' कहकर पुकार रहे हैं, और बावर्ची भी रमजान भाई बन चुका है। 'लालू भाई' ज़रा तौलिया लाइए। 'रमजान भाई, खाने कितनी देर है ?' इन पुकारों को सुनकर रमजान और लालू को चाहे जितना आश्चर्य होता हो, उनके कुछ साथी उन्हें ढोंगी भी समझते हों, किंतु लक्ष्मी बाबू को इसमें आत्मिक शांति मिलती । आत्मिक शांति–हार्दिक आह्लाद।

लालू और रमजान के खान-पान में भी इज़ाफा हुआ। अब जो कुछ बनता, तीन के लिए। कभी-कभी लालू का सी-क्लासी भोजन भी लक्ष्मी बाबू चखते, ग़रीबों की ग़रीबी अनुभव करने के लिए। यही

नहीं, इन दोनों के जीवन में भी घुसने की कोशिश वह करते। लालू चोरी में आया है, रमजान रेपकेस में। रेपकेस के नाम से ही वह घबरा उठते, उस घिनौनी हरकत के भीतर जाने की कल्पना से भी वह काँप जाते– यद्यपि वह मानते कि यह भी एक सामाजिक अभिशाप ही है, व्यक्ति तो इसमें फँस जाता है, फँसा लिया जाता है। रमजान दिन-भर रसोई घर के ही प्रपंचों में रहता, अतः उस बेचारे को फुरसत भी कहाँ थी कि उससे कुछ पूछ-ताछ की जाय ? किंतु, लालू तो दिन-भर उनके निकट रहता, अतः उन्होंने यह तय किया कि लालू की जिंदगी में घुसकर वह देखेंगे कि आखिर आदमी चोरी क्यों करता है ?

हाँ, दवा के पहले निदान ज़रूरी है। कितावों में उन्होंने निदान पढ़ा था। किंतु, व्यक्तिगत जानकारी भी तो आवश्यक है। फिर, जब कि इस जेल में फुरसत की कमी नहीं, और लालू के रूप में एक व्यक्ति भी है जिस पर जाँच-पड़ताल मज़े में की जा सकती हैं, तब तो इस मौक़े को छोड़ना भूल होगी।

(२)

लालू अपने तीन भाइयों में सबसे छोटा है। उसका बाप देहात का एक खेत-मजदूर था। शादी के बाद वह अपने बाप के गाँव को छोड़कर लालू के ननिहाल में ही आ बसा था। लालू की माँ सुन्दरी थी। अपनी सुन्दरी पत्नी की जवानी के आग्रह को वह नहीं टाल सका था, ससुराल में ही आ गया था।

वह काफी हट्टा-कट्टा और कमाऊ आदमी था। अपनी गिरस्ती उसने अच्छी निभाई। वावू के खेत में काम करता। मजदूरी इतनी मिल जाती, जिसमें बीवी सहित अपनी ग़ुज़र वह कर ले। कुछ बटाई खेती भी कर लेता। एक गाय और कुछ वकरियाँ भी उसने पाल रखी थीं। धीरे-धीरे उसके तीन बेटे और एक बेटी हुई। अपनी मजदूरी, बटाई, गाय और वकरियों की आमदनी से उसने इन बालबच्चों की अच्छी परवरिश ही नहीं की, उनकी शादियाँ भी अच्छे ढंग से कराई।

लालू की भी शादी हो चुकी है। उसकी शादी के वाद ही घर में वैमनस्य पैदा हो गया। दोनों वड़े भाई वाप से जुदा हो गये। उनका कहना था, वुढ़ऊ छोटे बेटे पर ज़्यादा स्नेह रखते हैं, उसका पक्ष लेते हैं। लालू अपने बाप पर नहीं पड़ा था; उसका रूप-रंग ही

नहीं, शरीर का गठन भी उसकी सुन्दरी माँ से मिला था। इसलिए शुरू से ही वह ज़्यादा परिश्रम कर नहीं पाता। धूप तेज हुई, उसके शरीर से पसीना चूने लगा; माघ में पछेया हवा वही, उसके दाँत कटकट करने लगे। वुढ़ऊ उससे कम काम लेता। भाई जब इस पक्षपात पर चिढ़ता, तो इसके काम को वह खुद ही पूरा करने की कोशिश करता। उस वुढापे में भी उसकी शक्ति का क्या कहना ?– दो जवान के वरावर अकेला काम कर लेता। जिस समय लालू अपने वाप की चर्चा लक्ष्मी वावू से कर रहा था, उसकी याद कर उसकी आँखों से ढल-ढल आँसू गिरते जाते थे।

लालू की वीवी भी काफी सुंदरी है। जव वीवी आई, लालू उसपर मँडराता रहता। काम-काज में विलकुल मन नहीं देता। भाइयों के लिए यह असह्य हो गया ! आखिर आपस में जुदायगी हो गई– दोनों भाइयों ने अलग-अलग गिरस्ती सँभाली, वाप ने लालू का वोझा अपने ऊपर लिया। जव तक वुढऊ रहे, लालू को मालूम नहीं हुआ कि किसे दिन और किसे रात कहते हैं। किंतु, वूढा आदमी तो पका आम है। एक दिन आम गिर गया, डाली सूनी हो गई। लालू की समझ में नहीं आता, अव वह कैसे ज़िंदा रह सकेगा।

आदमी—परिस्थिति का पुतला ! अब लालू को दीन-दुनिया देखने को मजवूर होना ही पड़ा। इसमें उसकी पत्नी ने उसे खूव प्रोत्साहित किया। वह सवेरे लालू को उठाकर, रात की वची कुछ वासी चीजें–रोटी, गुड़ या पानी में रखा भात और अँचार–खिला-कर मजदूरी के लिए विदा करती। मजदूरी में जो अन्न मिलता, उसे अच्छी तरह कूट-पीसकर वह खाना वनाती, छींटी में रोटियाँ और पानी रख कर खेत में ही उसे खिला आती। लौटती वार कुछ घास भी छील लाती, जिससे गाय और वकरियों को पालती। शाम को जव लालू पहुँचता, वड़े प्रेम से उसके पैर धोती और रात में सरसों का तेल लगा कर उसके शरीर की अच्छी मालिश किये विना क्या वह वह कभी सोती ?

लालू की वीवी का सुन्दर मुखड़ा इस मेहनत मशक्कत से दिन-दिन मलीन होता जाता था। इस वात से लालू को वड़ा दुख होता। किंतु क्या करे बेचारा ? उसके अपने चेहरे का पुराना रंग भी तो नहीं। जहाँ वह रोज़ माँग सँवारता, अव आईने में मुँह भी

नहीं देखता। एक दिन बाबू के दालान में उसके बड़े आईने के सामने जब वह खड़ा था, अपनी पूरी आकृति उस आईने में देखकर वह चौंक उठा था। अरे, वह क्या हो गया ? काला रंग, धँसे गाल, बिखरे बाल—वह वहाँ खड़ा नहीं रह सका !

तो भी उसे संतोष था, किसी तरह उसकी ज़िंदगी कट तो रही है। न तो उसे भाइयों के निकट हाथ पसारने की ज़िल्लतें उठानी पड़ती, न बीवी की गोतनी के व्यंग्य सहने पड़ते; बल्कि पति-पत्नी की तारीफें होती— आखिर अपने पर पड़ा, तब कैसे सँभले गये हैं दोनों। बाप की ज़िंदगी में कुछ छैलापन रहा, तो क्या हुआ ? बाप की ज़िंदगी में कुछ मौज न करता, तो फिर करता कब ?

लेकिन, यह संतोष ज्यादा दिन तक नहीं टिका। गिरस्ती बढ़ने लगी। पहला बच्चा होने पर तो आनन्द ही आनन्द रहा। जब लालू की बीबी अपनी पहलौठी बिटिया को गोद में लेकर प्रसूति-गृह से निकली, लालू के आनन्द की सीमा न रही। दूसरा बेटा हुआ— यहाँ तक आनन्द अपनी जगह पर टिका रहा। लेकिन, जब लगातार हर वर्ष एक बच्चा आकर माँ की गोद भरने लगा, और छः वर्षों के अंदर उसका छोटा-सा आगन पाँच बच्चों से भर चुका, तब तो आनन्द की जगह चिंता ने ले ली। जब बच्चों की ही अच्छी तरह परवरिश नहीं हो पाती, तो उसकी माँ के बारे में क्या पूछना ? वह बेचारी छीजती जाती। धीरे-धीरे बकरियाँ, बछवे और अंत में गाय भी बिक गई। उसके बूढ़े बाप ने बड़े शौक से जो चाँदी और गिलट के गहने अपनी पतोहू को दिये थे वे भी एक एक कर बिक गये ! बच्चे घर में अनाहार के कारण बन गये। हाँ वे ही बच्चे जो धनियों के घर में आनन्द के स्रोत समझे जाते हैं, लालू की कुटिया में अना-हार के कारण बन गये !

लालू दिन-रात परिश्रम करके भी अपनी गिरस्ती के छकड़े को आगे घसीटने में असमर्थ साबित होने लगा। अनाहार ने पूरी मेहनत की ताक़त उसमें कहाँ छोड़ी थी ? वह अथाह सागर में पड़ा था— न नाव, न पतवार। तैरने के नाम पर हाथ पैर हिलाने की ताकत भी जब उसमें नहीं रह गई तो अचानक उसे एक सड़ा मुर्दा बहता हुआ मिल गया। वह उस मुर्दे को पकड़ कर आगे बढ़ने लगा !

सड़ा मुर्दा— चोरी का पेशा ! सड़ा मुर्दा—बदबू, उकबाई ! कलेजा मुँह को आता ! लेकिन, दूसरा चारा क्या था ? या अथाह सागर में

डूबो, या इस सड़े मुर्दे को पकड़ो। अकेले रहता तो लालू यह पेशा कभी न करता– मर जाना पसंद करता। किंतु ये बच्चे, यह बीवी– कभी की उसकी सुन्दरी, प्यारी स्त्री ! सड़े मुर्दे को पकड़ कर उसने भव-सागर पार करने का निश्चय किया !

अगहन का महीना था। खेतों में पके धान के सुनहले बाल लहरा रहे थे। किसानों के खलिहानों में बोझों के अंबार लगे थे। जहाँ नज़र दौड़ाइए, अन्न-ही-अन्न—पके, पुष्ट, सुनहले अन्न ! और, अन्न की इस भरमार के बीच लालू के घर का अनाहार ! एक रात को उसे नींद नहीं आई। भूखे बच्चे किल-बिल कर रहे थे, माँ चुप करने से ऊबकर जब-तब उन्हें चपतें लगा देती। लालू के पेट में भी अँतड़ियाँ चिग्घार रही थीं। वह उठा, घर के बाहर आया। साफ आसमान में तारे चमक रहे थे– डंडी-तराजू के पंक्तिवद्ध तीनों तारे पश्चिम की ओर झुक चले थे। हवा सन-सन कर रही थी। उस अर्ध-रात्रि की निस्तब्धता में हवा के झोंके से खेत के पके धान की बालियाँ रह-रहकर झिर-झिर कर उठती थीं। धान की बालियाँ खेतों में, और आँगन में अन्न के अभाव में यह कुलबुलाहट ! क्या करे ? उसका दिमाग काम कहाँ कर रहा था ? पैर उठे, हाथों ने हँसिया ली, और काँपते हुए वह सीधे एक खेत में पहुँचा। चारों ओर देखा, कोई नहीं, लेकिन उसके हाथ में जैसे लक़वा मार गया हो। हँसिया ठीक से पकड़ी नहीं जाती। किसी तरह बाएँ हाथ से एक मुट्ठी बालियाँ पकड़ उसने हँसिया चलाई– सूखी डाँट की खड़खड़ाहट से वह खुद चौंक पड़ा। पर, धीरे-धीरे भ्रम दूर होता गया, झिझक भी दूर होती गई। हाथ काम करने लगे, हँसिया काम करने लगी। धान की बालियों को उसकी हँसिया इस निस्तब्धता में सर-सर काटने लगी। थोड़ी देर में एक बोझ बालियाँ लिये वह आँगन में आया और उन्हें पटक अधसोई बीवी को जगाया। उसे आँगन में लाकर बोला– "इसी समय इन्हें मीसकर धान निकाल ले।" "यह कहाँ से आया ? तुमने चोरी की है !" उसकी बीवी पूछने या चिल्लाने जा ही रही थी कि लालू ने उसके मुँह पर हाथ रख कहा–"अब चिल्लायगी, तो मैं फँसूगा; पीटा जाऊँगा, जेल होगी। चुपचाप मीसकर धान रख ले, पुआल जलाकर ताप जा।"

वही हुआ; आँखों में आँसू भरे उसकी बीवी ने धान घर में रखा। पुआल में जब उसने आग लगाई, लालू ने देखा, उसकी आँखों से आँसू की धारा बह रही है। लालू भी कम शर्मिंदा न था। लेकिन,

लालू की शरम और उसकी बीवी के आँसू उस समय हँसी में बदल गये, जब दिन में उसने भर-पेट खाये अपने बच्चों को किलकारियाँ भरते देखा।

चोरी ! कितना घिनौना काम ? जब कोई निश्चिंत सोता हो, प्रकृति की अपूर्व देन इस नींद का नाजायज़ फायदा उठाकर चुपचाप किसी का खेत काट लेना, किसी के खलिहान से अन्न उठा लेना, किसी की बखारी में छेद कर बोरे-के-बोरे ले आना, किसी के घर में सेंध दे गहने या नक़द पर छापा मारना ! उफ्, कितना जघन्य काम किंतु आसान भी कितना ! न मेहनत, न मशक़्क़त—थोड़ी हिम्मत की ज़रूरत। एक बार हाथ साफ करो, हफ़्तों, महीनों बाल-बच्चों के साथ निश्चित आराम से रहो ! न हल्दी लगी, न फिटकरी और रंग चोखा !

लालू धीरे-धीरे पक्का चोर हो गया। खेत से खलिहान में—खलिहान से दरवाज़े पर, दरवाज़े से ज़नानखाने में। सब जगह उसकी पैठ हुई। जहाँ पहले पैर काँपते थे, शरीर थरथराता था, साँस ज़ोरों से चलने लगती, खून सूखता मालूम होता, वहाँ अब अपने करतब पर, हाथ की सफाई पर, उसे नाज़ होता, फ़ख्र होता। धीरे-धीरे पुराने चोरों से उसकी जान-पहचान हुई। कुछ नये लोगों को उसने तालीम दी। अब उसका अपना पूरा गिरोह था। बड़े-बड़े हाथ मारे जाते। गाँव का ज़मीदार ही उसका 'गुइयाँ' बना—चोरी का माल वही रखता, बेचता, और जितनी उसकी इच्छा होती, उन्हें देता। चौकीदार से लेकर थानेदार तक से साँठ-गाँठ शुरू हुई ! फिर एक बार लालू की बीवी की देह पर चूनर चमकने लगी, उसके बच्चे रंग-बिरंग कपड़े पहने किलोल करने लगे; वह ताड़ी से शुरू कर गाँजा तक फूंकने लगा ! बचपन में एक बार उसने भंग पी थी, हँसते-हँसते वह बेहोश हो गया था। उसके पिता ने उसे बड़ी डाँट बताई थी। उसने भी उस दिन से कसम खा ली थी, नशा नहीं करेगा। लेकिन अब वह क्या करे ? चोर के देवता बिना इन मादक पदार्थों के चढ़ावे के खुश ही नहीं होते। और, उनकी नाराज़ी के बाद कोई चोर एक दिन भी बच सकता है ? नशा खाओ, चोरी करो, मस्त रहो।

गाँव के लोग समझते थे, लालू की इस मौज का क्या मानी है ? लेकिन कौन बोले ? ज़मींदार उसकी पीठ पर, चौकीदार उसका साझीदार। उल्टे अब उससे सब डरते—कहीं इसने किसी दिन हमीं पर हाथ साफ किये, तो ?

लेकिन लालू कह रहा था—

बाबू, पाप छिपाये नहीं छिपता, कुमर्म का फल भुगतना ही होता है; अच्छे दिन के सभी साथी, बुरे में कोई पूछता तक नहीं। एक बार ज़रा पैर नीचे पड़ गया, पकड़ गया– फिर, किसी ने सुध भी नहीं ली। दारोग़ाजी ने पीटा, चौकीदार ने गवाही दी, ज़मींदार थाती पचाकर यों बैठ गया कि क्या कहिए। बेचारी औरत ने उससे मिन्नत की –"थोड़ी मदद कीजिए, मुकदमा लड़कर उन्हें छुड़ा लाती हूँ।" वह दौड़ी-दौड़ी अदालत आती जाती रही। जो कुछ घर में था, उसने खर्च भी किया, किंतु मेरी तक़दीर फूटी थी–यह, तीन बरस से चक्की चला रहा हूँ।

लक्ष्मी बाबू ने देखा, लालू की आँखों के आँसू पश्चात्ताप के आँसू हैं। परिस्थिति ने उसे इस गंदगी में ढकेला। अब भी इसका सुधार सम्भव है। आदमी के हृदय में देवता और शैतान दोनों बसते हैं। शैतान देवता पर प्रबल सिद्ध हुआ है जरूर, लेकिन देवता अमर हैं। वही देवता उसके आँसुओं के रूप में चमक रहा है। इस देवत्व को विजयी बनने, विकसित होने में लक्ष्मी बाबू बेचारे लालू की मदद करेंगे। वह दिखला देंगे, एक चोर भी साधु की जिंदगी बिता सकता है।

लक्ष्मी बाबू ने लालू के लिए कुछ कम नहीं किया। जब गाँधी-इर्विन-सुलह में, समय के पहले ही, वह रिहा होकर घर चले, लालू के नाम से वह कुछ रुपये जेल-गेट पर जमा करते गये। लालू से उसके घर का पता भी उन्होंने ले लिया था। जब लालू की पत्नी ने जेल में खत भेजवाया कि किसी ने उसके बच्चे के नाम से २५) भेज दिये हैं, तब लालू को यह कल्पना करते देर न लगी कि यह लक्ष्मी बाबू की महाकृपा है।

चलते समय लक्ष्मी बाबू लालू से कह गये थे– "छूटकर मेरे घर आना, मैं तुम्हें अपने साथ रखूंगा।" कई बार बीच में उनके खत भी आते रहे। पहले पखवारे-पखवारे, फिर देर होना शुरू हुआ। आख़िरी चिट्ठी तो तीन महीने बाद उसे मिली। किंतु, लालू के लिए क्या इतना कम था कि वह उसे भूले नहीं ? पहले तो उसने तय किया था, सज़ा पूरी कर वह पहले बाबू के दर्शन कर आयगा, फिर बाल-बच्चों से मिलेगा; किंतु सज़ा पूरी होने पर ममता उसे पहले घर

घसीटकर ले गई। वहाँ एक सप्ताह गवाँकर वह लक्ष्मी बाबू के घर पहुँचा।

(३)

लक्ष्मी बाबू फिर अपनी घर-गिरस्ती में लग चुके थे। ओवेन का नाम और समाजवाद की चर्चा वह मित्रों से बातचीत करते समय बार-बार लेते-करते; लेकिन ओवेन का काम और समाजवाद का आदर्श उनके सांसारिक कर्म-कलाप में लोप हो चुका था। जिस गाँव में उन्होंने आश्रम बनाने का संकल्प किया था, वहाँ अब भी उनकी कचहरी क़ायम थी, जिसमें बैठकर उनके अमले किसानों को तरह-तरह से तंग करते। हाँ, मानों इसकी क्षति-पूर्त्ति के लिए, अब साल में एक बार वहाँ लक्ष्मी बाबू पहुँचते, सभी किसानों को बुलाकर उनके बच्चों में मिठाइयाँ बँटवा आते और उनसे हँस-हँसकर बतियाने की क़ीमत में मोटी रक़म नज़राने में वसूल कर लाते। यह उनका 'जन-संपर्क' था ! वह अपने हमपेशे जमींदारों पर रोब जमाते हुए उनसे भी इस उदारता का अनुकरण करने का आग्रह करते !

लालू को देखकर उन्हें वह आनंद नहीं हुआ, जिसकी कल्पना उन्होंने जेल में की थी। क्योंकि अब लालू पर प्रयोग करने की बात ही नहीं रह गई थी। हाँ, जहाँ वह लालू को आश्रमवासी बनाना चाहते थे, वहाँ अब लालू एक नौकर की तरह उनकी शरण में रहने लगा। लालू के लिए उनकी इतनी कृपा ही काफी थी ! उनकी पिछली कृपाओं को भी वह नहीं भूल सकता था। वह एक अनुगृहीत दास की तरह तन-मन से उनकी सेवा में जुट पड़ा।

जेल की दुनिया निराली होती है। वहाँ आदमी तरह-तरह की सुनहली कल्पनाएँ करता है, कल्पना के महल बनाता है। लेकिन, वास्तविक दुनिया की गरम हवा लगते ही वह कल्पना-महल ताश के घर की तरह भहरा पड़ता है। लक्ष्मी बाबू के सामने उनका अपना ही उदाहरण था। जेल में वह त्याग-मूर्त्ति बनने को तय कर चुके थे, यहाँ फिर वही पुराना रईसी रंग-ढंग है। लालू की भी यही हालत हो सकती है, उन्होंने यह सोचा। इसलिए जहाँ नौकर की हैसियत से रखा, वहाँ सशंक भी रहते कि कहीं वह एक दिन कुछ मारकर चम्पत न हो जाय। इसीलिए, जिसमें हमेशा वह उसपर निगरानी रख सकें, उन्होंने लालू को अपनी व्यक्तिगत सेवा में ही में ही रखा था। किंतु इस व्यक्तिगत सेवा का मौक़ा पाकर लालू उनका स्नेह और कृपा अधिकाधिक प्राप्त करता गया। तरह-तरह से जाँचकर लक्ष्मी

बाबू ने देखा कि लालू सचमुच अपना पुराना जीवन बिलकुल भूल गया है और एक नया, पवित्र, संयमी जीवन व्यतीत करने की चेष्टा में तत्पर है। थोड़े ही दिनों में लालू उनका परम विश्वास-पात्र सेवक बन गया।

एक दिन लालू के घर से एक पोस्टकार्ड आया। वह कार्ड लक्ष्मी बाबू के हाथ में पड़ा। उसकी स्त्री ने घर के कुशल-क्षेम लिखवाने के बाद, नये मालिक को उनकी पूर्व और वर्तमान कृपाओं के लिए अनेक दुआएँ दी थीं, और अंत में लालू को लिखा था कि वह जो मुशाहरे के सात रुपये हर महीने भेजता है, उनसे उसके घर की गुज़र नहीं हो पाती। उसके दो बच्चे मर चुके थे। खुद वह लालू के जेल के बाद से ही एक बाबू के घर कुटान-पिसान कर कुछ कमा लेती थी। लेकिन जैसा ज़माना है, चार प्राणियों की गुज़र नहीं हो पाती, अतः वह अपने दयालु मालिक से अर्ज़ करे, कुछ मुशाहरा वह बढ़ा दें। इस खत के बाद लक्ष्मी बाबू ने लालू का मूशाहरा सात रुपये से दस रुपये कर दिया। उस रात कृतज्ञता के बोझ से दबे हुए लालू को जल्दी नींद नहीं आई थी।

लालू की ईमानदारी और सेवा-भावना दिन दिन-कुंदन की तरह निखरती गई। लक्ष्मीबाबू की कृपा भी अधिकाधिक फलवती होती गई। जब अगले फागुन में वह पंद्रह दिनों की छुट्टी में घर जाने लगा, लक्ष्मी बाबू ने उसकी स्त्री के लिये एक अच्छी कोरदार साड़ी और उसके बच्चों के लिए छींट के कुरते सिलवाकर दिये। लालू ने मन-ही-मन कहा -- सचमुच, लक्ष्मी बाबू मनुष्यरूप में देवता हैं!

अब लालू सिर्फ लक्ष्मी बाबू का परम विश्वासपात्र नौकर ही नहीं था—उनके सूटकेस की कुंजी उसके पास रहती, उनका पर्स वही रखता, बैंक से वही रुपये निकासी कराता। बल्कि वह उनकी उदारता की प्रदर्शन-मूर्ति भी था। जब कोई नये खयाल के सुधार-प्रेमी सज्जन उनके यहाँ आते--प्रायः आते ही रहते, झट लालू को बुलाकर वह उसकी तारीफ़-पर-तारीफ़ किये जाते, मानो उन पर धौंस जमाते कि किस तरह एक पतित जीवन को उन्होंने सुमार्ग पर लगा दिया है! सचमुच अगर हर धनी आदमी इस ओर ध्यान दे, तो दुनिया में चोरी-डकैती क्यों हो, क्यों जेलें भरें, क्यों यह दुनिया नरक बने? ईसा ने ज़मीन पर स्वर्ग बसाने की जो बात कही, उसके कथन का तथ्य यही है। लक्ष्मी बाबू सोचते, ओवेन के ऐसा आश्रम नहीं बना सके, तो क्या

हुआ, एक जिंदगी को सुधार देना ही क्या कम है? 'मॉडल'' और 'तस्वीर में फर्क होता ही है। इँगलैंड की वात हिंदुस्थान में आते-आते अपना ज़ोर और फैलाव खो दे, तो आश्चर्य क्या?

एक दिन लक्ष्मी बाबू के पास एक मार्क्सवादी समाजवाद के नेता पहुँचे। उनसे बातें करते समय लक्ष्मी बाबू ने सुधारवाद पर एक खासा लेक्चर दे डाला। आप लोग सिर्फ़ हल्ला मचाते हैं, झगड़े खड़े करते हैं, विध्वंसात्मक कामों में ही उलझे रहते हैं। आप आग लगाना जानते हैं, घर बनाना नहीं। समूह के शोर में व्यक्ति पर आप ध्यान ही नहीं देते। यदि हममें से हर आदमी कम-से-कम एक आदमी का ज़िम्मा अपने उपर ले ले, तो बहुत कुछ हो जाय। कुछ रचनात्मक काम कीजिए। देखिए, हमारे इस लालू को। यह चोर था, बुरी ज़िंदगी थी इसकी। अब यह एक ईमानदार आदमी है। मुझसे और कुछ न हो सका—एक ज़िंदगी को बरबाद होने से बचाने, एक घर को उजड़ने से बसाने का फ़ख़्र तो मुझे हासिल है ही!

यों ही लक्ष्मी बाबू बोलते गये। नेता थोड़ी देर चुप रहे। फिर उन्होंने इस तरह के प्रयोग की व्यर्थता बताते हुए, अंत में कहा–

सवाल समूह और व्यक्ति का तो है ही। देखना यह भी है कि एक व्यक्ति की ज़िंदगी भी किस हद तक इस समाज में अच्छी की जा सकती है। आप समझते हैं, लालू आपके यहाँ खुश है; उसे अपनी ज़िंदगी पर संतोष है। अपनी मूढता और प्रचलित धारणा के कारण उसने संतोष मान भी लिया हो। लेकिन माफ़ कीजिए, उसकी ज़िंदगी में ऐसे क्षण भी आते होंगे, जब आपके पर्स के नोटों के गड्डे, आंपके हाथ की खूबसूरत घड़ी, आपके चमचम कपड़े, आपकी बीवी-बच्चों के पहनावे और ज़ेवर उसके दिल में एक कसक, एक हूक, एक व्याकुलता, एक आतुरता पैदा करते होंगे। लालू इन पर क्षणिक विजय प्राप्त कर लेता हो, इसके लिए आप–हम उसकी तारीफ भी करें। लेकिन लक्ष्मी बाबू, एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब संयम का वाँध टूट जाय, और फिर बेचारे को किसी क़ैदखाने में चक्की चलाने को जाना पड़े। और मान लीजिए, एक लालू ने ज़िंदगी निवाह भी दी, लेकिन संसार में जो करोड़ों लालू हैं, उनकी अतृप्त लालसाएँ पुंजीभूत हो रही हैं और वे एक दिन विस्फोट करेंगी ही! इस लिए ज़रूरी है कि समाज की नींव............

लेकिन, लक्ष्मी वावू पर ऐसी दलीलों का क्या असर होने वाला था ?—वह अपनी ही हाँकते गये, अपनी ही हाँकते रहे। उनका अपना जीवन संतोषप्रद था — सवकी ज़िंदगी में वह संतोष ही देखें या देखना चाहें, तो आश्चर्य क्या ?

नेता चले गये, उनकी वात भी चली गई। लक्ष्मी वावू और लालू की ज़िंदगी अपनी धारा में वहती चली।

लेकिन, एक दिन जव एक वीमा कम्पनी का डायरेक्टर लक्ष्मी वावू के पास आया और स्वभावतः लक्ष्मी वावू ने लालू की तारीफें शुरू कीं, तो उसने जो कुछ कहा, उससे थोड़ी देर के लिए लक्ष्मी वावू काफी चंचल हुए। उसने वताया, लालू ऐसे आदमियों से हमेशा होशियार रहना चाहिए। ऐसे लोग बड़े घाघ होते हैं। विश्वास जमाने के लिए काफ़ी अर्से तक ये ऐसे सुवुआ वन जाते हैं कि इनके नज़दीक जड़भरत की सिधाई भी मात। लेकिन पीछे तो ये इस तरह हाथ साफ करते हैं कि हाथ मलकर रह जाना पड़ता है। इनका सुधार हो नहीं सकता—"सूरदास कारी कामरि पर चढ़त न दूजो रंग।" सिर्फ कहकर ही नहीं, उसने कई उदाहरण देकर लक्ष्मी बावू पर यह सिद्ध कर दिया कि लालू पर उनका विश्वास ग़लत है। वह ज़रा चौकन्ने रहें। कहीं ऐसा न हो कि एक दिन उन्हें पछताना हो, और "फिर पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत ?"

लक्ष्मी वाबू ने उसे काफी फटकारा। उसके जाने के वाद भी सोचते रहे, अजीब होते हैं ये लोग। हमेशा संदेह ही इनके दिल में बना रहता है। सबको संदेह की ही नज़र से देखते हैं ये। विश्वास का कहीं नाम-निशान नहीं। और, कहीं बिना विश्वास के संसार चलता है ? अगर विश्वास न हो, तो क्यों कोई इनकी वीमा-कंपनी के जाल में फँसे ? दूसरों से कहेंगे, विश्वास कीजिए, और खुद सवको संदेह की नज़र से देखेंगे। क्या कहने हैं ? एक बार परिस्थिति—वश ग़लती हो गई, तो उसे ढोये जाने को कह रहे हैं। जैसे मानव जीवन में सुधार का स्थान ही नहीं।

कुछ ऐसी ठेस इस बात से उन्हें लगी कि वह लालू को और भी प्यार करने लगे। एक दिन उससे पूछा, तुम्हारे बड़े वच्चे की क्या उम्र है लालू ? और, जब लालू ने बताया, वह वारह वर्ष

का हो चुका है, तो उससे कहा कि इस बार घर जाओ, तो उसे भी लेते आना, और उससे छोटे को भी। उन्होंने सोचा, बड़ा 'ब्वाय' का काम अच्छा कर लेगा, और छोटे को वह स्कूल में पढ़ाने को भेज देंगे। हाँ, वह उसे पढ़ा-लिखाकर दुनिया को बता देंगे कि किस तरह एक परिवार को गंदगी और ग़रीबी से उबारकर प्रसन्न, उन्नत और समृद्ध बनाया जा सकता है।

अति सर्वत्र वर्जयेत्—लालू पर लक्ष्मी बाबू की इस अति कृपा का एक बुरा परिणाम भी हुआ। दूसरे नौकर उससे डाह करने लगे। लालू को प्रदर्शन के रूप में पेश करने के लिए लक्ष्मी बाबू उसे बहुत साफ़-सुथरा रखते थे। धीरे-धीरे यह उसकी आदत हो चली थी। उसके साफ़-सुथरे कपड़े को देख दूसरे नौकर जल उठते थे। वह साबुन से नहाता था, सिर में ठंडा तेल देता था, कंघी करता था। पूरी बबुआनी ठाठ। जब वह आया था, सब नौकरों से हिला-मिला रहता था, उनके पास बैठता, उनसे गप्पें करता, कभी-कभी उनके साथ गा लेता, चिलम का दम भी लगा लेता। लेकिन, अब वह उनसे दूर ही रहता। अपने ही एक साथी को अपने से इतनी दूर निकल जाता देख किसे चिढ़ और कुढ़न न होगी?

सिर्फ़ नौकर ही उससे नहीं चिढ़े रहते थे, उनके घरवाले भी इस शोख़ नौकर से जले-भुने रहने लगे थे। जब वह आया था, घर के हर आदमी का काम करने को तैयार रहता। अब, लक्ष्मी बाबू को छोड़ किसी के पास फटकता नहीं। वह कामचोर अब भी नहीं था। लेकिन, लक्ष्मी बाबू की व्यक्तिगत सेवा के बाद का समय वह उन्हीं के किसी काम में लगाता। कभी अलमारी झाड़ता, कभी कपड़ों को धूप में सुखाता, कभी फ़र्श को नये सिरे से झाड़-बुहार-कर सजाता, कभी उनके डेढ़ दर्जन जूतों पर अलग-अलग रंग की पॉलिश लगाकर उन्हें चमाचम बना देता। बाज़ार से सौदा-सुलफ भी ज़्यादातर अब वही करता। फिर लक्ष्मी बाबू के ही आग्रह पर, जेल में जहाँ तक वह उसे पढ़ा चुके थे, उसके बाद, नया ज्ञान अर्जन की ओर वह ध्यान देता। जब वह कोई किताब ले, किसी कोने में बैठे, चुपचाप पढ़ता होता, लक्ष्मी बाबू उसे देखकर जितना खुश होते, उससे कईगुना अधिक उनके परिवारवाले जल उठते।

नौकरों का, घरवालों का रुख़ लालू देखता था। उसे पीड़ा होती थी। वह अपनी स्थिति आज भी नहीं भूला था, वह नौकरों

से मिलकर रहना चाहता था, मालिक के परिवारवालों को खुश रखना चाहता था। लेकिन, वह करे, तो क्या करे ? लक्ष्मी बाबू की इच्छा और आराम उसके लिए सर्वोपरि चीज़ थी। और दोनो में सामंजस्य की कोई गुंजायश ही उसे नहीं दीख पड़ती थी।

तो भी, उसे प्रसन्नता इस बात की थी कि लक्ष्मी बाबू को सदा प्रसन्न रखने में वह समर्थ हो सका था। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, वह लक्ष्मी बाबू की ज़िंदगी का अंश बनता जाता था। हाँ, वह अब सिर्फ़ उनका नौकर नहीं था — उनके जीवन का अंग और अंश हो चला था। जिस तरह उसे पाकर अब लक्ष्मी बाबू व्यक्तिगत सेवाओं से निश्चिंत रहते, लालू भी निश्चिंत हो चला था कि अब उसकी ज़िंदगी एक किनारे लग चुकी है। अब दोनो बेटों को वह लायेगा, उनमें से एक पढ़ेगा, दूसरा उसके कामों में मदद करेगा— इसकी कल्पना कर वह आनंद-मग्न हो जाया करता था। उसने अपनी स्त्री को जो हाल में ख़त भेजा था, उसमें इस बात की चर्चा भी कर दी थी। इतनी बड़ी ख़ुशख़बरी से अपनी प्यारी पत्नी को कैसे महरूम रखता ?

(४)

इसी तरह हँसी-खुशी में लालू के दिन कट रहे थे कि—

हाँ, इसी तरह उसकी ज़िंदगी हँसी-खुशी में कट रही थी कि अचानक कुछ अप्रत्याशित घटनायें घटकर लालू और लक्ष्मी बाबू दोनो को परेशान करने लगीं।

एक दिन लक्ष्मी बाबू शाम को टहलकर लौटे। बड़ी गरमी थी। उन्होंने अपनी बंडी उतारकर लालू को रखने को दी। लालू ने कमरे में ले जाकर उसे खूँटी पर टाँग दिया। बंडी की जेब में वह अपना फ़ाउंटेनपेन रखते थे। बढ़िया 'पारकर' था। रात को वह अमूमन् देर तक पढ़ते रहते थे—यह चाट जेल से ही वह ले आये थे। हाँ, जहाँ जेल में गंभीर विषयों का अध्ययन होता, वहाँ अब रेलवे-स्टालों पर बिकनेवाले, सस्ते उपन्यासों के ही पन्ने उलटे जाते। उस रात जब सब लोग सो गये थे, पढ़ते-पढ़ते उन्हें कोई चीज़ नोट करने की ज़रूरत महसूस हुई, तो उन्होंने पेन की तलाश की। पेन जेब में नहीं था। क्या हो गया ? इधर-उधर ढूंढ़ा। फिर सोचा, कहीं लालू ने रख दिया होगा। वह झल्लाये तो, लेकिन उन्हें कोई दूसरी आशंका नहीं हुई। भोर में लालू से पूछा। उसने कहा, मैंने न रखा, न देखा। फाउन्टेनपेन क्या

हुआ ? उनके घर में कोई दूसरा तो आता नहीं । शायद मोटर पर गिर गया हो। उसपर तलाश की गई। वहाँ न मिलने पर लक्ष्मी बाबू ने मान लिया, जब वह नदी के पुल पर टहल रहे थे, कहीं जेब से खिसक गया होगा। लालू पर तो वह संदेह कर ही नहीं सकते थे।

फिर कुछ दिनों बाद उनकी एक सोने की घड़ी ग़ायब हो गई। बाहर से आये । स्नान-घर में जाने के पहले जल्दी में घड़ी उतारकर उन्होंने मेज़ पर रख दी थी । लालू उस समय स्नान-घर में उनके कपड़े, तौलिया आदि रखने गया था। स्नान करके वह जल-पान आदि में लगे। फिर अलसाकर सो गये। जब नींद टूटी, कलाई पर नज़र की । घड़ी नहीं । याद हुआ, मेज़ पर रख दी थी, लेकिन वहाँ घड़ी नहीं थी। और, इस बार भी पूछने पर लालू ने नाहीं कर दी ।

जिस समय पेन चोरी गया था, उन्होंने किसी से नहीं कहा था। शाम को बाज़ार गये और उसी मेल का दूसरा पेन ले आये। किसी को पता भी नहीं चला कि उनका फाउन्टेनपेन ग़ायब हुआ है। ऐसा उन्होंने इसलिए भी किया था कि कहीं किसी को लालू पर अनुचित शक न पैदा हो जाय। लेकिन, घड़ी की चोरी छिपाना मुश्किल था। काफ़ी क़ीमती घड़ी थी—फिर, ससुराल में मिली। पंद्रह वर्षो से उसे अपनी कलाई पर दिन-रात बाँधते आ रहे थे। उसे न देखकर लोग पूछेंगे ही। क्या कह दूँ, मरम्मत करने को बाहर भेज दी है ? लेकिन, यह झूठ क्यों बोलूँ ? आत्मप्रवंचना तो ठीक नहीं । तब घड़ी हो क्या गई ! मेज़ पर रखी—यह अच्छी तरह याद है। घर में यों कोई नहीं आता, और न आया, यह भी सही है। तब ? इसके आगे सोचने को जैसे उनमें हिम्मत नहीं थी। मन दूसरी ओर ले जाने के लिए उन्होंने किताब के पन्ने उल्टे, कपड़े की अलमारी खोली, बैठकख़ाने में जाकर मुंशीजी से ज़मींदारी का हिसाब-किताब पूछने लगे, सबेरे टहलने गये, सबेरे खाया, सबेरे सो गये ।

लेकिन, सोने की चेष्टा करने पर भी उन्हें नींद कहाँ आई ? उन्हें रह-रहकर उस बीमा-कम्पनी के डायरेक्टर की बात याद आने लगी—ऐसे लोग बड़े घाघ होते हैं, विश्वास जमाने के लिए सुधुआ बने रहते हैं, लेकिन पीछे तो ऐसा हाथ मारते हैं कि हाथ मलकर

रह जाना पड़ता है। क्या लालू ने भी ऐसा ही किया है? जाने दीजिए इस बीमा-कंपनीवाले की बात। ये लोग कुछ ज़बाँदराज़ और लफ़्फ़ाज़ भी होते हैं। लेकिन, वह समाजवादी नेता? वह तो ग़रीबों का हिमायती था। उसने भी तो कहा था—आप समझते हैं, लालू खुश है, लेकिन ऐसे वक़्त भी आते होगें, जब आपके पर्स के नोटों के गड्डे, आप के हाथ की खूबसूरत घड़ी...! बस, बस, हो-न-हो, वही वक़्त था, जब कि उसने...! लेकिन, इससे आगे फिर वह नहीं सोच सके। दूसरे पहलू से देखने की कोशिश की। क्या यह सम्भव नहीं कि कोई दूसरा नौकर ही अचानक उस ओर से गुज़रा हो, और उसी ने...तो क्यों नहीं, कल ज़रा सब नौकरों की जाँच-पड़ताल की जाय? परंतु, ज्यों हीं मैंने ऐसा किया, फिर तो घर-भर में हल्ला मचेगा। घर में ही क्यों, बाहर तक। और, सबका संदेह लालू पर ही जायगा, और वे कहेंगे, चोर नौकर रखने का यही नतीजा होता है। कहेंगे, हँसेंगे, मुझे बुद्धू समझेंगे। धन गया, बेवकूफ़ भी क्यों कहलाऊँ? कहीं झूठ न बोलना पड़े, इसके लिए दूसरे ही दिन उन्होंने किसी ज़मींदारी की तरफ जाने का तय किया। लौटने पर लोग पूछेंगे, तो देखा जायगा। हाँ, इस निश्चय के साथ उन्होंने यह भी तय किया कि अब ज़रा लालू पर निगरानी भी रखेंगे।

ज़मींदारी से लौटे। लोगों के पूछने पर यह भी कह दिया कि घड़ी ग़ायब हो गई। लेकिन, कहाँ, कब की चर्चा होते ही बातें बदल दिया करते। धीरे-धीरे लालू पर फिर उनका विश्वास जमता जा रहा था।

इसी समय, ऊँट की पीठ पर के आखिरी तिनके की तरह, एक घटना और घट गई। एक दिन उन्होंने अपना पर्स भी ग़ायब पाया। पर्स अब वह हमेशा अपने ही पास रखा करते थे। उस दिन सिर्फ़ दस-दस रुपए के दो नोट ही उसमें थे। लेकिन, अब तो उन्होंने मान लिया कि लालू फिर चोर हो चला है। समाजवादी नेता की बात सच निकली—ये कमबख़्त सचमुच कलजुगी पैग़म्बर होते हैं, लेकिन उन्हें भय तो हुआ बीमा-कम्पनी के डायरेक्टर की बात को याद कर। अरे, अब यह निश्चय ही गहरा हाथ मारेगा, और मुझे हाथ मल-मलकर रह जाना पड़ेगा! नहीं, इससे पिंड छुड़ाना ही अच्छा। तो क्या पुलिस को दे दूँ? ऐसे चोट्टों की यही

गति होनी चाहिए। जायँ साले जेल, पीसें फिर चक्की। किंतु, इसी समय उन्हें याद आई समाजवादी नेता की बात—शायद फिर कहीं न इस बेचारे को उसी क़ैदखाने में चक्की चलाना पड़े! यह तो उसने ताना दिया था। नहीं, हम उसे भी बता देंगे, हम ऐसे नीच जीव नहीं हैं।

शाम हो रही थी। लक्ष्मी बाबू का रुख देख, लटका चेहरा लिये लालू उनके टेबुल का बड़ा लैम्प जलाने का उपक्रम कर रहा था कि उन्होंने उसे पास बुलाया। कुछ पूछ-ताछ किये बग़ैर, दस-दस रुपए के दस नोट उसके हाथ में रख कर कहा—"लालू, ये रुपए लो, अब घर जाओ। तुम्हारे लिए मेरे यहाँ अब जगह नहीं। इन्हीं रुपयों से कुछ·····.या·····.।" वह बोल न सके। "बाबू"—लालू ने भरे गले से कुछ कहना चाहा। "नहीं, जाओ, जाओ।"—उनके मुख की मुद्रा कठोर थी। हाथ से वह हटने का इशारा कर रहे थे।

थोड़ी देर में, जब वह अकेले थे, गुनगुना रहे थे—

"सूरदास कारी कामरि पर चढ़त न दूजो रंग।"

(५)

जिस दिन लक्ष्मी बाबू का फ़ाउंटेनपेन गुम हो गया, लालू उसी दिन से ग़मग़ीन रहता। यद्यपि उन्होंने उससे इस बारे में एक बात नहीं कही, उल्टे उसे उत्साहित करने के लिए अब उससे इधर-उधर की ज़्यादा बातें किया करते, उस पर ज़्यादा विश्वास और प्रेम दिखलाते, तो भी लालू को कोई चीज़ खटकती-सी रहती। कुछ इस तरह उसे मालूम होता कि उसके अच्छे दिन बीत गये, कोई संकट उस पर आनेवाला ही है। दिखाने के लिए वह अपना व्यवहार पूर्व-सा ही रखता, अपने में फुर्ती और चुस्ती पहले-सी दिखलाता, लक्ष्मी बाबू के सामने अपने चेहरे में पहले की तरह ही मुस्कुराहट और उमंग लाने की कोशिश करता, लेकिन उसके दिल की कली में कोई कीट घुस चुका था, जो धीरे-धीरे उसे खाये जा रहा था।

जब घड़ी ग़ायब हुई—उसने मान लिया, अब उसकी ख़ैर नहीं। उसने लक्ष्मी बाबू के बदले हुए रुख को भी भाँपा। दूसरे दिन ही जब वह ज़मींदारी की ओर चले, उसे समझते देर न लगी, यह असामयिक यात्रा उसी के लिए हुई है। फिर जब देखा, लक्ष्मी

बाबू की आँखें सदा उसकी ओर लगी रहती हैं––सामने होने पर वे आखें सन्देह बरसाती हैं, पीछे ख़ुफ़िया-सी दौड़ती हैं––तब से उसे निश्चय हो गया, लक्ष्मी बाबू को उसी पर शक है। अब कोशिश करके भी वह अपनी पुरानी फुर्ती, उमंग, मुस्कुराहट अपने में नहीं ला पाता। दिन में खोया-खोया सा रहता, रात में प्रायः रोता। हाय रे उसके वे सपने! कहाँ वह दोनों बेटों को यहाँ लानेवाला था, अब उसके अपने रहने का भी ठिकाना नहीं मालूम होता!

एक रात लगातार उसकी आँखों से आँसू आते रहे––उसने आँसू रोकने की कोशिश की, सोने की कोशिश की, किन्तु यह हो न सका। भोर में बिछावन छोड़ने के पहले ही उसने तय किया–आज बाबू से खुलकर कहूँगा, उनके पैर पकड़ूँगा, अपनी निर्दोषिता उनपर सिद्ध करूँगा और अगर उन्हें विश्वास न हो तो उनसे माफ़ी लेकर घर चल दूँगा। तक़दीर में जैसा लिखा है, होगा। गाँव में बहुत से लोग गुज़र कर रहे हैं, मेरी भी गुज़र हो ही जायगी। किंतु, इस तरह का निश्चय करके जब वह लक्ष्मी बाबू के सामने आया, उसकी ज़बान न खुली, पैर छूने को हाथ न बढ़े। मानो लक्ष्मी बाबू उसकी मनःस्थिति को समझ गये हों–उन्होंने झट उसे कई ऐसे कामों में लगा दिया की दिन-भर उसे फ़ुरसत ही नहीं मिल सकी। सोने के पहले जब वह उन्हें दूध पिलाने गया था, उसने सोचा था, इस वक़्त कहूँगा, पर उसके हाथ से दूध लेकर लक्ष्मी बाबू उसके घर का हाल-चाल यों पूछने लगे, जैसे उनके दिल में कोई शक-शुबहा रह नहीं गया था। लालू ने इस बार भी चुप लगा ली––भरे घाव को खोदने में उसने कोई भलाई नहीं देखी।

और, आज यह पर्सवाली घटना! सिर्फ एक बार लक्ष्मी बाबू ने उससे पूछा–"तुमने पर्स देखा?" पर्स की बात सुनते ही लालू काँप उठा। उसे लक़वा-सा मार गया। उसकी ज़बान न खुली। जब तक वह होश में आये, लक्ष्मी बाबू वहाँ से टल चुके थे। तब से वह एकांत में जाकर रोता ही रह गया था, किसी काम से लक्ष्मी बाबू ने उसे बुलाया तक नहीं। जैसे वह उसका मुँह देखना नहीं चाहते हों, और शाम को बुलाया, तो बिदा देने के लिए!

झुटपुटा हो चला था। कहीं कोई दूसरा नौकर या लक्ष्मी बाबू के घर के लोग उसे देख न लें, इस आशंका से वह वहाँ से तीर-सा

निकला। वह किसी को क्या मुँह दिखाये ? उसके कुछ निजी सामान और कपड़े थे, उनकी ओर ध्यान तक नहीं दिया। जल्द-जल्द पैर उठाता, वह आगे बढ़ता गया। रास्ते में कोलाहल था। सड़कों पर आवा-जाही लगी थी। वह इस तरह जा रहा था कि कई आदमियों से धक्के लगे। आँखें थीं, लेकिन उनसे दिखाई नहीं देता था; कान थे, लेकिन कुछ सुनाई नहीं पड़ता था। दिमाग़ सूना था। पैर अभ्यास-वश आगे बढ़ रहे थे। जिनसे धक्के लगे, उन्होंने डाँटा। एक बार एक घोड़ा-गाड़ी से दबते-दबते बचा, लेकिन उसे कुछ मालूम नहीं होता था। वह अनुभूति खो चुका था। भीड़-भाड़ से निकल कर जब वह कुछ दूर निकल आया, उसने पाया, वह नदी के किनारे है। सामने पुल है, पुल पर कुछ लोग टहल रहे हैं। इसी समय, एक भिखारिन वहाँ उसके सामने, आ खड़ी हुई। "बाबू एक पैसा"। उसने कहा।— चौंक कर उसने अपने हाथ में देखा कि दस-दस रुपये के दस नोट चुटकियों से अभी दबे हैं। दसो नोट बुढ़िया के हाथ में रख दिये। बुढ़िया भौंचक ! लालू ने कहा—"जा, जा इन्हीं रुपयों से कुछ.......... या...........।"

यह कह कर वह वहाँ से बढ़ा। अंधकार घना हो चला था। जब वह पुल पर पहुँचा, वह सूना हो चला था। हाँ दूर के घाट पर कोई बंशी बजा रहा था, उसका दर्दीला स्वर सुनाई पड़ता था। एक क्षण वह ठहर गया। आसमान की ओर देखा, नदी में एक मछली उछली और छप-सा शब्द हुआ। "या गंगा मैया, अब तुम्हारी ही शरण.....।"

वह पुल पर से उछला। छप-सा शब्द ! फिर लहरों की वही कलकल-कलकल। पश्चिम क्षितिज पर मंगल तारा मुस्कुरा रहा था !

भिखारिन
की
थाती

(१)

अपने एक नवागंतुक मित्र के साथ, गोलघर पर चढ़कर हाईकोर्ट और सेक्रेटेरियट के परे डूबते हुए सूरज की रंगीनियाँ, उत्तर ओर बाढ़ से उफनाई गंगा की धूमिल तरंगें, उससे आगे सोनपुर के पुल पर गाड़ी का धुआँ उगलते आना और पूरब ओर, कदमकुआँ से कुम्हरार तक, लंबा लेटे पटना-शहर का अभी से ऊँघना देख कर, व्रजेश लॉन के मैदान में आया। वहाँ टहलने के साथ ही राजनीतिक विषय पर कुछ बातें होने लगीं। बातें हो ही रही थीं कि एक भिखमंगा आकर 'बाबू, एक पैसा' की रट लगाने लगा। बस, फिर क्या था, व्रजेश बरस पड़ा। अपने किंचित् राजभक्त मित्र को लक्ष्य करके कहने लगा–

"यही है आपका अँगरेजी राज्य, जिसकी यशोगाथा आप गाते हैं ! ऐसे हट्टे-कट्टे लोग भीख माँगने पर जहाँ लाचार होते हैं ! इनसे क्या काम नहीं लिया जा सकता था ? आप कहेंगे, ये कामचोर होते हैं। तो, ऐसे आदमियों को जेल में रखिए, उनकी आदत छुड़ाइए, उन्हें काम सिखाइए। लेकिन, आज तो यह सरकार जेल का उपयोग देश-भक्त युवकों को वहाँ सड़ाने के लिए करती है। यहाँ की पुलिस होनहार नौजवानों के पीछे तो हाथ धोकर पड़ी रहती है, उसे फुरसत कहाँ कि ऐसे लोगों की ओर वह ध्यान भी दे ! ये नागरिकों को तंग करते हैं, तो करें !"

मित्र जवाब में कुछ बोलते, लेकिन उनकी एक दूसरे जान-पहचानवाले से भेंट हो गई। वह उनसे मिलने-जुलने लगे। व्रजेश ने कहा

"माफ कीजिए, आज मुझे रात में भी ऑफिस जाना है, इसलिए फुर-सत लेता हूँ।" वह वहाँ से तेजी से क़दम उठाता हुआ चला। लॉन पार कर जब वह एक्ज़िबिशन रोड की तिमुहानी पर पहुँचा, वड़े पीपल के पेड़ की ओर, बिजली के खंभे से सटी, एक सूरत दिखाई दी, और उसके मुँह से भी वही– 'बाबू, एक पैसा' सुनाई पड़ा। व्रजेश यह आवाज़ सुनते ही झल्ला उठा। "ये कमबख़्त कहीं जान न छोड़ेंगे।" और, उसकी ओर से मुँह मोड़ तेजी से बढ़ने को सोच ही रहा था कि उसने देखा, वह एक स्त्री है, और उसकी गोद में एक बच्चा है!

बच्चों से व्रजेश को स्वाभाविक स्नेह था। कहीं बच्चा देखा, उसे चुमकार दिया, चुटकी बजा दी; और हो सका, तो चूम भी लिया। बच्चे को देखते ही उसका दिल उमड़ आया। झट उसने पॉकेट में हाथ डाला और रेज़गारी का जो टुकड़ा पहले उसके हाथ में पड़ा, उसे निकालकर भिखारिन के हाथ पर रख दिया। हाथ पर रखे जाते ही, बिजली की रोशनी में, वह टुकड़ा चमक उठा—एक अठन्नी थी! भिखारिन का हाथ काँप गया, उसने समझा, शायद देने में भूल हुई है। लेकिन, व्रजेश पर उसका कुछ असर न हुआ। उसने हँसते हुए कहा – "कोई बात नहीं, बच्चे के लिए लाल शरबत ख़रीद देना। यह इसी के भाग्य से निकल आई है।" और, वहाँ से चल दिया।

(२)

व्रजेश एक भावुक युवक है। पढ़ने में ख़ूब तेज़ था। अँगरेजी में ऑनर्स लेकर बी० ए० पास किया। युनिवर्सिटी भर में फर्स्ट आया। कुछ लोगों ने आगे पढ़ने की सलाह दी, किसी ने डिपटीगिरी के लिए कोशिश करने की ओर झुकाना चाहा। किंतु उसने कुछ न सुना। वह पहले ही तय कर चुका था, ग्रेजुएट होकर संपादन-कला में अपना वक्त लगायगा, उसने वही किया। वह एक हिंदी दैनिक का सहकारी संपादक है।

अपने कार्यालय में उसे, लॉन के ही रास्ते से जाना होता था। कल होकर ऑफिस जाते समय, दस बजे, वह उस तिमुहानी के नज़-दीक पहुँचा, उसकी आँखों ने अनायास ही रात की उस भिखारिन की तलाश की। वह नहीं थी। उसने इस पर ज़्यादा ध्यान भी नहीं दिया। इस ज़माने में भिखमंगों और भिखारिनों की क्या कमी? कहाँ तक किस पर ध्यान दिया जाय? हाँ, बात बच्चे की थी। और,

जेब से संयोग-वश अठन्नी ने निकलकर उस प्रसंग में थोड़ी नवीनता ज़रूर ला दी थी।

किंतु, शाम को पाँच बजे, ऑफिस से लौटते समय, उसने देखा, भिखारिन पीपल की छाया में खड़ी है और जब कोई भद्र पुरुष या स्त्री को दूर से आते देखती है, सरककर सड़क के किनारे आ जाती और पैसे माँगती है। निःस्संदेह बच्चे का असर लोगों पर पड़ता है, उसे औसत से ज़्यादा ही पैसे मिलते हैं। "बच्चा न हुआ, पेट पालने का साधन बन गया—कैसी करुण स्थिति!" यह सोचते व्रजेश वहाँ पहुँचा। उसे देखते ही भिखारिन छाया से सड़क की ओर बढ़ी। जब तक उसके मुँह से कुछ निकले, व्रजेश का हाथ उसकी जेब में था। एक इकन्नी उसके हाथ में फेंक, बच्चे की ओर सतृष्ण आँखों से देखता, वह बढ़ गया।

अब प्रायः ऑफिस से लौटते वह भिखारिन और उसके बच्चे को देखता, उसे पैसे देता। उसे मालूम हुआ, वह बच्चा बच्ची है। अब कभी-कभी वह भिखारिन के पास ज़रा-सा रुककर बच्ची को चुमकार भी दिया करता। एक दिन तो उसकी उँगली बच्ची के गाल की ओर बढ़ी भी; लेकिन फिर सहमकर उसने उसे खींच लिया। कहीं कोई देखेगा, तो क्या कहेगा?

बच्ची के स्नेह ने उसकी माँ की ओर भी उसका ध्यान खींचा। उसने यह अनुभव किया कि भिखारिन की ओर नज़र पड़ते ही उसे आभास होता है कि भिखारिन उसके चेहरे को पढ़ने की जैसे कोशिश करती है। उसकी आँखों में अजनबीयत नहीं दिखाई देती, मालूम होता, किसी पुराने परिचित की ओर वह घूर रही है। उसकी भेष-भूषा में भी कुछ निरालापन था। उसकी साड़ी फटी थी, गंदी थी, कितने पेबंद लगे थे उसमें। लेकिन, उसकी किनारी बताती, वह कभी एक नफ़ीस क़ीमती साड़ी रही होगी। साड़ी के भीतर जो चोली वह पहने थी, उसमें से सुनहले काम के कुछ बूटे जहाँ-तहाँ अब भी चमक जाते थे। दाहिनी कलाई खाली थी; किंतु बाईं में एक लाल चूड़ी थी, जो, जब वह हाथ नीचे करती, तो पहुँचे से निकलने की कोशिश करती; अगर ऊपर उठाती, तो कलाई के बहुत ही नीचे, कुहनी और कलाई के बीच के हिस्से तक, जा पहुँचती, और हाथ सीधा रहने पर वह बेडौल-सी झूलती होती। चेहरे पर फुंसियों की भरमार थी, जिससे उस ओर ग़ौर से देखने की इच्छा भी नहीं होती।

हाँ, उसकी आँखों से एक अजीब शर्मीलापन टपकता, जो भिखारिन के पेशे के प्रतिकूल मालूम होता था। उसके आगे के दो दाँत टूटे हुए थे, जो उसके चेहरे को ही सिर्फ भद्दा नहीं बनाए हुए थे, उसकी उम्र के बारे में भी काफ़ी भ्रम फैलाते थे।

खुद फटेहाली में रहती हुई भी अपनी बच्ची को वह सँभाल से रखती। रोज़ बच्ची के बालों में कंघी की हुई दिखाई देती, उसकी आँखों में काजल भी रहता, एक-आध झुनझुने या गुड्डे उसके हाथ में होते, उसके कपड़े भी अच्छे होते। कभी-कभी तो शक होता, किसी शरीफ की बच्ची को यह चुरा लाई है। लेकिन जिस लाड़ से वह उसे लिये रहती और जिस निश्चिंतता से बच्ची उससे चिपकी रहती, ज़रा भी ग़ौर करने पर ऐसा शक तुरत काफ़ूर हो जाता।

"अजीब है यह भिखारिन ! क्या इसके पीछे कोई इतिहास है ?" उसके भावुक हृदय में ऐसे सवाल उठते और अख़बार नवीसी की पता लगाने की प्रवृति उसे उत्साहित करती कि ज़रा जाँच पड़-ताल करे। लेकिन, वह लोक-निंदा से डरता—"बदशकल हुई तो क्या, माँ बनी तो क्या हुआ, आखिर जवान तो है ! ज़माना बुरा है—बुराई ही की ओर तो सबकी नज़र रहती है। दिल कौन देखता है, मंशा का पता कौन लगाता है ? यहाँ तो गढ़ा-सँवारा इल्ज़ाम धरा है, जिसपर चाहा, थोप दिया।" यों सोचकर वह रह जाता। फिर, काम की भीड़ भी बनी ही रहती थी। लेकिन, इस भीड़-भड़क्के के बीच भी जब-तब भिखारिन और उसकी बच्ची की याद उसके दिल में चमक उठती। कभी-कभी उसे ऐसा लगता कि उसने ऐसी सूरत कभी देखी है। तब वह उन लड़कियों की याद करता, जिन्हें उसने निकट से देखा है, या जिन्होंने उसके दिल पर कभी असर किया था। ऐसी एक-एक सूरत को याद कर उनके चेहरे से उसके चेहरे का मिलान करने की कोशिश वह करता। लेकिन, वह ज़्यादा देर तक ऐसा नहीं कर पाता; क्योंकि भिखारिन के चेहरे पर की फुंसियाँ उसके दिल में अजीब घिन-सी पैदा कर देतीं। "गोली मारो इस भिखारिन को ! मैं भी अजीब झक्की आदमी हूँ, छोटीछोटी बातों को तूल देकर लम्बा बना लेता हूँ, और फिर उसी की भूल-भुलैया में चक्कर खाता रहता हूँ। दुनिया में बड़ी-बड़ी बातें हैं, राज-नीति, साहित्य, कला, क्या-क्या न ! फिर इस नाचीज़ के ...." व्या-कुल होकर वह सिगरेट जलाता और उसी की फूंक में उसे उड़ा देता।

जाड़े की रात थी। उसके अख़बार का विशेषांक निकलने जा रहा था, जिसके चलते उसे रात में भी बहुत देर तक काम करना पड़ता था। आज तो दो बजने जा रहे थे। जाड़े से उँगलियाँ सिकुड़ रही थीं, रह-रहकर पछवा हवा डोल जाती, जो खिड़कियों से आकर उसके कलेजे को कँपा देती। नींद के मारे उसकी आँखें भी बोझिल हो रही थीं। लेकिन चाय और सिगरेट के ज़ोर पर उसकी क़लम दनादन चल रही थी। आख़िरी मैटर देकर, आख़िरी प्रूफ पढ़कर, मन ही मन अपने पेशे और अपने को कोसता वह घर की ओर चला। सड़क पर सन्नाटा था। कुहासे के कारण सड़क की रोशनी खंभे के नीचे मुश्किल से उतर पाती थी। मुँह से सिगरेट का धुआँ छोड़ता; तेज़ क़दम वह आ रहा था। कब घर पहुँचूँ, रज़ाई ओढ़कर, गरमाकर सो जाऊँ– इसी की आतुरता थी।

इसी आतुरता में वह लॉन की उस तिमुहानी पर पहुँचा। इधर कई दिनों तक रात में देर से आने के कारण उसने भिखारिन को नहीं देखा था। उसे धक-से याद आया, आह ! इस जाड़े में वह और उसकी बच्ची कहाँ और कैसी होगी ? वह गुड़िया सी खूबसूरत, छोटी, तुनुक लड़की ! इस याद को मानों धुएँ में उड़ाने को ही उसने सिगरेट में ज़ोर का कश दिया कि उसके कानों में अचानक एक कराह की आवाज आई– आह ! आह ! आह ! और उस आह की आखिरी कड़ी की तरह बच्चे की चीख़ सुनाई पड़ी ! सुनते ही ब्रजेश मुड़ गया––मानो, वह आदमी नहीं, कल हो। मुड़कर उसने अपने टॉर्च की रोशनी उस ओर, पीपल के पेड़ की जड़ें जहाँ थीं, फेंकी। कोई चीज़ दिखाई नहीं पड़ी। वह कुछ सोचने ही जा रहा था कि फिर कराह ! हाँ, जड़ों के ही नजदीक से तो ! वह, फिर कल के पुतले ही की तरह, उस ओर खिंचता हुआ–सा, बढ़ा। देखा, जड़ों की उस ओर, शायद इसलिए कि सड़क पर चलनेवालों की नज़र न पड़े, दो मोटी-मोटी उभड़ी जड़ों के बीच, एक फटा टाट ओढे एक स्त्री पड़ी है, और बगल में ही बच्चा है। हाँ, वही बच्ची, जो टाट से बाहर हो गई है, और जाड़ा लगने से चीख़ पड़ी थी। टॉर्च की रोशनी पड़ते ही बच्ची ने आखें खोल दीं, और फिर चीख़ उठी। चीख सुन भिखारिन टाट के अंदर सुगबुगाई, और फिर आह-आह करने लगी।

व्रजेश बड़े असमंजस में पड़ गया। बच्ची चीख रही है। भिखारिन कराह रही है। वह खड़ा है। वह क्या करे ? कोई देखे, तो तो क्या सोचे ! कुछ सोचे; लेकिन वह क्या करे — यह भी तो वह नहीं सोच पाता ! बच्ची को उठा ले ? भिखारिन को देह पकड़कर जगा दे ? इसे क्या हुआ है, जो इस तरह बच्ची को छोड़ बेहोश-सी कराह रही है ? जो दिन में उसको हमेशा कलेजे से चिपकाये रहती, वही इस रात में बच्ची को यों अनाथ छोड़े हुई है ! कोई जानवर ही उठा ले जाय ! जब होश में आयगी, ज़िंदा बचेगी ? इसी तरह व्रजेश सोच ही रहा था और बच्ची चीखे जा रही थी कि उसने देखा, भिखारिन फिर सुगबुगाई, उसका एक हाथ टाट से बाहर निकला, टटोलने-सा लगा, किंतु कुछ न पाकर फिर जड़ सा, निर्जीव-सा हो रहा ! 'आह, आह' भी बढ़ने लगी !

व्रजेश से देखा नहीं गया, उसने बच्ची को उसके हाथ के नज़दीक ला दिया। झट उसे टाट के नीचे घसीटकर भिखारिन ने छाती से लगा लिया। बच्ची चुप हो रही। अब व्रजेश क्या करे ? क्या चल दे ? किंतु, भिखारिन की यह कराह ! हिम्मत करके उसने भिखारिन के मुँह पर से टाट हटाया। टॉर्च की रोशनी में उसने एक बार आँखें खोलने की कोशिश की। पपनियाँ हिलीं, पलकों में सुगबुगाहट देखी गई; किंतु आँखें नहीं खुल सकी। क्या खुलें ? उसके समूचे चेहरे पर बड़े-बड़े फफोले हैं। जो फुंसियाँ थीं, वे फफोले बन गये हैं। समूचा चेहरा लाल अंगारा बन रहा है, और नाक से ज़ोरों की साँस चल रही है। विस्मय-विमुग्ध व्रजेश घूर-घूरकर देख ही रहा था कि भिखारिन के होंठ हिल उठे, और बड़ी मुश्किल से एक क्षीण शब्द-मात्र निकला — "पानी !"

पानी ? पानी इस दो बजे रात को कहाँ से लाया जाय ? सड़क के किनारे के नल में तो पानी नहीं होगा। निकट के किसी घर से उसका परिचय नहीं। वह बेतहासा अपने ऑफिस की ओर दौड़ा। ऑफिस के चपरासी को जगाया, उससे एक लौटा पानी लेकर आप तो तिमुहानी की ओर लौटा, और उससे कहा, स्टेशन जाओ, एक फिटन,टमटम, रिक्शा, जो कुछ मिले, लेकर लॉन की उस तिमुहानी पर आ जाओ।

उसी दो बजे रात को भिखारिन और उसके बच्ची को लिये वह बड़े अस्पताल में पहुँचा। ड्यूटी पर का डॉक्टर आराम-कुरसी

पर ऊँघ रहा था। व्रजेश ने अपने परिचय का कार्ड उसे दिखलाया। अपने जिस पेशे को उसने थोड़ी देर पहले कोसा था, उसका प्रभाव देखा। अखबारवालों से कौन नहीं डरता? डॉक्टर ने बड़ी तवज्जह से रोगी को देखा; लेकिन देखते ही उसके मुख की भाव-भंगिमा बदल गई। फिर उसके कपड़े-लत्ते को ग़ौर से देख उसने व्रजेश से कहा — "माफ़ कीजिए, मैं पूछूँ, यह कौन है?"

"क्यों, क्या बात है?"

डॉक्टर ने ज़रा सिर खुजलाया, फिर कहा "यही, शरीफ़ घर में....., हाँ, शरीफ़ घर में ... मैंने कहा, यह ... बड़े बुरे टाइप की बीमारी ...... क्या कहीं सड़क पर थी?"

"नहीं-नहीं, यह मेरी नौकरानी ...... हाँ, उसकी गोतिन लगती है।"

"कमवख़्त कहाँ से यह ज़वाल लगा लाई?" कहकर डॉक्टर नर्स को बुलाने का आयोजन करने लगा। "धन्यवाद! फिर कल मिलूँगा।"—कहकर व्रजेश वहाँ से घर की ओर चला। अखबार का चपरासी मन-ही-मन यह सोचता कि व्रजेश बाबू भी क्या सनकी हैं, दफ्तर की ओर उसी फिटन पर चला। दोनों तरफ का किराया व्रजेश दे चुका था।

(३)

नींद का माता होने पर भी व्रजेश को घर पर जल्द नींद नहीं आई। फलतः वह देर से जगा। ऑफिस का वक़्त हो रहा था, जल्द-जल्द नहा, धो, कुछ जलपान कर, वह घर से चला। किंतु उसके पैर ऑफिस की ओर नहीं बढ़े। रास्ते में उसने एक डब्बा बिस्कुट ख़रीदा, एक रबर का खिलौना लिया और अस्पताल के ज़नाना वार्ड में पहुँचा। बच्ची से ही उसने भिखारिन को पहचाना, जो लाल कम्बल से सिर से पैर तक ढँकी थी। सिर्फ कराह और उसाँस सुनाई पड़ती थी। उसके सिरहाने टँगे चार्ट को पढ़ने लगा। बुखार की रेखा १०५ तक खिंची हुई देखकर वह काँप उठा। व्रजेश इस समय साहबी लिबास में था—फिर, नौजवान। छोकड़ी नर्स उसे देखते ही उसके नज़दीक आ गई। जब तक वह कुछ बोले, उसके हाथ में बिस्कुट का डब्बा देते हुए व्रजेश ने कहा—"यह बच्ची के लिए है।" और, खिलौना बच्ची के हाथ में दे, पहली बार उसकी उँगली पकड़कर उसने नज़दीक

से पुचकारा। बच्ची ललक पड़ी, व्रजेश के होंठ बरबस उसके गालों से जा लगे ! बच्ची के गालों की गरमी और चिकनापन का एहसास अपने होठों पर और भिखारिन की बुख़ार की ज्वाला अपने दिमाग़ में लिये वह जल्द अपने ऑफिस को भागा।

ऑफिस से छुट्टी पाते ही व्रजेश अस्पताल आ जाता। भिखारिन की सेवा-शुश्रूषा करता; बच्ची को दुलारता, चुमकारता। उसकी इस प्रकार देख-भाल के कारण डॉक्टर भी भिखारिन पर ज़्यादा ध्यान देते। वह धीरे-धीरे अच्छी हो रही है, ऐसा लगता था। भिखारिन वहाँ व्रजेश की मेडसर्वेंट करके प्रसिद्ध थी। इस मेडसर्वेंट पर इतनी मेहरबानी, उसके लिए इतनी जाँफिसानी देखकर मनचली नर्सों ने कुछ अपनी ही कहानियाँ बना ली थीं। वे जब-तब वज्रेश से चुहलें भी कर देतीं। व्रजेश कभी झुँझलाता, कभी मुस्कुरा देता। एक दिन एक नर्स ने कहा—"व्रजेश बाबू, यह बच्ची ठीक आप ही–सी लगती है !" व्रजेश ने पहले इसका मर्म नहीं समझा, बोला, "हाँ—खूबसूरत तो बहुत है !" लेकिन, जब उसने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—"लेकिन हरजाई निकली यह; या आपकी ही मेहरबानी है !" तब वह क्रोध से आग-बबूला हो चला और उसे डाँटा कि ज़्यादा बढ़ोगी, तो मैं स्टाफ से रिपोर्ट कर दूंगा। इसपर कनखियों से ही हँसती वह चलती बनी, मानो यह ताना देती—"सच्ची बात इसी तरह खलती है; मैं तुम नौजवानों की रग-रग पहचानती हूँ, बहुतों को देखा है मैंने !"

कुछ दिन बीते। उस दिन भिखारिन की हालत अच्छी थी। फफोले सूखते-से दिखाई देते थे, बुखार भी कम था। नर्स ने स्पंज करके उसे नये धुले कपड़े पहना दिये थे, जिन्हें व्रजेश ने ही खरीद-कर ला दिया था। बालों में कंघी कर दी गई थी। इन फोड़ों के बावजूद, वह आज जैसी खूबसूरत मालूम होती थी, व्रजेश ने उसे वैसी कभी नहीं पाया था। जब वह उसके निकट खड़ा था, उसने व्रजेश से बैठने का इशारा किया। यह पहली बार थी, जब उसने इस तरह आग्रह दिखलाया था। उसके बैठने के बाद वह थोड़ी देर चुप रही, फिर बोली—

"विजू बाबू !"

'विजू बाबू' इस नाम से तो उसे पटना में कोई नहीं पुकारता, 'विरजी बाबू,' 'बिरज बाबू' यहाँ ये ही अपभ्रंश नाम थे उसके। यह

तो उसका बिलकुल घरेलू पुकार का नाम है। इस प्रकार के नाम से सम्बोधित होने से वह आश्चर्यचकित हुआ। भिखारिन की ओर उसने आँखें गड़ाकर देखना शुरू किया !

"बिजू बाबू, आप मुझे भूल गये ? मैं सुगिया हूँ ।"

झट उसके सामने एक तस्वीर खिंच गई, अपनी बहन की ससुराल में देखी उनकी नौकरानी की बेटी की तस्वीर ! बचपन से जब उसने बहन के यहाँ जाना शुरू किया, यह लड़की उसकी आँखों के सामने आने लगी। ब्रजेश भी बढ़ा, वह भी बढ़ी। आखिरी बार जब उसने देखा था, वह किशोरी हो चली थी। नौकरानी के बेटी; किंतु सुन्दरी, जैसे राजरानी हो ! यों तो उसके अंग-अंग में सौंदर्य कूट-कूटकर भरा था; किंतु उसकी नाक तो अपूर्व मनोहर थी। देहात की सौंदर्य-पारखी आँखों ने इसी नाक को लक्ष्य कर, मानो उसका नाम सुगिया रख दिया था। सुगिया—सुग्गे-सी उभरी, पतली, नुकीली, रंगीन, सुन्दर हो नासिका जिसकी।

उसकी विधवा माँ अपनी इकलौती बेटी को खूब सज-धज कर रखती। जब ब्रजेश की बहन की ननद पढ़ने लगी, यह लड़की भी उसके साथ उसका बस्ता लिये स्कूल जाने लगी। किंतु कुछ ही दिनों में इसने पढ़ने में उसे मात किया। उसने गाँव के अपर स्कूल की पढ़ाई खत्म की। "नौकरानी की इस पढ़ी लिखी बेटी के लिए दूल्हा कहाँ मिलेगा ?"— एक बार ब्रजेश ने हँसते हुए अपनी बहन से पूछा था। जब तक वह बोलें, यह प्रगलभ किशोरी बोल उठी—"आप ही ले चलिए, बिजू बाबू, कम-से कम सेवा तो अच्छी कर सकूँगी, दासी की बेटी ठहरी।" अपने पर की गई इस दिल्लगी से ब्रजेश की बोलती बंद हो गई थी।

लेकिन, आज इस सुगिया और उस सुगिया में कितना अन्तर है ! समूचे चेहरे पर फोड़े; नाक इन फोड़ों से चिपटी-सी हो चली है। अगले दो दाँतों ने टूटकर सौंदर्य में ही नहीं, स्वर में भी अन्तर ला दिया है। उफ्, आदमी कितना बदल सकता है !

कुछ देर भिखारिन चुप रही, ब्रजेश भी दिमाग़ी उलझन में पड़ा था। उसने फिर कहना शुरू किया—

"मैं बचूँगी नहीं बिजू बाबू ! मेरा भाग्य, आखिरी वक़्त आप मिल गये; नहीं तो यह बोझ कलेजे पर लेकर ही मरती !"—इस

छोटी भूमिका के साथ उसने अपनी कहानी व्रजेश से कही। संक्षेप में वह यों है—

उसी गाँव में एक नौजवान था। माँ-बाप का इकलौता। बड़ा सुशील, बड़ा नेक। जहाँ गाँव के दूसरे नौजवान सुगिया—इस दासीं-पुत्री—पर डोरे डालते, फँसाने की कोशिशें करते, ललचाते, डराते, वहाँ वह सुगिया की ओर आँखें भी उठाता, तो सकुचाते, शरमाते। वह हिंदू-युनिवर्सिटी में पढ़ता था। उस साल बी० ए० का इम्तिहान देकर वह होली के पहले ही गाँव में आ गया और गरमियों तक तक रहा। सुगिया ने पाया, यों तो वह उसके सामने झेंपता है; किंतु कभी अचानक आँखें चार होती हैं, वह उसकी ओर ललचाई आँखों से देखता ही रह जाता है। कुछ दिनों के बाद सुगिया ने अपने मन में भी कुछ अजीब कशिश महसूस की। पहले इस आकर्षण को मोड़ने की उसने कोशिश की; किंतु नाकामयाव रही। वे दिन भी आये, जव एक बार किसी-न-किसी बहाने, विना उसे देखे, उसे चैन नहीं पड़ता। उसे क्या हो गया है, वह कहाँ फिसली जा रही है, वह समझ नहीं पाती। खिंचाव दोनों ओर से था। अब वह नौजवान भी जब-तब व्रजेशजी की वहन के घर की ओर आता और अपनी स्वाभाविक शरमाई, सकुचाई आँखों से उसे देख जाता। एक दिन एक लड़की सुगिया को एक ख़त दे गई—वह उस नौजवान का था। अब, मानो प्रेम को ज़बान मिल गई। दोनों ओर से हृदय का उड़ेलना शुरू हुआ, जो अंत में आत्मसमर्पण तक जा पहुँचा।

हाँ, आत्मसमर्पण ! युवक ने प्रस्ताव किया कि अगर सुगिया राज़ी हो, तो वह उसे अर्द्धांगिनी बनाने को तैयार है। अर्द्धांगिनी–दासी-पुत्री और बावू की अर्द्धांगिनी ? लेकिन, वह दुनिया को दिखा देना चाहता है कि यह असम्भव नहीं है। प्रेम क्यों कोई वंधन माने ? फिर, पुराना ज़माना लद गया। माना, उसके बावूजी सिर पीटेंगे, माँ चिल्ल-पों मचायगी और समाज के लोग ज़मीन-आसमान एक करेंगे। वह उस समाज की परवा नहीं करता, जो चुप-चोरी किसी ग़रीव लड़की का सतीत्व लूटना तो वरदाश्त कर लेता है, लेकिन खुले आम उसके पाणिग्रहण पर हाय-तोबा मचाने लगता है। इस सड़े, दुर्गंध और गंदगी-भरे समाज के सिर पर ठोकर लगाना वह अपना कर्तव्य समझता है। रह गये माँ-वाप। सो, वह इकलौता बेटा ठहरा—कुछ दिनों तक नाराज़ रहकर फिर वे मान ही जायँगे। युवक के इस उच्च

आदर्श पर सुगिया कैसे न हामी भरती। हाँ, उसे भी अपनी माँ की चिंता थी; सो, संयोग-वश छुट्टी के वाद कॉलेज जाकर फिर जव विजया की छुट्टी में वह युवक लौटा, तव तक उसकी माँ चल वसी थी—मानो, अपनी प्यारी बेटी के लिए रास्ता साफ़ करने के लिए ही !

विजया की छुट्टी पूरी होते-न-होते गाँव में शोर मच गया, सुकुमार ने (हाँ, उस नौजवान का यही नाम था) सुगिया को उड़ा लिया, दोनो एक रात कहीं निकल गये। कहाँ निकल गये, इसमें भी ज़्यादा सरपच्ची नहीं करनी पड़ी। काशी जाकर सुकुमार ने वहाँ के आर्यसमाज-भवन में सुगिया से वाज़ाब्ता शादी की। अख़वारों में एक छोटा-सा प्रशंसात्मक सम्वाद छपा। सुकुमार ने अपने वाप को उस सम्वाद की कटिंग के साथ ख़त भेज दिया। वाप आग-ववूला। उन्होंने लिख दिया— "मैंने मान लिया, मैं निपूता हूँ। तुमने मेरी नाक काट ली। तुम मेरे कोई नहीं होते हो।" सुकुमार इसके लिए तैयार ही था। इस वार काफ़ी पैसे माँ से झटक लाया था। इन्हीं पैसों से युनिवर्सिटी के नज़दीक के सुन्दरपुर में एक मकान लेकर रहने लगा। पढ़ाई भी चलने लगी।

सुगिया किस आस्था से सुकुमार की सेवा करती ! छोटा-सा मकान था। मकान को साफ़-सुथरा, सजा-धजा कर, वह रखती। अपने हाथ से जल-पान तैयार करती, अपने हाथ से रसोई तैयार कर परोसती, अपने हाथ से पान लगाकर देती। जव वह कॉलेज जाने लगता, खिड़की से वह तब तक देखती रहती, जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो जाता। लौटने के वक़्त फिर उसकी आँखें खिड़की से झाँकती होती। दोनो जब शाम को एक साथ टहलने निकलते या सिनेमा जाते, तो सुगिया अनुभव करती, उसके पंख निकल आये हैं, वह स्वर्ग की ओर उड़ी जा रही है, उसका जीवन सार्थक हो गया !

सुकुमार के पिताजी का सत्याग्रह संगीन निकला। खुद तो ख़त तक लिखना छोड़ ही दिया, सुकुमार की माँ से भी उन्होंने कह दिया, बेटे से नाता रखोगी, तो मैं आत्महत्या कर लूंगा ! वह वेचारी क्या करे ? कई रिश्तेमंद सुकुमार के पास पहुँचे, तुमने यह क्या किया ? खैर, वावुओं के लिए खानगी रखना नई वात नही। यह भी रहेगी, लेकिन दूसरी शादी कर लो। वाप को संतोष हो जायगा। किन्तु उसने किसी की नहीं सुनी। वे प्रेम के ज्वार के दिन थे।

जब बाप के आर्थिक असहयोग के चलते ख़र्च का चलना मुश्किल हुआ, सुकुमार ने कहा, कहीं ट्यूशन कर लेता हूँ। लेकिन, सुगिया ने तब अपनी माँ की धरोहर से काम लेना शुरू किया। रुपये थे, गहने थे। "आप पढ़ना जारी रखिए, मैं इन्हीं से काम चलाऊँगी।" उसने दाई से पार्ट-टाइम काम लेना शुरू किया, वह सिर्फ बाज़ार से सौदा ला देती, गंगा से पानी ला देती। बर्तन माँजना, रसोई बनाना, झाड़ू देना—सब काम वह खुद कर लेती। उसकी यह सेवा-भावना सुकुमार के हृदय पर भी गहरी छाप डालती। वह उसे इस तरह खटते देख उसाँसें भरता, कहता– "कहाँ से मैंने तुम्हें दलदल में घसीटा!" सुगिया सब अपराध अपने पर लेकर, हँसकर, बात टाल देती और कहती, आप पढ़ लीजिए, हमारे भी अच्छे दिन आयँगे।

यह तो हुई ज्वार की बात। भाटे के दिन भी आये। सुगिया का वह गुलाबी चेहरा शहर की धूल-धुआँ-भरी आब-हवा में पहले तो पीला पड़ा; अब चूल्हे की गरमी उस पर स्याही पोत रही थी। एक दिन धड़कते हुए हृदय से उसने सुकुमार से यह भी बताया कि उसे लगता है, शायद वह गर्भवती हो चली है। वह धीरे-धीरे देख रही थी, इन बातों का असर सुकुमार पर अजीब पड़ रहा है। क्या वह सौंदर्य का ही लोभी था? क्यों वह बाप बनने की जिम्मेवारी से घबराता है? सुगिया इस तरह तर्क-वितर्क करती। इधर उसने यह भी देखा कि सुकुमार ने कुछ नये दोस्त कर लिये हैं। वे कॉलेज के ही लड़के थे; लेकिन उनके चेहरे किस तरह शोहदे के-से थे। अब कॉलेज से ही वह बाहर ही बाहर रह जाता, और रात को बड़ी देर से लौटता। एक बार उसने उसके मुँह में अजीब गंध पाई।—"यह सब क्या हो रहा है? आप कहाँ इतनी देर रह जाते हैं? क्या पढ़िए-लिखिएगा नहीं? मुझ पर कलंक लगाइएगा? मेरी ज़िंदगी क्या हमेशा दुःखमय ही कटेगी?"—इस तरह कहती-कहती वह रो पड़ी। मालूम हुआ, सुकुमार का हृदय भी थोड़ी देर के लिए पसीज गया। बोला, अब कल से ऐसा नहीं होगा। लेकिन, हर कल नये कल की ही बात बताता।

एक दिन सुगिया शाम को खाना तैयार कर हाथ-मुँह धोने जा रही थी कि देखा, तीन-चार साथियों के साथ सुकुमार घर में घुस रहा है। सब हल्ला कर रहे हैं, सबके पैर लड़खड़ा रहे हैं, सबके

चेहरे फक और आँखें लाल हैं। सुगिया घबराई। यह क्या हो गया? क्या कुछ खुराफ़ात करेंगे?

हाँ, खुराफात के ही लिए तो ये आये थे। इस मंडली का जो सरग़ना था, वह लड़खड़ाता सुगिया की ओर बढ़ा। सुगिया ज़रा सख्त हुई। सुकुमार को डाँटा –"किन आवारों को घर में ले आये हैं आप?"

"हम आवारेगर्द....., तू......तू सती-शिरोमणि.......सीता-सावित्री—हा-हा-हा—......नौकरानी की छोकड़ी ......हमारे दोस्त से घर छुड़ाया, माँ-वाप छुड़ाया ......वदज़ात, कुलटा......"

"यह क्या हो रहा है, आप क्या चाहते हैं?"—सुगिया सुकुमार की ओर कड़ककर वोली।

लेकिन, तब तक वह आवारों का सरताज तो उसके नज़दीक आ चुका था। उसने हाथ बढ़ाया, सव ठठाकर हँस पड़े। सुगिया से यह बर्दाश्त नहीं हो सका। रोटी का वेलन वहीं पड़ा हुआ था। उठा लिया, और उत्तेजना में उसके सिर पर दे मारा। वह गिर पड़ा, सिर फट गया, खून वह रहा था! "खून"–एक चिल्ला उठा। उसी समय दूसरे ने पीछे से उसे धक्का दिया। वह मुँह के वल गिर पड़ी।

व्रजेश ने देखा, कहानी के इस अंश तक आते-आते भिखारिन की आँखों में आँसू आ चले हैं। हिचकियाँ वँध गई हैं। उसके बाद उसने अपने अगले दो दाँतों की ओर इशारा किया!–"उसी दिन के वरदान हैं ये, बिजू वाबू! अब आगे न पूछिए। किस तरह होश आने पर गंगा में डूबने चली; किस तरह पेट के भीतर की एक आत्मा चीख़ उठी कि डूब भी नहीं सकी; किस तरह अपने चेहरे को अपने हाथ से खसोट-खसोटकर वदरूप बनाया, जिसमें फिर किसी मनचले के फेर में न पड़ जाऊँ; किस तरह भीख माँगती हुई चली; किसी तरह थोड़े दिनों के बाद उस कमबख्त की ये दो थातियाँ प्रकट हुईं—एक, यह वीमारी; दूसरी, यह बच्ची; इन वातों को न सुनिए, सो ही अच्छा। एक को तो साथ लिये जा रही हूँ, उसकी अनुपम देन को कैसे छोड़ूँ? किंतु एक के लिए चिंता थी। अव मैं उससे भी निश्चिंत हूँ। याद है, एक बार मैंने आपसे कहा था, मुझे ले चलिए, सेवा तो करूँगी! मुझसे आपकी सेवा न वन पड़ी। हाँ, सेवा ली और एक थाती दिये जा रही हूँ! यह भी बदा था........।" बच्ची

की ओर देख कर वह सहसा रो उठी। हिचकियों का ताँता बँध गया। उसने कम्बल में मुँह छिपा लिया। व्रजेश की आँखें भी नम थीं। उधर नर्स मुस्कुरा रही थी ! वह शोख, चंचल नर्स ! उसने समझा, यह प्रेम का मान-मनावन हो रहा है !

(३)

भिखारिन की बात सच निकली। एक सप्ताह के अंदर-अंदर वह चल बसी। आखिरी दिनों में वह एक अजीब इच्छा प्रकट करती। वह चाहती कि सुकुमार को वह एक बार देख ले। –"भूल जाओ उसे; उसे उलाहना देकर भी क्या करोगी ?"—एक बार व्रजेश ने बड़े मुलायम शब्दों में कहा। वह फूट-फूटकर रो पड़ी—'बिजू बाबू, उलाहना देकर क्या करूँगी ? इसकी इच्छा अब इस चलते वक्त नहीं रह गई। लेकिन न जाने क्यों, हृदय हाहाकार करता है, मन होता है, एक बार उन्हें भरनज़र देख लेती और आँखें सदा के लिए मुंद जातीं।"

एक दिन एक घटना हो गई। वह बहुत ही दुबली हो चली थी। उसके हाथ-पैर सूखकर काँटे हो चले थे। वह किसी काम से हाथ इधर-उधर कर रही थी कि अचानक उसके बाएँ हाथ की अकेली लाल चूड़ी खिसककर ज़मीन पर गिर पड़ी। पलँग से उसके गिरते ही एक चन्न-सी आवाज़ हुई, फिर वह टूक-टूक हो गई। चूड़ी गिरते ही वह अजीब अप्रतिहत हो गई। फूटने की आवाज़ सुनकर तो वह फूट-फूटकर रोने लगी, और उसके आँसू तब तक नहीं सूखे, जब तक व्रजेश ने शाम को एक दूसरी चूड़ी नहीं ला दी। वह तब तक खा-पी भी नहीं सकी थी। नर्सों ने बहुत समझाया, लेकिन वह तो रोये जा रही थी। जब ऑफिस से शाम को व्रजेश आया, उसे सब बातें मालूम हुईं और एक नई, उसी रंग की चूड़ी वह खरीद लाया।

चूड़ी पहनकर जैसे वह निहाल हो गई। चेहरे पर प्रसन्नता की आभा लिये, किंतु आँखों से आँसू की नई निर्झरिणी बहाती, उसने व्रजेश से कहा—"मैं दासी-पुत्री ठहरी, बिजू बाबू ! मेरी क़ौम में सधवा-विधवा दोनों ही नई शादी कर सकती हैं । लेकिन, न-जाने क्यों, शुरू से ही मेरे मन में इन बातों से घृणा रही। ख़ासकर आपकी बहन की पति-परायणता ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया। उनके श्रीचरणों में मेरा प्रणाम बोलकर कह दीजिएगा, सुगिया निकल गई, कलंकिनी बनी; लेकिन उसने अपनी टेक न छोड़ी !" फिर कुछ देर ठहरकर उसने कहा –"बिजू बाबू, मेरी एक विनती है। मरने पर भी इस

चूड़ी के साथ ही मुझे जला दीजिएगा ! मेरे लिए यह सिर्फ काँच की मेखला नहीं; धर्मबंधन है। यह साथ ही जाय !" कहते-कहते उसका गला रुँध गया।

अब व्रजेश से भी नहीं रहा गया। उसकी आँखों की अश्रुधारा उसके रूमाल को भिगोने लगीं। वह सोचता—हाय रे नारी का हृदय ! जिसने इतनी तकलीफ़ दी, इस तरह घुला-घुलाकर मारा, उसके लिए भी इतना प्रेम संचित है ! सुकुमार, सुकुमार ! आज तुम यहाँ होते ! देखते, तुमने किस रत्न की उपेक्षा की ! हाथ आया रत्न घूरे पर फेंक दिया –आह !

जिस दिन मरी, उस दिन कहा– "उनसे कभी भेंट हो, तो कहिएगा, मेरी गत की, अच्छा किया, भगवान आपका भला करें। लेकिन, अपनी इस बच्ची को तो ...। हाय, मेरी बिटिया.........!"

व्रजेश ने अश्रु-सिक्त नेत्रों से ही उसे विश्वास दिलाया, वह बच्ची के लिए चिंता न करे। इसे लालन-पालन के लिए किसी सुकुमार की शरण लेने की जरूरत नहीं होगी। "इसका जिम्मा मेरा—दुनिया में वादेवाले भी मर्द होते हैं, सुगिया !"—व्रजेश के शब्दों में दृढ़ता थी।

मरते समय तक सुगिया का चेहरा अजीब विकृत हो चला था। समूचे चेहरे पर अजीब सूजन आ गई थी। आँखें नहीं खुलती थीं। मुश्किल से साँस ले पाती थी। निस्संदेह वह मर्मांतक पीड़ा में थी, लेकिन वह मुश्किल से कभी कराहती, मानो अपनी इंद्रियों पर उसने क़ब्जा कर लिया हो। आखिर-आखिर तक उसे होश रहा। व्रजेश को उसकी इस शांति पर आश्चर्य होता, ऐसे दृढ़ मनोबल के लिए काफ़ी उच्च आत्मा चाहिए। भिखारिन ने मानो मरते समय दिखला दिया, 'गुदड़ी में लाल' सिर्फ़ कहावत की बात नहीं है।

अपने चंद युवा समर्थकों को लेकर, अपने कंधे पर उसकी अरथी ढोकर, व्रजेश ने गंगा के उस पार, साफ-सफेद रेती पर, उसका अंतिम संस्कार किया –मानो, वह उसकी कोई निकट की संबंधिनी रही हो।

और, जिस कंधे पर एक दिन उसकी अरथी थी, अब हर दिन उस कंधे पर, शाम-की-शाम, लोग एक बच्ची को देखते हैं। वह अपने ऑफिस से लौटकर आता, जल-पान करता, फिर बच्ची को सज-सजाकर अपने कंधे पर रखता, और लॉन की ओर चल देता है।

वहाँ वह कभी उसे उँगली धरकर चलना सिखाता, कभी गोद में में लेता, कभी हाथों पर हवा में उछालता है। जब कोई जान-पहचानी पूछते—"यह आपकी कौन होती है व्रजेश बाबू ?" तो व्रजेश जवाब देता—थाती !"

"थाती ? यानी...."

"यानी, धरोहर !"

"यह तो आप पहेली बुझा रहे हैं !"

"हाँ, पहेली ही है; और समझनेवाले की मौत !"

पूछनेवाला उसका मुँह ताकते रह जाता है, वह उनपर मुस्कुराता रहता है !

व्रजेश ने उसका नाम रखा है—नीलिमा !

एक दिन एक मित्र ने कहा—"ऐसी खूबसूरत, गोरी-चिट्टी लड़की का नाम आपने 'नीलिमा' क्या रख दिया, व्रजेश बाबू ? कम-से-कम 'नीलम' ही रखे होते !"

"नीलिमा—मैं तो उसका नाम कालिमा रखने जा रहा था, किंतु ज़रा इस लड़की पर मुरौवत आ गई ! हाँ, कालिमा— क्योंकि यह बताती है, आपके समाज के चंदन से धोये मुख-चंद्र पर कलंक की कालिमा कहाँ है ? गोरी लड़की ? यह गोरी लड़की नहीं है, आपके समाज की काली पताका है। और, पताका जितनी ऊँची फहरे, उतना ही अच्छा।"

इतना कह उसने उसे कंधे पर बिठा लिया और शान से घर की ओर चल पड़ा !

जीवन-तरु

(१)

यह मेरे ननिहाल की बात है।

यह गाँव बागमती नदी के किनारे बसा हुआ है।

भले ही इसमें बड़ी-बड़ी बाढ़ें आती हों; हर साल ख़ूब कटाव करती, खेतों को ढहाती, गाँवों को उजाड़ती, लोगों को तंग करती हो; लेकिन तो भी हर आदमी चाहता है, बागमती नदी हमारे गाँव होकर बहे। क्यों ? लोग कहते हैं, बागमती के पानी में सोना है––

वह सोना नहीं, जो स्वर्ण-रेखा नदी की तरह बालू को छानकर, धो कर प्राप्त किया जा सके; वरन् जो धान, मकई, कउनी आदि के बालों पर झलकता है। किसानों के लिए यही सोना काफी होता है न ?

यह गाँव किसानों का है। छोटे-छोटे किसान, लेकिन सम्पन्न। खेती में थोड़ी मेहनत, ज्यादा उपज। फिर, लोगों के जीवन में मस्तानापन क्यों न दिखे ?—लेकिन वह मस्तानापन नहीं, जो शहरों में भड़कीली पोशाक, सिर पर झबरीले बाल, चेहरे पर नज़ाकत और नफ़ासत एवं मधुशाला और मधुबाला की चसक आदि के रूप में दीख पड़ता है। गाँवों के मस्तानेपन का रूप है कुश्ती लड़ना, भंग छानना, घोड़े और मेढ़े पालना, बाँस की लाल लाठियाँ लेकर झूमते हुए मेले-ठेले में जाना या ढोलक-मँजीरे लेकर दरवाज़े पर ही रागों की टाँग तोड़ना ! यहाँ के किसानों की मस्ती भी इसी कोटि की थी।

इन्हीं मस्त किसानों में एक थे हाकिम सिंह। सुनते हैं, इनके रोबीली चेहरे को देखकर ही इनके दादाजी ने, जो जवार-भर में एक ही कचहरिया थे, इनका नाम हाकिम सिंह रखा था। गोरा रंग,

चौड़ा ललाट, भरे गाल, उठी हुई भवें, सुर्खी लिये आँखें, तनी हुई मूछें और दुहरी ठुड्डी । शरीर भी वैसा ही गठा हुआ। जब लँगोट कसकर खड़े होते, मालूम होता, पौरुष प्रतिमा बनकर खड़ा है। चौड़ी छाती, मांसल बाहें, गोल जाँघें—नख-शिख सँवारा हुआ। इन हिस्सों के गाँव में हाकिम मामा (मैं उन्हें मामा ही कहता) की मस्ती सबसे बढ़ी चढ़ी थी। कुश्ती में आपसे कोई पार नहीं पाता, भंग का तो अखाड़ा ही आपके यहाँ जुटता, आपके घोड़े से तेज़ चलनेवाला घोड़ा उस जवार-भर में नहीं था, आपका मेढ़ा एक ही टक्कर में कितने मेढ़ों को सुला चुका था। हाकिम मामा ने एक भैंस भी रख छोड़ी थी, जिसके गुजराती सींग और पंजाबी देह देखने ही लायक थी। ख़ुद गाते-बजाते तो नहीं थे, सुनने का शौक़ ज़रूर रखते थे। उनके दरवाज़े पर गवैये आया ही जाया करते, लेकिन सबसे बड़ा शौक़ हाकिम मामा को था बगीचे लगाने का। कई क़िते बगीचे थे, जिनमें तरह-तरह के अजूबा पेड़ थे, और इन पेड़ों की सिंचाई, जन-मजदूरे पर ही न छोड़ कर, हाकिम मामा ने अपने हाथों की थी।

यों, हाकिम मामा की ज़िंदगी हँसी-खुशी की, मस्ती-मशर्रत की ज़िंदगी थी। लेकिन इन सबके बावजूद एक अभाव था, जिसकी याद ही सबको उदास कर देती। हाकिम मामा तो इस सम्बंध में अपनी मनोभावना को प्रकट नहीं होने देते; लेकिन और लोग तो उसाँसें भरकर जब-तब इसकी चर्चा कर ही देते, और हमारी मामी (हाकिम मामा की गुणवंती पत्नी) को तो इसका सबसे बड़ा दुख था। कितने व्रत किये, कितनी मन्नतें मानीं, कितने साधु-संत और गुणीजन की सेवा की, पर सब व्यर्थ। उनकी गोद न भरी, न भरी। यह भरा-पूरा घर एक संतान के बिना सूना, बिलकुल सूना–लगता। लोगों का धैर्य अब उस सीमा पर पहुँच गया था कि कभी-कभी, दबी ज़बान, हाकिम मामा से दूसरी शादी करने की चर्चा भी कर दी जाती। हाकिम मामा झिड़ककर, कभी हँसकर, इसको टाल देते; लेकिन जब इस चर्चा की ख़बर मामी को मिलती, वह मर्माहत हो जातीं–एक तो विधना ने कोख में राख भर दी, दूसरे अब सिर पर सौत आयगी। पर मामी की यह आशंका व्यर्थ थी। हाकिम मामा वैसे आदमी नहीं थे, जिनका निश्चय पल-पल में बदलता है। यहाँ तो रजपूती शान थी– "हाँ करी तो हाँ करी औ ना करी तो ना करी।"

और, एक ज़माना वह भी आया, जब मामी ने खुद हाकिम मामा से अनुरोध किया— "शादी कर लीजिए, यह सूना घर मुझे

नहीं सुहाता।" और, "जब सौत कलेजे पर मूंग दलेगी तव ?" –हाकिम मामा ने बिगड़कर कहा। "आप निश्चिंत रहें, मैं सब बरदाश्त कर लुँगी।" –मामी ने मुँह-लगे जवाब दिया। लेकिन इस बात का प्रभाव भी उनके दिल पर कुछ नहीं पड़नेवाला था। हाकिम मामा निर्द्वंद्व हो अपने दैनिक कार्य-क्रम में व्यस्त रहे –खेती-गिरस्ती से जो समय बचा, उसमें वहीं कुश्ती, वही भंग, वही घुड़दौड़, वहीं मेढ़ा-लड़ाना, वही गाना-बजाना, वही बाग़बानी ! जैसा कि ऐसे लोगों के पास होता है, अलमस्तों का एक जमघट उनके अगल-बगल मँड़राता फिरता। हा-हा-ही-ही- के इस तूफान में संतान की कामना कहाँ सिसकियाँ ले रही है, पता भी नहीं चलता।

हाँ, उस दिन से अपनी पत्नी के लिए उनके दिल में बहुत आदर और स्नेह बढ़ गया ।

(२)

पूजा की छुट्टी में, जब मैं एक बार स्कूल से लौटा, सुबह-सुबह शहनाई की आवाज़ सुनकर हैरत में पड़ गया। देशी-विदेशी नाना तरह के बाजों के युग में मैं शहनाई का भक्त हूँ, यह कहकर अपनी दिल्लगी कराने से क्या फायदा ? लेकिन फिर भी कहता हूँ, सुबह की शहनाई, अगर उसकी आवाज़ कुछ दूर से और कुछ ऊँचे से आती हो, तब वह, मेरे ख्याल से, ऐसा समाँ पैदा कर देती है कि उसका मुक़ाबला शायद ही कोई बाजा करे–ख़ासकर हृदय में एक विशेष प्रकार की विह्वलता पैदा कर देने में ! मैं विह्वल था, लेकिन उससे भी ज्यादा आश्चर्य-चकित; वह बेवक्त की शहनाई तो हर्गिज़ नहीं थी, लेकिन बेमौसम की शहनाई तो थी ही। यह आश्विन का महीना, लगन-वगन है नहीं, फिर शहनाई कैसी ? सो भी भोर-भोर। शहनाई की आवाज़ हाकिम मामा के घर की ओर से आ रही थी। क्या मामा को ही यह शौक चर्राया है ? ज़रा चलकर देखें तो, क्या माज़रा है ? उनके दरवाज़े पर जाकर देखा–यहाँ तो आनंद और उल्लास की बाढ़-सी आ गई है। केले के थम्भ गाड़कर मेहराबें बनाई गई हैं, जिनमें रंगीन गेंदों की मालायें सिलसिलेवार टँगी हैं। एक ऊँचा मचान बना है, जिस पर शहनाई बज रही है। इधर-उधर कई पीली धोतियाँ, साड़ियाँ सूख रही हैं। एक आता, एक जाता है–सबके चेहरे पर उत्साह-ही-उत्साह है। आँगन से औरतों

के गाने और बीच-बीच में हँसने की आवाज़ आ रही है, दरवाज़े पर ढोलक गमकती और मँजीरे खनकते हैं।

हाकिम मामा के घर में, उन्हीं के शब्दों में, लक्ष्मीजी ने पदार्पण किया था ! इसी की बधैया थी।

यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि जैसा उत्सव हाकिम मामा ने इस बेटी के जन्म के उपलक्ष्य में किया, वैसा किसी के बेटे के जन्म में भी नहीं देखा गया होगा। हाकिम मामा कहते – "अरे, निस्संतान का कलंक तो छूटा; बेटा न सही, बेटी ही !" मामी भी यही मानकर हर्ष में डूबती-उतराती। बरही तक –बारह दिनों तक –मामा का घर भोज-भात, गाने-बजाने का अड्डा बना रहा। बरही को जब अपने आँगन में मामा ने पीली साड़ी पहने, मुक्त-कुंतला, एक स्त्री को एक छोटे-से प्राणी को गोद में लिये देखा, वह उछल-से पड़े। वही मामी थीं, लेकिन वह न थीं, उनका चेहरा पीला पड़ गया था, आँखें कुछ धँस गई थीं—लेकिन उस पीले चेहरे में जो रूप-छटा थी, उन धँसी आँखों में जो अजीब आकर्षण था, वैसा मामा ने कभी नहीं देखा था। फिर, उनकी गोद की वह बच्ची –ताजे मांस की एक लोथड़ी-सी, लेकिन वह कितनी प्यारी थी ! मामा अपनी पत्नी पर आज जितने आकृष्ट थे, शायद कोहबर की रात के बाद कभी ऐसे नहीं हुए थे ! उत्फुल्लता से उफना कर उन्होंने सबको मुँह माँगी चीजें दीं। गाँव-भर में हाकिम मामा का जय-जयकार हो गया।

मामी ने अपनी इस बेटी का नाम रखा इँजोरिया—इँजोरिया, जिसे हम लोग अपनी सभ्य भाषा में चाँदनी कहते हैं। उनके अँधियारे घर में यह शीतल प्रकाश लाई थी — इँजोरिया नाम तो सार्थक था ही !

इँजोरिया दूज के चाँद की तरह बढ़ने लगी।

कहने को तो इँजोरिया बेटी थी, लेकिन लाड़-प्यार बेटों से भी बढ़कर। यही नहीं, हाकिम मामा इँजोरिया को बेटे की तरह ही अपने साथ दरवाजे पर रखते, टहलाने को बग़ीचे ले जाते, घोड़े पर चढ़ाकर लगाम थाँमना सिखलाते, उसे बेटे की पोशाक पहनाकर बेटा बना लेते, बेटों-से ही उसके बाल सँभालते, धोती-कुर्ता पहनाते, चंदन लगा देते। एक बार तो उसके बालों को काकुलनुमा कतरवाकर

पूरा-पूरा बेटा बना लेना चाहते थे, लेकिन मामी बिगड़ीं। बेटी के बाल कतरना महा कुलच्छन ! मामा सिटपिटा रहे। यों ही मामी को यह देखकर एक दिन महान् अचरज हुआ कि मामा इँजोरिया को लँगोट पहनाकर कसरतें करना सिखला रहें है। मामी ने बड़ी डाँट बताई —"इसे पहलवान बनाओगे ? मालूम होता है, इसका शादी-ब्याह भी तुम बंद करोगे।" मामा सहम गये—अपराधी की तरह हँसने की चेष्टा करते हुए रह गये। मामी ने उन्हें डाँटा तो, किंतु घर में आकर बहुत रोईं — आह ! यह बेटा क्यों न हुई — उनके कितने मनोरथ यों ही रह जायँगे।

जब इँजोरिया खाने-पीने लायक हुई, हाकिम मामा एक काम बिला नागा करते—हर 'पेठिया' ज़रूर जाते। घोड़ा कस, सवार हो, फुदकाते-उड़ाते पेठिया पहुँचते, और जो नई या अच्छी चीज़ खाने-पीने की मिलती, उसे मुँहमाँगे दाम में खरीदकर घर लाते, और अपने हाथों इँजोरिया को खिलाकर अपूर्व आनंद अनुभव करते। खाने-पीने की नई चीज़ों के ख़रीदने का यह शौक मिठाई के दूकानदार, खोंचेवाले और कुँजड़े-कवारी तक पर शोहरत पा चुका था। "यह नई मिठाई, यह नये क़िस्म का नमकीन, यह नया फल, यह ताज़ा मेवा, हाकिम बाबू, आपके ही लिए मैंने सँजोगकर रखा है"—वे मामा को देखते ही बोल उठते। मामा क्या कभी उन्हें निराश होने देते ?

एक दिन मामा 'पेठिया' से लौटे। उनके हाथ में लीची के लाल-लाल गुच्छे थे। इँजोरिया उनकी प्रतीक्षा में थी ही। ज्यों ही वह घोड़े से उतरे, वह दौड़कर उनके निकट पहुँची और इन प्यारे-प्यारे गुच्छों को उनके हाथों से छीन लिया। गोल-गोल लाल फल ! देखा, कितना सुन्दर ! चखा, कितना मीठा, कितना रसीला ! "बाबूजी, इसका क्या नाम है, कहाँ से लायें हो, रोज़ लाना बाबूजी !" किंतु क्या यह कहने की ज़रूरत थी ? इँजोरिया को पसंद पड़े, और वह चीज़ न आये ? एक दिन इँजोरिया ने कहा — "बाबूजी, अपने बगीचे में क्यों नही लीची लगाते ?" बाग़वानी के शौकीन हमारे हाकिम मामा ने बगीचे में लीची नहीं लगाई हो, यह बात नहीं। किंतु, यह फल कुछ विचित्र है। पेड़ तो हर कहीं लग भी जाय, किंतु वैसे फल नहीं लगते। एक तो आते ही कम, आते भी, तो छोटे, खट्टे, गुठली से भरे। हारकर हाकिम मामा ने छोड़ दिया था।

किंतु, इँजोरिया के इस आग्रह ने मानो उन्हें असम्भव को संम्भव करने के लिए तैयार कर दिया। उनके घर से सात-आठ कोस की दूरी पर लीची ख़ूब होती थी। शायद मिट्टी के फ़र्क़ से यहाँ लीची नहीं होती थी, ऐसा सोचकर उन्होंने वहीं से मिट्टी मँगाने का निश्चय किया। ग़ल्ले के लिए बैलगाड़ियों का ताँता इधर-उधर जाते-आते लोगों ने प्रायः देखा था, किंतु मिट्टी लाने के लिए जिस दिन गाँव से गाड़ियों का क़ाफ़ला चला, वह अजीब दिन था। जब वे गाड़ियाँ मिट्टी लेकर लौट रही थीं, बीच के गाँवों में कौतूहल-सा मच गया। यह कौन पगला है, जो आठ कोस से मिट्टी मँगवा रहा है ?

आषाढ की एक अच्छी तिथि को, हाकिम मामा के घर से सटी हुई बारी में, शाम के समय, एक अनोखी चहल-पहल मची हुई थी। एक गड्ढा खोदकर उसमें गाड़ियों पर की मिट्टी भर दी गई थी। आज उसी भरन पर लीची का एक बिरवा रोपा जा रहा था। बिरवा को अच्छी तरह रोप हाकिम मामा मुस्कुराते हुए बोले— 'बेटी, इसमें सबसे पहला पानी तुम्हारे हाथों ही पड़े — शायद तुम्हारे हाथ में बरकत हो !" सुनते ही अपनी छोटी-सी लुटिया में इँजोरिया पानी लाई और हर्षित-पुलकित हो बिरवा की जड़ में पानी डालने लगी। मामी भी वहीं थीं; इँजोरिया की चपलता और मामा की वत्सलता देखकर उनके दोनो कटोरे लबालब हो गये।

आज से यह लीची मानो हाकिम मामा की दूसरी पुत्री हुई। सुबह, शाम, दोपहर क्या, जब ज़रा-सी फुरसत पाते, उसे देखते। अपने हाथों पानी डालते। उनका कहना था, जिस तरह आदमी एक खास परिमाण में ही पानी पीता है, ज्यादा पानी उसे बीमार कर सकता, उसे मार डाल सकता है, वही हालत पौधों की भी होती है; अतः पौधों में पानी डालने में बहुत ही होशियारी करनी चाहिए। अपने हाथों ही उसका थाला बनाते—खुरपी की एक हल्की नोक ही ही पौधों की रग काट डाल सकती है, इसे हमें भूलना नहीं चाहिए, वह गम्भीरता से कहते। जब लीची में नया पत्ता निकलता, मामा का का रोम-रोम हरा-भरा हो जाता, और जिस दिन उन्होंने उसमें नई शाख फूटते देखी, वह तो आनंद-प्रमत्त हो गये। दौड़कर मामी को बुला लाये, शाख दिखलाई, बोले—"कहा न था, इँजोरिया की अम्मा, इँजोरिया के हाथ में बरक़त है—कितनी जल्द शाख़ निकल आई ?

देखना, देखना इसमें फल भी खूब लगेंगे, और अच्छे, रसीले !" इँजोरिया भी वहीं थी—मामा की बातें सुनकर अपने पर फूली नहीं समाई।

मामा का सबसे बुरा दिन वह था, जिस दिन दोपहर को इँजोरिया हाँफती हुई आई, और बोली—"बाबूजी, लीची मुरझा रही है" मामा दौड़े हुए बारी में गये। देखा, जैसे कोई बच्चा बीमार पड़ा हो और अपने हाल पूछनेवाले की ओर करुण नेत्रों से देख रहा हो। मामा की आँखें डबडबा आईं। सबसे पहले उन्होंने दो-चार मन्नतें मान दीं—यदि लीची बच गई, तो सत्यनारायण की कथा कराऊँगा, गंगा-मैया को अँचरा चढाऊँगा, देवउठान एकादशी करूँगा,—यों क्या-क्या न। फिर, दो-चार बागवानी के शौकीनों को बुलाया। किसी ने सेंवार की खाद, तो किसी ने झींगा मछली की खाद डालने की सलाह दी। किसी ने कहा, नजदीक में दो-तीन केले के पेड़ लगा दीजिए, जो इसे ठंढा रखेंगे। गरमी से शायद मुरझाई है। एक ने कहा—कुछ नहीं है, किसी ने शायद झकझोर डाला है, चारो ओर काँटो का घेरा कर दीजिए। यह 'किसी ने' कौन हो सकता है ? —इस बारी में कोई पराया आ नहीं सकता। इँजोरिया ने इसे अपने पर तुहमत समझी। वह बहुत रोई। मामा ने बहुत कोशिशों से उसे प्रबोधा। फिर उपचारों में लगे। मन्नतों के ज़ोर से या उपचारों के बल से—लीची फिर कभी नहीं मुरझाई, तेजी से बढ़ने लगी।

लीची बढ़ने लगी, और बढ़ने लगी इँजोरिया। मामा ने सोच रखा था, यह लीची जिस साल फलेगी, उसी साल इँजोरिया की शादी करूँगा और इसका पहला फल उसके दूल्हे को ही चखाऊँगा। किंतु, यह इच्छा क्या पूरी होनेवाली थी ? एक तो इँजोरिया ने बढ़ने में लीची को कहीं पीछे छोड़ दिया, और दूसरे मामी जोर देने लगी कि जल्द-से-जल्द इँजोरिया की शादी हो जाय। ज़िंदगी का क्या ठिकाना—शुभ कर्म जल्दी ही कर लेना चाहिए। फिर पुरोहितजी का 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी, दशवर्षा तु रोहणी' वाला श्लोक था ही। हाकिम मामा इँजोरिया की शादी की धुन में लगे—

इँजोरिया की शादी—यह कल्पना भी उनके लिए क्या कम मधुर थी ?

(३)

आज तक भी लोग कहते हैं, जिस ठाठ-बाट से बाबू हाकिमसिंह ने अपनी लड़की की शादी की, वैसी न पहले देखी गई और उम्मीद नहीं कि पीछे देखी जायगी। फिर नहीं देखी जायगी, इस कथन में एक रहस्य है। इस शादी और इसके दर्दनाक नतीजे से लोगों ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि ऐसे अवसरों पर भी अपने पर काबू रखना कितना ज़रूरी है। हाकिम मामा ने इस तरह हाथ खोलकर खर्च किया कि वह अपने को पूरा बरबाद ही कर बैठे।

पर इसमें पूरा दोष हाकिम मामा का ही समझा जाय, यह तो उनपर अत्याचार होगा। पूरा क्या, दोष का एक अधूरा हिस्सा भी उन पर लादते आज आत्मा काँपती है। गर्चे हाकिम मामा मस्ताना तबीयत के लोग थे, लेकिन उनके चरित, सचाई, प्रण-पालकता, परोपकारशीलता की धूम गाँव में ही नहीं, जवार में मची थी। यही नहीं, पहलवान, गवैये, अतिथि आदि के रोज़ाना सत्कार और घोड़े-मेढ़े पालने के ख़र्च के बावजूद, उनकी गिरस्ती का प्रबंध कुछ ऐसा होता कि कभी किसी ने हाकिमसिंह को किसी के निकट हाथ पसारते नहीं देखा। पेंठिया भी जाते, तो घोड़े पर, लेकिन खेती-बारी के दिनों में मूसलाधार वर्षा में भी कंधे पर कुदाल लिये हाकिम मामा अपने खेतों की मेंड पर टहलते दीखते और जेठ की जलती दुपहरी में भी मजदूरों को लिये खेत की तमनी-कोड़नी में लीन होते। 'खेत में जौ-जौ, खलिहान में सौ-सौ' —इस कथन का रहस्य वह समझते थे। उनकी खेती के मुकाबिले गाँव भर में किसकी खेती होती ? हाँ, हाकिम मामा में दोष था, तो यही कि उदार थे; जो पैदा होता, खर्च कर देते। जमा करके ज़मीन में गाड़ना—इसे वह सर्प-वृत्ति समझते थे —मैं न खाऊँगा, न खाने दूंगा। और, सूद पर देना जोंक-वृत्ति—दूसरे के खून पर अपना पेट पालना। इन दोनो से उन्हें घृणा—घोर घृणा थी। यही कारण था कि इँजोरिया की शादी जब हुई, तो उनके पास नक़द पैसे उतने नहीं थे, जितने वह अपनी प्यारी संतान, एकमात्र संतान पर खर्च करना चाहते थे। उन्हें ज़िंदगी में पहली बार कर्ज लेना पड़ा।

लेकिन इस कर्ज का भी उन्होंने पूरा हिसाब कर लिया था। पाँच वर्षों में इस कर्जे को पटा दूँगा, यह उनका तखमीना था। धान

की बिक्री से इतने रुपए, मकई से इतने रुपए, गेहूँ से इतन रुपऐ, तेलहन-तीसी से इतने रुपए, बगीचों के फलों से इतने रुपए—यों हर साल, इतने के हिसाब से, चार वर्षों में पूरा चुक जायगा। एक वर्ष और रख लो। पाँच वर्ष में बाकी बेबाक। शादी-व्याह में कौन खुलकर नहीं ख़र्च करता ? कितने सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें कुछ हाथ-हथफेर नहीं करना पड़ता ? फिर, जब ज़िंदगी-भर में एक ही बेटी हो, तब क्या कहना ? अतः मामा को क्यों दोष दिया जाय, समझ में नहीं आता। हाँ, दोष उनका था तो यही कि वह न तो दुनिया की हालत से परिचित थे, और न दैव की।

शादी के बाद से ही मामा कर्ज चुकाने में जुट गये; किन्तु सबसे पहले दैव ने विद्रोह शुरू किया। मकई एक वर्षा के बिना खड़ी-की-खड़ी रह गई, तो धान बाढ़ से दह गया, और गेहूँ तैयार हुआ न था कि ओले गिरे। यों दैव ने उनसे आँख-मिचौनी शुरू ही की थी कि संसार-व्यापी मंदी उनके दरवाज़े पर भी आकर पैर तोड़कर बैठ गई। जो उपज भी हो, उसके दाम कहाँ मिलते ? जहाँ एक मन अनाज में चार-चार रुपए तक टन-टन बजते, वहाँ एक के बाद कुछ ताँबे के सिक्के ही आते ! और, जैसे इतने ही से कसर नहीं पूरी होती थी, तो वह प्रलयकर भूकम्प आया, जिसने अच्छे-अच्छे गिरस्तों की भी कमर तोड़ दी। भूकम्प के बाद बाढ़ों की भरमार, फिर मलेरिया का दौरदौरा। जो बागमती स्वर्णाचला समझी जाती थी, वह विपत्ति और बीमारी की जननी बन गई। कहिए, बेचारे हाकिम मामा करें, तो क्या करें ?

जले पर नमक छिड़कने की तरह एक बात और हुई। हाकिम मामा की गुणवंती पत्नी चल बसीं। मामा के ही शब्दों में, मामी उनके घर की लक्ष्मी थी——लक्ष्मी चल दी, संस कहाँ ? हाँ, इस लक्ष्मी के श्राद्ध ने उनके कर्ज के बोझ को कुछ और भारी बना दिया।

इन सब बातों के बावजूद मामा ने तीन-चार वर्षों तक बड़ी कोशिशें कीं, किंतु पीछे वह उदासीन-से हो चले। बार बार की असफलता और मामी के अभाव ने ही नहीं, एक और भावना ने भी उनके उत्साह को ख़त्म कर दिया। वह सोचते—यह हैरानी-परेशानी किसलिए ? किसके लिए ? इँजोरिया को राजगद्दी पर बिठा ही चुका हूँ; खुद भी इतनी औज-मौज कर ली; अब काहे को यह हंगामा ? धर्मपत्नी के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन हो ही चुका ;

सारी मनो-कामनायें पूरी हो चलीं, हहराती-घहराती नदी की धारा समुद्र के निकट पहुँचकर शांत हो चली है—फिर इसे तेज करने की क्या सार्थकता ? अब इस बुढापे में थोड़ा भजन-भाव न क्यों हो—लोक बनाया, अब परलोक क्यों न बनाया जाय ? कर्ज़ है, तो ज़मीन भी कम नहीं है ? अकेले के लिए इतनी ज़मीन क्या होगी ? महाजन ले लें। लेकिन इसी समय उनके मन में यह भावना उठती, बाप-दादों की ज़मीन कर्ज़ में दे डालना क्या मेरे लिये शोभनीय होगा ? क्या यह मेरे लिए नामर्दी नहीं होगी कि मैं अपना किया कर्ज भी नहीं सधा सका ? बूढ़ी हड्डी में जवानी का खून दौड़ जाता। लेकिन जो जवानी चली जा चुकी थी, वह क्यों लौट आती ? हाँ, इस दुविधा में कुछ नहीं हो पाता था—माया मिली न राम।

लेकिन हाकिम मामा भले ही दुविधा में हों, महाजनों के रुपयों को तो कोई दुविधा नहीं थी। न तो सूखा उन्हें सुखा सकता, न बाढ़ बहा सकती, न ओले गला सकते, न भूकम्प हिला सकता, और न मंदी उनकी चाल मंद कर सकती थी। कर्ज अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ता जा रहा था। शिकायत के मारे रजिस्टर्ड तमुस्सक नहीं किया था, हैंडनोट थे––तीन-तीन बरस पर सूद-मूल मिलकर मोटे होते और फिर आगे बढ़ते। वे बढ़ते गये, बढ़ते गये, बढ़ते गये !

इस बढ़ा-बढ़ी में एक नई बात सामने आई। अब तक ज़िंदगी में हाकिम मामा ने कभी किसी का तक़ाज़ा नहीं सहा था। अब उसका दौरदौरा शुरू हुआ। जिस दिन कोई महाजन या उसका आदमी उन्हें टोक देता, उन्हें मालूम होता, जैसे किसी ने पके बरतोर को छू दिया हो। वह सिहर उठते, उन्हें खाना-पीना अच्छा नहीं लगता। सोचते, फिजूल मैं यह मानसिक अशांति लिये बैठा हूँ। दो-एक बार उन्होंने ज़मीन बेचने की बात चलाई, लेकिन मंदी ने ज़मीन की क़ीमत को इतना कम कर दिया था कि भाव-साव सुनकर ही वह दंग रह जाते। सोचते—ज़मीन की क़ीमत एक-न-एक दिन लौटेगी ही, तब तक खेपते चलो।

उन्होंने अपने खर्च कम कर दिये थे, मुट्ठी कस ली थी; लेकिन जो बचत होती, वह दाल में नमक के बराबर भी नहीं थी।

सूद बढ़ता गया, तकाजा बढ़ता गया, बेचैनी बढ़ती गई, और एक दिन वह भी आया कि उन्हें एक 'समन' मिला। यह हाकिम मामा के लिए अति थी।

नालिश करनेवाला महाजन उनके गाँव का ही था। हाकिम मामा को अच्छी तरह याद है, यह आदमी अपनी ज़िंदगी के प्रारम्भिक काल में उनके खेतों में मज़दूरी करता फिरता था। मामा यह भी नहीं भूले थे कि उसकी मेहनत-पसंदी देखकर वह खुश रहते थे, और मज़दूरी देने में या अँटिया-मुठिया देने में उसके प्रति उदार भाव दिखाते थे। इस आदमी ने मेहनत के साथ कंजूसी को अपनाया था, और उसके बाद सूद को। ताक-ताककर ज़रूरतमंदों को कड़े-से-कड़े सूद में देता और सख्ती से-सख्ती करके उनसे वसूल करता। सूद की भी क्या महिमा है ! –फिर वह सूद, जो देहातों में चलता है। कुछ ही दिनों में वह भिखरिया से भिखारी बाबू हो गया था और महाजनजी के नाम से पुकारा जाता था। गाँव का वह सबसे बड़ा धनी था। कल यही भिखरिया मेरे सामने गिड़गिड़ाता चलता था, आज यह मुझे अदालत में घसीटना चाहता है। माना, सब महाजनों की तरह उसने भी तक़ाजे किये थे, यह भी ठीक है कि वादे पर रुपए नहीं चुका सका; लेकिन अदालत में घसीटना—यह भी क्या इंसानियत है ? तमादी लग रही थी ? –तो, नया कागज़ करा लेता। खैर, बाबा, मैं ऐसा उपाय किये देता हूँ कि तुम सब लोग तमादी से छुटकारा पा जाओ। मामा ने इस बुराई में भी भलाई देखी।

उस दिन लोगों के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा, जब हाकिम मामा ने सभी महाजनों को बुलाया और घर के नज़दीक की कई बीघे जमीन, एक अमराई, घर और उसकी बारी, जिसमें लीची लगी थी, इतना अपने लिए रख कर बाक़ी कुल ज़ायदाद उन्हें लिख दी। एक तो सूद कहीं-से-कहीं चला गया था, दूसरे ज़मीन कौड़ी के भाव थी, तो भी यदि वह अड़ते, झंझटें करते, तो कुछ और ज़ायदाद बचा लेते। कुछ लोगों ने सलाह दी—यह आप क्या कर रहे हैं, अलग-अलग टुकड़े करके बेचिए तो भी इतनी ज़ायदाद न जाय; नहीं तो नालिशें होने दीजिए, देखिए तो ये कैसे दखलदिहानी हासिल करते हैं; लेकिन हाकिम मामा ने एक न सुनी। इस उम्र में यह झंझट, किसलिए ? एक ही दिन अपनी ज़ायदाद को खतम कर इस तरह सोये, जैसे कोई घोड़ा बेचकर सोये।

अब वह साबिक़ हाकिम मामा नहीं हैं। घोड़े, मेढे, भैसे, उनके दरवाज़े के ये सिंगार नहीं रह गये। कुश्ती की तालठोंक और गाने-बजाने के मधुर स्वर उनके दरवाजे पर नहीं सुनाई पड़ते। लोगों की धमाचौकड़ी और हाहा-हूहू भी बंद हो चुका है। दरवाज़े पर सिवा दो गायों के कोई जानवर नहीं। खेत बँटाई दे चुके हैं–अच्छे खेत। जो उपजता, उनके लिए वहीं काफी होता। सेवा करते, तो इन गायों की– वह उन्हें अमृत-रस देकर इस बुढ़ापे में जवान-सा रखने की कोशिश करतीं। दोनो समय बागमती-स्नान, मंदिर में पूजा-पाठ, दरवाज़े पर गोसेवा और इँजोरिया की लगाई लीची के पेड़ के नीचे एक खाट डालकर पड़े रहना—यह थी उनकी दिनचर्या। इस लीची की छाया में उन्हें इँजोरिया की शीतलता और स्निग्धता प्राप्त होती। सर्वस्व-हीन-सा होकर भी उनके हृदय में आत्मिक आनंद की लहरें लहराया करतीं। कसक थी, तो बस एक ही। यह लीची इतनी बड़ी और घनी हो चली थी, किंतु अभी तक इसमें मंजरी तक नहीं निकली ! जब कोई कह देता, यह बाँझ है–तब तो वह कट-से जाते। उनकी नज़रों में यह लीची नहीं थीं, यह तो इँजोरिया थी। फिर यह अपशकुन की बात !

(४)

अचानक उस साल लीची को मंजरियों से लदी देखकर जैसे हाकिम मामा के हर रोम-कूप से मंजरियाँ निकल आईं। लीची के रूप में उन्होंने अपनी प्यारी बेटी को मंजरियों से मंडित देखा। विटपी की यही तो सार्थकता है, किसी भी नारी की यही तो चरम आकांक्षा है–मंजरियों से डालियाँ लदे, फूलों से गोद भरे।

जब मंजरियों से फल निकलने लगे, मामा की ख़ुशी की कोई सीमा नहीं रही।

साथ ही उनकी ज़िम्मेदारी भी जैसे बढ़ गई।

अब वह इस चेष्टा में लगे कि यथासम्भव एक भी टिकोरा गिरने न पावे—पूरे-का-पूरा बढ़े, पके। थाले में लगातार पानी पटाने से ही उन्हें संतोष नहीं था। उन्होंने नई-नई खादें डालनी शुरू कर दीं, पर कुछ टिकोरे तो गिरने के लिए ही होते हैं। यदि न गिरें, तो बेचारी सुकुमार डाली एक-एक कर टूट न पड़े ! मामा के सभी उपायों के बाद भी कुछ टिकोरे गिरते ही। किंतु उनमें से एक-एक

का गिरना मामा को ऐसा मालूम होता, मानो कोई पेड़ पर बैठ कर उनके कलेजे पर ढेले फेंक रहा हो। ममता ऐसी कि उन टिकोरों को भी चुनकर रखते, गिनते—उफ्, आज इतने गिरे ! उनका कोई उपयोग नहीं था, आम के टिकोरे की तरह वे काम के— किसी भी काम के–नहीं थे; किंतु ममता में उपयोगिता का कहाँ स्थान है ? उन्हें खूब संजोग कर इकट्ठे करते जाते।

जिस दिन फलों के गुच्छों में ललाई आई—बूढ़े हाकिम मामा के चेहरे पर भी ललाई की एक हल्की छाया दौड़ गई। उन्हें एक बहुत ही पुरानी बात याद आई—लीची का पहला फल इँजोरिया के दूल्हे को खिलाऊँगा।

इस ललाई पर कौन नहीं मोह जाता ? और, ललाई चाहे लीची के गुच्छों में हो, या सेंदुरिया आम के डंठल के निकट के हिस्से में या किसी के उभरे जवान गालों पर—ज़रूरी हो जाता है कि उसकी रक्षा की जाय। लीची की इस ललाई को आदमियों से, जानवरों से तो बचाना आसान था, किंतु उन पखेरुओं का क्या हो, जिनके पंख हवा से बातें करते हैं। लीची के सबसे बड़े दो दुश्मन तो इन्हीं में से हैं––कितने घिनौने दुश्मन—दिन में कौवे, रात में चमगादड़ ! लीची खाने का किसी को हक़ हो सकता है, तो सुग्गे को, जिसके हरे पंख और लाल ओंठ लीची के पत्तों और लाल फलों में बिलकुल खप जाते हैं। यदि केवल सुग्गे की बात होती, तो मामा हाहा-हूहू पर ही संतोष कर जाते, पर उपर्युक्त दोनो दुष्टाधिराज ! इन्हें लीची छूने का भी क्या अधिकार ? मामा ने तय किया, समूची लीची पर जाल डाल दें, जिससे एक फल भी ये बरबाद न कर सकें। पर इस साध की लीची के लिए जाल भी तो असाधारण चाहिए। रंग-बिरंगे तागे ख़रीद लाये और उनसे एक बड़ा-सा जाल बुनवाया। जाल बुननेवाले कारीगर तो काम करते ही, आप भी लगे रहते। जिस दिन हरी-हरी डालियों में झूमते हुए उन लाल-लाल गुच्छों पर यह रंग-बिरंगा जाल डाला गया, मालूम पड़ता, किसी सुहाग-भरी दुलहिन को जालीदार दुपट्टा उढ़ा दिया गया ! रसीली लीची की जवानी इस सुहानी साज-सज्जा में जैसे निखर पड़ी।

लीची के नीचे, मचान पर, दरी डालकर लेटे हुए हाकिम मामा डबडबाई आँखों से उसकी डाली-डाली, पत्ती-पत्ती, गुच्छे-गुच्छे को को निहारते।

लोग उनकी इस तन्मयता पर वारे जाते। कहते, उफ् ! किसी पेड़ से भी ऐसी मुहब्बत हो सकती है ?

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, फलों में लाली बढ़ती गई, वे बड़े भी होते गये। फल काफ़ी अच्छे बढ़े। सब कहते, अजी, इसने तो मुज़फ़्फ़रपुर की लीची के भी कान काट डाले। मामा कहते—"अभी बहुत देर है बबुआ ! अभी क्या आँखें गड़ाते हो—मुझे क्या खाना है ? तुम्हीं खाओगे न ? हाँ, पहले इँजोरिया के दूल्हे को थोड़ा भेज लूँगा।"

"आप क्यों नहीं खाइएगा"—कोई पूछता।

"मैंने यही मन्नत मानी, तब तो यह फली है"—मामा जवाब देते। वह कैसे यह कहते कि यह मेरी बेटी है——बेटी की कोई चीज़ कैसे ग्रहण की जाय ?

इसी समय किसी ने मामा से एक दिन कहा—"आप इतना इँजोरिया-इँजोरिया करते हैं, तो जरा इँजोरिया को बुला ही क्यों न लेते ? फल भेजिएगा, माना। किंतु इँजोरिया को जो आनंद इस लीची के फले पेड़ को देखकर होगा, वह टोकरियों लीची से भी कहाँ हो सकता है ? मामा इस बात पर उछल-से पड़े। इधर इँजोरिया को देखे भी कितने दिन हो गये थे ! एक पंथ—दो काज। उन्होंने झट ब्राह्मण बुलवाया, एक अच्छी तिथि गुनवाई और एक पत्री लिखकर तुरत इँजोरिया की ससुराल आदमी भिजवाया कि अमुक-न-अमुक तिथि को मेरी बेटी की विदागरी का दिन है—मंजूर किया जाय। अंत में मामा ने यह भी निवेदन किया था कि यहाँ से मैं किसको भेजूँगा——सिवा इँजोरिया के मेरा दुनिया में दूसरा है ही कौन, अतः उसका दूल्हा ही उसे यहाँ पहुँचा जाय।

कहना व्यर्थ होगा—उनकी दोनो ही प्रार्थनायें स्वीकृत हुईं। मामा दिन-रात इँजोरिया और उसके दूल्हे का सपना देखने लगे।

(५)

हाकिम मामा सपना देख रहे थे, लेकिन उनके सपने को सदा के लिए सपना ही बनाये देखने को जिस सत्य की — ठोस सत्य की सृष्टि हो रही थी, उसकी क्या खबर थी उन्हें ?

मामा ने जिस दिन इँजोरिया के पास उसकी विदागरी का दिन मंजूर करवाने को आदमी भेजा, ठीक उसी दिन उनके पास महाजनजी का एक आदमी लीची माँगने आया था। लेकिन मामा ने लीची नहीं दी थी—हाँ, मुलायमियत से सब बातें समझा ज़रूर दी थीं। लेकिन, न तो उस आदमी को उनकी मुलायमियत से कोई वास्ता, न महाजनजी को। उन्हें लीची चाहिए थीं, लीची नहीं मिलीं, और नहीं दीं किसने ? हाकिमसिंह ने, और किसके लिए नहीं दी......?

बारूद में आग लग गई !

बात यों है कि महाजनजी के छोटे साहबज़ादे उस समय कॉलेज में पढ़ रहे थे। पूरे साहबज़ादे—बन-ठन, तड़क-भड़क का क्या कहना ? भले ही बाप ने न कभी अच्छा कपड़ा पहना हो, न अच्छा खाना खाया हो—आज भी वह इन दोनो चीजों से भागता हो—लेकिन साहबज़ादे साहब पूरे साहबज़ादा थे। अँगरेजी कपड़े पहनते, टेबुल पर खाना खाते। गरमियों की छुट्टी में कई जगहों की सैर कर आखिरी दौर में वह घर तशरीफ लाये थे। आपके साथ आपके कई अन्य घनिष्ट मित्र भी आये थे। शहर से मोटर कर ली थी। मोटर की की सड़क हाकिम मामा के दरवाज़े पर होकर ही गुज़रती थी। जब वहाँ से मोटर निकली, उनकी नज़र लीची पर पड़नी ही थी। इस लाल-हरे पेड़ को देखकर मित्रगण मुग्ध हो गये—"यह क्या शै है भाई !"

'नहीं जानते, यही तिरहुत की मशहूर लीची है।"

मोटर दन से निकल गई; किंतु यारों के मन से लीची नहीं निकली। दरवाज़े पर पहुँचते ही आग्रह शुरू हुआ, चलो, ज़रा उस पेड़ को देख आयँ। पर, साहबज़ादे ने शेखी में आकर कहा—"ऊँह, जिस-तिस के दरवाज़े पर मैं नहीं जाता। लीची मँगा देता हूँ, देख लो चख लो—चख क्या लो, पेट-भर ठूँस लो।" फिर अपने नौकर से कहा—"जाओ, हाकिमसिंह से कहो, मेरे दोस्त आये हैं, कुछ लीची के गुच्छे पत्ते-सहित तोड़कर दे जायँ। समझा ? —पत्ते-सहित, जिसमे ये लोग अच्छी तरह देख लें। और, काफ़ी लाने को कहना, समझा न ?"

जब नौकर आया था, मामा ने बहुत मुलायम होकर कहा—"जाओ, अपने बबुआ से कह देना, अभी लीची नहीं पकी। फिर,

मेरी एक प्रतिज्ञा है। इसका पहला फल अपने दामाद को चखाऊँगा, पीछे जो जितना खाय। मुझे खाना थोड़े ही है—बाँटना ही तो है ? तुम्हारे बबुआ के दोस्तों को यहीं बुलाकर मन-भर खिला दूंगा। बशर्ते कि तुम्हारे बबुआ उन्हें आने दें; वह साहब है न ?" यह अंतिम बात हाकिम मामा ने हँसते हुए कही थी।

किंतु उनकी विनम्रता, उनकी हँसी का कोई मूल्य उस नौकर के निकट भी नहीं था, तो भला मालिक की कौन कहे ? साहब का यह नौकर अपने को बड़े साहब से छोटा थोड़े ही समझता था। उसने एक के तीन लगाये। वह तीन, तीन तीन हुआ, यानी तीन सौं तैंतिस !—साहब गरज उठे—"जाओ, अभी आदमियों को लेकर जाओ, और लाठी के हाथ तोड़ लाओ ! हाकिमसिंह की इतनी शेखी ? वह हैं क्या ? —अब उनकी समझ में आयगा।"

उन्हें इस समय क्यों याद आये कि हाकिमसिंह के खेत में उनके बाप मज़दूरी किया करते थे और हाकिमसिंह वह शख्स हैं, जिनकी ओर अब तक लोगों की ओर से श्रद्धा के ही हाथ उठते हैं। यह कोई आसान बात नहीं है कि लाठी के बल पर हाकिमसिंह पर विजय प्राप्त की जाय।

बेटे को तरजते-गरजते देख महाजनजी निकट आये। सब बातें मालूम कर लेने पर कहा—"जहाँ छड़ी से काम होता हो, वहाँ लाठी भाँजने से क्या मतलब ? हाकिम सिंह का धन तो गया, शेखी बची है, वह भी चली जाती है। बस, एक सप्ताह की देर है बबुआ ! तुम्हारे दोस्तों से मेरा हाथ जोड़कर निवेदन है, एक सप्ताह ज़रूर ठहरें। ज़रा मेरे हाथ की सफाई भी देख लें और लीची भी चख लें ! लीची में अभी रस भी तो नहीं आया होगा, आठवें दिन तो यह समूचा पेड़ तुम्हारा है।"

और, आठ दिन भी नहीं बीते होंगे कि एक दिन सुबह-सुबह जब हाकिम मामा बागमती से स्नान कर, ठाकुर-बाड़ी में पूजा-पाठ से निवृत्त हो लौट रहे थे, तो देखा, उनकी लीची के निकट एक मजमा जमा है। डुग-डुग, डुग-डुग की आवाज़ भी आ रही है । क्या बात है ? वह दौड़े। वहाँ देखते हैं, चमार का एक बच्चा डुगडुगी दे रहा है। लाल पगड़ी बाँधे अदालत का एक चपरासी दख़लदिहानी का बोल बोल रहा है और बीस-पचीस मुस्तंडे लाठी-बरछी लिए लीची को घेरे हुए हैं। मामा देखते ही भौंचक !

उन्हें देखते ही गाँव के लोगों का एक दल उनके निकट आ जुटा। यह बात सबको खली। एक ने कहा—"उफ्, देवता आदमी के साथ यह शैतानी !" एक बूढ़े सज्जन उसाँस लेकर बोल उठे—"मैंने पूछा है, महाजन, तुमने यह क्या किया ?" तैश में आकर बोला—"कब की न डिग्री थी, मैं तो भलमनसाहत करके उसे रोके हुए था। जब वह मेरे बच्चे को एक गुच्छा लीची का नहीं दे सकते, तो अब चखें लीची !" किसी ने कहा—"हाकिम दादा ने उसकी कौड़ी-कौड़ी सधा दी थी, यह साफ बेईमानी है।" एक नौजवान छूटते बोला—"क्या बिना बेईमानी के ही देखते-देखते यह अम्बार लग गया है ? कितनों ही पर यों ही झूठी नालिशें करके, एकतरफा डिग्री कराके तो आज बादशाह का बेटा बना फिरता है।" दूसरे नौजवान ने मानो नवयुवकों की पूरी टोली का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा—"धन की मस्ती चढ़ी है, तो आज ही वह मस्ती झाड़ दी जाती है। देखते क्या हो—चलो, सबसे पहले उस साहब के जने का ही खात्मा कर दिया जाय।"

मामा सुन्न-से हो रहे थे। जब जो बोलता, उसका मुँह देखते, ज़बान हिल नहीं रही थी। लेकिन क्या उनके दिमाग़ को ज़बान की ही तरह काठ मार गया था ? नहीं, वहाँ कितनी ही बातें आ-जा रही थीं। लीची, इँजोरिया, उसका दूल्हा, वह शादी, वह बधैया, वह रंगरेलियाँ, वह जवानी की देह, वह उनका अलमस्त गिरोह ! फिर, भिखारी, उसका बेटा, उसकी नालिश, सर्वस्व-हीनता, यह दखलदिहानी ! बवंडर के बीच-बीच बिजली कौंध जाती। बिजली—वह पुरानी शान ! उनका चेहरा रह-रहकर दिप उठता। अंततः वाणी फूट निकली—

"भैया ! अपने-अपने घर जाओ। मार-पीट किससे ? भिखारी और उनके छोटे साहब तो अपने कोठे में बंद होंगे। इन भाड़े के टट्टुओं से लड़कर क्या करोगे ? जाने दो, सब तकदीर का खेल है। मैं क्या था; क्या हो गया हूँ, और आगे न-जाने क्या......"

उनकी आँखों में आँसू भर आये, गला रूँध गया, सबके चेहरे उदास हो गये। मामा ने आरज़ू-मिन्नत करके सबको विदा किया। चलते समय एक बूढ़े ने ऊपर की ओर देखकर कहा—

"भिखारी, तुम्हारा भला न होगा। तुमने गाय के रोयें नोचे हैं।"

न-ज़ाने कितने दिन, दिन में कितनी बार, ये बातें होतीं।

और, कल भोर में इँजोरिया ससुराल से चलेगी; शाम को या थोड़ी रात बीतते यहाँ पहुँचेगी । तेरह-चौदह कोस आना ठहरा। आगे-आगे दूल्हा होगा, घोड़े पर, किस शान में आवेगा ? पीछे-पीछे खरखरिया में इँजोरिया होगी ! किस उत्साह से आवेगी ! थोड़ी-थोड़ी दूर आगे जाकर दूल्हा अपने घोड़े को रोककर पीछे देखेगा, सवारी कितनी दूर पीछे रह गई ? आस-पास लोगों की भनक न पा, सुनसान जानकर, इँजोरिया ओहार हटाकर झाँकेगी 'वे' कितनी दूर आगे बढ़ गये हैं ? मामा की आँखों में अपनी जवानी के ऐसे ही दृश्य घूमने लगे। यों ही वह घोड़े पर; मामी खरखरिया में !

आह !—मामी कहाँ हैं ?

मामा को मालूम हुआ, मामी आकाश के उस तारे से उनको बुला रही हैं। कहतीं हैं—क्यों नहीं आते, बहुत दिन हुए, अब आ जाओ, अकेले अब नहीं रहा जाता !

(७)

मामा को उस रात नींद नहीं आई।

दिमाग़ में बवंडर, देह में ज्वाला। आँगन में लम्बे डग से टहलते-टहलते थक जाते, तो लेटते। लेटते-लेटते उकता जाते, तो फिर टहलते। कसमस !

कई बार पानी से सिर धोया। कई बार रामायण निकालकर पढ़ने चले। कई बार माला लेकर खटखटाई। लेकिन चैन नही, कल नहीं। उफ्—क्या मैं पागल हो जाऊँगा ?

लीची-लीची ! इँजोरिया-इँजोरिया। दूल्हा-दूल्हा ! वह दुष्ट भिखारी ! दुष्टाधिराज उसका बेटा !

उफ्, मैं पागल हो जाऊँगा क्या ?

मन में एक भीषण संकल्प !

नहीं-नहीं-नहीं, हरगिज़ नहीं ! नहीं !—नहीं !

इतने ज़ोर से चिल्लाने लगे कि पड़ोसी जग जाय।

क्या सचमुच मैं पागल होने जा रहा हूँ ?

नहीं, मैं सोऊँगा, ज़रा तन-मन को ठंढा कर लूं !

मामा उसी समय दरवाज़े के कुएँ पर आये, स्नान करने लगे। पड़ोस का एक आदमी पेशाब करने के लिए उठा था। इस बेमौक़े नहाने से उसे अचरज हुआ। "कौन ? हाकिम दादा ? आज क्या है दादा ? हाँ, गरमी आज सचमुच ज़्यादा है।"

"कितनी रात होगी बबुआ ?"

"पहर से नीची ही दादा !"

स्नान करके मामा घर आये। आँगन में बिछावन ले आये। सो गये ! हाँ, सो गये !

एक झपक–

इँजोरिया आई है। ओह ! बिलकुल जवान हो चली है। पैर पकड़कर रोती है ! फिर उठते ही बारी की ओर बढ़ती है–बाबूजी चलिए, लीची देखूं।

दरवाज़े पर दूल्हा कह रहा है–"छिः, बिना रोक-टोक के ही दखलदिहानी दे दी ! क्षत्रियों की शान..."

मामा चौंककर उठे। सीधे देवता के घर में पहुँचे। वहाँ दो तलवारें रखी हुई थीं। मामा पाँच-छः दिनों से घर से बिलकुल नहीं निकले थे। अतः घर की एक-एक चीज़ को, शग़ल के लिए ही, उन्होंने सँभाला-सुधारा था। इन दिनों तलवारों की धार भी ताज़ा की थी। खानदानी तलवारें थीं–उस ज़माने की, जब तलवारों में ही सब शक्ति-सम्पत्ति निहित थी। उसकी धार का क्या कहना ? ज़रा शान देनी थी, चमक उठी थी ! मामा ने गृहदेवता को प्रणाम किया। दोनो तलवारों को उठाया। घर से बाहर गये। एक बार घर को नज़र भरकर देखा–फिर चल पड़े। कहाँ ?

× × ×

भोर ही खून-खून का शोर होने लगा। वह आवाज़ महाजनजी के दरवाज़े से आ रही थी।

महाजनजी और उनके साहबज़ादा गरमी से परेशान दरवाज़े की अँगनई में सोये हुए थे। किसी ने–शायद दो आदमी रहे होंगे–

दोनो पर इस ज़ोर से तलवार चलाई थी कि एक का तो सिर धड़ से अलग था और दूसरे का आधा कंधा और आधी गर्दन कट चुकी थी। यदि एक आदमी रहा होगा, तो पहले वार में महाजनजी के साहबज़ादे का सिर काटा होगा, और दूसरे वार में वह ज़रा-सा चूंक गया होगा; लेकिन यह चूकना क्या था ? ज़रा-सी साँस आ रही थी, जो एकआध घंटे में बंद ही होनेवाली थी। हुई भी !

जब लाशें तड़पने लगी थीं, लोग जागे थे। किसी ने एक आदमी को भागते भी देखा था; लेकिन किसकी हिम्मत जो मौत का पीछा करे !

एक ने कहा–

"शायद हाकिम सिंह ने यह किया होगा।"

कुछ लोग हथियारों से लैस हाकिमसिंह के घर आये। दरवाज़ा बाहर से बंद। समझा, कहीं भाग गया है। पड़ोसी ने कहा–"वह बागमती स्नान करने गये होंगे। समझ-बूझकर तुहमत लगाओ।"

लेकिन जाँच-बूझ ऐसे अवसरों पर ? घर का ताला तोड़कर कुछ लोग भीतर घुसे। खून के आतंक से सभी दहशत में थे। नहीं तो पड़ोसी इसको बरदाश्त नहीं करते ! लेकिन इस समय चुप रहने में ही कल्याण था।

घर की रत्ती-रत्ती छानकर कुछ लोग पागल-से बागमती की ओर दौड़े।

समूचे गाँव में हलचल थी ! दो-दो खून ! उफ़, ऐसा तो कभी नहीं हुआ !

और, हाकिमसिह नहीं मिल रहे हैं ! क्या कहीं भाग गये ?

खून-खून की आवाज़ सुनते ही लीची के सभी रखवाले भी अपनी लाठियाँ-बर्छियाँ सँभालकर महाजनजी के घर की ओर दौड़े थे। जब बहुत दिन चढ़े तक हाकिम सिंह का कोई पता नहीं चला, लाशें थाने की ओर ले जाई गईं, और समूचा गाँव थर्रा उठा, रखवाले लीची के निकट आये।

उनमे से एक रखवाला मचान पर—हाकिम मामा के ही गाड़े हुए मचान पर—जाकर विश्राम के लिए जब चित्त लेटा, अपने ऊपर लीची की डाल में एक विचित्र दृश्य देख चिल्लाता हुआ भागा।

उसका भागना था कि सब उसके पीछे भागे।

"भूत ! भूत ! भूत !" –थोड़ी देर के बाद घिघिआते हुए वह बोला।

लोगों ने पेड़ के निकट जाकर देखा–अजीब दृश्य !

दोनो तरफ दो तलवारें लटक रही हैं। बीच में एक आदमी एक दोकनिया पर बैठा बीच के तने को पकड़े हुए-सा है। वह कौन है ? अरे हाकिम सिंह ! हाकिम सिंह !

वह आदमी, इतना शोर होने पर भी, ज़रा भी हिल-डुल नहीं रहा है। क्या बात है ? क्या हाकिम सिंह छल किये हुए बैठे हैं कि दो खून कर चुका, एकआध का और सही !

मौत की ओर कौन बढ़े ?

दुर्भाग्य से जिस दिन यह दुर्घटना हुई, मैं ननिहाल में ही था। हल्ला सुनकर मैं भी वहाँ जा पहुँचा था। मैं हाकिम मामा की रग-रग से परिचित था। किसी निरपराध पर उनका हाथ उठ नहीं सकता था। फिर मैं तो उनके प्यारे लड़कों में से था। मैंने सोचा, चलकर उनसे उतरने को कहूँ, और अब जो होना है, उसे सामना करने को उन्हें धैर्य दूँ। लेकिन यह क्या ? यह तो हाकिम मामा नहीं; यह तो उनकी लाश है !

शरीर पर कोई घाव नहीं, कोई दूसरा मारक चिन्ह नहीं, फाँसी तो लगाई ही नहीं, फिर यह क्या हुआ, कैसे हुआ ?

हाकिम मामा की लाश नीचे लाई गई। उनके सिर में लहू का चंदन था। बस, एक यही विशेष चिन्ह !

आज तक भी यह रहस्य ही है कि हाकिम मामा ने प्राण कैसे छोड़े।

कोई-कोई कहते हैं, उन्होंने योग सीखा था। योगी लोग, जब चाहें, प्राण को शरीर से निकाल सकते हैं।

किंतु मैं विज्ञान का उपासक, इसे क्यों मानूं ? और, फिर इस लीची की डाल पर ही योग की यह मरण-साधना क्यों ?

तब बात क्या थी ?

उस दिन झोपड़ी रोई

(१)

रमेश बाबू और राघो एक ही गाँव के थे।

राघो के पूर्वज बेवक़ूफ थे—क्योंकि न तो उन्होंने लाठी के ज़ोर पर किसी का हक़ छीना, न सूद के नाम पर किसी का गला घोंटा, न किन्हीं दो काठ के पुतलों को लड़ाकर अपना उल्लू सीधा किया, न किन्हीं भोले-भाले भावुकों को फँसाकर मीठी छुरी से ज़बह किया। संक्षेप में, अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, धोखा, जाल, मक्कारी आदि की शरण नहीं ली। अतः वह सदा ग़रीब रहे, ग़रीब मरे, और राघो को भी ग़रीब बनने को बाध्य किया।

किंतु, रमेश बाबू के पूर्वज चतुर थे—खासकर उनके पिता तो चतुर-शिरोमणि थे। उन्होंने संपत्ति के त्रिदेव—लगान, सूद और मुनाफा—की ही आराधना नहीं की, इनके साथ-साथ उन भूत-प्रेतों की भी पूजा की, जिनके विना इन त्रिदेवों की महिमा अक्षुण्ण रह ही नहीं सकती। कितने घर उनके नाम पर धूल चाट रहे हैं, कितनी ही आँखें उनके काम पर आँसू का तर्पण किया करती हैं। कितनी ही बरबादी का इतिहास उनके शुभ नाम के साथ जुड़ा हुआ है, कितनी ही दग़ाबाजी और शैतानी की कहानियाँ उनकी उज्ज्वल कीर्त्ति को बढ़ा रही हैं। आखिर चतुराई का दूसरा अर्थ ही क्या है ?

–दूसरों को लूट-खसोटकर अपना घर भरो। लोग कहेंगे, यह अँगरेजी राज्य है, इसमें लूट कहाँ, कैसे ? इसका जवाब हम नहीं देना चाहते। लोगों से केवल यही सुना है कि गाँव के चौकीदार से लेकर ज़िला के अफ़सर तक उनकी मुट्ठी में रहे, तभी तो कितने ख़ून के मामलों को भी वह पचा गये थे। ख़ैर, जनश्रुति पर हमें जाना नहीं है, संक्षेप में केवल यही कहना है कि वह चतुर-शिरोमणि थे, फलत: धनी बने, धनी रहे, धनी मरे, और मरकर भी धनी बना गये रमेश बाबू को।

इस चतुराई को केवल हमीं नहीं स्वीकार करते, दुनिया भी स्वीकृत कर चुकी है। तभी तो वह रमेशप्रसाद सिंह को रमेश बाबू कहती और राघोप्रसादसिंह को राघो नाम से पुकारती है। हाय री दुनिया ! आह री उसकी विवेचना-शक्ति !

रमेश और राघो दोनो स्कूल गये। रमेश फेल होते रहे, राघो वज़ीफे पाता रहा। जिस समय राघो बी० ए० ऑनर्स की तैयारी कर रहा था, रमेश का छकड़ा मैट्रिक के दरवाज़े पर ही अटका पड़ा था। इतने ही में गाँधी की आँधी उठी। राघो ने देश की पुकार पर अपने भविष्य पर लात मार दी। रमेश अपने छकड़े को घसीटते ही रहे। आखिर, प्रोफ़ेसरों के मुँह में रसगुल्ले भरकर और परीक्षकों की अक्ल पर चाँदी का परदा डालकर एम० ए० पास कर ही गये। ख़रगोश पीछे पड़ गया, कछुए की विजय रही।

राघो कई बार जेल काट आये। आंदोलन धीमा पड़ने पर एक राष्ट्रीय विद्यालय में भर्ती हो गये। क्या करते ? जिसने अपनी सुन्दरी लड़की निर्धन राघो को, वज़ीफा पाते देखकर भविष्य की आशा पर, पढ़ते समय ही सौंप दी थी, उसकी आशावादिता को चरितार्थ करने के लिए नहीं, तो कम-से-कम अपनी इस सुशीला पत्नी के भरण-पोषण के ख्याल से उन्हें कुछ पैसे कमाने थे ही। किंतु राष्ट्रीय विद्यालय में जितने पैसे मिलते हैं, वह सभी जानते हैं। पर-साल जब फिर सत्याग्रह-युद्ध छिड़ा और राघो ने दो वर्ष के लिए जेल-यात्रा की, तब उनकी पत्नी के पास कितने सामान थे, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है, वर्णन नहीं हो सकता। पत्नी भी अकेली न थी—बाल-बच्चोंवाली थी।

इधर रमेश बाबू एम० ए० की डिग्री लेकर जब बाहर हुए, तो अपर कौंसिल और बोर्ड में जाने की धुन सवार हुई। लेकिन,

उन्होंने देखा, इन स्थानों पर अब राष्ट्रीयता आ बैठी है। समय को पहचाननेवाले जीव थे। जिस पैतृक चतुराई ने विश्व-विद्यालय को मात किया था, उसी ने उनके शरीर पर खादी का कुरता, सिर पर गाँधी टोपी और पैर में मदरासी चप्पल पहना दिये। राष्ट्रीयता ने उनका लोहा मान लिया। वह स्वराज्य-पार्टी के प्रमुख सदस्य बने, एम० एल्० सी० हुए, लोकल बोर्ड के चेयरमैन (कुरसी-पुरुष) भी। अब चारों ओर रमेश बाबू की धूम थी। रमेश बाबू देश-भक्त थे, नेता थे। रमेश बाबू के महल और मोटर ने वह कर दिखाया जो राघो की तपस्या और त्याग न कर सके थे।

फिर संग्राम छिड़ा। अब रमेश बाबू घबराये। इतनी जल्दी यह क्राइसिस (संकट) आ जायगा, इसकी कल्पना तक उन्होंने नहीं की थी। बग़लें झाँकने लगे। किंतु कोई चारा नहीं था—एक तरफ़ खाईं, दूसरी ओर कुआँ था। इसी पशोपेश में ही थे कि खबर उड़ी, रमेश बाबू पर वारंट कट चुका है—कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दी गई, फिर नेता बचते कैसे ? तो परवा क्या ? जिस यतींद्रनाथ दास और उसके साथियों को वह जी-भर गाली देते रहे, उसके चलते ही हजारीबाग़ का स्वास्थ्य-भवन उनके लिए सुरक्षित था। 'ए' डिवीज़न के क़ैदी नहीं, तो 'बी' कहाँ जानेवाला है। हलवा, दूध, अंडे, पावरोटी, गद्दा, तकिया, मशहरी—सब कुछ। जो कमी होगी, वह जेल के 'पिछले दरवाज़े' से। पैसे से क्या नहीं हो सकता ? सरकार जेल में एक ही दरवाज़ा बनवाती है, किंतु पैसे की महिमा देखिए, वह पीछे से भी एक दरवाज़ा खुलवा देता है। धन्य पैसा, धन्य पैसा-पति !

तो पहले एक प्रदर्शन हो जाय ! मोटर लेकर रमेश बाबू उड़े। अपने हलक़े भर में घूम आये। उनके दूत आगे-आगे दौड़ रहे थे। सब जगह पहले से ही मालायें गुथी थीं, चंदन घिसा था, आरती सजी थी। रमेश बाबू के जय-जयकार से हलक़ा-भर गूंज उठा।

राघो भी जेल गये थे—कई बार। किंतु, यह प्रदर्शन की बुद्धि उनमें कहाँ ? शायद वह इससे घृणा भी करते थे। किंतु, करते रहें घृणा वह। रमेश बाबू इसकी उपयोगिता जानते थे। और, इसीलिए तो वह इस क्षेत्र में आये भी थे।

खैर, रमेश बाबू को सजा हो गई और मैजिस्ट्रेट ने दो वर्ष की कड़ी क़ैद कस दी। और, सबसे बड़ी ज़्यादती तो यह की गई

कि उन्हें 'सी' क्लास में झोंक दिया गया। 'सी' क्लास सुनते ही रमेश बाबू के होश उड़ गये थे। किंतु, क्या करें ? इतनी मालायें, चंदन और आरती के बाद अब माफ़ी भी तो नहीं माँग सकते थे!

(२)

कैंप-जेल के दक्षिण-पश्चिम कोने पर चार फूस की झोपड़ियाँ बनी हैं। छूत की बीमारीवाले रोगी उन्हीं में रखे जाते हैं।

उन्हीं झोपड़ियों में से एक में एक बीमार खाट पर पड़ा कराह रहा है। उसे वह बीमारी है, जो कैंप-जेल में गलफुल्ली के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कनपटी से लेकर कंठ तक सूज जाता है—ऐसा कि खाना कौन कहे, कुछ पीना भी मुश्किल हो जाता है। बुख़ार तो और गज़ब ढाता है। सबसे बढ़कर है पीड़ा और टीस। बीमार छटपटाता और कराहता रहता है।

बीमार खाट पर पड़ा कराह रहा है—बहुत ही धीरे-धीरे, बहुत ही संयत भाव से। मालूम होता है, वह पीड़ा को चुपचाप पी जाना चाहता है, टीस को निगल जाना चाहता है। किंतु, बहुत कोशिश करने पर भी वह ऐसा नहीं कर पाता। एक बर्छी-सी कनपटी में घुसती और गले से आर-पार निकल जाती है – एक जलती सलाई-सी उसकी नस-नस में दौड़ने लगती है। मालूम होता है, छाती दरक गई, दिमाग़ फट पड़ा। रह-रहकर उसकी आँखें सजल हो जातीं, नाक से उसाँसे निकलने लगतीं, और मुँह से अकस्मात 'आह' निकल पड़ती। वह छटपटा रहा है, कराह रहा है।

आज सोलह महीने से वह जेल में है। जब से आया, वह कभी बीमार नहीं पड़ा। वह हँसकर कहा करता–"बीमार पड़ने की मुझे फ़ुरसत कहाँ ?" सचमुच उसे फ़ुरसत कहाँ थी ! सुबह चार बजे से रात के आठ बजे तक – उसका समय एक निश्चित कार्य-क्रम में बँटा था। वार्ड-बंदी के आठ घंटे ही उसका विश्राम-काल था।

जेल की चहल-पहल का वह केंद्र था। रोगियों की देख-भाल करना, सभायें और जलसे कराना, अनेक तरह की कसरतें सिखाना, खेल-कूद को प्रोत्साहन देना, उसका दैनिक काम था। और, सबसे मुख्य काम था लोगों को पढ़ाना-लिखाना। उसी के उद्योग से जेल में एक बाज़ाब्ता राजबंदी-विद्यालय और कई अध्ययन-केंद्र चल रहे हैं।

किंतु, न-जाने क्यों, वह अचानक बीमार पड़ा। और, बीमार पड़ा ऐसा कि लोग भौचक्के रह गये। 'गलफुल्ली' तो हुई थी बहुत लोगों को, यह यहाँ की आम बीमारी हो गई है, किंतु इसका ऐसा भीषण रूप तो कभी नहीं देखा गया। उसकी पीड़ा देखकर किसी को धैर्य नहीं है। बहुत-से दीवाने युवक उसको घेरे हुए सब प्रकार सेवा कर रहे हैं—किंतु तो भी वह छटपटा रहा है, कराह रहा है। जो दूसरों को धैर्य देता, जिसके माथे पर कभी शिकन नहीं देखी गई, जो विनोद और हास्य की साक्षात् प्रतिमा था, वही छटपटा रहा है, कराह रहा है !

इसकी पीड़ा देखकर लोगों ने चाहा कि जेल-अधिकारी इसके लिए कोई खास प्रबंध करें—अपने इस सेवक पर उन लोगों की ऐसी ही ममता थी, ऐसा ही स्नेह था ! किंतु जेल-अधिकारियों को फ़ुरसत कहाँ थी ? वे लोग तो एक दूसरे कैदी के लिए व्यस्त थे, जो हॉस्पिटल न० २ में पड़ा था।

और, वह दूसरा कैदी सख्त बीमार था। ज़रूर सख्त बीमार था, नहीं तो जेल-सुपरिंटेंडेंट उसको देखने के लिए सबेरे-शाम, बिला नागा, क्यों आता? क्यों डॉक्टर उसकी देख-रेख में इतना, इस क़दर, व्यस्त रहते ?

वह सख्त बीमार था। वह टहलता था, फिरता था; खाता था, सोता था; खेलता और हँसता भी था—तो भी वह सख्त बीमार था। हाँ, खेलता था शतरंज की दो-चार बाज़ियाँ, ताश के दो-चार हाथ; और, खाता था केवल अंगूर के 'कुछ' गुच्छे, नारंगी का 'थोड़ा' रस, लोफ के 'दो' स्लाइस, गरम-गरम, मक्खन से लिपटे। 'थोड़ा' दूध भी लेता था, किंतु साधारण दूध उसे रुचता न था, माल्टेड का जमा हुआ दूध। तो भी वह सख्त बीमार था। आप कहेंगे, भला, यह कैसी सख्त बीमारी है, बाबा ! आप ही-ऐसे बहुत -से बेवकूफ लोग हैं, जो ऐसा ही प्रश्न किया करते हैं, किंतु इससे क्या ? विलायत से डॉक्टरी पास करके आये हुए सुपरिंटेंडेंट ने भी मान लिया है कि वह सख्त बीमार है।

वह सख्त बीमार है, क्योंकि वह एम्० एल्० सी० था, वह एक बड़े ज़मींदार का बेटा है और स्वराज्य-सरकार में शायद मिनिस्टर होगा !

कैंप-जेल के क़ैदियों ने भी मान लिया है कि यह सख़्त बीमार है, किंतु इस बीमारी का कारण वह कुछ अजीब बतलाते हैं। उनका कहना है कि जब से यह ज़मींदार का सपूत जेल आया, तभी से बेचारे को बेहद परेशानी उठानी पड़ी है। सुपरिंटेंडेंट के साथ इसको दौड़ना, जेलर के साथ इसे घूमना, डॉक्टरों के साथ इसको बैठना, जमादार की संगत इसको निभानी। बेचारा क्या करे, परेशान रहता। ख़ासकर उस दिन तो उसकी परेशानी और जाँफिसानी की हद हो गई, जिस दिन राजबंदियों ने, अपनी कई शिकायतों को दूर न होते देख, वार्ड में बंद होने से इनकार कर दिया था। अजीब समाँ था। दिन-भर कलक्टर, पुलिस-सुपरिटेंडेंट, आई० जी० आदि का आना-जाना लगा रहा। शाम को एक ओर पाँच सौ पुलिस के जवान संगीनें सीधी किये खड़े थे, दूसरी ओर कैंप-जेल के दो हज़ार क़ैदी, प्रहार की प्रतीक्षा में थे। उस समय यह सपूत, न-जाने किसके इशारे पर, उटा, और लगा गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ाकर, पैरों पर नमकर, लोगों से वार्ड में बंद होने को कहने। कुछ भोले-भाले, ख़ासकर उसके हलक़ें के वे लोग, जिनपर उसके धन का रोब जमा था, उसके चकमे में आ गये और उन लोगों को लेकर वह अपने वार्ड में बंद हो गया ! एक ओर तो लोग प्राणों की बाज़ी लगाये बाहर खड़े थे; दूसरी ओर इसकी यह करतूत ! कैंप-जेल के राजबंदी कहते हैं कि चूंकि उस दिन उसने इस 'सुकर्म' में बड़ी मेहनत की थी, अतः वह सख़्त बीमार है। किंतु, मालूम होता है, क़ैदियों का यह कथन द्वेष-वश है—बड़ों के विरोधी बहुत होते हैं !

जो कुछ हो, इतना निश्चित है कि इस क़ैदी को लेकर जेल-अधिकारी इतने परेशान हैं कि किसी दूसरे की ओर ख़ास ध्यान देना मुश्किल हो रहा है। क्या करें–बेचारे लाचार हैं ! और, लाचार को विचार क्या ?

(३)

ख़ैर, जेल-अधिकारी अपने कर्तव्य से भले ही चूकें, भले ही द्वैध भाव रखें, किंतु प्रकृति न तो कर्तव्य से चूकेगी, न द्वैध रखेगी। आज आषाढ़ के लगते ही उसने संसार को जल-दान दिया, तो वह कैंप-जेल को भी नहीं भूल सकी। चैत, बैसाख, जेठ—तीन महीने तक भट्ठी में तपने के बाद आकाश को बादलों से घिरा देख कैंप-जेल के प्राणी आनंद-विह्वल हो रहे हैं। बूढ़े चहक रहे हैं, बच्चे

उछल रहे हैं। और, जब रिमझिम वर्षा होने लगी, कई वार्डों से बारहमासे की तान सुन पड़ी। मनोभाव न रुक सका--गीत के रूप में फूट पड़ा !

पानी की कुछ बूंदें, फूस की उस झोपड़ी के छप्पर को छेदकर, हमारे पहले बीमार के कपाल पर आ गिरीं। वह आँखें मूंदे अर्ध-मूर्च्छित दशा में पड़ा था। चौंका। ऊपर देखा। एक के बाद एक, ताँता बाँधे, बूंदें आ रही थीं। निकट के परिचारक से इशारा किया। वह झटपट एक हाथ में लोहे की 'बाटी' उठाकर ऊपर से आनेवाली बूंदों को रोकने लगा, और दूसरे हाथ से कपाल पर की बूंदें पोंछ दीं; और बड़बड़ा उठा--"बदमाश ने झोपड़ी को छवाया भी नहीं; दम नहीं था, तो क़ैद काहे किया।"

ये सहज भाव से निकले सीधे-सादे शब्द बीमार के कानों में पड़े। किंतु, पड़ते ही उसके मस्तिष्क में, उसके हृदय में, उसकी नस-नस में उन्होंने कैसी आँधी की सृष्टि कर दी !

बीमारी में भावुकता बढ़ जाती है, विचार-शक्ति दब जाती है। मनोवैज्ञानिक इसकी क्या व्याख्या करेंगे, हम नहीं जानते । हम तो केवल यही कहेंगे कि भावुकता हमारी जन्मगत प्रवृत्ति है, अतः अपनी चीज़ है, दुःख-सुख में यह हमें नहीं छोड़ती। विचार-शक्ति 'प्राप्त' की गई चीज़ है, अतः पराई चीज़ है। विषेश अवसर आते ही अपनी चीज़ पास रह जाती है, पराई चीज़ भाग जाती है। उसकी अवधि जितनी लम्बी होती जायगी, विचार-शक्ति उतनी ही दूर और भावना-शक्ति उतनी ही निकट आती जायगी। यदि लोग हमारी इस व्याख्या को मान लें, तो उन बेचारों को लोग न कोसें, जो सुख की अधिकाई में ठट्ठा मारकर हँसते और दुःख में फूटकर रोते हैं।

यहाँ भी भावना-शक्ति ने विचार-शक्ति पर विजय पाई। विवेक भाग पड़ा, भावुकता ने रंग बाँधने शुरू किये।

बीमार की आँखों के सामने उसकी अपनी, अपने गाँव की, फूस की झोपड़ी नाचने लगी, और, नाचने लगीं उसके साथ ही उसके अन्दर पलनेवाली तीन निरीह आत्माओं की असंख्य यंत्रणायें। उसकी झोपड़ी भी तो परसाल से नहीं छाई गई है ! वहाँ भी इस समय बूंदों की झड़ी लग गई होगी। उसमें कैसे होगी उसकी रानी, उसकी मुनिया, उसका कुमार। रानी, मुन्नी, कुमार--कैसे होंगे वे ? ....

"बदमाश ने झोपड़ी को छवाया भी नहीं; जब दम नहीं था, तब क़ैद काहे किया।"

क्यों क़ैद किया उसने इन तीन निरीह प्राणियों को–रानी, मुन्नी, कुमार को। सरकार यदि दोषी है, तो वह क्या है?

उसकी रानी–उसकी टूटी कुटिया की रानी–उसकी रूठी दुनिया की रानी। फटे वस्त्रों में रखकर भी जिसको उसने 'रानी' की उपाधि दी थी, अकिंचन जानते हुए भी जिसने उसे 'राजा' कहकर पुकारा था। कितने प्यार से रखता था वह अपनी रानी को, कितने दुलार से से रखती थी उसकी रानी उसे! उसके सारे अभावों को जो अपनी एक सरल मुस्कुराहट से भर देती थी, उसके सारे अवसाद को जो अपनी बाँकी चितवन से दूर कर देती थी––कैसे होगी उसकी रानी इस समय––इस समय, जब उसकी झोपड़ी चू रही होगी, उसका छप्पर रो रहा होगा। रानी–रानी..................................

"झोपड़ी को छवाया भी नहीं; जब दम नहीं था.........."

वेहोशी। फिर संज्ञा। फिर भावुकता–

उसकी मुनिया बेटी––छोटी, चंचल, फुदकती हुई––ठीक मुनिया चिड़िया की तरह। चहचहाती रहती, फुदकती फिरती। राष्ट्रीय विद्यालय के छोटे वेतन में से जो कुछ वचता, उसमें से कुछ आने निकालकर जिसके लिए वह किशमिश और मिहीदाने खरीदना नहीं भूलता,! वही मुनिया, मुन्नी रानी, कैसे होगी? किस तरह रहती होगी, क्या खाती होगी; क्या खा........................

"जव दम नहीं था, तब.."

शून्य दृष्टि छप्पर की ओर। फिर आँखें मूंदी––फिर चेतना, फिर भावना –

कुमार! कुमार! वह वच्चा, जिसका मुंह भी उसने नहीं देखा, जिसका जन्म उसके जेल आने के बाद हुआ। वह कैसा होगा? ख़वर सुनकर जिसका नामकरण उसने मन-ही-मन 'कुमार' कर रखा है, कैसा होगा उसका वह कुमार? आह रे कुमार, आह री उसकी माँ––रानी–

"जब........तब......"

और देश में आज एक उसकी रानी, उसकी मुनिया, उसका कुमार ही तो ऐसी हालत में नहीं होंगे। आषाढ़ की इस पहली संध्या को, जब कि संसार में अजस्र आनंद की धारा-वृष्टि होनी चाहिए, कितनी ही रानियाँ, कितने ही कुमार, कितनी ही मुनियाँ......!! उसकी आँखों के सामने सैकड़ों, हज़ारों, लाखों, अबलाओं, बच्चों, ग़रीबों, मासूमों के अश्रु-पूर्ण चेहरे नाचने लगे—

झमाझम वर्षा होने लगी थी। उसको मालूम हुआ, सारा संसार आज रो रहा है—आकाश रो रहा है, बादल हाहाकार कर रहे हैं, पवन चीख रहा है, दिशायें उसाँसें भर रही हैं, पृथ्वी आँसू से भीगी हुई है।

रुदन ! हाहाकार ! चीख ! उसाँस ! आँसू !

उसकी आँखों और झोपड़ी में प्रतिद्वंद्विता मच गई है—कौन अधिक रोती है, कौन अधिक पानी बरसाती है ?

पानी—आँसू। आँसू—पानी।

और उसी समय वार्ड नं० २ में ताश चल रहा था और चाय की जगह गरम काफी से कलेजे को गरमी और दिमाग़ को मशर्रत पहुँचाई जा रही थी !

झोपड़ी रो रही है—वह सदा रोती आई है !

और, महल.......कब तक हँसता रहेगा ?

क़ैदी की पत्नी

अपनी रानी को

जिसके सुख-दुख की तस्वीरें

अंकित करने की चेष्टा

है इसमें ।

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

क्यों ?

राजनीतिक पुरुषों के गले में जयमाला पड़ती है, उनका जय-जयकार होता है। इस रूप में उनकी जेल-यात्रा या त्याग-तपस्या की क्षतिपूर्त्ति होती जाती है।

किन्तु, उनकी पत्नियों की क्या दशा होती है, उन्हें किन तक-लीफों और परीशानियों में ज़िन्दगी गुज़ारनी होती है—क्या इस ओर कभी ध्यान दिया गया है ?

शरीर के कष्ट तो सह भी लिये जाते हैं, किन्तु मानसिक चिन्तायें और वेदनायें—बिच्छू के डंक भी क्या खाकर मुकाबला करेंगे उनका !

'क़ैदी की पत्नी' में मैंने उन्हीं वेदनाओं को साकार करने की चेष्टा की है। और, स्पष्ट कहूँ, उसमें सफल नहीं हो सका हूँ, क्योंकि कष्टों का द्रष्टा मात्र ही तो रहा हूँ।

तो भी, इसे लिख कर मुझे सन्तोष हुआ था कि मैंने देश की हज़ार-हज़ार ऐसी पत्नियों के आँसुओं की उज्वलता से अपनी लेखनी की स्याही को विमल-धवल करने का एक तुच्छ प्रयास तो कर दिया।

इसकी रचना आज से बारह वर्ष पहले हुई; इसकी सारी पृष्ठभूमि उसी समय की है !

१-११-५३ श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

क. स्वतिश्री

हड़हड़ करती गाड़ी स्टेशन पर आ लगी।

कुलियों की दौड़धूप, यात्रियों के रेल-पेल, फेरीवालों के शोर-गुल के वीच ड्योढ़े दर्जे के डव्वे से एक नौजवान गाँधी-टोपी पहने उतरा और उसके वाद एक लड़का और एक वच्चा और अन्त में गोद में वच्ची लिये एक स्त्री उतरी। स्त्री खादी की सुफेद साड़ी पहने थी, जिसकी किनारी गहरे नीले रंग की, और वदन में खादी की ही हलके रंग की छींट की चोली। पैरों में चप्पल। गोरे चेहरे पर वाल की जो कई लटें विखर पड़ी थीं, उनमें कुछ धूप-छाँह के रंग। कुछ ऐसी रेखायें भवों के ऊपर, जो मानसिक चिन्ता का निश्चित संकेत करती। गोद में जो वच्ची है, वह कोलाहल से त्रस्त माँ का मुँह देख रही। बच्ची का एक हाथ माँ की छाती पर, एक ठुड्डी पर। वच्चा, जो पाँच-छः वर्ष का होगा, भीड़भाड़ देख, नौजवान के पास से दौड़कर स्त्री के पास चला आया और उसकी अँगुली पकड़ कर उसके पैरों से चिपक-सा रहा। वड़े लड़के की उम्र ग्यारह-वारह वर्ष से ज़्यादा की क्या होगी, किन्तु, वह काफी होशियार और दुनियादार मालूम होता था। कभी वह सामान गिनता और कुलियों पर हुकूमत करता, तो कभी 'काकाजी, टिकट निकाल कर रिटर्न की अधकटी रख लीजिए'--का तक़ाज़ा नौजवान से करता और बच्चे के नज़दीक पहुँचकर, 'ववुआ, माँ की अँगुली पकड़े रहना'--का आदेश करता। स्त्री उसके मुँह की ओर देखकर गर्व अनुभव करती। नौजवान का चेहरा बताता, उसने ज़िन्दगी देहातों में गुज़ारी है, लेकिन वह शहर के तौरतरीक़े से भी अपरिचित नहीं है।

"कैसा शहर है यह, न एक फिटन, न एक घोड़ागाड़ी——टमटम पर कहीं भलेमानस जाते हैं।"——नौजवान झल्लाता हुआ स्टेशन के बाहर खड़ा है और दोनों कुली "न हो, तो टैक्सी कर लीजिए बाबू"——कह कर अपने भारी बोझ की परीशानी और जल्दीबाज़ी की सूचना दे रहे हैं। उसी समय, छोटा बच्चा, स्त्री की अँगुली छोड़ नौजवान के निकट पहुँचा और बोला——"काका, बाबूजी आज मिलेंगे न ?"

"बाबूजी की तुम्हें बड़ी फिक्र—अगर बाबूजी को भी तुम्हारे ऐसी फिक्र होती तब न ?" —स्त्री ने बच्चे की ओर मुखातिब होकर कहा। बच्चा फिर स्त्री की अँगुली से आ रहा और बोला—"क्या बाबूजी नहीं मिलेंगे, मैया ?" उसकी आँखों में करुणा थी !

"मिलेंगे, मिलेंगे—बाबूजी हमसे ज़रूर मिलेंगे बबुआ", कहकर बड़े लड़के ने उसे गोद में उठा लिया !

कई मुँह से बाबूजी-बाबूजी की आवाज़ सुन गोद की बच्ची किलक पड़ी——"बाबूजी !"

"हाँ, कसर तुम्हारी ही थी"—कह कर स्त्री उत्कंठित आँखों से बच्ची के मुँह की ओर देखने लगी। उसकी आँखों में गंगा-जमुना उमड़ आई। नौजवान ने कुलियों से कहा, सामान टैक्सी पर रखो और खुद स्त्री के निकट जाकर बोला—"स्टेशन पर यों नहीं किया जाता भौजी ! यह भैया की शान के खिलाफ है कि लोग आपके आँसू देखें !"

स्त्री के मुँह से शब्द नहीं निकले। कुली जिस ओर सामान लिये जा रहे थे, वह चुपके, धीरे, उस ओर बढ़ी। नौजवान ने आगे बढ़कर टैक्सी का दरवाज़ा खोल दिया। सब बैठे; भों-भों की आवाज़ देकर टैक्सी बढ़ी—कितने अरमानों को ढोती !

× × ×

दूसरा दिन। वही स्टेशन, वही पूरा झुंड—वही स्त्री, वही नौजवान, वही लड़का, वही बच्चा, वही बच्ची ! किन्तु, किसी के मुँह से कोई शब्द नहीं। सबके चेहरे उतरे। कुलियों ने ड्योढ़े दर्जे में सामान रखे। लड़के ने मन-ही-मन उनकी गिनती की। नौजवान ने चुपचाप कुलियों के हाथ में पैसे रख दिये। छोटा बच्चा भी चुप। मानों इन्हें शब्दों से घृणा हो गई हो, या ये शब्द से डरते हों।

किन्तु, यह छोटी बच्ची। यह क्या जाने डर क्या चीज़ ? घृणा का इसे अहसास कहाँ ? ज्यों ही गाड़ी चली, सीटी की चीख़ कमी, स्टेशन का होहल्ला दूर हुआ, वह स्त्री की ठुड्डी पकड़ कर बोल उठी—"बाबूजी !"

कल से ही इतनी बार वह अपने दो भाइयों के मुँह से—'बाबूजी, बाबूजी' सुन चुकी थी कि उसकी जिह्वा पर यह शब्द चढ़ चुका था। वह उसे दुहरा-मात्र रही थी। उसे क्या मालूम, उसका यह शब्द उसकी माँ के लिए क्या काम कर रहा था ? नौजवान दुखी था, भैया से भेंट नहीं हो सकी—किन्तु, वह जानता था, उसके भैया शान के आदमी हैं; क़ैद हुए तो क्या ? राजबंदी की प्रतिष्ठा के लिए वह सब कुछ कर सकते हैं। यह भी कोई बात है कि पत्नी से मुलाक़ात होने वक्त भी बग़ल में सी॰ आई॰ डी॰ बैठे ! ऐसा नियम बनानेवाले पर तुफ़, और धिक्कार है उन्हें जो ऐसा नियम मानते हों। भैया कैसे मानते भला इसे ? भेंट न हुई, न हो। बड़े लड़के का चेहरा भी उतरा था, लेकिन अपने तेजस्वी पिता के स्वभाव से वह भी अपरिचित न था—'टूट तो सकते हैं हम, लेकिन लचक सकते नहीं' का नमूना ! छोटा बच्चा भी ग़मगीन था, किन्तु सिर्फ़ अपने ग़म से नहीं। सबकी ग़मगीनी की परिछाईं उसके भावना-प्रवण हृदय पर पड़ी थी। किन्तु वह स्त्री !

उफ़, कितने अरमान लेकर आई थी ! कितने दिन हो गये, आज उन्हें देखूँगी, उनसे दो-दो बातें करूँगी। उन्हें उलहना क्या दूँगी, बिना मुँह खोले ही वह सब बातें जान जायँगे। ये बच्चे उन्हें देखेंगे, खुश होंगे ! वे भी बच्चों को देखकर क्या कम खुश होंगे ? बच्चों से उनको कितना स्नेह है ! किन्तु, हाय, भेंट नहीं हो सकी ! क्यों न हो सकी, इसके फेर में पड़ने की उसे सुध कहाँ थी ? उफ़, ये बच्चे कैसे उदास लौट रहे हैं ? अपना दुख वह भूल भी जाती, पी भी जाती ,इसकी वह आदी हो चली थी; लेकिन, इन बच्चों के मुँह देख-देखकर उसकी छाती फटी जा रही है ! और, इतने में बच्ची का यह 'बाबूजी' ! —उससे सामने देखा नहीं गया, जहाँ सामने के बेंच पर कई सभ्य सहयात्री बैठे थे। वह मुँह मोड़ कर खिड़की से बाहर देखने लगी ! देखने लगी ? उसकी आँखों से अजस्र अश्रुधारा चली जा रही है और इन आँसुओं के बीच उसकी पूरी ज़िन्दगी आज तस्वीरें बन-बनकर सिनेमा की चित्रावली की तरह एक-एक कर आ-जा रही है !

१. गुड़िया

कभी इस गोद की बच्ची की तरह वह भी बच्ची रही होगी, लेकिन इन आँसुओं के हजूम में उसे अपनी वह सूरत याद नहीं आ रही। हाँ, वह आज स्पष्ट देख रही है, वह एक छोटी-सी लड़की के रूप में अपने नैहर के आँगन में घूम रही है। उसका नैहर; वह छोटा-सा गाँव, जिसे दो ओर से एक पतली नदी गाढ़ालिगन-सी करती, कलकल-छलछल स्वर में, वही जा रही और दो ओर आम की सघन अमराइयाँ और बाँस की झुरमुटें जिसे घेरे खड़ीं। कभी इस नदी में वह नहाती, चुभकती, फुरेरियाँ लेती; कभी इन अमराइयों की छाया में टिकोरे चुनती, आँख-मिचौनी खेलती। बाँसों की फुनगियाँ जब थोड़ी हवा में भी मस्ती से सिर हिलाने लगतीं, वह किन विस्मय-विमुग्ध दृष्टियों से उन्हें देखती !

और, उसका वह आँगन। मिट्टी की दीवाल के छोटे-छोटे घर, खपरैल से छाये। घर से लगे ओसारे, जिनमें लकड़ी के खम्भे लगे। इन खम्भों से लगाकर जब मथानी से दही मथा जाता, वह किस तरह दौड़कर कूँड़े के निकट पहुँचती और दादी के हाहा करते रहने पर भी न्यूनी में हाथ लगा ही देती ! ओसारे के नीचे वह फैला हुआ आँगन—जो गोबर से लगातार लीपे जाने के कारण गर्द-ग़ुबार से रहित, चिकना, ढुर-ढुर। इस आँगन में वह कितने खेल रचाती ? उससे बड़ी एक बहन थी, उससे छोटा एक भाई था। भाई-बहन के बीच में अपने को करके कभी वह चिल्ला उठती—'किनारे-किनारे ताड़, बीच में सरदार !' बड़ी बहन खीझ उठती, मारने दौड़ती। वह दौड़कर दादी की गोद में जा छिपती। दादी ! दादी कितना मानती उसे ? उनकी गोद वह क़िला था, जिसके अन्दर पहुँचते ही वह अपने को सब प्रकार सुरक्षित समझती। वहाँ पहुँच कर वह बहन को चिढ़ाने लगती ! बहन झल्ला कर चली जाती और रूठ कर एक ओर बैठ जाती। तब वह दबे पाँव बढ़ती और अचानक जाकर बहन के गले से लिपट जाती ! बहन तो इसकी प्रतीक्षा में ही रहती। सब मामला तय और नया खेल प्रारम्भ !

गुड़िये बनाती, उन्हें रंग-बिरंगे कपड़ों से सजाती, फिर उनके ब्याह रचाती। गीत गाती, कोहबर पुजाती। कभी बाहर से गर्द लाकर आँगन में घर उठाती—'नया घर उठे, पुराना घर ढहे !' यह

घर मेरा, यह घर बबुआ का, यह घर बहन का। दादी, माँ, काकी सब बड़े दालान में ही रहेंगे। "और बाबूजी; उन्हें कहाँ रखोगी पगली ?"—बहन पूछती। घर से अलग एक बैठका बन जाता। इतने में भाई के मन में न जानें क्या भाव उठता ? वह लात से पूरी इमारत को चूर-चार कर देता। बहन हँस पड़ती, वह झल्लाती, फिर, गुस्सा शान्त कर पानी लाती और धूल को सान कर गीली मिट्टी बनाती। यह गूंधा गया आटा; यह पक रही है पूड़ियाँ। यह पूड़ी बाबूजी के लिए, यह पूड़ी दादी के लिए, यह पूड़ी बहन के लिए, यह पूड़ी बबुआ के लिए। यों ही घर के हर आदमी के लिए पूड़ियाँ बन जातीं। लेकिन, सिर्फ पूड़ियाँ कैसे खाई जायँगी ? बची धूल में काफी पानी मिलाकर खीर बनी और घर से लगी बारी से कुछ सेम की फलियाँ लाकर उसकी तरकारी भी बन गई ! खा बबुआ, खा बहन ! और अपना मुँह भी चला रहा है—जीभ से चुभर-चुभर आवाज़ ! सब खाने का स्वांग कर रहे।

खाना खतम भी नहीं हुआ कि बाबूजी आ पहुँचे। बाबूजी को देखते ही वह घर में भागी। वह बाबूजी से बहुत डरती—क्यों डरती ? और बाबूजी उसे बहन और भाई से भी ज़्यादा मानते हैं, उस उम्र में भी वह जानती थी। वह उनसे भागती, वह उसे नज़दीक लाने की तरकीबें करते। कभी खिलौने लाते, कभी मिठाइयाँ लाते। भाई और बहन के हिस्से तो दादी के हाथ भी मिल जाते, लेकिन, अपना हिस्सा पाने के लिए उसे उनके निकट पहुँचना ही पड़ता। ये खिलौने—कितने सुन्दर हैं ! क्या वह उनसे वंचित रहे ? उसका बाल-हृदय अकुला उठता। वह सहमती, डरती उस ओर धीरे-धीरे बढ़ती। धीरे-धीरे बढ़, नजदीक जा, एक ही झपट्टे में वह खिलौने लेकर भागना चाहती कि बाबूजी की विशाल बाहें उसे लपेट लेतीं। "अरी, तू डरती है क्यों मुझसे ?" वह उसे उठा लेते और ओसारे के छप्पर से भी ऊँचा करके कहते—"डरती है, तो ले, मैं पटक देता हूँ।" वह उस ऊँचाई से नीचे की ओर देखते ही भयभीत होकर दादी-दादी चिल्लाने लगती। दादी दौड़कर आतीं, बेटे के हाथ से पोती को छीन लेतीं; फिर चूमतीं, दुलरातीं, हलरातीं !

दादी कितना प्यार करतीं उसे ? जब से उसे होश हुआ, वह दादी की ही गोद में सोई। पीछे उसे मालूम हुआ, इन तीन भाई-बहनों का पहले ही बँटवारा हो चुका था। बहन काकी के हिस्से पड़ी

थी, बबुआ माँ के हिस्से और वह दादी के हिस्से। लोग कहते, रंग को छोड़कर सूरत-शक्ल, चाल-ढाल उसका सब-कुछ दादी पर ही पड़ा था। क्या दादी उसके बहाने अपने को प्यार करती ? अपने को, नहीं, अपने बचपन को !

धीरे-धीरे वह बढ़ी। उसका बचपन अब उस छोटे से आँगन में समाता नहीं था। लेकिन, पर्दानशीन दादी का कंधा तो उसे आँगन से बाहर ले नहीं जा सकता। लाचार उसे बाबूजी का प्रेमाग्रह क़बूल करना पड़ा। जिस दिन उनकी अँगुली पकड़ कर वह आँगन से, बैठके से, गाँव से बाहर निकली, उस दिन उसके नन्हें-से दिल में कौन कौन-सी तरंगें न उठी थीं ? ये आम के बगीचे, ये हरे-भरे खेत, यह नदी का कछार, यह कछार में उपजा सरपत का जंगल। दुनिया इतनी रंग-बिरंगी है; उसकी छोटी सी आँखें इस शोभा-समूह को अपने में कहाँ तक स्थान दे सकें ?

कुछ दिनों के बाद 'अपने' घर की तरह, उसे यह भी ज्ञात हो गया, यह 'अपना' बगीचा है, यह 'अपनी' बँसबारी है, ये 'अपने' खेत हैं, यह 'अपना' खलिहान है। इन सबमें उसे प्रिय था अपना बगीचा। कितने आम के पेड़ ! उसे गिनना कहाँ आता ? कुछ लीचियाँ भी, कुछ कटहल और एक अमरूद। अमरूद बारहमासी। वह जब कभी रूठती या ज़िद करती, बाबूजी अमरूद से ही फुसलाते थे न उसे ?

ज़िद—हाँ, एक चहेती बेटी की हैसियत से वह ज़िद भी कम नहीं करती। उसकी उस दिन की ज़िद ! बैसाख का महीना था। लीचियों में ललाई आ गई थी। आम में कोंसे हो गये थे और सिन्दुरिया पर रंग भी चढ़ने लगा था। वह बाबूजी के साथ प्रायः दिन भर बगीचे में ही रहती। उस दिन दोपहर को वह बगीचे में ही थी। बाबूजी लीचियों पर बैठनेवाले पंछियों को उड़ाने के लिए कमठा बना रहे थे; वह नदी की गीली मिट्टी से कमठे पर चलाने के लिए गोलियाँ गढ़ रही थी। उसी समय एक पंडुक दाने चुगता-चुगता उसके निकट आया। पंडुक को उसने प्रायः देखा था, लेकिन इतने निकट से नहीं। उसका धूसर रंग, उस धूसर पर काले-काले बुंदे। सुडौल गले पर बुंदे और भी सघन हो गये थे, जिनके बीच में एक पतली काली घेर—मानों, उसने नीलम की हँसली पहन ली हो।

उसकी पतली, सुन्दर चोंच और उस चोंच से तावड़तोड़ दाना चुगना ! वह उसपर मुग्ध हो गई और गीली मिट्टी छोड़ उसे पकड़ने दौड़ी। पहले एक दो छोटी उड़ान ले पंडुक कुछ दूर पर बैठ जाता रहा, पीछे लगातार पीछा किया जाता देख वह उड़ चला। पंडुक उड़ा और वह रोई। "क्यों, क्या हुआ, काहे रोती है?"—बाबूजी ने पूछा ! उसने कहा, "मैं पंडुक लूँगी।"

"पगली, कहीं उड़न्त पंडुक पकड़ा जाता है!"—बाबूजी ने हँस कर कहा, जैसे हँसी में वह बात उड़ा देना चाहते हों। लेकिन, बेटी इतने सस्ते पिंड छोड़नेवाली थोड़े ही थीं। ज़िद कर बैठी, पंडुक लूँगी और कितने बगीचों की छानबीन, कितनी डालों के चढाव-उतार, कितने खोतों की खोज-ढूँढ़ के बाद उसी शाम को पंडुक के एक जोड़े बच्चे कमाची के ताज़ा बने पिंजड़े में उसकी आँखों के सामने टँग कर रहे! जिस काठी का कमठा बन रहा था, उसी से पिंजरा तैयार हुआ ! पंडुक के उन बच्चों को उसने किस तरह पाला। धीरे-धीरे उनके पंख निकले, वे पूरे पंडुके के रूप में आ गये। वैसी ही चोंचें, वैसी ही गर्दनें, वे ही चितकबरे धूसर पंख, वैसी ही शानदार पूँछे। उनके सीने और पेट के हिस्से को हरे रंग में रंगकर उनकी शोभा और बढ़ा दी थी उसने। वे कुछ दिनों में गुटर-गूँ भी करने लगे। दिन भर उनका पिंजड़ा उसकी आँखों के सामने; रात में पिंजड़े को सामने टँगवाकर सोती।

एक दिन वह पिंजड़े को नीचे रखकर पंडुकों को दाना दे रही थी कि उसके बबुआ ने बुद्धिमानी की। पिंजड़े के दरवाज़े की सींक खींच ली, दरवाज़ा खुल गया। वह दाना देने में इतनी मस्त थी कि उसका ध्यान भी उस ओर नहीं गया। ध्यान गया तब, जब एक पंडुक उस दरवाज़े से सन्न-से निकला और वह हा-हा करती रही कि वह आसमान में नौ-दो-ग्यारह हो गया। बदहवास-सी वह दौड़कर आँगन में आई और जिस ओर वह उड़ा था, देखने लगी कि फिर सर्र-से दूसरा पंडुक भी उड़ा और उसके पंख भी आसमान में फर्-फर् करने लगे! यों दोनों पंडुकों को एक बार ही खोकर वह कितनी दुखित, व्यथित, क्षुभित और चिन्तित हुई थी। बबुआ को तो वह उठाकर पटकने ही जा रही थी कि दादी ने उसे पकड़ लिया। हाँ, गुस्से में उसने पिंजड़े को चूर-चूर कर दिया और दिन भर रोती रही !

उसकी पोड़ा तुरत भर गई होती, लेकिन, दूसरे ही दिन से देखती क्या है, वे दोनों पंछी एक साथ शान से मैदान में दाने चुग रहे हैं। उनके सीने का हल्का हरा रंग उनका हुलिया खोल देता था। वे ही तो हैं ! क्या मुझे चिढ़ाने आये हैं वे यहाँ ? वह गुस्से में काँपती। बाबूजी समझाते। पीछे उसे पता लगा, ये पंछी अजीब होते हैं। एक मादा, एक नर–साथ ही जनमते, एक साथ ज़िन्दगी बिताते और एक के वियोग में दूसरा प्राण तक...

× × ×

प्राण तक !–वह एक बार ही सिहर पड़ी ! उसी समय उसने अपनी ठुड्डी पर कुछ गरम चीज़ का अनुभव किया। यह उसकी बच्ची का हाथ था। बच्ची को ग़ौर से देखा, फिर किंचित मुड़ कर अपने दोनों बच्चों को देखा। एक गरम साँस के साथ, उसने खिड़की की ओर मुँह मोड़ लिया।

उसकी आँखों से झर-झर पानी झरता जा रहा है। गाड़ी हड़-हड़ कर बढ़ी जा रही है। सामने हरे-भरे खेत वसंत की मादकता में शराबोर हैं। लेकिन, वह उन्हें क्या देख पाती है ? आँसू की बाढ़ थमी नहीं कि ज़िन्दगी की दूसरी तस्वीर उसके सामने आ खड़ी हुई !

२. पंख फूटे !

और, उसी बाबूजी ने उस दिन उसे डाँट कर कहा—"जा, भाग। देखती नहीं, कोई मेहमान आ रहे हैं इधर !"

वह देखती क्यों नहीं थी ? सिर पर लाल पगड़ी दिये, देह में मिरजई पहने, हाथ में बाँस की मूठदार छड़ी लिये वह एक अपरिचित आदमी आ रहा है। लेकिन उसकी समझ में यह बात उस दिन नहीं आई कि वह खदेड़ी क्यों जा रही है ? अगर उसे वह सज्जन देख लेंगे, तो क्या होगा ? उनकी लाल छड़ी देखकर तो उसके मन में उत्कंठा जगी थी—यह छड़ी लूँ, उसे घोड़ा बनाऊँ, सवारी करूँ, दौड़ूँ। उसकी चाँदी से मढ़ी टेढ़ी मूँठ तो ठीक घोड़े के सिर की तरह थी। उफ़, कैसा अच्छा घोड़ा बनता उसका—मन-ही-मन ऐसा सोचती, पछताती, बाबूजी का बिगड़ैल रुख देखकर चुपचाप घर की ओर रवाना हुई और गुस्से में यहाँ तक ठान लिया कि अब बाबूजी के कहने पर भी बगीचा नहीं आवेगी।

सोचती बिसूरती घर पहुँची और दादी की गोद में जाकर बिलख-बिलख रोने लगी। "क्या बाबूजी ने मारा है ?" दादी चकित होकर पूछने लगीं। वह बोलती क्या, रोती गई। दादी सान्त्वना देने लगी। लेकिन जैसे-जैसे सांत्वना देतीं, वैसे-ही-वैसे हिचकियाँ बढ़तीं। थोड़ी देर के बाद बाबूजी भी पहुँचे— उस आगत व्यक्ति को विदा कर। उन्होंने ठीक ही समझ लिया था, उनकी मानिनी बेटी ने उनकी बात मान तो ली है, किन्तु उसके दिल पर जो चोट लगी है, उसे वह तुरत भूल नहीं सकेगी। उन्हें देखते ही दादी ने फटकार बताई—"मेरी पोती को डाँटनेवाले होते हो तुम कौन ? जाओ; मेरे आँगन से निकल जाओ ! और, देख, मेरी दुलारी पोती, अब उसके साथ बगीचा मत जाना। नहीं जायगी न ?" बार-बार पूछे जाने पर उसने ऊँ-ऊँ करती 'नहीं जाती' यह कह तो दिया, लेकिन मुँह से यह शब्द निकाल कर कितनी चौंकी ? क्या सचमुच अब बाबूजी के साथ वह बगीचा नहीं जायगी ?

इस डाँट के लिए बाबूजी को दंड भी देना पड़ा—कुछ मिठाइयाँ, कुछ खिलौने और एक जोड़ी बढ़ियाँ चूड़ियाँ। लेकिन, दादी ने उसे समझाया, उसने भी स्थिति समझी, कि वह अब निरी बच्ची नहीं रह

गई है। अब वह बड़ी होती जा रही है। अब उसे अपरिचितों से थोड़ी लाज करनी चाहिए। उनके सामने कभी नहीं होना चाहिए। अगर अचानक वे सामने आ जावें, तो मुँह पर यों घूंघट करके झट-पट भाग आना चाहिए। 'यों घूंघट !'—दादी ने नई बचकानी साड़ी पहना कर उसे घूंघट करना सिखलाया। सिखलाया—गर्दन से होकर जो आँचल आज तक अमूमन कंधे पर पड़ा होता, उसे किस तरह सिर पर रखकर, एक तिकोन-सा बनाता हुआ, चेहरे पर ले आना चाहिए। सिखलाकर दादी ने कहा—"अच्छा, दुलारी, ज़रा घूंघट करके दिखला तो दे !" दुलारी घूंघट कहाँ तक काढ़ती, गर्दन से आँचल हटा उसे कमर में लपेटती, भागी। दादी, मैया, काकी—सभी ठहाका मार कर हँसने लगीं !

लेकिन, उम्र बीतने के साथ-साथ ये चीज़ें भी उसे सीखने ही पड़ी। बाबूजी के साथ छाया-सी जो वह लगी फिरती, वह धीरे-धीरे कम होता गया। अब उसे नई-नई कारीगरी सिखलाई जाने लगी। कारीगरी के चक्कर में उसे ज़्यादातर आँगन में ही रहना पड़ता। जिस सींक के सन्दूकचे में पहले सिर्फ गुड़िये और उनके साज-शृंगार रहते; उसमें सूई, तागा, तरह-तरह के रंगीन कपड़े, ऊन के लच्छे, बुनने की कमाचियाँ और शानदार कैंची आदि चीज़ें ठसाठस भरी रहतीं। पहले उससे सूई में तागा देना मुश्किल होता। कई बार उसने कपड़ा सीने के बदले अपनी अँगुली में सुई चुभो ली। कैंची से तो बहुत दिनों तक डरती रही; जब वह कैंची चलाती, उसे लगता, यह अपना मुँह खोलकर कपड़े के साथ उसे भी निगल जायगी। लेकिन, धीरे-धीरे कैंची उसकी मर्ज़ी पर कम-बेश मुँह खोलती, बन्द करती और सूई जादूगरनी-सी कटे-छँटे वस्त्र-खंडों से सुन्दर पहनावा तैयार कर देती। साधारण बखिये से लेकर वह कटाव का काम करने लगी, फिर बेलबूटे काढ़ने लगी। बुनने में तो उसने सबसे जल्द व्युत्पन्नता हासिल की। थोड़े ही अभ्यास के बाद कमा-चियाँ और लच्छे लेते ही उसकी अँगुलियाँ नट की तरह कला-बाज़ियाँ दिखाने लगतीं। उसकी कारीगरी पर प्रशंसा के पुल बनने लगे। वह उस पुल पर झूमती, हिलकोरे लेती !

यही नहीं, रसोई बनाने की कला का प्रयोगात्मक ज्ञान भी उसे दिया जाने लगा। शुरू-शुरू इसमें भी उसे दिक्कतों का सामना करना पड़ा। कई बार जिसकी पानी की बूंदें सूख नहीं पाई थीं, वैसी

कड़ाह में तेल डालकर उसकी भयानक चट्-चट् से वह भयभीत हो चुकी थी। कई बार घी इतना जल उठा था कि उसमें तरकारी डालते ही आग भभक उठी, वह घबरा कर भागी ! कई बार कड़ाह या बटुलोही उतारते समय वह हाथ में छाले ले चुकी थी। ठीक परिमाण में नमक डालना तो उसे खूब परीशान करता। कभी इतना अधिक नमक, कि खाया नहीं जाय; कभी इतना कम कि पीछे से मिलाना पड़े। वह प्रायः नमक देना ही भूल जाती। लेकिन, इन विघ्न-बाधाओं को भी वह पार पा गई और उस श्रावणीपूजा के दिन जब उसी को बनाई पूड़ियाँ, खीर, तरकारियाँ और बचके बाबूजी को खिलाये गये, तो उन्होंने तारीफ की ही झड़ी नहीं लगा दी, आगामी भैयादूज को उसके लिए बढ़िया साड़ी, खुद शहर जाकर, खरीद लाये !

यों, धीरे-धीरे उसका नाता आँगन से जुट रहा था और बाहर की दुनिया से टूटता जा रहा था। लेकिन, न जाने क्या बात थी, जब आम में बौर आते, उसकी तबीयत बावली-सी बगीचे में जा रमती और मिठुआ, मालदह के बाद भी जब तक एक भी राढ़ी का फल लगा रहता, बगीचे में ही चक्कर देती रहती। बाबूजी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, गाँव-घर में ही नहीं, जर-जवार में भी उनकी इज्ज़त-प्रतिष्ठा थी, किन्तु अपनी इस बेटी का मन तोड़ना उनके लिए मुश्किल था। जहाँ तक हो सके, उसे निर्बन्ध विचरने देने में वह कसर नहीं लाते। वह बहुत दिनों तक बगीचे में आती-जाती रही। हाँ, वह भी अपनी स्थिति समझ, इस तरह आती-जाती कि उनकी प्रतिष्ठा में ज़रा भी बट्टा नहीं लगे। चुपके-चपके बगीचे जाती, वहाँ पेड़ों की आड़ में बैठती, बैठे-बैठे एक-एक बौर, एक-एक टिकोरे, एक-एक फल को देखती । कितने सुन्दर लगते थे वे। जब वह घर लौटती, उसका आँचल फलों से भरा होता !

फलों से भरा आँचल, उमंगों से भरा हृदय। वह ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, उसके हृदय में उमंगों की घटा भी घनघोर होती चली। हृदय में उमंग, नसों में तरंग। उसे कभी-कभी ऐसा लगता, उसकी बाँहों के नीचे, काँख के निकट से, पंख-से फूट रहे हैं। उसकी इच्छा होती, वह उड़े ! वह कभी-कभी पंख फड़फड़ाने के धोखे में हाथों को ही हवा में तोलने लगती ! अरे, उसे यह क्या होता जा रहा है ?

क्या होता जा रहा है, यह भी उससे छिपा नहीं रहा।

सावन का महीना था। बगीचे के बचे-खुचे आम तोड़कर घरों में रख दिये गये थे। घनघोर वर्षा हो रही थी। खेतो में धान की रोपनी की धूम थी। बाबूजी खाने-भर को घर आते, दिन-दिन भर खेतों पर ही रहते। घर-घर में आर्द्रा मनाई जा रही थी। पूड़ियाँ पकतीं—कचरकूट होती। कभी इस घर, कभी उस घर। लगातार वर्षा के कारण आँगन में निकलना तक मुश्किल था। घर-घर में झूले पड़ गये थे। दिन-रात हमजोलियाँ झूले पर धूम मचाये रहतीं। पेंगें लगतीं, गाने होते। हाहा-हीही से घर के छप्पर तक के उड़ने का अंदेशा होता।

वह भी कई दिनों से झूल रही थी। कुछ हमजोलियाँ; कुछ बहनें, कुछ भावजें। इस सावन ने तो काकी-मैया को भी अपने रंग में रंग डाला था। मैया घर के कामों में फँसी रहती, अतः वह कम झूल पाती; काकी तो किशोरियों के कान काट रही थीं। उम्र, नाता और दूसरी पाबन्दियों को भूल सब हिलमिल कर झूले जा रहे थे। एक दिन ऐसा संयोग कि झूले पर एक ओर वह थी, दूसरी ओर काकी। थोड़ी देर में सरगर्मी आई। काकी कहती—"बबुई, ज़ोर लगाओ; क्या धीरे-धीरे पेंग दे रही हो!" लेकिन, बबुई की तो अजीब हालत थी। वह ज्योंही पेंग देती, झूले के दोनों रस्से उसके सीने से लग जाते और उनके लगते ही एक अजीब कनकनी, झिन-झिनी-सी बर जाती। अंग-अंग सिहर उठते, झनझना पड़ते, पेंगें शिथिल पड़ जातीं। काकी ने एक बार, दो बार टोका। वह शर्मिन्दा-सी होकर, बहाना करके, उस घर से निकल, दूसरे घर में आई!

इधर, दादी का आग्रह था, हमेशा चोली पहने रहो। लाचार वह समूचे शरीर को कसे रहती। यह मेरे सीने में क्या हुआ है? वह एकान्त में जाकर देखना चाहती थी। उस घर में घुसी, चोली निकाली। चोली निकालना और काकी का ठहाका, जो चुपचाप उसके पीछे आकर देख रही थीं! वह चौंकी, काकी ठहाके के बीच ही बोल उठीं—"यह क्या हो रहा है बबुई?" शरम के मारे उससे सिर नीचा नहीं किया गया, उसने झटपट चोली पहन ली—"काकी, आपको मेरी कसम, किसी से कहियेगा नहीं...।"

× × ×

उसे ऐसा लगा, वह नैहर के उस घर में खड़ी है—चोली उतारे, और काकी छिपकर झाँक रही और ठहका दे रही हैं। वह आज

भी चौंकी, पीछे मुड़कर देखा। सामने के बेंच पर बैठे यात्री कुछ बातें करते और ठहाके लगा रहे थे। उसे तुरत स्थिति का भान हुआ, किन्तु उसी समय उसकी नज़र सामने की बेंच पर बैठे अपने बड़े लड़के पर गया। आह, इस ठहाके के बीच भी, उसके हँसमुख लड़के का मुँह कैसा लटक रहा है !

फिर आँसुओं का प्रवाह। फिर खिड़की की तरफ मुँह। फिर वे ही तस्वीरें !

३. उड़नखटोला

वह जवान हो रही है—इस कल्पना ने उसे कितना चकित विस्मित, मुग्ध-मग्न कर दिया था।

उसकी नज़र, जो पहले बाह्यजगत पर दौड़ी फिरती थी, अब अपने पर केन्द्रित होती गई। वह अब आईना लेकर बहुत-बहुत देर तक अपना चेहरा देखा करती। मेरी ये आँखें—कोये कितने लम्बे, उजले; बीच की पुतलियाँ—कैसी गोल, कितनी काली। बड़ी-बड़ी आँखों को ढँकने के लिए मानों बरौनियाँ भी लम्बी-लम्बी चाहिए। और ये भवें—कितनी पतली, काजल की पतली रेख-सी। चौड़ा ललाट। उभड़े गाल—जिनपर हँसने पर गड्ढे बन जाते। पतले लाल अधर, गोल चिबुक। चेहरे का गोरा-भूभूका रंग काले बालों की पृष्ठभूमि में दमक रहा। हाँ, हाँ, वह काफी ख़ूबसूरत है!

जब वह बाहर निकलती, काफी चौकसी से। आँचल कितना बड़ा हो और कहाँ तक लटका रहे; इस रंग की साड़ी पर यह चोली अच्छी लगती है या नहीं; वह पैर कैसे उठाती है, चलते समय उसके हाथ कैसे हिलते हैं! उफ़, वह खुदी में इतनी ग़र्क हो गई थी कि चलते समय अपनी छाया तक देखती! मेरी छाया—इसमें मैं कैसी लगती हूँ?

विचित्रता यह रही कि एक ओर जहाँ वह यों ख़ुदी में, अपने आप में ग़र्क रहती, वहाँ बाहर की चीज़ें उसे प्रभावित भी बहुत करतीं। जो दृश्य या शब्द पहले उसके लिए सिर्फ दृश्य या शब्द मात्र थे, अब उनमें वह भिन्नता ही नहीं, अलग-अलग पैग़ाम भी सुनती और वे उसके मन में तरह-तरह की अजीबोग़रीब भावनायें सृष्टि करते। कोयल की बोली पहले भी मीठी थी। किन्तु अब जब भोर-भोर वह कोयल की बोली सुनती, उसे नींद नहीं आती, मालूम होता—कानों के रस्ते एक अजीव सनसनी उसके अन्दर घुस कर नस-नस में एक नाव-सी खे रही है। श्यामल घटायें पहले सिर्फ वर्षा की सूचना देती थीं, अब वे घटायें आसमान से उतर कर उसके हृदयाकाश में छा जातीं और रस की अजस्र बूंदें बरसा देतीं। अब बिजली सिर्फ आसमान में ही चमक कर एक क्षण में गुम नहीं हो जाती, थोड़ी देर के लिए उसका समूचा शरीर जैसे बिजली से छू जाता! वसंत पहले भी फूलों का जामा पहने आता था, शरद पहले

भी चाँदनी में मुस्काता था। लेकिन वसंत के वे फूल अब सिर्फ नेत्र-रंजक रंगों का झलमल मेला मात्र न थे और न शरद की चाँदनी शीतल ज्योत्स्ना की झकझक आरसी मात्र। अब वे आँखों के देखने के उपादान-मात्र नहीं रहकर, हृदय की अनुभूतियों की आँखमिचौनी के साधन बन चुके थे !

छोटी-सी चीज़ यह आम का बौर। बचपन से ही वह बगीचे की संगिनी रही है। न जाने कितने मधुमास में वह आम में मंजरी आना देखती आई है। न सिर्फ हर फुनगी पर उनका निकलना, लटकना उसने देखा है, डाल छेद-छेदकर भी मंजरी को निकलते उसने निहारा है। जब मंजरी को देखती, खुश होती ! खूब फल लगेंगे इस साल––खूब खाऊँगी, खिलाऊँगी। जब कभी लगातार पुरवा हवा के कारण बौर में 'मधुआ' लग जाता; वे नुक़शान हो जाते, या फागुन की वर्षा में बिजली का एक बार चमक उठना भी उन्हें झुलसा देता, निष्फल बना देता, वह उदास हो जाती––आह ! मंजरियाँ बरबाद गईं, इस साल अब आम नहीं मिलेंगे। लेकिन, इन्हीं मंजरियों को उस साल देखकर वह किस तरह चौंक उठी ! इन मंजरियों में उसने आम की सार्थकता ही नहीं, अपनी तदात्मता भी पाई और जब उनकी झुरमुट में बैठकर कोयल कूकी और उनके ऊपर मँडरा कर भौंरों ने गुनगुनाना शुरू किया––उसने बगीचा जाना छोड़ दिया !

उसे एक और विचित्र अनुभव हुआ ! अब उसे ऐसा लगता, जब कहीं वह बाहर-भीतर जाती-आती है, लोग उसकी ओर घूर-घूर कर ताकते हैं। दादी, काकी, सब एक विचित्र नज़र से उसकी ओर देखते हैं। उसकी सखी-सहेलियों की नज़रें भी उसकी ओर कुछ और ही रुख अख़्तियार कर बैठी हैं। ख़ैर, ये तो स्त्रियों ठहरीं, वे घूर-घूर कर देखें, तो सिवा थोड़ी खिजलाहट अनुभव करने के, वह उसे सानन्द बर्दाश्त कर सकती थीं। लेकिन, मर्दों की नज़रों में एक ही बार दो विरोधी रुख देखकर वह घबरा जाती । एक ओर थे बाबूजी और कुछ गुरुजन––जिन्होंने उसे गोद में खेलाया था, जो उसे देखते ही पकड़ लेते, तरह-तरह से गुदगुदाते, हँसाते थे। अरे, जिन्होंने कितनी ही बार उसे नहलाया है, कपड़े पहनाये हैं; वहीं बाबूजी और वे ही गुरुजन अब उसे देखते ही सिर नीचा कर लेते !—सिर नीचा कर लेते, उसकी ओर आँख उठाकर देखते भी नहीं ! क्यों ? किन्तु यह 'क्यों' उसे इतना चिन्तित न करता, जितना कुछ दूसरे लोगों का

उसकी ओर अजीब वहशियाना नज़र से देखना !—ख़ासकर अपरिचितों से तो वह तंग थी । उस साल वह मेले के दिन शिवजी पर जल चढ़ाने गई थी। उफ़ लोगों ने, ख़ासकर नौजवानों ने, उसकी ओर कैसे देखना शुरू किया, जैसे वे उसे ज़िन्दा निगल जाने के दाँव खोज रहे हों।

इसी चित्र-विचित्र अनुभवों और अनुभूतियों के बीच एक दिन उसने दादी और बाबूजी को एक विचित्र चर्चा करते सुना। दादी कहती थी—दुलारी की शादी कर दो, इस साल लगन भी अच्छी है, फसल भी अच्छी आई है, जवान बेटी जितनी जल्द घर से जाय, उतना ही अच्छा। इधर बाबूजी कहते—तीसरे ही साल तो बड़ी लड़की की शादी की, कुछ हाथ-हथफेर अभी चुकाने को रह ही गये हैं, एक साल और ठहरो, अभी तो बच्ची है, क्या हड़बड़ी लगी है ? लेकिन, दादी के निकट बाबूजी की क्या बिसात ? एक दिन उसने देखा, पुरोहितजी सिर पर पगड़ दिये, त्रिपुंड किये, नंगे बदन पर मोटी जनऊ लटकाये, कंधे पर चादर रखे—जिसकी खूंट में पत्रा बँधा था—उसके आँगन में आ धमके और दादी के कानों में कुछ फुस-फुस बातें कर रवाना हो गये। लोगों ने कहा, वर ढूंढ़ने गये हैं !

वर ढूंढ़ने ! वर किसे कहते हैं, क्या वह नहीं जानती ? जानती क्यों नहीं, बचपन से वह गुड़िये का ब्याह रचाती आई है। उसने कितने वर देखे हैं, कितने ब्याह देखे हैं। तीसरे साल अपने ही आँगन में बहन की भाँवरें पड़ती देख चुकी है। ब्याह उसे कितना मज़ेदार लगता रहा है ! नई साड़ियाँ पहनने को मिले, नये-नये गहने अंगों को जगमगाये। सब लोग गाने गायें। हँसी के फव्वारे छूटें। भोज हो, कचरकूट मचे। अहा, ब्याह कितना अच्छा उत्सव !

लेकिन, उस दिन जब उसने सुना, उसके लिए वर ढूंढ़ने पुरोहितजी जा रहे हैं, तो न जाने क्यों, वह अजीब उलझन में पड़ गई, विषण्ण बन गई। वर ढूंढ़ने ! वर ! वर क्या ? एक ऐसा पुरुष, जिसके साथ उसे ज़िन्दगी गुज़ार देना है।

पुरुष ! पुरुष की कल्पना से उस दिन सचमुच, वह काँप उठी। अब तक वह स्त्रियों के बीच ही रही। बचपन के कुछ दिन उसने बाबूजी के साथ ज़रूर गुज़ारे हैं। लेकिन, अब तक की उसकी सारी

रातें तों स्त्रियों—खास कर दादी—के साथ ही कटीं। उसकी ज़िन्दगी के अधिकांश दिन भी स्त्रियों के हीं बीच कटे। लेकिन, अब एक पुरुष उसकी ज़िन्दगी में प्रवेश करेगा, जो सारी रात, सारे दिन उससे तलब करेगा। हाँ, सारी रात, सारे दिन! उसने यही सुन रखा है, उसने ऐसा ही देखा भी है। उफ़, सारी रात, सारे दिन एक पुरुष के हाथ दे देना; जिससे उसका आज तक का कोई सम्बन्ध नहीं रहा है, जिसके व्यक्तित्व से उसका कोई परिचय नहीं—उसी एक पुरुष के हाथ अपनी सारी रातें, सारे दिन दे देना !

लेकिन, उसने देखा है, पुरुषों को पाकर उसकी सहेलियाँ बहुत प्रसन्न हुई हैं, उनमें से कुछ ने अपने उस जीवन की अंट-संट कथायें भी हँसती-हुलसती उसे सुनाई हैं। अभी-अभी पड़ोस की वह भौजाई आकर हँसते-हँसते उसके गालों में हुदक्का देकर कह गई है,—"बबुई, अब क्या है, बस कुछ दिन और; और गुलछर्रे उड़ाइए !"

वाह रे गुलछर्रे? 'जान न पहचान, बड़ी बी सलाम !' लेकिन, जान-पहचान करनी हीं होगी, बीबी बनकर सलामी लेनी ही होगी। तो अब उसके लिए वह तैयारी क्यों न करे ?

अब पुरुष में एक नये क़िस्म की दिलचस्पी उसमें जगी ! पहले कोई नौजवान उसकी ओर घूरता तो वह अकुला उठती, बेचैन हो जाती। उसकी इच्छा होती, कहीं दौड़कर अपने को वह छिपाती। कभी-कभी सोचती, सँड़सी हो, तो उसकी आँखें निकाल लूं। लेकिन, अब उसके खयाल में आता, ऐसा ही कोई नौजवान तो मुझे दिन-रात घूरा करेगा और उस सहेली की कथा के अनुसार, गुदुगुदा कर मुझे जगायगा, थपथपा कर मुझे सुलायगा। फलत: अब झल्ला उठने की जगह वह उसकी आँखों में कुछ पढ़ने की चेष्टा करती। यद्यपि यह चेष्टा बहुत क्षणिक होती, तुरत संकोच उसकी आँखें झिपा देता, तथापि उस एक क्षण में ही देखती, नौजवानों की भाव-भंगिमा में अजीब परिवर्तन आ जाता। उनकी पलकें स्थिर हो जातीं, आँखों में चमक आ जाती, होंठ कुछ हिल जाते। कभी-कभी उसने उनके ललाट पर पसीने की बूंदें भी देखीं ! इस नये अनुभव ने उसमें कुतूहल पैदा किया और कुतूहल में वह रस अनुभव करने लगी !

एक दिन उसने सपना देखा—एक नौजवान के साथ वह मँड़वे पर बैठी है, उसके मुँह पर घूंघट है, लेकिन, उस घूंघट से ही उसकी

ओर वह देख रही है और उसकी आँखों में वैसी ही चमक है, उसके होंठ वैसे ही हिल रहे हैं, ललाट पर वैसी ही पसीने की बूदें·····

नहीं नहीं, यह बुरी बात। वह भँसी जा रही है। यह क्या उलूल-जलूल कल्पना ! अपने मन को दूसरी ओर मोड़ने के लिए उसने सिलाई-बुनाई में ज़्यादा वक्त देना शुरू किया। रसोई-पानी में भी वह ज़्यादा दिलचस्पी लेने लगी। दादी ने उँगली पकड़-पकड़ कर उसे रामायण और सुखसागर पढ़ना सिखाया था; उसके उपयोग का अर्थ उसे अब मालूम हुआ। उन्हें पढ़ती, गुनती। घर से प्रायः निकलती ही नही। रात में सोने के पहले दादी से तब तक कहानी कहलवाती जब तक उसकी नींद नहीं आ जाती। दूसरे दिन वह फिर दादी से कहानी के लिए आग्रह करती, तो दादी कहती, बाज़ आई तुझे कहानी सुनाने से। मैं कहानी कहूँ और तू सो जाय ! लेकिन, बार-बार आग्रह करने पर दादी को कहानी कहनी ही पड़ती—

"एक थे राजा, उनकी सात थीं रानियाँ !"

"सात रानियाँ ?"

"हाँ, हाँ, सात रानियाँ।"

""सात रानियाँ क्यों दैया ?"

"चुप, कहानी सुनेगी, या बहस करेगी ?"

"एक थे राजा, उनकी.............."

"एक............................"

× × ×

उसकी आँखें झिपने-सी लगीं। उसे ऐसा लगा, वह उस कहानी के उड़नखटोले पर उड़ती जा रही है—ज़मीन से दूर, आसमान से दूर। हवा में सर-सर, झर-झर करता उड़नखटोला उड़ा जा रहा है और उसपर बैठी वह कभी ज़मीन की क़िस्मत पर मुस्कुरा रही, कभी आसमान के सितारों से आँखमिचौनी कर रही। उड़ते-उड़ते, जैसे एक धक्का-सा लगा, उड़नखटोला अचानक खड़ा हो गया। आँखें खुलीं तो पाया, एक स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हो रही है। कुछ यात्रियों के उतरने और बहुत के चढ़ने से थोड़ी हलचल। फिर, वायुवेग से रेल भागी जा रही है और उसके सामने चित्र-पर-चित्र आ-जा रहे हैं..........

४. कल्पना-पुरुष

कितनी जगहें ब्राह्मण और नाई गये। कुछ स्थानों में उसके बाबूजी भी गये। लेकिन अनुरूप वर नहीं मिला। जब-जब ब्राह्मण-नाई लौटते, दादी से अपना भ्रमण-वृत्तान्त सुनाते। अमुक गाँव में हम गये, वर तो ठीक था—बस गाँव के अमुक नौजवान की तरह, लेकिन घर अच्छा नहीं। कभी सुनाते, घर बहुत अच्छा, लेकिन वर— हमें तो पसंद नहीं आया, हूबहू गाँव के उस लड़के की तरह। किसी-न-किसी तरह ये वृत्तान्त उसके कानों तक पहुँचते ही। ज्यों-ज्यों दिन टलते, उसे आनन्द ही मालूम होता। भविष्य की अनिश्चितता पर वर्त्तमान के सुख-दुख हमेशा तरजीह पाते रहे हैं। फिर, यहाँ दुख कहाँ था, सुख-ही-सुख। न कोई ज़िम्मेवारी, न कोई अभाव। आनन्द फिर क्यों न हो ?

लेकिन, एक विशेषता का उसने अपने में अनुभव किया। जब-जब वह सुनती, अमुक नौजवान की तरह का वर उसके लिए देखा गया है, तब-तब उस नौजवान को गहरी नज़र से देखने की उसमें उत्सुकता पैदा होती। वह उसे कभी आते-जाते देखती, तो अपने को छिपाकर, दूर-दूर से, उसे भलीभाँति देखने की कोशिश करती। वर की तलाश के दौरान में कितने ही नौजवानों की तुलना उसके भावी पति से की गई और हर की ओर उसकी वही उत्सुकता जगी। वही उत्सुकता, और उत्सुकता के फलस्वरूप निरीक्षण, पर्य्यवेक्षण और, विश्लेषण भी। इन नौजवानों की परस्पर तुलना भी वह करती। उसकी आँखें अच्छी हैं, उसकी छाती खूब चौड़ी है, वह खूब हँसमुख है—यों ही उनके एक-एक अंग की छानबीन वह करती। वह इसमें इस तरह ग़र्क रहती कि हमेशा पुरुष की कोई-न-कोई मूर्त्ति उसके सामने रहती। थोड़े दिनों के बाद उसने महसूस किया, पुरुषों के प्रति जो रस की अनुभूति उसके हृदय में जगी थी, वह मूर्त्तरूप धारण कर रही है। और, उस दिन उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब किसी का चेहरा, किसी का शरीर, किसी का स्वभाव, किसी का रहन-सहन लेकर उसने एक कल्पना-पुरुष की सृष्टि कर ली। यही नहीं, उसने इस कल्पना-पुरुष को अपना पति मान लिया !

एक कल्पना-पुरुष, वह उसका पति और वह स्वयं उसकी सौभाग्य-शालिनी पत्नी ! पत्नी; उसे पत्नी बनना होगा। पत्नी क्या ? दूर

क्यों जाना, यही बाबूजी के लिए जो उसकी मैया है। उसकी मैया, उफ़ कितनी ज़िम्मेवारियाँ उठा रखी हैं उन्होंने। दादी तो घर की मालकिन हैं और काकी—जब से विधवा हुईं—उन्हें घर से सिवा खाने-पीने या तीर्थ-व्रत करने का, दूसरा कौन वास्ता ? यथार्थतः उसकी माँ ही वह धुरी है, जिसपर उसके घर का चक्र चला करता है ! क्या माँ की तरह ही उसे एक पूरी गृहस्थी का ज़िम्मा उठाना पड़ेगा ? उफ़, वह किस तरह इतना बड़ा बोझ बर्दाश्त कर सकेगी ? लेकिन, क्या ऐसे सवाल की गुंजायश भी है ? साफ़ है, उसे यह बोझ उठाना ही पड़ेगा। तो क्यों नहीं वह अपने को उस योग्य बनावे ?

आज तक भी वह घर-गृहस्थी में दिलचस्पी लेती आई, तभी तो वह अपनी बड़ी बहन से भी ज़्यादा इस घर की प्यारी रही; लेकिन अब तो उस ओर वह अधिकाधिक ध्यान देती। माँ का व्यवहार दादी से, काकी से, घर की दासियों से, पशुओं के चरवाहों और खेत के हलवाहों से कैसा होता है; पड़ोसियों से वह किस तरह पेश आतीं; घर के सारे काम वह किस तरह सँभालतीं,—उनकी एक-एक कार्रवाई को वह ग़ौर से देखती। ग़ौर से देखती ही नही, उनके कामों में हिस्सा भी बँटाती ! माँ कहती, दुलारी, तू तो अब चार दिनों की मेहमान है, क्यों, इन प्रपंचों में पड़ती है ? लेकिन, दुलारी माने तो कैसे ? पड़ोसिनें कहतीं, बेटी हो तो दुलारी-सी, चलती-चलाती भी माँ का हाथ बँटाने से नहीं चूकती; वह जिस घर में जायगी, नेहाल कर देगी !

यों, वह अपने को भावी पत्नी बनाने की तैयारी में लगी रही और ब्राह्मण-नाई, पड़ोसी और बाबूजी वर को तलाश में लगे रहे, कि धीरे-धीरे लगन के दिन भी टल गये ! माघ से होते-होते असाढ़ आया, और अब फिर अगले माघ में ही तो शादी हो सकती है ! ख़ैर, छः महीने और निश्चिन्तता के मिल गये। उसने कैसी इत्मीनान की साँस ली ?

लेकिन, जिस तरह उसकी ज़िन्दगी के चौदह वर्ष हँसते-खेलते बात-की-बात में बीत गये थे, उसी तरह ये छः महीने भी पलक लगते बीत गये ! और, एक दिन उसने ब्राह्मण-देवता को बड़े आनन्द से यह घोषित करते सुना—बबुई के लिए एक योग्य वर मिल गया !

घर-भर के आनन्द का क्या कहना ? दादी आनन्द से गद्गद हो उठीं। माँ के पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते। काकी तो फुदकने-सी लगीं। बाबूजी के चेहरे पर प्रसन्नता की स्पष्ट झलक। छोटा भाई दौड़ा-दौड़ा गया और कई आँगनों में यह सम्वाद कह आया। घर-घर की बड़ी-बूढ़ी आतीं और वर-घर के बारे में विस्तृत रूप से, खोद-खोद कर, पूछतीं और चलते समय उसपर आशीर्वादों की वर्षा करती हुई जातीं। उस रात में उसके आँगन में औरतों का विचित्र ठट्ट जमा और उनके गाने से घर-आँगन ही नहीं, समूचा गाँव गन-गना उठा। मानों, उसकी शादी की सार्वजनिक घोषणा कर दी गई!

अब वह चन्द दिनों की इस घर की मेहमान है, अतः ज़िन्दगी भर में जितना भी उसे प्यार दिया जा सकता था, उसपर इन चन्द दिनों में ही उँड़ेलने की चेष्टा होती। अपने घर-भर के लोगों का ही प्यार नहीं, अड़ोस-पड़ोस का प्यार भी। आज इस घर का निमंत्रण, कल उस घर का। तरह-तरह से उसका आगत-स्वागत होता, तरह-तरह के उसे खाने खिलाये जाते, तरह-तरह के उसे वस्त्राभूषण पहनाये जाते। जब कुटुम्बियों को इसकी खबर लगी, वहाँ से भी उसके लिए तरह-तरह की सौग़ातें आने लगीं। एक अजीब तरह की विविधता और बहु-रंजिता में उसके दिन-रात किस तरह कटने लगे, जिसे वह समझ नहीं पाती।

तिलक चढ़ने का दिन भी आ पहुँचा! उस दिन ब्राह्मण देवता नाई और कितने आदमियों को लेकर, सदल-बल, उसकी भावी ससुराल को चलने की तैयारी करने लगे। तरह-तरह के बर्तन, कपड़े, सुपारी, पान, नारिकेल आँगन में सजा कर रखे गये। गाँव की स्त्रियों ने देखा, प्रशंसा की। फिर ये चीज़ें दरवाज़े पर गईं, जहाँ गाँव के लोग जुटे थे; उन्होंने भी सराहा और तरह-तरह के मंगलोच्चार के साथ, ब्राह्मण देवता के नेतृत्व में, ये चीजें उसकी ससुराल को रवाना की गईं। उस दिन से उसे पीली साड़ी पहनाई गई, सिर के बाल खोल दिये गये, देह में रोज़ उबटन लगता, आँखों में काजल की रेखा दी जाती! एक दिन अपने बाबूजी द्वारा खरीद कर लाये गये उस बड़े आईने में उसने अपनी यह मुक्तकेशिनी, पीतवसनधारिणी, प्रसाधन-पूर्णा, कज्जल-रंजिता, वेश-भूषा देखी। देखकर वह खुद चौंक गई! अरे, वह ऐसी है! यह जवानी, यह खूबसूरती और यह सादगी!—
'इस सादगी पे कौन न मर जाय, ये खुदा!'

इसी वेश में उसे रोज़ स्नान करके शिवजी पर जल, अक्षत, फूल, वेलपत्र आदि चढ़ाना पड़ता—दादी की यहीं आज्ञा थी। उसे कुछ शरम भी लगती, लेकिन, वह आज्ञा टाली भी तो नहीं जा सकती थी। व्याह-यज्ञ की सफल समाप्ति के लिए शिवजी को प्रसन्न करना ज़रूरी था। फिर "पारवती-सम पति-प्रिय होंहू" के लिए भी तो पार्वती-पति की पूजा एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

घर-वाहर का धूमधाम दिन-दिन बढ़ता जाता। उसके काकी के ज़िम्मे था, उसके साथ जानेवाली चीज़ों का सँजोना। वह दिन-रात उसी में व्यस्त रहतीं। इतनी साड़ियाँ, इतनी चोलियाँ, इतने तकिये के खोल, इतने आईने, इतनी कंघियाँ—छोटी-वड़ी एक-एक चीज़ की फिह-रिस्त बनाकर वह उसकी पूर्त्ति में लगी रहतीं। जिन चीज़ों की कमी होती, उसके लिए वावूजी से तकाज़े-पर-तकाज़े करतीं। कई दिन तो इसको लेकर कहा-सुनी भी हो गई—काकी की ज़िद थी, अमुक चीज़ें इतनी तायदाद में जायँ ही, और वावूजी ने ज़रा चूँ-चरा की, कि काकी उलझीं। दादी तव बीच में पड़तीं और मामला सुलझता। माँ के ज़िम्मे लोगों के खिलाने-पिलाने की चीज़ों का भार था। वह तरह-तरह के अँचार, मुरब्वे, तरकारियाँ, मिठाइयाँ आदि के जुगाड़ में लगी रहतीं। इन चीज़ों की तैयारी में गाँव की स्त्रियाँ उनका साथ देतीं। वे स्त्रियाँ काम करतीं और गाने गाती जातीं। आँगन में दिन-रात शोर-गुल और गाने-वजाने की धूम रहती।

दादी के सिर पर तो जैसे सभी वोझ हो। वह घर-वाहर दोनों के सूत्रों की संचालिका थीं। कभी आँगन में आकर वह माँ और काकी को सलाह-मशविरे देतीं, तो कभी दरवाज़े पर जाकर वावूजी पर हुकूमत करतीं। हाँ, हुकूमत ही समझिए। बावूजी तो उनके ख़रीदे हुए ग़ुलाम की तरह थे, उन्हींके इशारे पर सव काम-काज करते।

दरवाज़े पर की भीड़-भाड़ का तो कुछ कहना ही नहीं। राज घरों की मरम्मत में लगे हैं, लोहार जलावन चीर रहे हैं, बढ़ई पलंग आदि बना रहे हैं। उनकी कढ़नी, कुल्हाड़ी और वसूले की आवाज़ आने-जानेवाले लोगों की वात-चीत के शब्द से मिलजुल कर अजीव कोलाहल की सृष्टि किये रहती !

और इन सब धूमधाम, शोरगुल, भीड़-भाड़ और कोलाहल को अपनी धौंस से दबाती और सबपर छाती हुई एक दिन बरात भी

आ ही पहुँची ! बरात, बरात ! वाजा-गाजा, धूम-धड़क्का, हाथी-घोड़े, खड़खड़िया-पालकी !

बरात दरवाज़े लगी और वह सकुची, सिमटी घर में, पलंग पर, मुँह ढाँप, लेट गई। मुँह-ढाँपे, सकुची, सिमटी !—कहीं अपनी बरात कोई लड़की खुद देखती है ! किन्तु, उसके कान सुन रहे हैं—बाजा-गाजा, धूम-धड़क्का, घोड़ों की हिनहिनाहट—हाथियों के चिग्घार ! और उसके कल्पना के नेत्र—वे इस भीड़भाड़ के बीच में खोज रहे हैं—'वे' कौन हैं ? कहाँ हैं ? कैसे हैं ?

'वे' कौन हैं ? कहाँ हैं ? कैसे हैं ?

हाय री, विहार की बेटियों की तक़दीर—जिनके साथ तुम्हें जीवन की सारी रातें, सारे दिन, कितने महीने, कितने साल गुज़ारने हैं; तुम्हें हक़ नहीं, कि उन्हें झाँक भी सको, जब तक कि उनके हाथ तुम्हारा पूरा आत्मार्पण न हो जाय ! तुम जूही की कली हो, चुप-चाप बढ़ो, खिलो, सौरभ फैलाने के योग्य बनो ; किन्तु, तुम किसके गले में डाली जाओगी, यह जानने की कामना भी क्यों करो ? जिस माली ने तुम्हें बोया, सींचा, पल्लवित-पुष्पित किया, यह उसी का काम है, उसी का हक़ है कि वह तुम्हें जिस गले में डाल दे ! चुप, बोलो मत कि वे कौन हैं, कैसे हैं ?

किन्तु, उसे सन्तोष था, उसका माली ऐसा नहीं कि जिस-तिस के गले में उसे डाल दे। वह संस्कृत रुचि का है, दीन-दुनिया का पारखी है—अपनी बड़ी बहन की शादी में ही वह देख चुकी है !

पर, उत्कंठा को वह क्या करे ? जब बरात दरवाज़ा लगते ही उसकी बूढ़ी दाई दौड़ी-दौड़ी, उसे खोजती-ढूँढ़ती आई और उसे पलंग पर सकुची-सिमटी पड़ी देख, भहरा कर उसपर गिर गई और उसके माथे पर हौले-हौले हाथ फेरती हुई, बोली—"बबुई, तुम्हारा सुहाग अचल हो, तुम्हारे ही योग्य दुलहा मालिक ढूँढ़ लाये हैं"—तब तो यह उत्कंठा और भी चरम सीमा तक पहुच गई। दाई दौड़कर फिर बरात देखने चली गई; उसकी प्रबल इच्छा हुई, वह क्यों नहीं पिछले दरवाज़े से जाकर, ज़रा एक झाँकी देख आवे ? आँखें जुड़ा ले—उमड़ते हुए हृदय-सागर की तरंगों को थपकियाँ देकर सुला दे ! उफ़—हृदय की ये तरंगें ! उसने बहुत सी बाढ़ें देखी हैं, नावों को एक ही थपेड़े में डुबानेवाली तरंगें देखी हैं, किन्तु, इनके मुक़ाबले

वे क्या थीं ? ये तरंगें उसे सिर्फ डुबो नहीं रहीं हैं, उसे खुद तरंग बनाये जा रही हैं !—समूचा संसार सागर-सागर है, वह तरंग-सी उसपर नीची-ऊँची हो रही है !

मतवाली तरंग-सी ही वह एकाएक उठ खड़ी हुई, आगे बढ़ी, घर की चौखट एक ही छलांग में लाँघ कर, आँगन में पहुँची ! आँगन सूना था। घर का बच्चा-बच्चा बरात देखने में लगा था—काकी, दीदी, बहन, भाई, पुरजन-परिजन—जिनकी इधर आँगन में भरमार रहती थी—कोई नहीं ! किन्तु, इस शून्यता में न जाने कहाँ से औचक आकर कोई उसके पैरों से लिपट गया। दो-एक बार उसने पैर झटके। किन्तु, यह क्या ? उसके पैर उठ नहीं रहे हैं ! यह कौन है ? क्या है ? हट, मुझे आगे बढ़ने दे। मैं तरंग हूँ। तरंग से न खेल। डूब जायगी ! किन्तु, हाय री यह ज़ंजीर—मर्यादा की ज़ंजीर ! दादी, काकी, माँ ने चौदह वर्षों तक जिसे घुट्टी पिला कर पोसती रही, वही मर्यादा ज़ंजीर बनकर उसके पैरों में पड़ी है, गड़ी है। वह जाये कहाँ ? अब उसकी आँखों में हो तरंगों की लीला है। उसे कुछ सूझता ही नहो। लौटकर वह धड़ाम से पलंग पर आ रही !

जिस समय बाजे बज रहे थे, गाने गाये जा रहे थे, आनन्द-ध्वनियाँ हो रहीं थीं, मंगलाचरण पढ़े जा रहे थे, उसी समय उसकी आँखों से गंगा-जमुना बह रही थी ! क्यों ? दुख से ?—'नहीं, नहीं, ऐसा नहीं'—उसका रोम-रोम चिल्ला उठता ! यह दुख नहीं, अतृप्त कामना थी, तृप्ति के पहले वह त्रिवेणी में डुबकियाँ लेकर अपने को पवित्र बना रही थी !

बरात जनवासे गई। उसका आँगन फिर कोलाहल का केन्द्र बन गया। काकी उसे खोजती घर में पहुँची—"दुलारी, दुलारी, बेटी, तेरे ऐसी कोई भाग्यवती नहीं। तेरे ही लायक़ दुलहा मिला है तुझे—बस, राम-सीता की जोड़ी !"

× × ×

राम-सीता की जोड़ी ! हाँ, तभी तो यह वनवास, यह जंगल-जंगल दौड़ना—सीता के भाग्य में तो यही बदा था न ? किन्तु, त्रेता की सीता को सन्तोष था, वह अपने राम के साथ है, न घर सही, चित्रकूट ही सही। किन्तु, यहाँ ? यहाँ, सीता अपने लव-कुश को लेकर अपनी कुटिया में राम के वनवास के दिन गिना करती है और राम

कभी किष्किन्धा, कभी लंका ! आग लगे उस सोने की लंका में, जिसने मेरी फूस की कुटिया में आग लगाई है ! उसने रूमाल से अपने आँसू पोंछे, एक बार अपने लव-कुश—दोनों लड़कों—को गहरी नज़र से देखा फिर अपने लम्बे आँचल के नीचे सुप्तप्राय बच्ची के मुंह में स्तन लगाती हुई, खिड़की के बाहर देखने लगी। बाहर अब सरसों के खेत-ही-खेत थे, फूलों से लदे। उसके वसन्ती रंग की पृष्ठभूमि में, उसने रंगीन तस्वीरों की सिरीज़ देखी.....

५. अनजान देश

जिस मर्यादा ने ज़ंजीर बनकर उसके पैर जकड़े थे, उसी ने फिर उसकी आँखों पर ताले जड़ दिये !

विवाह की लगन पहुँची। 'वे' बरात से बुलाये गये। घर की सभी स्त्रियाँ उनकी अगवानी में दरवाज़े तक गईं—मधुर-मधुर शब्दों में गीत गाती। गीत की ध्वनि में 'वे' आँगन की ओर बढ़े। वह ठीक सामने के घर में थी। आँगन में रोशनी जगमग कर रही थी। उसने सोचा, बस यही तो मौक़ा है, भर-नज़र देख लूँ ! किन्तु, यह क्या ? उसकी आँखें झिपने लगीं। वह आँख सामने नहीं रख सकी। उसका सिर झुक गया, जैसे किसी अदृश्य यंत्र ने उसकी गर्दन मोड़ दी हो। वह उस रंगीन शीतलपाटी पर आप-से-आप लेट गई जिसपर वह बैठी थी।

मंडप की भाँवरें पड़ीं। वह सखियों द्वारा घर से लिवाई जाकर मंडप पर बिठलाई गई—बिल्कुल चादर से ढँकी। बिल्कुल चादर से ढँकी, किन्तु, उसने अनुभव किया, वह किसी की बग़ल में बैठी है ! 'वे' !—उसके इतना निकट हैं ! न-जाने क्यों, माघ की उस आधी रात में भी वह पसीने-पसीने हो रही थी ! हाँ, उसे आज भी अच्छी तरह याद है, उसकी चोली पानी-पानी हो चली थी। साया लथपथ हो गया था। माथे का पसीना पपनियों की राह गिर रहा था। वह रह-रह कर काँप-सी जाती थी ! आह ! 'वे' उसके इतना निकट बैठे हैं !

और, जब मंत्रोच्चार के बाद उसका हाथ 'उनके' हाथ में रखा गया ! उसे कितना आश्चर्य हुआ, 'उनकी' हथेली की अजीब गरमी अनुभव करके ! उसका समूचा शरीर उस गरमी से झनझना उठा !

नीचे उनकी हथेली, उस हथेली पर उसकी हथेली। वे उसे विधिवत् पकड़े हुए। ब्राह्मण मंत्र पढ़ रहे। सखियाँ गीत गा रहीं। वायुमंडल में संगीत, आनन्द और उल्लास की तरंगें ! और, इधर 'हमारे' स्नायुमंडल में एक अजीब सनसनी, झिनझिनी ! 'हमारे'—हाँ, वह दावे के साथ कह सकती थी, 'उनका' शरीर भी अपने आपे में नहीं था। उनकी हथेली की यह गरमी और रह-रह कर उसका बार-बार हिल उठना, उसके सबूत थे। पीछे तो उनसे पूछा भी था और उन्होंने हँसते-हँसते अपनी 'कमज़ोरी' क़बूल की थी !

इसके बाद, सिंदूर-दान: उसके घने वालों की पाटियों के बीच उनकी अँगुलियों का सुखद-स्पर्श। सप्तपदी: उनके पैर से पैर मिला कर चलने का वह प्रथम प्रयत्न। ध्रुवदर्शन: दोनों ध्रुव देख रहे थे। उसकी कैसी नादानी ? उसने ध्रुव में 'उनके' चेहरे को देखना चाहा— जैसे, ध्रुव कोई तारा न होकर, नज़दीक रखा आईना हो !

लेकिन, उसके रोम-रोम तो खिल उठे थे तव, जव उसके पीछे खड़े हो, उसे पूरा आलिंगन में लेते हुए, एक ही डलिया को दोनों पकड़े, वे लावा विखेरने लगे। स्त्रियाँ गा रहीं— वे वेहूदी गालियाँ ! उसकी सखियाँ उन्हें हुदुक्का-पर-हुदुक्का दे रहीं, हँस रहीं, खिलखिला रहीं। इसी धक्कमधुक्की में लावा आप-से-आप गिरता जा रहा और उसका हृदय ? उस लावे के समान ही उसका स्वच्छ, पवित्र, उज्वल हृदय—मानों छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में, उनके चरणों पर बलिहार होने को नीचे आ रहा !

आलिंगन ! जिन्दगी में पहली बार वह पुरुष के आलिंगन में आई थी ! उसके पीछे एक तरुण, वलिष्ठ 'पुरुष' खड़ा है, उसे अपनी विशाल भुजाओं में बाँधे हुआ है ! अब तुम कहाँ जाओगी, प्रियतमे! तुम मेरी हुई । इतने स्वजन, परिजन, पुरजन के वीच तुम मेरी वाहुओं में आवद्ध हो—कोई लुका-छिपी नहीं, चोरा-चोरी नहीं, गुप-चुप, चुप-चुप नहीं ! सरे आम, गाना गाकर, सौंपी गई हो; सरे वाज़ार डंका वजा कर ग्रहण की गई हो ! अब इन भुजाओं के वीच किलको, खिलो, फूलो, फलो—नारी-जीवन की यही सार्थकता है ! नर की एकांगिता की यही पूर्ति है !

अहा !—उस समय उसके हृदय में कौन-कौन-सी भावनायें तरंगें ले रही थीं ? उसके दिमाग़ में किन सुनहले विचारों का ताना-वाना वुना जा रहा था ? उसके पैर ज़मीन पर हैं, उसे इसका भान भी नहीं था। उसके सर के ऊपर आसमान नाम की कोई चीज़ है, इसका ज्ञान भी नहीं था। वह कल्पना के रंगीन पंख लगा कर न-जाने किस आनन्द-लोक में उड़ रही थी। मस्ती के डैने दोनो वग़ल में बाँधे, चंचल मछली-सी, वह किस उल्लास-सागर में तैर रही थी ! वह नारी नहीं, तितली थी—हल्की, फुलकी; हवा के दरिया में अपनी नाव का झलमल, चकमक पाल उड़ाती, गाती बजाती, किसी अनजान देश को जा रही—जहाँ हमेशा वसंत हो, पराग हो !

बसंत, फूल और पराग लिये, विवाह के तीन दिनों के संगीत, हास्य, विनोद के बाद, वह ससुराल को चली—उस अनजान देश को ! एक ओर उसे आनन्द था, वह 'उनके' साथ, 'उनके' घर जा रही है, जो घर अब उनका नहीं, उसका होगा। वह उस घर की मालकिन होगी, गृहिणी का पद उसे प्राप्त होगा। तो दूसरी ओर, जहाँ उसने ज़िन्दगी के पन्द्रह बसंत बिताये थे, उस घर, उस गाँव की चप्पा-चप्पा ज़मीन, एक-एक वस्तु, एक-एक व्यक्ति, जैसे ममता के हाथों से, उसे पकड़ रहे थे, रोक रहे थे; और इस रोकथाम में उसकी छाती जैसे फटी जा रही थी। दादी, माँ, काकी, बबुआ, बहन, सखियाँ इन्हीं का वियोग नहीं हो रहा है, यह नदी जिसमें वह चुभक-चुभक कर नहाती थी, यह अमराई जहाँ उसने कितने टिकोले वीने थे, यह मौलसिरी की झुरमुट जिसके फूल के लिए वह तड़के उठकर आँखें मलती आती थी, ये हरे-भरे खेत जहाँ वह कुसुम का फूल चुनती, मटर की फलियाँ तोड़ती, सरसों में खड़ी हो कर अपनी ऊँचाई नापती—ये सब के सब उससे छूट रहे हैं ! उसकी छाती फटी जा रही थी, हृदय के टुकड़े आँखों की राह गिर रहे थे, हिचकियाँ बँध गई थीं, अरे, वह तो फूट कर रो पड़ी थी ! कैसे न रो पड़े—जहाँ कुछ देर पहले हँसी के फव्वारे छूट रहे थे, वहीं अब सब के चेहरे उसके वियोग की कल्पना में उतरे थे, सब की आँखों में आँसू थे ! माँ तो उसके गले से लिपट कर रो उठी—मातृत्व दुनिया के बन्धनों को कब मानती रही है ?

और उसके आँसू अच्छी तरह सूखने भी नहीं पाये थे कि वह फिर हँसी और चहल-पहल की दुनिया में आ पहुँची। अब वह ससुराल में थी। उसकी आँखें घूँघट और चादर के दोहरी जालों के भीतर थीं, किन्तु उसके कान सुन रहे थे वहाँ के आनन्दोच्छ्वास ! गीत हो रहे थे, बच्चे-बच्चियाँ कोलाहल कर रहे थे। बड़ी-बूढ़ियाँ उन्हें डाँट-दवार रही थीं। आगे-आगे 'वे' थे, पीछे-पीछे 'वह'। दोनों कोहबर-घर में लाये गये। गृह-देव का अर्चन-पूजन। वे बाहर गये। दुलहिन की मुँह-दिखौनी शुरू हुई !

उसका सौभाग्य ! लोगों को वह पसन्द आई !

किन्तु, जिनकी पसन्दगी पर उसकी ज़िन्दगी भर के सुख-दुख निर्भर है, क्या उन्होंने उसे देखा है ? शायद ! उस दिन जब वह नैहर में दुपहरिया को मंडप पर खड़ी थी, उसे लगा, जैसे उनकी नज़र उसपर

पड़ी थी—उसकी एक शोख सखी ने उन्हें छल से उस ओर देखने को लाचार किया था, जो उस समय कोहवर-घर में, दरवाज़े के सामने, कुँवरकन्हैया की तरह गोपियों से घिरे बैठे थे ! वह छलना का देखना—एक क्षण का ! सखी कहती थी, तुम्हें देखते ही उनकी नज़र नीची हो गई ! अरे, कैसे मर्द हैं वे—शर्माने में औरतों के भी कान काट लिये ! ऐसा कह कर उसकी सखी वेतहासा हँसी थी, वह मन-ही-मन उनके शील-संकोच पर बलिहार हो गई थी। लेकिन, सखी की बातों का क्या ठिकाना ?

दुलहन देखने वालों और वालियों की भीड़ धीरे-धीरे छँटी। काफी रात वीत चुकी थी। 'वे' आये !

'वे' आये, उन्होंने देखा, उनकी जीत हुई !

एक शून्य घर। साक्षी रूप में सिर्फ एक दीपक। 'वे' और वह। वह, एक पत्नी के रूप मे। 'वे', एक पति के रूप में। उफ़ री, प्रथम मिलन की मधुर स्मृतियाँ !

ज्योंही उनकी पद-ध्वनि मालूम हुई, उसकी छाती धक धक करने लगी, साँस ज़ोर ज़ोर से चलने लगी। वह क्या करे—क्या चुप-चाप बैठी रहे ? या उठ कर अगवानी करे ? या, मुँह ढाँप, सोने का बहाना करके, पलंग पर पड़ जाय ? माँ ने कहा था—अगवानी करना, पैर छूना, पान देना। उस विवाहिता सखी ने कहा था—"ज़रा लेट रहना, दुलारी ! देखना, किस तरह तुम्हें जगाते हैं, खुशामदें करते हैं। वे जगावें, तुम ऊँ ऊँ करके, नींद के माते वच्चों की तरह, इस करवट से उस करवट होना और सिमट कर सो जाया करना। वड़ा मज़ा होगा, दुलारी, वड़ा मज़ा ! ये पुरुष—अपने गँव पर ये कौन-सी खुशामदें नहीं करते ? अरी, वे पैर पड़ेंगे। और, अगर पहला दिन तुमने उनपर विजय प्राप्त की, फिर तो, वे हमेशा के तुम्हारे गुलाम बने रहेंगे। खबरदार, अपने को सस्ती मत वनाना।" और, माँ ने कहा था, बेटी, अभिमान मत किया करना, कोई ऐसा काम न करना कि 'उनकी' मर्यादा टूटती हो। तुम उनकी मर्यादा तोड़ोगी, तुम्हारी मर्यादा आप-से-आप टूटेगी । वह क्या करे ? इनमें किसकी वात माने, किस पर चले ? आह, वे तो इतने नज़दीक आ गये !

इसी असमंजस में वे सचमुच आ पहुँचे। आ गये और वह सामने खड़े हैं ! माँ की सीख रह गई, सखी का सिखावन रह गया ! एक तीसरी ही बात हुई। ज्योंही वह उठने का उपक्रम कर रही थी, उन्होंने आगे बढ़कर उसके हाथ पकड़ लिये, उसे खीच कर बग़ल में बिठा लिया, और जैसे, बहुत दिनों के परिचित हों, पूछ बैठे—मज़े में हो न ?

बहुत दिनों के परिचित ! —पूर्व परिचित, चिर परिचित ! हाँ, ऐसा ही लगा था उसे। कैसे एक अपरिचित पुरुष के सामने खड़ी होऊँगी ? उफ़, लाज से गड़ जाऊँगी, गिर जाऊँगी ! न जाने क्या हालत हो, न जाने मुँह से क्या निकले ? कौन-सी गुस्ताखी हो जाय—हज़ार-हज़ार चिन्तायें एक मिनट पहले तक उसे सता रही थीं। किन्तु, यह क्या ? वे चिन्तायें कहाँ कर्पूर-वर्त्तिका-सी आप-आप उड़ गईं। हाँ, कर्पूर के उड़ जाने पर भी जैसे उसकी सुगन्ध रह जाती है, उसी तरह संकोच और लज्जा के रूप में उनका अवशिष्टांश यहाँ छाया हुआ ज़रूर है ! यही तो नारी का शृंगार है। यह तो चाहिए ही।

उन्होंने पान खिलाये, बातें पूछी, हँसे और हँसाया। चुटकियों से संकोच दूर किया, गुदगुदियों से शरम भगाई। नारी और नर के बीच जो चिरकाल से एक कुहेलिका, प्रहेलिका रहती आई है, वह धीरे-धीरे दूर हुई। दूई दूर हुई, एकात्मा आई। एक साँस की डोर में बँधे दोनों कब सो गये, कैसे सो गये—क्या इसकी सुध भी उसे रही ? जब उसकी आँखें खुलीं, भोर हो गई थी। दीपक की जोत मंद पड़ गई थी, एक भक-इँजोरी-सी घर में छा रही थी। वे चलने का उपक्रम कर रहे थे। चलते-चलते उन्होंने एक बार उसका गाढ़ालिंगन किया और पलंग से नीचे होते-न-होते एक स्फीत चुम्बन दे, हँसी बिखरते, देखते-देखते, नौ-दो-ग्यारह हो गये !

× × ×

गाढ़ालिंगन, स्फीत चुम्बन !—अभी-अभी इस रेल के डब्बे में भी वह अनुभव कर रही है, जैसे उसके शरीर में झिनझिनी बर रही है। उसके गालों पर किसी की गरम साँस है, उसके अधरों पर किसी के उत्तप्त अधर हैं। उसने आँखें बन्द कर लीं—बाहर की दुनिया कहीं उसके इस कल्पना-महल को चूर-चूर न कर दे। किन्तु, क्या इस तरह अपने को ज़्यादा छला जा सकता है ? जिसके आलि-

गन और चुम्बन की वह कल्पना करके विभोर हुई जाती है; वह तो इस समय पत्थर की दीवारों के अन्दर, उन मोटी-मोटी आहनी सीकचों के भीतर पड़े, शायद 'उसीं' की कल्पना में विभोर, लम्वी उसाँसे ले रहे होंगे। हाँ, वे देशभक्त हैं, कट्टर सिद्धान्तवादी हैं, किन्तु वे मनुष्य हैं, हृदय रखते हैं, वैसा हृदय, जिसकी साक्षिणी वह स्वयं है ! आह, उनकी मानसिक स्थिति कैसी होगी ? आँसुओं का फिर नया हुजूम, हुजूम में फिर तस्वीरों का ताँता ! आह, वे दिन ! आह, वे रातें !

६. 'वे'

मध्यवित्त गृहस्थ का घर—पर्दे की जड़ता से जकड़ी, वह, क्या दिन में उन्हें भर नज़र देख भी सकती थी ? हाँ, जब-तब उनकी बोली वह आँगन में सुन पाती थी। एक ही रात में, हाँ, एक ही रात में, बोली में भी कोई मिठास होती है, उसने अनुभव किया। जब वे आँगन में बोलते, उसके दिल की डाली पर कोई कोयल-सा, जैसे, कूक जाता ! कई बार वह किवाड़ के नज़दीक चली जाती, जिसमें वह उस काकली को और भी स्पष्ट सुन सके, और, शायद देख सके उस कोकिल के सुन्दर मुखड़े को, जिसके अन्दर ऐसी अच्छी ज़बान है। किन्तु, लज्जा, नहीं, मर्यादा उसे झट खींच कर बीच घर में ले आती।

और, ऐसा मौक़ा भी तो बहुत कम मिलता, जब उसका घर ख़ाली हो, वह किवाड़ तक भी जा सके। दिन-भर अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियाँ आती रहतीं, दुलहन देखने। स्त्रियों का ताँता तो कई दिनों में टूटा भी, किन्तु बच्चों का हंगामा तो बना ही रहता। नई बहू को देखने से ही उन्हें सन्तोष नहीं था, वे उससे बोलना चाहते थे, खेलना चाहते थे ! हाँ, नई बहू से बढ़कर दुनिया में खेलवाड़ की चीज़ और क्या हो सकती है ? इन बच्चों में, उनके सरल विनोद और निष्कपट व्यवहार में, वह भी मज़ा पाती। शायद ये नहीं होते, तो अपने नैहर के वातावरण से एक-ब-एक विलग हो जाने का दुख उसे और भी सताता। यों तो, नैहर की याद जब-तब आ ही जाती; आती, रुलाती ! आह, कब दादी को देख सकूँगी, माँ से रूठ सकूँगी, काकी से बतिया सकूँगी, बाबूजी को देख कब शरमा कर भागूँगी, और अपने उस दुष्ट छोटे भाई को झिड़कूँगी, उसके गालों पर मीठी चपत दूँगी ! अपना वह गाँव, वे पेड़, वे खेत—फिर कब देखने को मिलेंगे ?

रात में कुछ देर से 'वे' पहुँचते। पहुँचते अपने साथ हँसी, विनोद, आमोद-प्रमोद सब कुछ लिये-दिये। वह ऐसी हरिणी है, जो अपने गोल से, अपने जंगल से तुरत-तुरत बिलगाकर यहाँ लाई गई है, अतः ज़रूरी है, उसका मन बहलाया जाय, उसे भुलाया जाय, फुसलाया जाय—'उनका' पारखी हृदय यह अच्छी तरह समझता। अतः, रोज कुछ नये-नये शिगूफे छोड़ते। नई बातें, नई कहानियाँ, नई चुटकले, नई सौगातें !

नई सौगातें ! जिन्हें वह अपने घरवालों की नज़र बचाकर लाते। लोग क्या कहेंगे, कलजुगहा है, अभी शादी हुए दिन भी न बीते, और बीवी की फरमाइशें पूरी करने लगा ! अतः यह चोरी-छिपी। लेकिन, वह उनसे क्या फरमाइश करती भला ? क्या उसके लिए सिर्फ वे ही काफी न थे, जो दूसरी चीज़ों की वह ख़ाहिश करे ! देहात की वह लड़की—उसके दिमाग़ का दायरा ही कितना बड़ा कि वह नई-नई चीज़ें माँगें ? और, जो चीज़ें चाहिए, उसके नैहर वालों ने एक-एक कर दी थीं उसे। उसकी काकी ने एक भी ऐसी चीज़ नहीं छोड़ी थी, जो उसे पसंद हो। क़ीमती, रंग-बिरंगी, शराबोर साड़ियों से न जाने क्यों, शुरू से ही उसे उदासीनता रही है और गहनों की ओर भी उसका मन कभी गुड़-चींटा नहीं बना। अतः, उसकी इच्छा की पूर्त्ति के लिए नैहरवालों को ज़्यादा ख़र्च भी नहीं करना पड़ा था। यों, वह सब तरह सन्तुष्ट थीं; किन्तु, 'उनको' जो सन्तोष हो।

किन्तु, सौग़ातों से भी प्यारी थी उनकी बातें। वे आते, आते ही बातें शुरू हो जातीं। कुछ उससे पूछते, कुछ आप कहते। इसी पूछ-कह में रात न जाने कैसे बीत जाती। जब ऊपर के जंगले से घर में उषाकालीन प्रकाश घुसता, हम प्रायः ही कह उठते—ओहो, दिन हो गया ? रात बीत गई ? कितनी छोटी होती है रात आज-कल ! क्या सचमुच उन दिनों रातें छोटी होती थीं ? या, हमीं रातें छोटी कर लेते थे ? यह प्रकाश देख, जब वे जाने को तैयार होते, उसे कितना अखरता ! विधाता दिन को भी रात ही क्यों नहीं बना देता ? दिन के बिना भला क्या बनता-बिगड़ता है—वह अपने भोलेपन में सोचा करती !

इस रात्रि-जागरण के फल-स्वरूप दिन में वह, थोड़ा-सा भी सुअवसर पाते ही, सो जाती। एक दिन दुपहरिया में वह सोई थी। घरवाले भी खा-पीकर निश्चिन्त थे। शादी की भीड़-भाड़ से फुर्सत पाकर वे लोग अब निश्चिन्त, अलसाये पड़े थे। न-जाने, किस तरह उनकी आँख बचाकर 'वे' झट घर में घुस आये। वह सोई हुई थी—आते ही उन्होंने उसके गालों पर अपने अधर रख दिये ! यह कौन ? दिन में यह कौन ? क्या किसी दुष्ट देवर ने यह खेलवाड़ किया है ? या किसी शोख ननद ने ? वह चीखने ही जा रही थी, कि उसने पाया उसके मुँह पर किसी की हथेली है और सामने किसी का हँसता-

दमकता चेहरा। वह उठना चाहती थी कि वह किसी के भुजपाश में थी। वह चिर-परिचित भुजपाश ! अटूट, अछेद्य,—स्नेह-पाश, प्रेमपाश !

रात तो 'उनके' कौतुकों की क्रीड़ास्थली ही थी। कभी कहते, बाल को यों सम्हालो, कभी यों। कभी यह साड़ी पहनने को कहते, कभी वह। उसे यह जानने में ज़्यादा देर न लगी कि उन्हें हल्के हरे रंग से कुछ ख़ास दिलचस्पी है। शायद दुनिया को वह हमेशा हरा-भरा देखना पसंद करते ! हरी साड़ी पर चोली किस रंग की जमती है, इसको लेकर तर्क-वितर्क होता। हरी किनारी वाली साड़ी को किस रंग में रँगाना चाहिये, यह भी विचार का विषय होता ! गहने ?—यह कानों में क्या लटक रहा है ? यह नाक में क्या गड़ा रखा है ? यह सीपी-सी गर्दन शृंगार क्यों चाहे ? और, छाती पर हार रखना तो दो हृदयों के मिलन में बाधा पहुँचाना है। कमर में झुम-झन, पैरों में रुन-झुन—उहँ, तू पूरी गँवारी है ! एक रात एक-एक कर सभी गहने हटा दिये। ज़रा देख तो आईने में कैसी लगती है अव ? और, हाँ, हाँ, यह चोली ही क्यों रहे !—वह हा-हा खाने लगी; वे चिपक पड़े, नहीं उतारना ही होगा। क्या यह आँचल ही शरीर ढँकने को काफी नहीं ? भला यह भी कोई तर्क था ? किन्तु ज़वर्दस्ती तो दुनिया में ख़ुद सब से बड़ी दलील है। उन्होंने ज़बर्दस्ती की। 'वह' शरम से गड़ी जा रही थी और 'वे'........

यह आईना। आईने के सामने खड़े होकर या हाथ में वड़ा आईना लेकर, कितना समय न उन्होंने बर्बाद किया होगा ? दोनों के मुँह का प्रतिविम्ब आईने में पड़ता था। वे उसके मुँह के एक-एक अवयव का विश्लेषण करते। देख, तेरा यह मुखड़ा। काली पाटियों के वीच यह सिन्दूर-विन्दु—मानो, काली घटा में अचल विद्युत रेखा ! चाँद-से ललाट के नीचे भँवों की लचीली कमान—काम ने आज क्या चन्द्रमा को ही अपना निशाना बनाया है ? नीचे दो चंचल मछलियाँ खेल रहीं—रस-सागर में डूबतीं-उतरातीं ! अरी, पगली, तेरी ये पलकें—कितनी लम्वी-लम्वी हैं ये ? कौन ऐसा पत्थर का कलेजा है, जिसमें ये साफ घुस न जायँ ? दोनों ओर गुलाब खिले हैं, बीच में चम्पे की कली—यह थी उसकी नाक और गालों की उपमा। ये दो अधर—ज़रा मुस्कुरा दो न ? नये आम्र-पल्लवों के बीच दाड़िम के दाने बिखर पड़ें, निखर पड़ें ! और, सब रस का निचोड़ तो उस

खड्ड में आकर जमा हो गया है—उसके चिवुक को पकड़ कर वह कह उठते ! वह चुपचाप सुना करती। कभी-कभी उसे अपने पर नाज़ भी होता। इस तरह अपने को उसने कभी देखा नहीं था—इस तरह, विलग-विलग करके, अपने को अपने से अलग करके। किन्तु ज़्यादातर उसे शरम ही आती। "उहँ—यह क्या बक रहे हैं आप; आपने अपने चेहरे को, अपने को ग़ौर से देखा है ? आप ही क्या कम हैं ?"

"हाँ हाँ, देखा है, कैसा हूँ मैं—सोने की अंगूठी का नीला नग ?"

"नीलम का नग क्यों नहीं कहते !"

"कभी देखा भी है नीलम ?"

उसने आईने में ही उनके चेहरे की ओर हँसते हुए इशारा किया। उन्होंने उसे छाती से लगा लिया। वेचारा आईना ! टुकुर-टुकुर देखा किया वह।

एक रात, न-जाने क्या धुन में आई, बोले—"तुम्हारा नाम क्या है जी !"

"आप नहीं जानते क्या ?"

"सुना तो है, किन्तु जानता नहीं।"

"वाह, क्या खूव ? जो सुना है, वही मेरा नाम।"

"दुलारी न ?"

"जी हाँ,।"

"लेकिन, दुलारी नाम तो बाप का होता है; बाप का कहो या नैहर का कहो।"

"तो पतिदेव का, या, यों कहिए, ससुराल का नाम क्या होना चाहिए, आप ही बतलायँ ?"

"मैंने तो पहले से ही एक नाम चुन रखा है ?"

"वह क्या है ?"

"रानी !—और "मेरी कुटिया की रानी ही, मेरे दिल की रानी !"—

वे गुनगुनाने लगे, गाने लगे ! मुँह से गाते और एक हाथ से उसे अपने हृदय से लगाये दूसरे से उसके बालों को सहलाते ! वह उनका स्वर, वह उनके हृदय का मधुर कम्पन, वह उनका कोमल कर-स्पर्श ! उसकी आँखें बन्द हो गईं। उसने अनुभव किया, वह ऊपर उठी जा रही है, वही नहीं, वह और वे दोनों ही — इसी मुद्रा में, इसी आसन में ! नीचे पलंग छूट गया है, घर छूट गया है, ज़मीन छूट गई है। हम आसमान में हैं, गगनमंडल में हैं, चारों ओर चकमक तारे हैं, दूर पर चाँद हँस रहा है, वायुमंडल में सौरभ और संगीत छा रहा है, वह उड़ी जा रही है—वे उड़े जा रहे हैं—'वह' और "वे' दोनों—दोनों—दोनों..........

× × ×

ऐं, यह गाड़ी अचानक रुकी क्यों ? हाय री तक़दीर, तुम्हें इतना भी पसंद नहीं कि वह कुछ देर तक कल्पना की दुनिया में विचरण कर ले! बीच में पुल ख़राव हो गया था, उसी की मरम्मत हो रही थी। किन्तु, क्या उसे यह जानने की फुर्सत थी कि वह कई स्टेशन बीच में छोड़ आई है ! वह तो अपनी तस्वीरों में मस्त थी, तस्वीरों की वह निराली दुनिया !

७. सौग़ात !

"देखो रानी, आज तुम्हारे लिए एक बिल्कुल नायाब सौग़ात लाया हूँ"—यह कहते हुए, किस मधुर मुस्कान में उस रात उन्होंने घर में प्रवेश किया !

वह उछली, उनकी बग़ल से पोटली छीन ली। एक रेशमी रूमाल में लिपटी हुई उस सौग़ात को जब उसने खोला, देखा — उसमें पाँच बढ़िया, सुन्दर जिल्द वाली, बहुत-सी तस्वीरों वाली पुस्तकें हैं ! वह एक-एक किताब को देखती, उनके भीतर की तस्वीरों को देखती। वह उन किताबों और तस्वीरों को देखती हुई मन-ही-मन, इस बहु-मूल्य उपहार के लिए उन्हें बधाई देने का सोच ही रही थी कि वे फिर बोले—

"मैं कल शहर जा रहा हूँ—छुट्टी पूरी हो गई। पढ़ाई में ज़्यादा हर्ज करना ठीक नहीं; समझीं ?"

पढ़ाई में ज़रा भी हर्ज करना ठीक नहीं, क्या वह नहीं जानती ? क्या नहीं समझती ? नैहर में ही उसने सुन रखा था, वे पढ़ रहे हैं—बहुत पढ़ गये हैं, पढ़ने में बड़े तेज़ हैं, सरकार से स्कालरशिप पाते हैं। इस चर्चा के साथ उसने वहीं यह भी सुना था, लड़के शादी होने पर पढ़ना-लिखना छोड़ देते हैं। उनकी बेवकूफ बीवियाँ उन्हें अपने सामने रखने की धुन में उन्हें छोड़ती नहीं। वे भी प्रेम के प्रथम आवेग में किताब के पन्ने उलटने की अपेक्षा बीवी की घूंघट उलटना ज़्यादा ज़रूरी और क़ीमती मानते हैं। नतीजा यह, कि कितने होनहार नौजवान बर्बाद हो गये, बर्बाद हो गया उनका भविष्य, उनके घर। उसकी एक भावज ने उस दिन जैसे उसे ताना देते हुए कहा था—"मेहमानजी पढ़ रहे हैं; लेकिन देखना है, दुलारी बबुई के चेहरे और कोर्स की किताब दोनों में आखिर जीत किसकी होती है ?" उसी दिन दुलारी ने मन-ही-मन इसका उत्तर ठीक कर लिया था—वह उस चेहरे पर तेजाब छिड़क लेगी, जो चेहरा उन्हें किताब से विमुख करे।

किन्तु, यह क्या ? वही दुलारी उनके अकस्मात जाने की यह खबर सुन कर स्तब्ध रह गई ! किताबें पाने का जो आनन्द अभी अंकुर ले पाया था, मानों, उसपर गरम पानी का छींटा पड़ गया।

उसके मुख की उत्फुल्लता देखते-देखते परिछाईं में बदल गई। हृदय में प्रसन्नता की जो हल्की लहर अभी-अभी उठ पाई थी, वह उच्छ्वास में परिणत होती देख पड़ी। उसकी आँखों ने तो मानो उस बेभरम ही कर डाला। उसकी सजल आँखों में अपनी विनोदी आँखें गड़ा कर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा––

"रानीजी, यह रवैया तो ठीक नहीं !"

वह जैसे चौंक उठी। इसमें उसकी होशियारी से अपील ही नहीं थी, उसकी बेवक़ूफी पर ज़बर्दस्त ठोकर भी। यह प्रेम नहीं, मोह है। मोह, विलास, वासना ! वह प्रेम क्या प्रेम है, जो परिणाम न देखे, भविष्य न देखे ? जो क्षणिक सुख के लिए जीवन भर के आनन्द को लँगड़ा बना दे, लुंज कर दे, उसकी अकाल हत्या कर दे ! वह सजग हो गई। हृदय के आवेग को रोका, चेहरे पर सुर्ख़ी लाने की कोशिश की। उनकी आँखों में आँखें डाल कर ही बोल उठी—

"तो क्या मैं आपको रोकना चाहती हूँ ?"

"यदि ऐसा करो, तो मेरी रानी कैसी ? मेरी रानी ऐसी ग़लती कर नहीं सकती"—कह कर उन्होंने प्रेम का एक ताज़ा चिन्ह उसके गालों पर जड़ दिया। फिर कहने लगे—"घबराना नहीं, रानी। छुट्टी होते ही मैं चला आया करूँगा। इसके बाद ही गर्मियों की बड़ी छुट्टी होती है। बहुत दिन तक साथ रहने का मौक़ा मिलेगा। तब तक ये किताबें हैं, जब जी न लगे, इन्हें ही पढ़ना। इन्हें किताब नहीं, अपनी सखी समझना।"

"सखी, या सौत ?"

वह बीच ही में बोल उठी—एक विनोद जो उसे सूझ गया ! किन्तु, तुरत उसे लज्जा हुई, यह क्या बोल चुकी वह ? वे मुस्कुरा कर रह गये, सिर्फ इतना कहा—"तू अभी बिल्कुल बच्ची है ?" और, किताबों को उलट-पुलट कर दिखाने लगे। पहले एक-एक तस्वीर दिखाई, उनकी बारीकियाँ बतलाईं। फिर कहने लगे—ज़रा पढ़ो न, सूनूँ। "क्या मेरा इम्तिहान होगा ?"—उसने कहा ! "ओहो, तुम तो वकील होने लायक थी।" "मैं न सही, मेरे राजा सही ?"—इस प्रत्युत्तर से वे खूब ही प्रसन्न हुए। उसने कहा—"आपने किताबें पहले क्यों न दीं ? ज़रा, आपसे भी पढ़ती।" उन्होंने जवाब दिया

—"मैं खुद जो एक किताब पढ़ने में मस्त था।" और, वह किताब क्या थी, क्या वह नहीं समझ सकी थीं ?

"तो आपने मुझे किताब मान लिया है ?"—उसने व्यंग से कहा।

"रानी, हर आदमी एक किताब है। जिस तरह किताब में दोनो ओर जिल्द होती है, फिर पृष्ठ होते हैं, तस्वीरें होती हैं, प्रारम्भ में भूमिका होती है, अन्त में परिशिष्ट होता है, उसी तरह आदमी के जीवन में भी वाह्य आवरण, अन्तःप्रदेश, बचपन और बुढ़ापा और उनके बीच जीवन के भिन्न-भिन्न विभाग होते हैं। किसी किताब की जिल्द तो अच्छी होती है, भीतर का विषय खराब, किसी की तस्वीरें तो सुन्दर होती हैं, लेकिन वर्णन वीभत्स—संक्षेप में, कोई किताब अच्छी, कोई किताब बुरी; कोई किताब सिर्फ एक एक बार पढ़ लेने की होती है और कोई बार-बार मनन करने की —यों ही, आदमी-आदमी में भी फर्क़ है। पुस्तकों के चुनाव की तरह आदमी का भी चुनाव करना चाहिए। पिछले कुछ दिन हम दोनों ने भावना की दुनिया में गँवाये हैं। ज़िन्दगी में इनके लिए भी जगह होनी चाहिए, है। किन्तु, धीरे-धीरे हमें ठोस ज़मीन पर पैर रखना होगा और लम्बी ज़िन्दगी इस ज़मीन पर ही गुज़ारनी पड़ेगी। उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए हमें आदमी की पहचान करनी होगी। अगर इसमें हमने भूल की, हम रोते जीयेंगे, पछताते मरेंगे। अगर हम सही-सही पहचान कर सके, तब फिर आनन्द-ही-आनन्द में दिन कट जायँगे; हम खुद ही आनन्द से नहीं रहेंगे, जहाँ रहेंगे, आनन्द का वातावरण बनाये रखेंगे........"

वे यों कहते जा रहे थे, वह सुनती जा रही थी। इसके बाद फिर उन्होंने अपने घर के बारे में कहना शुरू किया। जिनके मुँह से कल तक वह सिर्फ प्रेम, हास्य, विनोद और विलास की बातें सुनती आ रही थी, इस समय वे ही ज्ञान, व्यवहार, लोकाचार की बातें इस तरह कर रहे थे कि उसे शक होता, क्या ये वही आदमी हैं ? वह रह-रह कर उनका मुँह देखती ! वे बड़े ही गम्भीर भाव से कहे जाते। मानो ये शब्द नहीं थे, उनका हृदय शब्द रूप में निकल रहा था। वह भी भाव-मग्न हो उनके एक-एक अक्षर को सुनती रही—सुनती रही, कान के रास्ते हृदय में उतारती रही। उनकी वे बातें ? क्या

यह सच नहीं है कि उस दिन का उनका वह उपदेश-कथन परवर्ती जीवन में उसके लिए दृढ़ सम्बल बना, नहीं तो, न-जाने वह कहाँ रह गई होती, बह गई होती। उस दिन उसे अनुभव हुआ, जिन हाथों को उसने पकड़ा है, वे सिर्फ प्रेम सरोवर की थपकियाँ ही नहीं ले सकते हैं, अपार संसार-सागर के पार करने में भी समर्थ हैं। उसने ऐसे पति पाने पर गर्व भी अनुभव किया !

जिस समय उनकी बातें ख़तम हुई, घर भर में एक अजीब सन्नाटा छा गया था। इस सन्नाटेपन को उन्होंने भी महसूस किया। उनके चेहरे की ही तरह उसका चेहरा भी गम्भीर हो चला था।

इस सन्नाटे, इस गम्भीरता को कम करने के लिए उन्होंने फिर विनोद का प्रसंग छेड़ा। पाँचों किताबें पड़ी हुई थीं। उनकी कुछ तस्वीरें निकाल कर उनकी व्यंगपूर्ण व्याख्या करने लगे। देखो, यह बेचारी है शूर्पनखा, कितनी सुन्दर ! देखो, यह सुन्दर चेहरा ! और इतने पर भी लक्ष्मण महाराज नहीं रीझे, नाक-कान काट लिये ! कुछ मर्द ऐसे ही होते हैं ! कितना भी रिझाओ, रीझते नहीं ! और, यह हैं हमारे अर्जुन—जहाँ गये, वहीं एक प्रेयसी कर ली। अपने गुरुदेव के घर को भी अछूता नहीं छोड़ा ! देखो, सुभद्रा को रथ पर चढ़ाये भागे जा रहे हैं। रानी, बताओ, तुम्हें किस तरह के मर्द पसंद हैं। क्या कहा—'लक्ष्मण' ? तब तो, एक दिन तेरी भी नाक कटेगी ?

"उसकी नाक कट कर रहेगी, जो यों दर-दर दिल का सौदा करती फिरे !'—वह तमक कर बोली। उन्होंने हुलस कर उसे हृदय से लगा लिया !

दूसरी रात बिदाई की रात थी ! किन्तु, उस समूची रात को उन्होंने इस तरह बिता दिया कि उसे यह महसूस करने का मौक़ा भी नहीं मिला, कि कल वे जायँगे। ज़ोरों से हँसते थे, बात-बात पर चुटकले कसते थे ! एकाध बार उसने कल जाने की चर्चा करनी चाही, उन्होंने अनखा कर रोक दिया और झट कोई सरस प्रसंग खड़ा कर दिया। हाँ, जब भोर हुई, वह घर से जाने को तैयार हुए, उसकी आँखें सजल ही गईं, बोली—'फिर कब दर्शन होंगे ?

"बस, यही थोड़ी देर बाद, तुमसे मिलकर जाऊँगा न ? इन्तज़ाम कर लिया है; घबराओ मत।"

और, कुछ दिन उठे, जब वह उदास, विषण्ण अपने घर में बैठी थी, अपनी किताबें खोजते, वह पहुँच गये। किताब तो बहाना थी, असल बात थी, उससे मिलना। ससुराल से जो कपड़े मिले थे, बड़ी सजधज से उसे पहने थे। घर में घुस कर किवाड़ भिड़का दिये और नज़दीक आकर हँसते हुए बोले—"रानी, अच्छा लगता है न ? देख तो। देख पगली, देख ! लोग ससुराल की चीज़ों की शिकायत तो न करेंगे ? यह शिकायत तेरी शिकायत होगी ? लोग कहेंगे, जहाँ के कपड़े ऐसे, वहाँ की दुलहन कैसी ? बोल; तू तो चुप है। क्या आज से ही मौन व्रत शुरू हुआ ? तो ले, मैं व्रत को भंग किये देता हूँ !"—यों कहते-कहते उसे आलिंगन में ले लिया और सारे चेहरे को चुम्बनों से भर दिया ! "अब तो व्रत-भंग हुआ, बोल न ?"

वह तो नहीं बोल सकी, उसकी आँखें बूँदें गिरा-गिरा कर ज़रूर अपनी विनय सुनाने लगीं ! उसने देखा, उनका विनोदी स्वभाव भी उदासी में डूबा हुआ है। गला रुँधा हुआ है, चेहरा भारी हो गया है। अरे, उनकी आँखें ? क्या वे भी सजल नहीं हो उठी हैं ? किन्तु, तो भी, वे मर्द थे, मर्द का हृदय था। उन्होंने अपने को ज़ब्त किया, कहा—"घबराना मत, गर्मियों की छुट्टी नज़दीक ही है। मैं जल्दी ही आया। पहुँचते ही चिट्ठी लिखूंगा—हाँ, जैसा परसों समझाया, उसके मुताबिक चलने की कोशिश करना। समझी ? समझी मेरी रानी ? ओहो, तू बड़ी नटखट है ! भोली, बच्ची, नादान—और नादान को तो चाँटें लगाते हैं न ?" चलते-चलते एक मीठी चपत उन्होंने उसके गाल पर जड़ दी !

× × ×

मीठी चपत ?—ऐं, सचमुच मीठी चपत ! उसकी भोली बिटिया नींद से जगकर उसके मुँह की ओर देख रही थी और उसे अपनी ओर मुख़ातिब नहीं होती देख कर उसने अपनी गुलाबी हथेली से उसके गाल पर आखिर एक चपत जड़ दी थी। चौंक कर उसने उसकी ओर देखा। सामने की बेंच पर जो एक भले मानस बैठे थे, वे बच्ची की शोखी पर मुस्कुरा रहे थे। वह भी मुस्कुरा पड़ी। बच्ची को समेट कर छाती से लगा लिया और बड़े लड़के से लेमनचूस लेकर उसके हाथों में दे दिया। बच्ची लपक कर भाई की गोद में जा रही। दोनों भाई उसे खेलाने, या उससे खुद खेलने लगे। और वह फिर अपनी तस्वीरों की दुनिया में जाना ही चाहती थी कि गाड़ी धीमी हुई, कुलियों का कोलाहल बढ़ा................

ख· विराम

कुलियों के कोलाहल के बीच चढ़ने और उतरने वालों में रेल-पेल। कई तरफ से गाड़ियाँ आती थीं। यात्रियों में धक्कमधुक्की-सी हो रही थी। खोमचे वालों ने और कुहराम मचा रखा था। मुस्तंडा-पन गरज रहा था, भलमनसाहत सिमटी जा रही थी। जैसे-तैसे रानी का यह काफला भी उतरा। पता चला, अभी जिस गाड़ी से वह जायगी, उसके आने में देर है, वह थोड़ी लेट है। देवर ने कहा—वेटिंग रूम में चलकर ठहरा जाय। बड़े लड़के ने ताईद की। उसे तो अनुसरण-मात्र करना था। बच्ची को गोद में लिये, छोटे लड़के की अँगुली पकड़े, वह चली।

वह वेटिंग रूम में बैठीं। देवर और बड़ा लड़का स्टेशन की सैर में निकले। छोटा लड़का झट बाहर निकल एक खोमचे वाले को बुला लाया। एक खोमचेवाले की बिक्री ने दूसरे खोमचेवालों को प्रोत्साहित किया। कुछ देर में उस वेटिंग रूम में मिठाइयाँ, फल और खिलौनों की एक छोटी प्रदर्शनी लगी थी। ख़रीदना ही पड़ा उसे —बच्चे की ज़िद और बच्ची की ललक। एक के तीन देने पड़े। बच्ची कचकड़े का झुनझुना बजा रही थी। बच्चा एक हाथ में रबर की रंगीन गेंद पकड़े, दूसरे से अंगूर खा रहा था और माँ से कह रहा था, तुम मिठाइयाँ खाओ। उधर देवर और लड़के ने रिफ्रेश-मेंट रूम में नाश्ता किया, चाय पी। पान खाकर, स्टाल पर से कुछ फल ख़रीद वे वेटिंग रूम में पहुँचे—वे जानते थे, वह स्टेशन पर की कच्ची-पक्की चीज़ें खाती नहीं है। थोड़ा फलाहार ही सही—देवर का आग्रह था। वह टाल न सकी।

गाड़ी में बैठी-बैठी, फिर वेटिंग रूम में इतनी देर तक बैठी रहने के कारण, दिल और दिमाग़ के साथ जिस्म में भी काफी हरारत वह अनुभव कर रही थी। बच्ची और छोटे बच्चे को उनके काका के साथ खेलने को छोड़ कर, बड़े लड़के के साथ वह वेटिंग रूम से बाहर हुई। स्टेशन पर खूब ही भीड़भाड़ थी। शादी-ब्याह का मौसम होने के कारण तरह-तरह के, रंग-बिरंगे लोगों से स्टेशन की चप्पा-चप्पा ज़मीन भरी थी। कितने दुलहे अजीब पोशाक, अजीब पग्गड़, अजीब ढंग का चन्दन और काजल लगाये, बिला ज़रूरत मुँह में रूमाल ठूँसे, बैठे हुए थे। जगह-जगह दुलहनें साड़ी-चादर में

लिपटी अजीबोग़रीब गठरी-सी बनी थीं। उनकी दाइयाँ उनके पर्दे की बेपर्दगी को ढँकने में बेहद मुस्तैद। कुछ नये-नवेले दुलहे और कुछ नई रोशनी की दुलहनें भी उसने देखीं। इतनी भीड़भाड़ में भी जैसे उन्हें दुनिया को देखने की फुर्सत न हो—एक दूसरे के देखने-निहारने में ही मस्त। उस पर्दे की बेपर्दगी और इस बेपर्दगी के पर्दे में उसे कुछ ज़्यादा फ़र्क़ नहीं मालूम हुआ। जगह-जगह बाजे बज रहे थे। बरातियों की तरह-तरह की पोशाकों में रंगीनी और भद्दपन की अजब पुट थी। लोग शिवजी की बरात का मज़ाक व्यर्थ में उड़ाते हैं, यहाँ तो हमारी हर बरात शिवजी की बरात होती है—'कोउ मुख-हीन, विपुल मुख काहू' आदि का प्रत्यक्ष प्रमाण !

इन दृश्यों ने उसके मन के बोझ को हलका किया। वह धीरे-धीरे प्लेटफार्म के आखिर छोर तक चली आई, जहाँ से पश्चिम रुख होते ही, उसका ध्यान डूबते हुए सूरज की ओर गया। इस बसंत में जो वरदान की तरह ही कभी-कभी दीख पड़ता है, बादल का एक हल्का टुकड़ा मानो सूरज की राह रोके खड़ा था। सूरज-देवता उसकी शोख़ी पर हँस रहे थे और उनकी हँसी का गुलाबी रंग उस भरे बादल को लाल-भभूका बना रहा था। नजदीक ही जो लोहे की बेंच पड़ी थी, वह उसपर बैठ गई और डूबते हुए सूरज का बादल के साथ की यह आँख-मिचौनी देखने लगी !

आखिर सूरज डूब गया। बादल का गुलाबी रंग जाता रहा, उसका अपना भूरा रंग भी नहीं रहा—धीरे-धीरे काला होता, वह तमिस्र क्षितिज में कहाँ लीन हो गया, पता तक नहीं ! क्या आदमी के भाग्य की उपमा इस बादल के टुकड़े से नहीं दी जा सकती ? —अपने जीवन-पथ पर चलते-चलते कभी-कभी वह योंही अचानक घटना-वश, अकस्मात रंगीन बन जाता, अपने क्षणिक सौन्दर्य और ऐश्वर्य से लोक-लोचनों को तृप्त करता, धन्य-धन्य कहलाता है; फिर अनन्त-अंतरिक्ष में न-जाने कहाँ लुप्त हो जाता है। बड़ा सौभाग्य हुआ, तो किसी चित्रकार की कूची, किसी कलाकार की क़लम से इतिहास-पट पर थोड़ी-सी जगह वह पा सका, नहीं तो.................

इसी समय उसके लड़के ने कहा, घंटी हो रही है, शायद ट्रेन आने वाली है। वह हड़बड़ा कर उठी। समूचा स्टेशन बिजली की रोशनी से जगमग हो रही थी। लोगों में एक अजीब हलचल—हलचल क्या

भगदड़, मची हुई थी। वह लपकते पैर वेटिंग रूम में आई। वहाँ उसकी बच्ची उसके लिए रो रही थी, बच्चा अपने चाचा को बेचैन किये था। झट बेटी को गोद में लिया, बेटे को बग़ल से सटाकर उसे पुचकारने लगी। तब तक कुली भी आ पहुँचा। सब प्लेटफार्म पर आ खड़े हुए।

गाड़ी आई। सब चढ़े। भीड़ ज़्यादा थी। इन्टर क्लास में भी धक्कमधुक्की। किन्तु, किसी तरह जगह मिली। सब बैठ गये। हरी रोशनी के इशारे पर गाड़ी चली। प्लेटफार्म तक तो बाहर रोशनी-ही-रोशनी थी। बाद में, जब उसने बाहर देखा, अंधकार-ही-अंधकार। डब्बे की रोशनी को बाहर का अंधकार मानो चारो ओर से दबा रहा। उसके दबाव से सिसकियाँ लेता, आकुल-व्याकुल, डब्बा वेग से भागा जा रहा!

प्रकाश और अंधकार के इस संघर्ष ने उसके जीवन के उन तस्वीरों को दिखाना शुरू किया, जहाँ अब ज्यादा अंधकार-ही-अंधकार था। हाँ, चारो ओर के निविड़ अंधकार में प्रकाश का एक छोटा-सा घेरा, जो उसे जिला रहा, बढ़ा रहा, रास्ता बता रहा! कई बार ऐसा लगा था, अब प्रकाश बुझा, बुता, गया! शाश्वत अंधकार की कल्पना से ही उसका दम घुटने लगता। किन्तु, हर बार अंधकार असमर्थ सिद्ध हुआ, प्रकाश फिर प्रकाश में आया। प्रकाश और अंधकार का यह संघर्ष कब तक चलता रहेगा? क्या ऐसे दिन न आयँगे, जब प्रकाश ही प्रकाश हो? जीवन में प्रकाश, जगत में प्रकाश! किन्तु, क्या वह प्रकाश हमारी आँखों में चकाचौंध न लगा देगा? हमारे मन को बेचैन, हृदय को उद्वेलित न कर देगा? छाया आदमी के अस्तित्व का एक प्रमाण है। अंधकार ही प्रकाश को प्रकाश नाम देता है। अंधकार और प्रकाश के संघर्ष का नाम ही जीवन है! जब तक छाया और प्रकाश—लाइट ऐंड शेड—का सम्मिश्रण न हो, तस्वीरें बन नहीं सकतीं—एक दिन 'उन्होंने' ही तो उससे हँसते-हँसते कहा था। आज प्रत्यक्षतः वह देखती है—अंधकार और प्रकाश की यह आँखमिचौनी उसके सम्पूर्ण जीवन को तस्वीर-ही-तस्वीर बना रही है!

गाड़ी भागी जा रही है, तस्वीरें बनती जा रही हैं। तस्वीरें.......

८. वियोग

वे अपने अध्ययन की धुन में शहर चले गये। समझाकर गये, बुझा कर गये, हँसा कर गये, चपतिया कर गये। उसे विनोद में छोड़ने, प्रमोद में रखने के लिए उन्होंने एक कोशिश नहीं छोड़ी। घर वालों से भी शायद इशारतन कुछ कह गये। उन लोगों ने भी उसे वहलाये रखने की पूरी कोशिश की। ननदें घेरे रहतीं, देवर गुदगुदाते रहते। वड़ी, बूढ़ी सब जैसे उसे हाथ पर लिये फिरतीं। किन्तु, इन सब के बावजूद, उसके दिल में एक अजीव उदासी छाई रहती, उसके दिमाग़ में उचाट बसी होती। रह-रह कर तबीयत घबराती। मालूम होता, उसके हृदय का एक हिस्सा निकाल लिया गया है, हृदय की वह खाली जगह साँय-साँय किये रहती ! कभी-कभी वहाँ एक अजीब पीड़ा, दर्द, टीस का वह अनुभव करती। ऐसा तो कभी नही हुआ था, उसे क्या होने जा रहा है ?

इस एक पखवाड़े में ही वे उसकी जिन्दगी में इतना वस गये, रस गये, घुलमिल गये, एक हो गये थे कि उनका वियोग उसे इतना अपूर्ण फलतः विह्वल-विकल बनाये हुआ है, इसकी कल्पना पर उसे खुद आश्चर्य होता ! नई दुलहनें क्यों अपने 'पढ़क्कू' पति को अपने आँचल का 'पालतू' तोता बना डालती हैं, अब उसकी समझ में आ रहा है ! बैठती है, तो लेटने की इच्छा होती है; लेटती है; तो अकस्मात खड़ी हो कर टहलने लगती है। खाने वैठती है, तो ग्रास कंठ के नीचे नहीं उतरते; पानी उसके जीवन का आधार हो रहा है। उसके अधर मरूभूमि बन गये हैं, आँखों में सावन समा गया है। एक ओर हूहू-धूधू, दूसरी ओर रिमझिम, झिर-झिर ! दिन तो जैसे-तैसे कट भी जाते हैं, किन्तु, रात तो उसको काटने दौड़ती है। यह सब क्या है, क्यों हैं ?

प्रथम वियोग ! उसने 'प्रेम सागर' में पढ़ा था, कृष्ण के वियोग में गोपियाँ दिन रात रोया करतीं थीं ! पहले वह सोचती, यह क्या बात कि मर्द बाहर जायँ, तो औरतें छाती कूटें, पीटें ! यह पागलपन है जी, इसी का नाम है 'तिरिया चरित्तर', जिसके लिए स्त्रियाँ बद-नाम हैं। कोई जाता है, जाये; फिर आवेगा ही। अगर न भी आये, तो अपना क्या वश ? फिर, रोना-धोना क्यों ? वह जाता है, वह नहीं आता—तो साफ है, उसके दिल में हमारे लिए पीड़ा नहीं है, दर्द

नहीं है। फिर, हमीं क्यों दिल-दिल, दर्द-दर्द चिल्लाते रहें। जिस हाड़, मांस, मज्जा का पुरुषों का हृदय बना है, उसी का स्त्रियों का। पुरुष हँसते-हँसते जायँ, जाते ही भूल जायँ, अपने लिए नई दुनिया बसायें और स्त्रियाँ आँसू से बिदाई दें, उनके नाम की माला जपा करें, अपनी बसी-बसाई दुनिया को उसाँसों की आँधी में उजाड़ दें, आँसुओं की बाढ़ में डूबो दें ! छी-छी ! यह स्त्रियों के लिए शरम की बात है। किन्तु, जब अपने सिर पर आया, ये सारे ज्ञान, तर्क कहाँ हवा हो गये ? चलते समय उसकी आँखों ने उसे बेभरम किया, अब उसका समूचा शरीर, शरीर का एक-एक अवयव उसे तबाह और बर्बाद करने पर तुला है ! प्रथम वियोग !—उफ़, अजीब शै है यह, जिसे वह समझ नहीं पाती; और, नासमझी का उपचार ही क्या और किस काम का ?

कुछ दिन इसी बेचैनी में बीते। एक दिन उसने आईने में अपने चेहरे पर ग़ौर किया। अरे, यह क्या ? उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही हैं। कहाँ गई वह ललाई, कहाँ उड़ा वह रंग; अब तो जैसे हल्दी मल दी गई हो। बालों में लट, ललाट पर बल। भौहों की कमान—जिसका 'गुन' उतार लिया गया हो। आँखों के कोये सुर्ख, पुतलियों पर जैस छाँव पड़ी हो। गालों के गुलाब—मुरझाये, सिकुड़े, सिमटे। क्या हो गई अधरों की वह हास्य-लालिमा ! अरे, यह क्या हो रहा है, हुआ जाता है ? चेहरे की यह हालत, और दिल की मत पूछिए ? मानो, एक दुनिया उजड़ी जा रही है। जहाँ बगीचा था, वहाँ बबूल का वन बनने जा रहा है ? बबूल का बन—जहाँ भौंरों के बदले भेंम का राज—जहाँ फूल के बदले काँटों का दौरदौरा !

नहीं, नहीं, ग़लत चीज़। उन्होंने जिस चीज़ से सावधान किया, वह उसी के चक्कर में पड़ गई। उनका समझाना-बुझाना, सब जैसे व्यर्थ हुआ, बर्बाद गया। वह भावना के संसार में भटक रही है, तड़प रही है। मृगमरीचिका की एक सृष्टि उसे दौड़ा-दौड़ा कर उसकी जान लेने पर तुली है। नहीं, नहीं, यह ग़लत चीज़। अब उसे ठोस ज़मीन पर पैर रखना चाहिए, उसे ज़मीन को देखने, समझने और तदनुसार जीवन की धारा को परिवर्तित करने की कोशिश करनी चाहिए। प्रेम और वियोग का भी जीवन में स्थान है, किन्तु जीवन सिर्फ प्रेम और वियोग का नाम नहीं है; जीवन के साथ और भी कितने कर्त्तव्य बँधे हैं, जिनका कौशल के साथ सम्पन्न करना ही मानव जीवन की

सफलता और सार्थकता है—ऐसा उन्होंने उस दिन बताया था। लेकिन, वह कैसी मूरख निकली कि उनके जाते ही उनकी बात भूल गई। उनकी याद में तो वह घुली जा रही है, किन्तु उनकी बातें वह भूली जा रही है—यह कैसा अजीब तमाशा ?

ठोस ज़मीन पर पैर रखना—यह उनकी आज्ञा थी, उनकी आज्ञा उसने सिर-आँखों पर ली। किन्तु, कुछ ही दिनों में जब उसे मालूम हुआ कि उसके पैर के नीचे जो ज़मीन है, वह कैसी पोली है, तब वह बहुत ही घबराई।

मध्यवित्त गृहस्थ परिवार के सभी वरदान और अभिशाप उसके इस नये संसार को घेरे हुए हैं। एक ऐसा घर—जो चूने से बाहर से पुता हुआ, चकमक करता; किन्तु, उस चूने के भीतर जो दीवारें हैं, उसमें नोनी ने घर कर लिया है, वे भीतर-ही-भीतर खोखली हुई जा रही हैं। घर की यह छत, यह किवाड़, ओसारे के ये खम्भे—सभी सुघड़ और सुकाठ के। इन्हें रँगा गया है, इन्हें नया दिखाने की कोशिशें हुई हैं; किन्तु, भीतर से जो घुन इन्हें खाये जा रहा है, वह छिपाने से भी तो नहीं छिप पाता। जो इमारत की हालत, वही घर की सारी चीज़ों की। दरवाज़े पर पशु हैं, चरवाहे हैं, नौकर हैं, अन्न रखने की बखारियाँ हैं, पुआल के बड़े-बड़े टाल हैं, बड़े-बड़े भुस-खार हैं। किन्तु, क्या यह सच नहीं कि साल लगते-न-लगते पशुओं को चारे की दिक़्कत सताती है, नौकर मुशाहरा न मिलने से खिन्न और अन्यमनस्क रहते हैं, बखारियों की शून्यता को भरने के लिए लाख कोशिशें होती हैं, तो भी सफलता नहीं मिलती। सफलता हो तो कैसे ?—खलिहान से ही तो अन्न का प्रवाह चारों ओर तीव्र वेग से बहने लगता है ! जिस टंकी में छेद है उसे भरने के लिए आप लाख पम्प लगायें, वह रीता-का-रीता रहेगा।

टंकी में छेद—गृहस्थी में क़र्ज़। दोनों एक बात। हो सकता है, कभी आप का पम्प बिगड़ जाय, कभी आप पानी न दे सकें, भूल ही जायँ। किन्तु, वह छेद तो अपना काम भूलेगा नहीं ? वह तो तब तक अपना काम जारी रखेगा, जब तक एक-एक बूंद पानी निकाल बाहर न कर दे। यही क़र्ज़ की हालत है। आप सोये हुए हैं, और सूद आप के बिछावन के चारो ओर चक्कर दे रहा है ! आपकी खेती खराब हो सकती है, घर में कोई यज्ञ-प्रयोजन पड़ जा सकता है, आपकी आमदनी मारी जा सकती है, आपका खर्च बढ़ सकता

है। आपके पारिवारिक जीवन में, तरह-तरह के कारणों से, ज्वार-भाटे आ सकते हैं। किन्तु, क़र्ज़ पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ने का—वह तो अपनी निश्चित गति से बढ़ा जा रहा है। सूद-दर-सूद—एक के दो, दो के चार, चार के सोलह, सोलह के एक सौ चौवालीस,—यह तो सिर्फ इसकी चार ही छलांग हुई, आगे की गणना कीजिए !

उसके पितामह—हाँ, 'उनके' पितामह भी तो 'उसके' पितामह ही हुए, अब तो 'उनका' एक-एक रिश्ता 'उसका' रिश्ता है—बड़े अच्छे गृहस्थ थे, किन्तु, बड़े उदार, दरियादिल। किसी की तकलीफ़ देखी नहीं जाती, किसी का कष्ट देख नहीं सकते। मुसीबतज़दा जो माँगे, पावे। अपनी हैसियत का ख्याल नहीं रखते। कैंड़े के मर्द—मूँछ की शान पर जान भी देने को तैयार। कोई उन्हें आँख दिखा नहीं सकता। जिसके हाथ पकड़ लिये, कोई उसपर उँगुली उठा नहीं सकता। जिसने उनसे गुस्ताखी की, वह उसका कड़वा फल चखा। अपनी शान के सामने वे किसी को लगाते नहीं ! पुराने ज़माने के सामान्तों के सभी गुण। लेकिन, यह सामंती का तो युग तो रह नहीं गया था ! जो कभी का गुण था, वही इस ज़माने का अवगुण हुआ। अपनी ज़िन्दगी में उन्होंने वड़ा नाम कमाया, घर का रुतवा बढ़ाया, शान बढ़ाई, किन्तु, जिस घर को छोड़कर वे स्वर्ग सिधारे, वह घर ऐसा था, जो उनकी सन्तानों के लिए एक बोझ ही साबित हुआ।

उनके वड़े लड़के—'उसके' पिताजी ने घर को सम्हालने की कोशिशें कीं, वे बहुत कुछ सफल भी हो रहे थे, किन्तु, विधाता से देखा नहीं गया। सिर्फ एक बच्चा छोड़ कर, भरी जवानी में, वह अचानक ही चल बसे। घर में जो अब चाचा वग़ैरह हैं, वे सिर्फ लकीर पीटने वाले। वे इस दुर्वह वोझ को जैसे-तैसे ढोये जा रहे है, ढोये जा रहे हैं ! किस उम्मीद पर ? किस आशा में ?

हाँ, इधर आशा की एक झलक दीख पड़ी है—उस झलक के मूर्त्त रूप हैं, उसके 'वे' ! लोग कहते हैं, उनकी सूरत-शकल, चेहरा-मोहरा, चाल-ढाल, शील-स्वभाव, बात-चीत सब कुछ उनके पितामह से मिलता-जुलता है। होनहार बिरवा के चिकने पात की तरह, वचपन से ही उनकी प्रतिभा देखकर लोग मुग्ध हैं। इधर पढ़ने-लिखने में उनकी तेज़ी और तरक़्क़ी देखकर लोग कहने लगे हैं, उनके पितामह ने ही मानो घर की गिरती हालत देखकर उसके उद्धार के लिए, यह अव-

तार लिया है। इस घर का रोब फिर बढ़ेगा, इसके आसमान पर फिर शान-मान का सूरज चमकेगा ! बाल-किरणें ही साबित करती हैं, दिन कैसा होने जा रहा है?

एक ओर जहाँ इस घर की हालत देख कर वह घबराई, वहाँ उसे इस कल्पना ने आनन्द भी कम नहीं दिया कि वह उनकी सौभाग्य-शालिनी पत्नी है, जो इस नाव के पतवार होंगे, जिनके ऊपर घर-भर का भविष्य निर्भर है। वह अपने को उनकी योग्य अर्द्धांगिनी सिद्ध करेगी, उनके प्रयत्नों में अपना योग्य हिस्सा लेगी और अगर इतनी योग्यता अपने में न ला सकी, तो कम-से-कम उनके पथ के काँटों को चुनेगी, उसपर अपने स्नेह और भक्ति के फूल बिखरेगी। प्राचीन वीरांगनाओं की-सी उसमें योग्यता कहाँ, जो पति के साथ-साथ, क़दम-ब-क़दम चलती, बढ़ती थीं—रणक्षेत्र में उनकी ढाल और शिरस्त्राण बनती थीं; कर्मक्षेत्र में उनकी प्रेरिका और संचालिका मानी जाती थीं। यह नहीं सही, वह अपने को एक सच्ची गृहिणी तो बना सकती है, और यदि उसने इतना भी कर लिया, तो उसके सौभाग्य के लिए इतना ही कम नहीं। गृहिणी—क्या गृहिणी का पद ही न्यून है? क्या गृहस्थी की धुरी गृहिणी ही नहीं है? आप बाहर कितना भी कर-धर आइए, किन्तु, अगर घर में सुघड़ गृहिणी नहीं हुई, तो आप का सारा किया-कराया चौपट ! उसके सामने कितने उदाहरण हैं कि अच्छी गृहिणी के अभाव में कितने घर चौपट हो गये ! वह ऐसा नहीं होने देगी !

× × ×

"ऐसा नहीं होने देंगी !"—उसके कानों में भी यह आवाज़ आई। वह चकित हुई—उफ़, क्या तस्वीर के बदले वह तक़रीर पर उतर आई है? लेकिन, नहीं, उसने मुँड़कर देखा, तो पता चला, डब्बे के दो यात्री, इस भीड़भाड़ में भी बहस छेड़े हुए हैं ! बहस का विषय है, शिक्षिता स्त्रियाँ ! एक सज्जन पढ़ी-लिखी स्त्रियों पर अपने दिल का बुखार उतार रहे हैं। दूसरे सज्जन बड़े जोश से उनकी बातों को काट रहे हैं—"आपने जो कुछ कहा, वह मूर्ख नारियों के करतूत हैं। आप क्यों भूल जाते हैं कि जिस तरह पढ़े-लिखे मर्द मूर्ख होते हैं, उसी तरह शिक्षिता नारियाँ भी मूर्ख हो सकती हैं। किन्तु जो यथार्थ शिक्षिता स्त्रियाँ हैं, वे ऐसा नहीं करेंगी, ऐसा नहीं होने देंगी !" किन्तु, उसे बहस सुनने की फुर्सत कहाँ थी? वह अपनी तस्वीरों की दुनिया में फिर जा पहुँची।

६. बिजली !

वे आया करते, जाया करते। जब वे आते, उसकी ज़िन्दगी में एक ताज़गी, उत्फुल्लता, प्रफुल्लता आ जाती। जब वे जाने लगते, एक उदासी, अन्यमनस्कता, विह्वलता उसके हृदय को ढँप लेती। किन्तु इस ताज़गी और उदासी,उत्फुल्लता और अन्यमनस्कता, प्रफुल्लता और विह्वलता के बीच भी वह संतुलन को नहीं खोने देती। वह निश्चय कर चुकी थी, कि उसे एक योग्य पति की कार्यशीला गृहिणी का पद प्राप्त करना है। धीरे-धीरे वे दिन में भी उससे प्रायः मिला करते; रात तो प्रेमी-प्रेमिका की होती ही है! जब दोनों एक साथ होते, वैसे ही विनोद की कलियाँ खिलतीं, आनन्द की चिड़ियें चहकतीं। रंगरलियों की सरिता में बाढ़ आती, सारा जीवन, सारा जगत रसमय हो जाता। लेकिन, इस बाढ़ के बीच भी उसे सीमा का ज्ञान रहता, मर्यादा का ख़याल होता। ज्वार के बाद जब भाटा आता, उस समय वह मर्यादा का और भी ख़याल रखती।

वह थोड़ी-सी पढ़ी-लिखी थी, किन्तु, उन्हें इतना ही से कहाँ सन्तोष ? जो 'उनकी' छुट्टियाँ होतीं, वे अब 'उसकी' पढ़ाई की सीज़न होतीं। बाजाप्ता क्लास ही समझिए। वह किताब-कापी लेकर बैठी है, वे अध्यापक की तरह उसे पढ़ा रहे हैं, लिखा रहे हैं। ग़लतियाँ दुरुस्त कराई जा रही हैं, सही पर शाबासियाँ मिल रही हैं। लेकिन, अगर एक ही ग़लती को बार-बार दुहराया जाता है, तो झिड़कियाँ तक सहनी पड़ती हैं। कभी-कभी दो एक मीठी चपत भी !

"और, रानी, अगर फिर भी ग़लती हुई, तो कनेठी मिलेगी" —हँस कर बोलते।

"मास्टर साहब, गाल से कान ज़्यादा सुकुमार नहीं होते"—वह चुनौती देती।

"अच्छा, तो अब मज़ा चखोगी ?"

"क्या आज तक के मज़े से भी ज़्यादा मज़ेदार होगा वह ?"

"ख़ैर, वकालत पीछे होगी, अभी पाठ की ओर ध्यान दो।"

"कोई सामने बैठकर जो बार-बार ध्यान तोड़ देता है !"

यों ही कभी-कभी काफी चुहलें हो जातीं।

उसने पढ़ने-लिखने में काफी उन्नति की। उसकी मेधा की वे तारीफ़ करते; कहते—तुम्हें यह पास कराऊँगा, वह पास कराऊँगा। वह कहतीं, नहीं, मुझे पास-फेल की दलदल में नहीं पड़ना है, आप पढ़ाये जाइए, मैं पढ़ती जाती हूँ। पास की ज़िम्मेवारी एक ही की रहे; आप पास करते जाइए, आगे बढ़ते जाइए; आप हाकिम बनिए, मैं हाकिम पर हुकूमत करूँगी। रानी, तू तो बड़ी बातूनी है—वे कहते, हँसते, कभी चपतियाते, कभी हृदय से लगाते। दिन भागे जाते, महीने भागे जाते, इसी हँसी-खुशी में कई बरस पीछे छूट गये, जब इसपर ध्यान जाता, आश्चर्य होता। एक-दो-तीन—अरे, सचमुच हमें एक साथ रहते तीन बरस बीत गये !

यह चौथा साल कितनी बड़ी खुशखबरी लेकर आया। उन्होंने बी०ए० किया, यूनिवर्सिटी में औव्वल आये। औव्वल लड़के को डिप्टी-गरी तो आप-आप मिलती है, चारो ओर चर्चा होने लगी। जब वह शहर से आये, गाँव के क्या कहने, अड़ोस-पड़ोस के लोगों ने बधाइयों-पर-बधाइयाँ दीं। उनके कुछ दोस्त भी आये। दिन भर दरवाज़े पर भीड़ लगी रहती, धूम मची रहती। घरवालों के आनन्द का तो कहना ही क्या ? बड़ी-बूढ़ियाँ उसके भाग्य की प्रशंसा करतीं—सुलक्षणी बहू इसी को कहते हैं। ननदें और देवर कहते,—"भौजी, भैया हाकिम होंगे, तुम शहर में जाओगी, हमें भी लिये चलोगी न !"

"मैं आप लोगों को छोड़ कर जाऊँगी ही नहीं"—उसके ऐसा कहने पर वे खुश होते, बोलते—"हाँ भौजी, हमें छोड़ कर मत जाना। तुम रहोगी, तो भैया भी दौड़े-दौड़े आया करेंगे।"

"क्या आपके भैया मेरे ही लिए आते हैं ?"

"आते चाहे जिनके लिए हों, लेकिन ज़्यादातर रहते तो तुम्हारे ही साथ हैं न"—उनके इस बाल-सुलभ व्यंग्य में वह कितना आनन्द अनुभव करती !

इन्हीं बधाई देने वालों में, उसके नैहर से एक दिन एक आदमी आकर ख़बर दे गया, उसके बाबूजी आ रहे हैं। उसका कन्यादान दादी ने किया था, किन्तु, प्रचलित प्रथा से प्रभावित उसके पिता शादी के बाद आज तक उसके यहाँ नहीं आये थे। किन्तु, इस असीम आनन्द ने उनकी मर्यादा की सीमा भी तोड़ दी। अपनी दुलारी बेटी का यह सौभाग्य देखने के सुख से अपने को वंचित करने की हिम्मत वे

नहीं कर सके। वे आये, उनका अपूर्व आगत-स्वागत हुआ। कई दिन. रहे, उसे और उसके घरवालों को कृतकृत्य करते रहे और चलते दिन उसके घरवालों से वचन लेकर गये कि हम दोनों को उनके यहाँ तुरंत भेजा जायगा।

आज भी उसे रोमांच हो रहा है, उन दिनों की याद में, जब वह 'उनके' साथ नैहर गई थी। यों तो दो तीन बार वह नैहर से हो आई थी, किन्तु, इस बार की बात निराली थी। भाई बुलाने आया था। आगे-आगे हाथी पर अपने प्यारे साले के साथ वे थे, पीछे-पीछे खड़खड़िया में आठ कहारों द्वारा ढो कर वह ले जाई जा रही थी। खड़खड़िया में ओहार लगा था, वह बिल्कुल पर्दानशीन महिला की तरह जा रही थी। कुछ ही देर पहले दोनों मिलकर चले थे, कुछ ही देर बाद दोनों फिर मिलेंगे, तो भी, न-जाने कौन-सा कुतूहल था कि जब उसे ऐसा लगता कि यह सुनसान और निर्जन स्थान है, ज़रा ओहार सरका कर वह देखने की कोशिश करती,—वे कहाँ हैं, कितनी दूर पर हैं ? कितनी दूर पर हैं, कैसे लगते हैं ? उसे कुछ ऐसा अनुभव होता कि अभी-अभी, पहले-पहल, उसने उन्हें देखा था और पहली झलक के बाद ही वे जैसे उसकी आँखों के ओझल हो गये हों। अपनी शादी की बरातवाली शाम को जैसी व्याकुलता का अनुभव उसे अपने आँगन में हुआ था, वही व्याकुलता आज वह इस भरी दुपहरिया में, नैहर के रास्ते में, इस ढाई हाथ की खड़खड़िया में अनुभव कर रही थी !

एक पखवारा वह नैहर में रही। दादी, माँ, काकी गाँव, की बड़ी-बूढ़ी सब ने आशीर्वादों से उसे ढँप-सा दिया। जहाँ जाती, उसके सौभाग्य की प्रशंसा होती। जिस भावज ने उस दिन उसकी दिल्लगी की थी, वह तो जैसे कट-सी गई। "दुलारी-बबुई, माफ़ करना, मैंने तुम्हें साधारण दुलहन समझने की ग़लती की थी। तुम धन्य हो, तुम्हें पति भी वैसे ही मिले हैं। दोनों जीयो, जीयो, खुश रहो, फलो-फूलो।" 'उनकी' आवभगत का भी क्या पूछना ? एक तो दामाद—प्यारा दामाद ! फिर, असाधारण दामाद—जो दामाद अब हाकिम बनेगा ! हाकिम !

जिसका नाम लेकर हम इज्ज़त पायेंगे, मुकदमे जीतेंगे। "हाँ, कौन हाकिम होगा, जो इस हाकिम-दामाद का नाम सुनकर रियायत

न करे"—यह बाबूजी नहीं कहते, गाँव के साधारण लोग भी कहते। नामवर दामाद सबका दामाद होता है न ?

नैहर से लौटने के बाद अब यह चर्चा शुरू हुई कि वे करेंगे क्या ? क्या डिप्टीगिरी लेंगे ? लोगों की, सब की यही राय थी। किन्तु, उन्होंने नाहीं कर दी। उन्होंने कहा—नहीं, अभी मैं और पढ़ूँगा, एम० ए० तो कर लूँ, उसके साथ ही बी० एल० भी। फिर देखा जायगा ! नौकरी क्या कहीं भागी जाती है ? किन्तु पढ़ाई छोड़ने पर फिर उसकी ओर ध्यान कहाँ जाता है ? लोगों को उनका यह तर्क पसंद नहीं था। घरवाले और भी उकताये हुए थे। वे चाहते थे, जल्द नौकरी लगे, कुछ बाहरी आमदनी आये, कर्ज़ से छुटकारा हो, कारबार बढ़े, बढ़ाया जाय। जब उन लोगों की बात पर उन्होंने नहीं कान किया, तब उसपर ज़ोर डाला गया कि वह उनसे कहे। घरवालों से छिपा नहीं था कि वे उसे कितना प्यार करते, कितना मानते। उसने उन लोगों से कह तो दिया कि वह कहेगी; किन्तु, क्या उसने कभी इसकी चर्चा उनसे की ? वह तो उनकी बुद्धिमानी पर इस तरह फ़िदा थी कि उनकी हर बात में हाँ करना, उनकी हर राय में स्वीकृति देना अपना कर्तव्य समझने लगी थी। वे जो कहते हैं बिल्कुल सही और दुरुस्त कहते हैं। नौकरी कहाँ भागी जा रही है ? उनकी उम्र ही क्या हुई है ? घरवाले स्वार्थ में अंधे हो रहे हैं—स्वार्थ दूर तक कहाँ देख पाता है ? नज़दीक की चीज़ भी क्या वह सही-सही देख पाता है ? नहीं, नहीं, अगर वे चाह रहे हैं, तो उन्हें पढ़ना चाहिये। एक दिन, घर से जाने के पहले उन्होंने ही उससे पूछा—"तुमने नहीं बताया, रानी कि तुम्हारी क्या राय है ?" "जो आपकी राय, वही मेरी—" वह इतना कह कर ही पिंड छुड़ाना चाहती थीं, किन्तु, उन्होंने माना नहीं। बात बढ़ाई, और तर्क और युक्ति से उसके दिल में बिठा दिया कि उसकी, अपनी और अपने घरवालों की भलाई की दृष्टि से भी उनके लिए यही उचित है कि वे पढ़ाई जारी रखें।

हँसी-खुशी में वे आगे अध्ययन के लिए घर से चले। घरवालों ने चातक की तरह उनकी ओर देखना शुरू किया। ईमान की बात है, वह भी उनके भविष्य को जल्द-से-जल्द सफल और सुफल देखने के लिए कम उत्सुक नहीं थी। किन्तु, उसके घरवाले क्या जानते थे कि जिस बादल की ओर वे पपीहा की तरह ध्यान लगाये हुए

हैं, वहाँ स्वाती-बूंद के बदले कुछ दूसरी ही चीज़ की सृष्टि हो रही है ? वह भी क्या जानती थी कि जिस वृक्ष की डाल की ओर फल का आशा में वह एकटक आखें गड़ाये हुई है, वहाँ नियति कुछ दूसरा ही फल रच रही है ! वह चकित, स्तम्भित रह गई; घरवाले विह्वल, मूर्च्छित हो गये; सभी हित-कुटुम्ब, मित्र-बांधव भौंचक-से रह गये—जब उन्होंने सुना........

× × ×

बाहर इस समय थोड़ी वर्षा होने लगी थी। जो थोड़ा-सा बादल उसने थोड़ी देर पहले क्षितिज पर देखा था, उसने समूचे आसमान को ढँप लिया था। बिजली चमकने लगी थी, हवा ज़ोर से चल रही थी, पानी की बूँदों के साथ-ही-साथ छोटे-छोटे ओले गिर कर डब्बे की छत और खिड़कियों पर शब्द कर रहे थे। एक यात्री ने कहा, रब्बी चौपट हुई, दूसरे ने कहा, आम का सफाया हो गया—यह बिजली, अब तो बौर में आम लग नहीं सकते ! क्या उस दिन भी इसी तरह की बातें उसके घर-बाहर नहीं कही गई थीं ? उस दिन का वह दृश्य—उफ़ कैसा करुण चित्र !

१०. तूफान

हाँ, वह तूफान ही था, जो अपने सभी साधनों से लैस होकर आया था,—बादल, बिजली, ओले, क्या-क्या नहीं ? वह तूफान जिसने उसकी हरी-भरी, लहलही खेती को रौंद डाला, मसल डाला, कुचल डाला; जिसने उसकी बौर-भरी डाली को झकझोर डाला, मरोड़ डाला, तोड़ डाला; जिसने उसके प्राचीन प्रतिष्ठित घर की दीवाल दरका दी, छत उड़ा दी, घरवालों को बेभरम और बरबाद कर डाला; जिसने उसके आशाभरी, उल्लासमयी ज़िन्दगी को, किस बुरी घड़ी में, ज़मीन से अलग कर दिया कि वह आज तक तुच्छ तिनके की तरह यहाँ-से-वहाँ इधर-से-उधर, मारी-मारी फिर रही है ! कई बार उसने कोशिश की, कई बार उन्होंने कोशिश की, ज़रा ठोस ज़मीन पर उतरा जाय, घर बने, खेती हो, बगीचे लगे, किन्तु आज तक वह न हुआ, न हुआ ! बार-बार ज़मीन पैर के नीचे से खिसक जाती रही, हवा का महल हवा में मिल जाता रहा ! क्या आसमान की खेती ज़मीन पर फूल बरसाती और फल टपकाती है ?

उसको अच्छी तरह याद है उस दिन की एक-एक बात ! उनके चाचाजी आँगन में आये, रोनी-सी सूरत बनाये और उन्होंने जब उस दुस्सम्वाद की घोषणा की, समूचे घर पर मुर्दनी-सी छा गई। जितनी ही बड़ी आशा बँधी थी, उतनी ही बड़ी यह निराशा की खबर थी। मानों स्वर्ग पहुँचते-पहुँचते त्रिशंकु ज़मीन पर ढकेल दिया गया हो और वह औंधे सिर नीचे आ पड़ा हो। त्रिशंकु के लिए कम-से-कम यह तो ग़नीमत हुई कि वह अधर में ही लटका रह गया, इस पृथ्वी के लांछन, अपमान और अभिशाप देखने को नहीं लौटा। किन्तु, यहाँ तो स्वर्ग से सिर्फ पृथ्वी तक ही रहने की बात नहीं रही, पैर के नीचे की ज़मीन भी धँसी जा रही थी—नरक की भट्टी मुँह खोले लीलने को तैयार थी ! अरे, यह क्या हुआ ? अभी कुछ दिन हुए, वे गये थे—क्या-क्या कह कर, क्या-क्या अरमान लिये हुए, लोगों को क्या-क्या सुख-स्वप्न दिखला कर ? और, अचानक उन्होंने यह क्या कर लिया ? चाचाजी अपनी आँखों के आँसू तक नहीं रोक सके। जहाँ उनकी आँखों में बूंदे थीं, वहाँ घर की औरतें खारे पानी के झरने बहाते जा रही थीं। हाँ, बोली किसीके मुँह से नहीं निकल रही ! भावनाओं का ज्वार ज़बान पर ताला डाल देता है न ?

और, उस समय उसकी अपनी हालत कैसी हो रही थी ? काटो तो ख़ून नहीं। हृदय में तूफान, दिमाग़ में धुआँ; नसों में ख़ून की जगह बिजली की धारा दौड़ रही। वह थोड़ी देर अपने घर के दरवाज़े पर, किवाड़ की आड़ में खड़ी, सब का मुँह देखती रही, फिर, जैसे उसके पैर आप-ही-आप उखड़ गये, वह धम्म से पलंग पर आकर गिर पड़ी औंधे मुँह, मुँह के बल। क्या वह रो रही थी ? क्या वह सो रही थी ? उसे मालूम नहीं, कब तक इसी तरह पड़ी रही कि, उसने पाया, उसका देवर—वही, जो सामने बैठा है, उस समय छोटा बच्चा, प्यारा, दुलारा, भला, भोलाभाला था—उसे जगाने, उठाने की कोशिश कर रहा है ! और अपने प्रयत्न में असफल होता, कुछ झुंझला रहा, झल्ला रहा, उकता रहा, बेचैन हो रहा—

"भौजी, ओ भौजी, उठती नहीं, सो रही हो, ओह, रो रही हो ! रोओ नहीं, ऊँह, यह क्या, अरी, ओ उठो, लो लो, यह लो, भैया ने तुम्हारे लिए चिट्ठी भेजी है ! भैया ने, तुम्हारे लिए, चिट्ठी, चिट्ठी !"

"चिट्ठी, चिट्ठी, भैया ने"—शायद वह चिल्ला उठी थी। झपट कर उठी, उस रुआँ-से बच्चे से चिट्ठी ली और जब खोल-कर पढ़ने बैठी........................

शायद तीन बरसों से जान धुन कर उसे इसी लिए पढ़ाया जा रहा था, कि वह उनकी इस चिट्ठी को पढ़ सके, समझ सके—यह चिट्ठी थी, या ज़िन्दगी भर की तकलीफों का दमामी पट्टा था ! पढ़ पगली, पढ़—एक बार पढ़, दो बार पढ़, फिर पढ़, पढ़ ले, जब तक इसके एक-एक शब्द याद नहीं हो जाय—

"रानी, मेरी रानी, मेरी प्यारी रानी,

"तुम्हारे पास यह चिट्ठी भेजते मेरे हृदय और दिमाग़ की क्या हालत हो रही है, क्या तुम कुछ भी अनुभव कर सकती हो ? तुम्हें यह चिट्ठी लिखूँ या नहीं; लिखूँ तो क्या लिखूँ, कैसे लिखूँ ? लम्बे तर्क-वितर्क के बाद कागज़-क़लम लेकर बैठा भी हूँ, तो कागज़ ठीक से रख नहीं पाता, क़लम ठीक से पकड़ में नहीं आती, हाथ ठीक से काम नहीं करता, दिमाग़ जवाब देने लगता है, हृदय एक अज्ञात बोझ से दबा जाता है ! भावनाओं की इस धमाचौकड़ी में बेचारी बुद्धि काम कर नहीं पाती, ज्ञान कहाँ उड़ा जा रहा है ? ज़रूर ही इस

चिट्ठी के पहले तुमने खबर सुन ली होगी—खबर बेपर की चिड़िया ! अपनी रफ्तार में डाक, तार सब को पीछे छोड़ देती है। वह किसी-न-किसी तरह इस चिट्ठी से पहले पहुँच ही चुकी होगी। और, उस खबर के बाद जब कल्पना करता हूँ.........

"तुम्हारी क्या हालत हुई होगी ? मानो किसी ने आसमान से नीचे पटक दिया हो; मानो किसी ने पैर के नीचे की ज़मीन छीन ली हो ! तुम खड़ी हो—देख रहा हूँ, तुम खड़ी हो, विषण्ण वदन, आँचल नीचे खिसक पड़ा है, बाल की कुछ लटें आप-से-आप बिखर कर अकाल के बादल की तरह तुम्हारे चन्द्रमुख को ढँकने की कोशिश कर रही हैं, ललाट पर पसीने की बूँदें, आँखों में पानी का झरना! होठ हिल रहे, मुँह से आवाज़ नहीं आ रही ! खिले कमल-से चेहरे पर मानो अचानक तुषारपात् हुआ हो। और यह क्या ? तुम्हारा समूचा शरीर हिल रहा है—ज्वरग्रस्त कपिला गाय की तरह। तुम अपने को सम्हाल नहीं पाती, बेहोश हुई जाती हो, आखिर वही...

"तुम बेहोश पड़ी हो, उस निर्जन, एकाकी गृह में। क्योंकि घर के और-और लोगों की भी मनोदशा ऐसी नहीं कि कोई किसी को धैर्य दे सके। समूचे घर में शोक का राज्य है। बड़े-बूढ़े, औरत, मर्द, बच्चे सब पर उदासी की घनघोर घटा छाई है। यह मैंने क्या किया ? क्या मेरे लिए यही उचित था ? क्या यह धोखा नहीं है ?—घरवालों को धोखा, जिन्होंने इतने रुपये खर्च कर के मुझे पढ़ाया-लिखाया, मुझ पर इतनी उम्मीदें बाँधीं। सब से बढ़ कर रानी—तुमको धोखा ! हाँ, ज़रूर तुम मुझे धोखेबाज़ समझती होगी। सोचती होगी, ऐसा निर्णय पर पहुँचने के पहले ज़रा मुझसे पूछ भी तो लिये होते.........

"सच कहता हूँ, रानी, जब-जब तुम्हारे चेहरे और घरवालों की मनोदशा की ओर ध्यान देता हूँ, मालूम होता है, मैंने ग़लती की है, अपराध किया है। यह उचित नहीं था। शायद जल्दबाज़ी तो मुझ से नहीं हो गई.........................

"किन्तु, जब-जब ऐसा सोचने लगता हूँ, उसी क्षण एक बुढ़िये का चेहरा मेरे मानस-नेत्रों के सामने आकर प्रतिविम्बित हो जाता है। एक वृद्धा—जर्जर वृद्धा ! गलित पलित अंग, झुर्रियों से भरे उसके चेहरे को आँखों की गंगा-जमुना सिर्फ धोना नहीं चाहती, बहा ले जाना चाहती हो। अस्त-व्यस्त उज्वल बाल, गले में हिचकियों

का ताँता। किस करुण दृष्टि से वह मेरी ओर ताक रही है ! क्या उस दृष्टि में सिर्फ करुणा ही है ? करुणा-मात्र रहती, तो सहानुभूति की दो बूँदें बहाकर सन्तोष कर लिया जाता। इस दृष्टि में तो उपालम्भ है, उलहना है, ताना है। बेटा, क्या मेरी यह गत तुमसे देखी जाती है ? तुम्हारे अछत मेरा यह हाल ? बेटे के सामने माँ लूटी जा रही हो, अपमानित की जा रही हो, और बेटा टुकुर-टुकुर देखा करे ? क्या यह कभी सम्भव है ? अभी तक मेरी गत इसलिए थी कि शायद तुम्हारी नज़र मेरी ओर नहीं थी। किन्तु, जब तुम सामने हो, तुम्हारे सामने यह सब हो ? नहीं नहीं, ऐसा हो नहीं सकता—मेरे बेटे !....

"उफ़, रानी, मेरी रानी, बताओ, मैं कैसे उसे इस दशा में छोड़ूँ ? तुम्हारे सामने, तुम्हारी मैया पर ऐसी मुसीबत आये और वे आकर तुमसे विपदा सुनायें, तो, तुम स्त्री हुई तो क्या, मेरी तेजस्विनी रानी, मुझे यक़ीन है, तुम भी अपनी सारी स्थिति, मर्यादा भूलकर उनकी मदद में जान पर खेल जाओ। मैं तो पुरुष ठहरा। ऐसी पुकार पर भी जिसका हृदय न पसीजे, उद्वेलित न हो, मैं समझता हूँ, वह पुरुष की क्या बात, मनुष्य भी नहीं ! उसे पुरुष या मनुष्य कहना मनुष्यता और पौरुष का अपमान करना है..................

"कहोगी, वृद्धा कौन है ? कहाँ से आकर मेरे सामने यह अचानक खड़ी हो गई ? बिना किसी बड़ी भूमिका के सुना दूँ। वह सिर्फ मेरी नहीं, हमारी-तुम्हारी सब की माता, हमारी देश-माता, भारत-माता है। कभी इसके भी दिन थे, कभी इसकी भी शान थी। जब इसके मस्तक के रत्न-किरीट के प्रकाश से संसार प्रकाशित था, जब इसके पद पर संसार रत्नांजलि अर्पित करता था। आज वह भिखारिणी है। सिर्फ भिखारिणी ही नहीं—बंदिनी ! अब तक चेहरा ही देख रही थी तुम, अब ज़रा उसके पैर की ओर देखो, हाथ की ओर देखो। वे लोहे की ज़ंजीरें, वे वज्र-श्रृंखलायें......

"रानी, रानी, हमें धिक्कार है, जो अपनी माँ को इस स्थिति में छोड़कर हम स्वयं आमोद-प्रमोद, सुख-चैन में मस्त और व्यस्त रहें। अब तक हमारी आँखों में पट्टी बँधी थी, हम अपनी माँ को, उसकी दुर्दशा को देख नहीं पाते थे ! धन्य कहो, धन्य कहो, उस महात्मा को, जिसने हमारी यह पट्टी खोल दी है। और जब वह पट्टी खुल गई, तो फिर हम पट्टी-बँधे बैल की तरह अपने सुख-चैन के

कोल्हू में चक्कर काटते हुए, इस अमूल्य मानव जीवन को बर्वाद कर नहीं सकते.........

"यह कहना भी फिजूल है कि तुम मुझे प्यारी हो! रानी, तुम्हारा हृदय ही साक्षी होगा, मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ! तुम्हारे सुख के लिए, तुम्हें आराम और चैन में रखने के लिए, मैं सब कुछ कर सकता हूँ। किन्तु, मैं समझता हूँ, जैसी स्थिति आ गई है, तुम भी चाहोगी कि पहले मैं इस मातृ-ऋण से उऋण होलूँ। जब तक सिर पर ऋण का वोझ है, आदमी पनप नहीं सकता —हमारा अपना घर इसका उदाहरण है! क्या यह अच्छा नहीं कि मैं इस ऋण से मुक्त हो लूँ? तुमने सुना ही होगा, सिर्फ एक वर्ष की वात है? उस महात्मा ने कहा है—वस, मेरी वातें मानों, एक वर्ष में स्वराज्य ले कर दिखला देता हूँ......सिर्फ एक वर्ष—फिर तो अपनी दुनिया — हमारी-तुम्हारी दुनिया है ही! माता वंधनमुक्त होगी। देश आज़ाद होगा। एक नया समाँ होगा। एक नया संसार होगा। हम नये संसार में रहेंगे। फिर हमारा परिवार होगा, हम होंगे; सानन्द रहेंगे, स्वच्छंद विचरेंगे,—ओहो! कैसे वे दिन होंगे, कैसी वे रातें होंगी—कल्पना करो, रानी.....

"मेरी रानी, घरवाले इस खवर से वहुत ही व्याकुल होंगे। इन तीन साढ़े-तीन वर्षों में तुमको तो ऐसा वना भी लिया है कि तुम्हें समझा सकूँ। किन्तु उन्हें!—उन्हें कैसे समझाऊँ, समझ में नहीं आता! इसलिए, चाचाजी को सिर्फ एक छोटा-सा क्षमा का पत्र लिख दिया है। अव यह तुम्हारा काम है कि मेरी ओर से उन्हें सन्तोष और धैर्य दो। घर की स्त्रियों के मन को अगर तुमने ठीक कर लिया, तो फिर वाहर तो आप-आप सव दुरुस्त होगा। रानी, तुम्हें स्वयं ही धैर्य नहीं रखना है, तुम्हें मेरी मदद भी करनी है, खास कर इस काम में....

"मैं चाहता था, आऊँ, तुमसे मिलकर समझा दूँ, घरवालों को भी धैर्य दे लूँ; किन्तु, एक तो इस समय शायद सिर्फ समझाने-बुझाने से काम नहीं चलने का। नया घाव है, गहरा घाव है; ताजा चोट है, मर्मस्थल की चोट है। इसे समय का मरहम ही भर सकता है। अतः कुछ दिन के बाद ही आने का सोच रहा हूँ। फिर, काम की जो भीड़ है, उसकी कल्पना भी तुम नहीं कर सकती। तुम यह न समझो, पढ़ने-लिखने से फुर्सत पाकर मैं सैर-सपाटे में मस्त होऊँगा। ठीक इसके विपरीत वात है, रानी। समझो,

मैंने अपने को एक तूफान के बीच में डाल दिया है—चारों ओर हूहू-हाहा, कहीं घर उजड़ रहे हैं, कहीं पेड़ गिर रहे हैं, गर्द-गुबार से वायुमंडल व्याप्त है, एक झोंका उधर पटक देता है, दूसरा झोंका फिर इधर घसीट लाता है—और इन सब के बीच अपने रास्ते पर बढ़े चलना है ! हमारी सफलता इसी पर निर्भर करती है कि इस हंगामे में भी हम कहाँ तक अपनी राह को अच्छी तरह देख सकते हैं, उस-पर दृढ़ता से बढ़ सकते हैं......

"अतएव, मेरी प्यारी रानी, तुम क्षमा करना। आने में विलम्ब हो, तो घबराना नहीं। मेरे लिए चिन्ता तो बिल्कुल ही नहीं करना। तुम्हारा प्रेम मेरे लिए हमेशा ढाल का काम करेगा, उसकी छाँव में मैं हमेशा निश्चिन्त सोऊँगा। हाँ, मुझे घरवालों के लिए थोड़ी चिन्ता है। सो देखना—देखना, ओ मेरी प्राणों से प्यारी रानी........."

हाँ, यों ही तो उनका वह पत्र था। उसकी आँखों के सामने आज भी तो उस पत्र के अक्षर जगमगा रहे हैं। यह आश्वासन का एक अजीब तरीका था। जिसे सबसे ज़्यादा आश्वासन की ज़रूरत थी, उसी पर यह बोझ डाला गया, कि वह दूसरों को आश्वासन दे। यह क्या कोई न्याय था ? किन्तु, क्या उसके लिए यह कर्तव्य नहीं कि उनके वचन का पालन करे ? उसने धीरे-धीरे अपने मन को शान्त किया और वह धीरे-धीरे उनकी ओर से घर की स्त्रियों से वकालत भी करने लगी। समझाती, बुझाती, धैर्य देती, ढाढ़स बँधाती। उसने देखा, वह कुछ सफल भी हो रही है कि एक नई ख़बर आई—वे गिरफ्तार हो गये ! और तूफान का यह झोंका इतना बड़ा, इतना प्रबल था कि अब उसके लिए भी सम्भव न था कि वह खड़ी रह सके। वह गिरी और उठी उसी दिन, जब उसने देखा, वे आकर उसे उठा रहे हैं.....................

× × ×

तेज़ी से भागी जाने वाली गाड़ी, उसने पाया, अब एक स्टेशन पर खड़ी है। लोग उतर रहे हैं। अधिकांश लोग उतर गये। उसका देवर उसे ध्यानमग्न देख, उसके नज़दीक आकर कह रहा है—"भौजी, उठिए न, बिस्तरा बिछा दूँ। ज़रा लेट जाइए। बड़ी भीड़ थी। ज़रा कमर तो सीधी कर लीजिए।" वह चौंक कर उठीं। बिस्तरा बिछाया गया। बच्ची को गोद में चिपका कर वह लेट गई। आँखें बंद कीं। आँख बन्द थीं, किन्तु, वह देख रही थी......

११. मान

वह पड़ी हुई है, वह उसे उठा रहे हैं, मना रहे हैं। न-जाने क्यों, उस दिन एक अजीव मान उसके दिल में पैदा हुआ। जो मान पहली रात में, पहली मुलाक़ात में, न-जाने कहाँ सोया पड़ा था, इन तीन-चार वर्षों के विवाहित जीवन में जिस मान की छाया भी उसने नहीं देखी थी, वहीं मान उसके हृदय पर अधिकार कर बैठा —उस दिन, जब कि एक वर्ष की जुदाई के बाद वे उसके घर में आकर खड़े थे! वे, उन्हीं के शब्दों में, तपोभूमि से लौटे थे। घर वालों ने आँसू के हार से स्वागत किया, परिजन-पुरजन ने आरती और माला से अभिनन्दन किया। उसके दरवाज़े पर भीड़ लग गई। वे मानव होकर भी मानवोत्तर हो चुके थे। उनके त्याग और तपस्या की चर्चायें हो रही थीं। एक कोलाहल-सा मचा था। इस भीड़भाड़ से निवट कर, जब वह आँगन में आये और बड़ी-बूढ़ियों से आशीर्वाद पाने लगे, उसके मन में न जाने क्यों एक अजीव भावना पैदा हुई।—मैं कौन होती हूँ उनकी ? उन्हें मेरी क्या परवाह ? मुझे अथाह सागर में छोड़कर कैसे वे तैरते बढ़ गये। आज लौटे हैं, देवता होकर! गले में मालायें पड़ रहीं है, कर्पूर की आरतियाँ हो रहीं हैं। भगवान के नये-नये भक्त हैं; मैं कौन होती हूँ भला ? मेरे घर आ रहे हैं, एक लोकलाज निवाहने। अगर मेरी ज़रा भी चिन्ता होती, तो, यों मुझे भूलकर, तपस्या में लीन हो जाते ! मैं अवला, मैं नारी। नारी तो तप-भंग की सामग्री है न ? तपस्वियों को नारी से अलग ही रहना चाहिए। मैं क्यों उनके तप में आड़े आऊँ ? मन, चल, दूर हट.........

यों ही अंट-संट सोचती, वह पलंग पर जा लेटी। आँचल से मुँह को ढँप लिया। आँचल का छोर यों दाब दिया, कि चेष्टा करने पर ही मुँह उघाड़ा जाय। वे घर में घुसे। उनकी पग-ध्वनि उसने सुनी, पहचानी। उन्हें कितना आश्चर्य हुआ होगा, यह देखकर ? शायद उन्होंने सोचा होगा, रानी, किवाड़ की ओट में खड़ी प्रतीक्षा कर रही होगी। ज्योंही पहुँचूंगा, या तो लिपट रहेगी, या पैरों पर लेट जायगी। किन्तु, यह क्या ? यह तो पलंग पर पड़ी हुई है ! वह धीरे-धीरे पलंग के निकट आये, पुकारा—रानी, रानी ! किन्तु, रानी सोई थी क्या, जो आवाज़ सुनकर जग जाय ? वे पलंग से सट गये, एक पैर पलंग के ऊपर रखा और हाथ आँचल की ओर बढ़ाया। हाथ बढ़ाते

हुए बोले—"समझा, रानी, समझा ! तू नाराज़ है मुझपर। वाजिब ही है तेरी नाराज़ी। मैंने अपराध किया। किन्तु, इस समय माफ़ी माँगने की भी सुध नहीं है, पगली। आ, उठ, पहले तुझे हृदय से लगा लूँ। देख तो, यह मेरा दिल, तुमसे मिलने को कैसा अकुला रहा है—धड़धड़ किये हुए है।" उन्होंने उसका हाथ खींचा और उसे घसीट कर अपनी छाती पर ले गये। उसका हाथ उनकी छाती पर; उनका मुँह उसके आँचल पर ! उच्छ्वास की गरमी, चुम्बन की बिजली ! उसका मान पानी-पानी हो रहा। आँचल न जाने कहाँ विलुप्त हो चला। उसने पाया, वह उठाई जाकर उनकी गोद में है।

जब आँखों का ज्वार-भाटा खतम हुआ, उसने उनके मुँह की ओर देखा। अरे, यह क्या ? वे इतने दुबले ? ललाट पर शिकन, आँखों के गोलक धँसे, गाल पुचक गये, नाक कुछ अधिक उभड़ आई है,—अरे यह क्या ? वह आँख फाड़-फाड़ कर देख रही थी,—चकित, विस्मित, भयभीत ! और, वे...वे मुस्कुरा रहे !

"क्यों रानी, क्यों ? मैं दुबला हो गया हूँ यही न ? तो, यह कौन-सी बात है भला ? जहाँ चार दिन तुम्हारे हाथ से खाया, और चार दिन तुम्हारे पास रहा—फिर, वही मुटाई, वही ललाई ! रंग रंग भी तो देता है ? क्यों ?" वह चुप थी और वे आँखों से मुस्कराते और होठों से अमृत की वर्षा किये जाते थे। जब कुछ देर के बाद वह कुछ आश्वस्त हुई, बोली—

"तपस्वी को नारी से अलग ही रहना चाहिए, तपभ्रष्ट मत हूजिए।"

उन्होंने कहा—"ओहो, अब समझा ? यह मान नहीं था, मेरा कल्याण था, जो मेरी रानी को यों यहाँ सुलाये हुआ था ! वाह री मेरी रानी !" बात जारी रखते हुए उन्होंने आगे कहा—"किन्तु, रानी, यह विश्वामित्र की तपोभूमि नहीं है; यह तो जानकी का केलि-मन्दिर है, जहाँ की ध्यान-धारणा, अशन-आसन सब कुछ दूसरा ही है !" और इसके बाद......

उफ़, उसका पिछला वर्ष कैसा बीता था। ध्रुवदेश में छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है, सुनते हैं। किन्तु, यहाँ तो यह एक पूरा वर्ष उसके लिए रात-ही-रात रहा है। रात—अमावस्या की रात, अमावस्या भादो की। चारो ओर अंधकार ही अंधकार—

जव विजली कौंधकर प्रकाश नहीं देती, अंधकार की भयानकता को और बढ़ाती है। आसमान में एक तारा तक के दर्शन नहीं—तमाम वादल छाये हुए। रात भर टिप-टिप, टिप-टिप,—खुलके बरसे तो जी कुछ हलका भी हो जाय। अजीव ऊमस। उफ़, री, वह काली, भयानक, भयावह रात। और, आज की रात—ऐसी रात सब सुहागिन की हो; दिन न हो, रात ही रात। इस एक ही रात में जैसे उन्होंने जादू फेर कर बारह महीने की अनगिनत रातों की व्यथा को, न जाने किस तरह, हवा कर दिया! दूसरे दिन जब वह उठी, उसकी आँखों में नई रोशनी थी, उसके पैरो में पुराना वल था; आईने में देखा, गालों पर गुलावी दौड़ गई थी, होंठों पर ईंगुर मुस्कुरा रहा था और आँखों की पुतली कठपुतली-सी ता-थेई नृत्य कर रही थी!

दिन में उन्हें भी उसने ग़ौर से देखा। वे दुवले हो गये थे ज़रूर—लेकिन, समूचे शरीर से एक ज्योति-सी निकलती। कभी-कभी उसे ऐसा लगता—जैसा कि उसने देवताओं के मुखड़ों के चित्रों में देखा था—उनके चेहरे से ज्योतिःस्फलिंग निकल कर एक वृत्त बनाये हुए हैं। वह वृत्त क्रमशः फैलता जाता है। उस वृत्त के भीतर उनका चेहरा कैसा अपूर्व मालूम होता! वह कई वार उसे देखती ही रह जाती—आत्मविस्मृत, आत्मविभोर! उसे इस तरह निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए पाकर उन्होंने कई वार पूछा भी,—"यह क्या है रानी, यों घूर क्यों रही हो? मैं दुवला हूँ, यही न?" कहकर मुस्कुरा पड़ते। वह वोलती क्या भला, होठों का जवाब होठों से ही देने की चेष्टा-भर करती।

थोड़े ही दिन वे रह पाये थे कि एक दिन शहर से कुछ 'बड़े-बड़े' लोग उसके दरवाज़े पर आ पहुँचे और उन्होंने खबर की—वे उन्हीं के साथ जा रहे हैं। जा रहे हैं? क्यों, कहाँ? क्या एक वर्ष की तपस्या पूरी नहीं हुई? अव तो फिर पढ़ना है, घर देखना है। डिप्टगिरी न हुई, वकालत ही सही। वहीं पढ़िए, दो वर्ष क्या चीज़ है? किन्तु, उन्होंने इन बातों को हँसी में उड़ाना चाहा। पर, उनकी मानिनी रानी माने तो। उसने ज़िद की—"मैं आपको नहीं जाने देती; मैं नहीं जाने दूंगी। पहले मुझे वता दीजिए, आप क्या करना चाहते हैं, कहाँ जाना चाहते हैं? एक बार मैं धोखा खा चुकी, मैं अव आपको नहीं छोड़ती।" शब्द ही नहीं थे, एक-एक शब्द के साथ आँसुओं की शत-शत बूंदें भी थीं। वे तैयार होकर उससे मिलने आये थे। सिर से टोपी उतार कर उसके हाथों में रख दी और

कहा—"अच्छा, आज नहीं जाता। जब तेरी आज्ञा होगी, तभी जाऊँगा, जैसी तेरी मर्ज़ी।" दरवाज़े पर गये, उन लोगों को, न जाने क्या कहकर, बिदा किया और लौटे। तब तक वह खड़ी थी, उनकी उस उजली गाँधी-टोपी को हाथ में रखे, उसे देखती, उसे अश्रुओं से अभिषिक्त करती ! आते ही बोले—"हुआ न, मैं हारा, तू जीती।"

हाँ, सचमुच यह उसकी विजय थी। ऐसी विजय—जिसपर घरवालों को ही आश्चर्य नहीं हुआ, उसे स्वयं भी आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ा ! किन्तु, उसकी यह विजय कितनी महँगी है, उसने तुरत अनुभव किया। उनका चेहरा लटक रहा—श्रीहीन, विषण्ण। कहाँ गया उनके मुँह का ज्योति-वृत्त ? और आँखों में यह क्या उमड़-घुमड़ रहा है ? उनमें पानी नहीं सही, उनसे बूंदें न गिरें, सावन के सजल बादल तो वहाँ हैं ही। तो क्या, उससे कोई अपराध बन पड़ा ? कोई ऐसा काम किया उसने, जिससे उनके हृदय को ठेस पहुँची है ? वे चाहते तो उसकी अवज्ञा कर सकते थे ? किन्तु, ऐसा नहीं किया। उन्होंने, उसका मान रखा, ज़िद रखी। उन 'बड़े लोगों' ने मन-ही-मन क्या कहा होगा ? बड़े देशभक्त बने थे, बीवी ने ज़रा टोक दिया, बस, सारी देशभक्ति हवा हो गई ? शायद इस अपमान के बोध ने ही उनकी आँखों में इन बादलों की सृष्टि की है ? उहुँ, उसने ग़लती की है, नादानी की है, उससे अपराध हो पड़ा है, अक्षम्य अपराध ! एक तरफ़ वे हैं, जो उसकी ज़िद की भी क़दर करते हैं, एक तरफ़ वह है, जो उनकी प्रतिष्ठा की ओर भी ध्यान नहीं रखती !

वे खड़े थे, उनके हाथ उसके बालों से खेलवाड़ कर रहे थे। उसने उनके मुँह की ओर देखा। सहसा उनके होठों पर एक मुस्कुराहट खेल गई ! उसके समझने में धोखा नहीं हुआ कि यह उत्फुल्ल-प्राय कलिका की चटक नहीं है, बल्कि अपने बोझ से व्याकुल बनी मेघ-माला की तड़प है ! मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा—"चलो, कुछ गप हो; खड़ी कब तक रहोगी ?"

"क्या आपके साथी चले गये ?"—उसने पूछा और जवाब की प्रतीक्षा किये बिना ही बोल उठी—"आप जाइए, जब वे बुलाने आये हैं, तो आपका नहीं जाना मुनासिब नहीं।" वे चकित होकर देख रहे थे। उसने फिर कहा—"मुझसे अपराध बन पड़ा था ! मैं नारी, गँवारी—यदि दूर तक नहीं देख सकूँ, तो मेरा क्या क़ुसूर ? आपको क्षमा कर देना चाहिए।" इतना कहते-कहते, उसके हिचकियाँ आ गई

थीं, उसे आज भी अच्छी तरह याद है। फिर क्या था, उनकी आँखों के वादल भी वरस पड़े! किन्तु, यह उसके कर्तव्य-ज्ञान पर वहे हुए प्रसन्नता के आँसू थे या उसकी अपार मानसिक पीड़ा पर वहे हुए सहानुभूति के आँसू--यह कौन बताये ?

उसे घसीट कर वह पलंग पर ले गये। विठाया, वह वैठी। वहुत कुछ कहना चाहते थे, कह न सके। कहा, रात तुम से दिल खोल कर वातें होंगी। उन लोगों को कह दिया है—घर पर एक ज़रूरी काम छुटा जा रहा था, अभी-अभी याद आया, उसे सम्पन्न कर तुरत आऊँगा, आप लोग चलिए। वे चले गये हैं। अव तुमसे पूरी वातें करके, और तुमसे आज्ञा लेकर ही जाऊँगा। यों ही कितनी ही वातें कहकर, घर से वाहर गये।

और, उस रात में ! —मानों, उन्होंने अपना कलेजा निकाल कर उसके सामने रख दिया—हाँ, एक वर्ष की ही वात थी। किन्तु, आज स्पष्ट है कि चाहे जिसकी कमी से हो, जिसकी ग़लती से हो, तपस्या का फल नहीं मिला। अव क्या यह उचित है कि एक वार जिस काम में हाथ डाल दिया गया, उसे सम्पन्न किये वग़ैर पीछे पैर दिया जाय ? घर की हालत खराव होती जा रही है, वे खुद भी देख रहे हैं। क्या उन्हें आँखें नहीं, ज्ञान नहीं ? किन्तु, देश में आज उन्हीं का घर तो इस अवतर हालत में नहीं। सारा देश ही ऊजड़ गाँव हो रहा है। अगर उसमें एक घर सम्पन्न ही हुआ तो क्या ? अतः एक घर को सम्पन्न करने की अपेक्षा, इस समूचे ऊजड़ गाँव को ही फिर से वसाने की क्यों न चेष्टा की जाय ? गाँव वसेगा, तो यह घर भी आप-आप वस जायगा। घरवालों को तो इतना ज्ञान नहीं, उन्हें तो अपनी ही हालत सूझती है, उन्हें समझाया जाय, तो कैसे ? किन्तु, उसे तो समझना ही चाहिए, वह सिर्फ सहचरी ही नहीं है, सहधर्मिणी है, अर्धांगिनी है ! उन्हें इस बात से आज प्रसन्नता हुई है कि वह चीज़ों को समझने की चेष्टा कर रही है, वे अपने को धन्य समझ रहे हैं कि ऐसी पत्नी मिली। किन्तु, जो दिन आनेवाले हैं, वे शायद और भी अधिक परीक्षा के हों। अतः, उसे पूरी तैयारी करनी चाहिए। अपने जीवन, अपनी भावना, अपनी वुद्धि सवको नये साँचे में ढालने की कोशिश करनी चाहिए—आदि, आदि।

वे कहे जा रहे थे, वह सुनती जा रही थी। वह क्या वोलती भला ? यों वहुत देर तक दीन-दुनिया की वातें करते हुए, फिर उन्होंने

विनोद की बातें छेड़ीं,—अपने पूर्व-परिचित स्वभाव के अनुसार। कौन कह सकता था कि कुछ मिनट पहले इसी मुँह से ज्ञान की वे अनमोल मुक्तायें झड़ रही थीं—अब तो यहाँ सिर्फ फूल-ही-फूल बरस रहे थे ! फूल—रंग, गंध; देखो, सूँघो; खुश हो, मस्त हो। उसी मस्ती में न जाने कब उसकी आँखें लग गईं।

× × ×

और, सचमुच उसकी आँखें लग गई थीं। दूसरे स्टेशन पर फिर एक बरात जब चढ़ने का उपक्रम करने लगी, उस कमरे में होहल्ला शुरू हुआ। उसने आँखें खोलीं। भीड़ देख बच्ची को सम्भाला। उस सोई हुई बच्ची को लेकर एक कोने में सिमट कर बैठ गई। गाड़ी चली, दौड़ी, भागी। वह फिर अपनी पुरानी तस्वीरों की दुनिया में जा पहुँची.....।

१२. मातृत्व !

एक राष्ट्रीय विद्यालय खोला गया था, उसके वे प्रधानाध्यापक थे। इस अध्यापन से पैसे तो कुछ इतने मिलते नहीं थे कि घर को सम्भाला जा सके। हाँ, घरवालों को, हित-कुटुम्ब को और उसको भी यह सन्तोष था कि आखिर उनकी ज़िन्दगी में स्थिरता तो आई। विद्या है, योग्यता है, तो कभी-न-कभी उच्च स्थान प्राप्त करेंगे ही। अभी यही सही। अध्यापक होने के वाद, उन्होंने घर के काम-काज की ओर भी कुछ ध्यान देना शुरू किया। छुट्टियों में आते, तो चाचाजी के वोझ को हल्का करने की कोशिश करते। कई पुराने कर्ज़ ऐसे थे, जो 'सइन' घाव की तरह, न-जाने कव से, बहते आ रहे थे। उनसे पीव ही नहीं निकलता था, जीवनी-शक्ति वहीं जा रही थी। ऐसे क़र्ज़ों को उन्होंने हाथ में लिया। घर के कुछ अनावश्यक खर्चों को कम कर, उपज की वृद्धि की ओर ध्यान देकर, को-अपरेटिव वैंक से कुछ उधार लेकर उन्होंने उन क़र्ज़ों को सधा दिया। इस ऋण-मुक्ति से घर में थोड़ी पायदारी आई। लोगों की आशायें फिर पत्ते और कोपलें लेने लगीं।

और, अरे, वह कैसे कहे, कैसे बताये, कि उसके यौवन-तरु में भी अचानक कोंपल फूटी, मंजरी निकली, वौर लगे और हाँ, टिकोरे के भी लक्षण स्पष्ट होने लगे ! ओहो, वह गर्भवती हो चली है !

गर्भ—मातृत्व का पावन प्रतीक, प्रेम का विजय-वैजयन्त ! जव नारी 'भोग' की दुनिया से हटकर 'साधना' की स्वर्भूमि में पहुँच जाती है; जव 'काम' 'धर्म' में परिणत हो जाता है, 'मोह' 'कर्तव्य' में। जव आँखों का रस छाती में घर करता है, जव होठों की ललाई दूध की उज्ज्वल धारा के रूप मे फूट पड़ती है। जव यौवन उन्माद के आवर्त्त से निकल कर मर्यादा की सीमा में वँध जाता है। जव हाथ स्थिर हो जाते हैं, पैर भारी पड़ जाते हैं। जव हवा में तैरने-वाली नारी ज़मीन के लिए भी वोझीली वन जाती है, जव आसमान में स्वच्छन्द विचरण करने की भावना घर की चहारदिवारी को भी वड़ा घेरा मानने लगती है। संक्षेप में—जव 'पत्नी' 'माता' वन जाती है—वन्दनीय, अर्चनीय, नमस्य, प्रणम्य।

वह गर्भवती है—इस कल्पना ने उसमें एक साथ ही कितनी खुशी और कितनी ज़िम्मेवारी के भाव भर दिये। वह गर्भवती है—अव उसके एक शरीर में दो प्राण वस रहे हैं। ! कितना आश्चर्य-

जनक ! और यह जो दूसरा प्राण है, वह कौन है ? क्या वह उनकी प्रतिमूर्त्ति नहीं है; जिस मूर्त्ति को वह इतने बरसों से—सुख में, दुख में, मिलन में, बिछोह में—अपनी आँखों में बसाये हुई थी ! वही मूर्त्ति अब प्रत्यक्ष उसकी आँखों के सामने, मूर्त्तरूप में, चलेगी, फिरेगी। उसके आनन्द का क्या कहना ? किन्तु, उस मूर्त्ति के पिंड को नौ महीने तक अपने गर्भ में लिये रहना, अपने प्राण-रस से उसका प्रतिपालन करना, कोई ऐसी हलचल न करना कि उस नन्हे-से मांस-पिंड को ज़रा भी सदमा पहुँचे और जब वह संसार का प्रकाश देखे, उसे मातृत्व की उन शत-सहस्र परिचर्याओं से पालना, पोसना, बढ़ाना, अरे—वह किस तरह इन जिम्मेवारियों को निभा सकेगी, भला ?

वह विद्यालय में थे। वह सोचने लगी, जब वे आवेंगे, किस तरह यह सुसम्वाद उन्हें वह सुनायेगी ? क्या कहेगी, क्या कह कर बतलायेगी ? जब वे सुनेंगे, उनके मन में क्या भाव होंगे ? ज़रूर ही आनन्द होगा उन्हें। किन्तु, ज़िम्मेवारियों के बोझ का उन्हें भी अनुभव होने लगेगा। अच्छा ही तो; अब वे घर की ओर ज़्यादा ध्यान देंगे ! घर-वाले को भुला सकते थे, उसकी उपेक्षा कर सकते थे। किन्तु, उसकी उपेक्षा कैसे करेंगे, जो उन्हीं की सृष्टि है, उन्हीं की रचना है ? किन्तु, यह उपेक्षा का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? आज तक उन्होंने क्या कभी किसी की उपेक्षा की है ? हाँ, कर्तव्य-बंधन था। जहाँ दो कर्त्तव्य परस्पर टकराते थे, किसी एक ही का पालन तो कर सकते थे वे ? उन्होंने यही किया। हाँ, यह बात ज़रूर है कि एक अबोध शिशु के साथ जो उनका कर्त्तव्य होगा, वह ज़्यादा नाज़ुक होगा, अतः, दो कर्त्तव्यों के चुनाव में, इसकी ओर ही उन्हें पहले ध्यान देना होगा। दो कर्त्तव्यों का चुनाव !—तुरत उसका ध्यान अपनी ओर गया। अब उसके साथ भी तो यही सवाल होगा ! वह किसको तरज़ीह देगी—उन्हें, या इस आगन्तुक को ? उसने सुन रखा था, बाल-बच्चे वाली स्त्रियाँ पति के प्रति कुछ उदासीन हो जाती हैं। वे बच्चों में इतनी तल्लीन हो जाती हैं कि पति को अपना पूरा प्रेम दे नहीं पातीं। क्या उसपर भी यह बात लागू होगी ? नहीं, हर्गिज़ नहीं। वे वेवकूफ स्त्रियाँ होती हैं, जो इस तरह करती हैं। जिसका प्रेम सिर्फ हृदय की चीज़ न रहकर मूर्त्तरूप में सामने नाचे, खेले, हँसे, तालियाँ दे, ता-थेई करे—उसके प्रति उपेक्षा या उदासीनता कहाँ से आयगी ? वहाँ तो प्रेम बढ़ता ही जायगा—उसमें चार चाँद लग जायँगे !

अभी विद्यालय से उनके आने में देर थी। इधर, उसका कुतूहल बढ़ता ही जाता था। एक महीना तो उसने जैसे-तैसे काटा, किन्तु, दूसरा महीना आते ही, इस कुतूहल, उत्सुकता को उनसे छिपाये रखना उसके लिए असम्भव हो गया। आख़िर, एक दिन एक चिट्ठी उसने उनके पास भेज ही दी—क्या किसी एतवार को, सिर्फ एक दिन के लिए, नहीं आ सकते ? एक ज़रूरी काम है। और, वह अगले एतवार को आ पहुँचे और आते ही पूछ बैठे—क्या है रानी ? क्यों बुलाया ? वह बोलने ही को थी कि फिर कहने लगे,—"मैं कहूँ, क्यों बुलाया है ? वाह री खुशखबरी—अपने को ज़प्त नहीं कर सकी ? तो, बधाई लो, खुश रहो"—कहते-कहते उन्होंने उसे आलिंगन में आबद्ध कर लिया ! "मैंने सामुद्रिक पढ़ा है, रानी—किस तरह बिना कहे ही सब बातें जान लीं ?"

उसे सचमुच आश्चर्य हो रहा था, उन्होंने यह जाना कैसे ? वे भी रहस्य को रहस्यमय बनाये जा रहे थे ? किन्तु, पीछे, उसकी समझ में आया, यह चीज़ कैसे गुप्त रह सकती थी भला ? घर की औरतों से बच्चों के कान में बात गई और उनकी ज़बान जहाँ जिसे न कह दे ? ननदें तो जैसे बाट जोह रही थीं। भैया आये और उनके कानों में बात पड़ी—मिठाई, गहने, और साड़ी की माँग के साथ।

इस शुभ सम्वाद ने उन्हें कितना हर्षित, पुलकित, आनन्दित किया ! हर महीने वे ज़रूर घर आने लगे—आखिरी दिनों में तो हर रविवार को। जब आते, उसके शरीर का पूरा समाचार पूछते—खोद-खोदकर। जहाँ कुछ गड़बड़ी मालूम होती, तुरत उपचार में लग जाते। उन दिनों उसकी तबीयत भी अजीब हो रही थी। अवसाद का तो मानों उसके जीवन पर एकच्छत्र आधिपत्य हो गया था। जब खड़ी होती, बैठने की इच्छा होती; जब बैठी होती, तो लेटने की। नई-नई चीज़ों के खाने-पीने की लिप्सा तो होती, किन्तु, जब वे चीज़ें सामने आतीं, उकवाई आने लगती। जो वस्तुयें उसे बहुत प्रिय थीं, अब उनकी ओर आँख उठाने की इच्छा नहीं होती। चेहरे का रंग उड़ा जा रहा, होठों पर पपड़ियाँ पर रहीं। जब कुछ दिन रह गये, हाथ-पाँव की क्या बात, उसकी पलकों पर भी सूजन-सी आ गई थी। वे घर पर होते, तो ज़्यादातर उसके निकट होते। हँसने-हँसाने की कोशिशें करते, बहलाने-टहलाने की चेष्टायें करते।

संयोग, जिस दिन प्रथम-प्रथम उसने इस पुत्ररत्न का प्रसव कर अपने को अतिसौभाग्य-शालिनी सिद्ध किया, उस दिन वे घर पर नहीं थे। यह घटित भी हुआ अचानक और अप्रयास। थोड़ी रात बीती थी। सबेरे कुछ खाकर—यों ही दो-चार कौर—वह आँख मूँदे पलंग पर पड़ी थी कि उसके पेंड़ में कुछ दर्द-सा मालूम हुआ। दर्द टीस में वदला। वह उठकर बैठी। बैठा न गया। पलंग के नीचे पैर खिसका कर वह खड़ा होना चाहती थी, कि उसे मूर्च्छा-सी मालूम हुई। पलंग की पाटी पकड़ कर वह नीचे बैठ गई। एक ज़ोर का वेग—उसके मुँह से चीख़। उसके बाद—क्या हुआ, उसे पता नहीं। थोड़ी देर में जब उसे होश हुआ, घर में आनन्द-बधैया बज रहा था और उस कोलाहल में एक मीठी-मीठी केहाँ-केहाँ की आवाज़ आ रही थी ! वह आवाज़, और जैसे उसके समूचे शरीर में जो भी जीवनीशक्ति थी, वह एकाएक उमड़ कर उसकी छाती में आ गई और थोड़ी ही देर में उज्ज्वल दुग्ध-धारा के रूप में प्रवाहित होने लगी !

'बरही' का दिन—स्नानादि करा कर, पीली साड़ी पहना कर, उसे भोर की मीठी धूप में आँगन में बिठा दिया गया था। उसकी आँखों में काजल की मोटी रेखा कर दी गई थी; उसकी माँग में सिंदूर की फैली-फैली लकीर थी। उसने आईने में अपने चेहरे को देखा, खुद नहीं पहचानी जाती थी। आँखें धँस गईं—गालों का रंग क्या हुआ ? जब समूचे शरीर में ज़र्दी-ही-ज़र्दी हो तो पीले रंग की साड़ी से बढ़कर पहनावा क्या हो सकता था ? लेकिन, उस ज़र्दी के भीतर से जो आभा फूट रही ! इन धँसी आँखों में जो उत्फुल्लता दीख रही है ! ज़रूर उसके शरीर में खून की कमी हो गई है। किन्तु, उसकी गोद में जो रक्त का एक सजीव पिंड है, उसने तो मानों उसके सम्पूर्ण जीवन को लाल बना रखा है। ऊपर ज़र्दी है, भीतर लालिमा खेल रही है। उसके बचे-खुचे खून में नई रवानी है। उसके हृदय-सागर में नई-नई तरंगें अठखेलियाँ कर रही हैं। उसकी आँखें, उसका चेहरा, उसका शरीर, उसका सम्पूर्ण जीवन—आज हँस रहे हैं, विहँस रहे हैं! उसी असीम हँसी के बीच 'वे' आँगन में पहुँचे। वह शर्माई, घूंघट नीचे खींच ली, आँचल अच्छी तरह सम्भाला। उन्हें देखते ही ननदें किलक पड़ीं, देवर उछल पड़े। 'भैया इनाम लूँगी, भैया मिठाई दो'—का शोर मच गया। एक ननद ने बच्चे को उसकी गोद से ले लिया और बोली—पहले मुँह-देखाई, तब देखने दूँगी। वे भौंचक

थे—आनन्द से या आश्चर्य से ? अपनी ही एक जीवित-जागरित प्रति-मूर्त्ति सामने देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा ?

उसकी गोद का लाल बढ़ने लगा। उनकी ममता भी बढ़ने लगी—कम-से-कम उसे तो ऐसा ही अनुभव होता। जब आते, बच्चे के लिए कुछ-न-कुछ लाते ही। बच्चे के साथ उसकी माँ को कभी नहीं भूलते। किसने कहा कि सन्तान होने के बाद दम्पती का प्रेम-बन्धन ढीला पड़ता है ? सन्तान तो एक मुहर है, जो प्रेम की बाज़ाप्तगी की ही नहीं, उसके अटूट, अचल और अकाट्य होने की भी सूचना देती है। दम्पती के प्रेम-वृत्त का सन्तान केन्द्र-बिन्दु है। सन्तान धुरी है, जिसपर स्त्री-पुरुष-रूपी दोनों पहिये चक्कर काटते हैं और इसी चक्कर के साथ-साथ जीवन-रथ को कर्तव्य-पथ पर बढ़ाये चलते हैं। जब तक सन्तानरूपी धुरी में न बँधे हों, ये पहिये कब, कहाँ ढुलक, गुड़क जायँगे, कोई ठिकाना नहीं !

•

उसने अनुभव किया, सन्तान ने उन्हें और भी उसके निकट कर दिया है, दोनों के जीवन में तारतम्य ला दिया है। आज भी वह देखती है, यह सन्तानों की ममता ही है कि उनका विद्रोही और वैरागी हृदय घर से सम्बन्ध जोड़े हुए है। सन्तान होते ही, जब यशोधरा प्रसूति-गृह में ही थी, बुद्ध घर छोड़कर चल बसे। नहीं तो, शक है कि राहुल के दूध-भरे मुँह की सोंधी गन्ध सूँघने के बाद वे जा भी पाते। यह सम्भव भी होता, तो जिस समय राहुल बिना दाँत के मुँह से 'बा' कहकर उन्हें पुकार लेता, उसके बाद तो उनका जाना निस्सन्देह ही असम्भव पड़ता !

ज्यों-ज्यों बच्चे के अंगों का विकास होने लगा, उसे लेकर कितनी रात क्या-क्या न बातें हुईं। कभी उसके एक-एक अंग का विश्लेषण होता—रानी, रंग तो इसपर मेरा पड़ा है, लेकिन, देखती हो, रंग के भीतर बिल्कुल तुम-ही-तुम हो। ये आँखें—अरी, इसने तुम्हारी आँखों का किंचित भूरापन तक ले लिया है ! और यह नाक तो मेरी है नहीं। हाँ, होठ कुछ मेरे ज़रूर हैं, लेकिन इनकी ललाई भी तुम्हारी ही है। यों ही इस ललाट को मेरा कह सकती हो, किन्तु ये भवें और बाल—बताओ न तुम्हारे हैं कि मेरे। शरीर का गठन मेरा है, तो शौष्ठव तुम्हारा।

"लेकिन, माफ कीजिए, मेरे राजा, शरीर में मैं जहाँ भी होऊँ, न होऊँ, इसके भीतर जो आत्मा है, वह तो बिल्कुल आपकी है। शिशुता में भी यह नटखटपन, यह ज़िद यह.....उहूँ, उहूँ, ये सब मेरे हो नहीं सकते।"—

"तो मैं नटखट हूँ—ज़िद्दी—क्यों ?" उन्होंने एक दिन हँस कर पूछा और उसने तुरत जवाब दिया—"इसी से पूछिए !" मुस्कुरा कर उन्होंने एक मीठी चपत दी ! कितनी मीठी ! उसे मिठास में मस्त देख उन्होंने बच्चे को उठाकर किस तरह चूम लिया था ! वह चुम्बन किसके हिस्से का था, किसे दिया गया था ?

× × ×

वही बच्चा आज सामने बेंच पर बैठा है। उसने घूमकर उसकी ओर देखा। किस उत्सुकता और उत्कंठा से वह उसके अंग-प्रत्यंग को देखने-परखने लगी। उसकी आँखें, भवें, ललाट, नाक, होंठ—किन-किन में वे हैं ? वह यों घूर-घूर कर देखने लगी, कि उसे मालूम पड़ा, जैसे वे स्वयं वहाँ बैठे हों। हाँ, वे ही तो हैं—कहाँ है फर्क़ ? बिल्कुल वे ही ! किन्तु, यह तो छलना है। इस समय तो वे उस पाषाण-पुरी में होंगे—किसी निर्जन, एकान्त कोठरी में बैठे ! क्या उन्हें हमारी याद आती होगी ? नहीं आती होगी, यह वह मान नहीं सकती। तो, वह याद क्या उन्हें विकल नहीं बनाये होगी ? लेकिन...... हृदय, उनकी दुनिया में जाकर अपने दुख को दूना नहीं बना ! चल, अपनी दुनिया देख—पुरानी, धुँधली, दर्दीली, तस्वीरों की दुनिया—

१३. तपस्या

जब उसने सोचा था, तूफान फट गया, आसमान साफ हो गया, उसमें वह आशा की सुनहरी रेखा भी देखने लगी थी, कि फिर यह अकस्मात क्या हुआ ?— यह अनभ्र वज्रपात !!

वह चौंक पड़ी, चीख पड़ी, गिर पड़ी, वेहोश हुई। होश होने पर भी उसका दिमाग साँय-साँय कर रहा था—अरे, यह क्या ? षड्यंत्र, खून, डकैती, वम, रिवाल्वर......और वे ? वे और ये भयंकर भयानक, भयावह चीज़ें ! नहीं, नहीं, ! हो नहीं सकता ? किसी ने यह दिल्लगी की है ! इन चीज़ों से उनका सरोकार ही कहाँ, जो इनमें वे गिरफ्तार किये जायेंगे ? वे और खून ! जो मांस तक नहीं खाते, वे आदमीं का खून करेंगे ? जिन्होंने अपना घर लुटा दिया, मिटा दिया, वे दूसरे का घर लूटने जायँगे ? जिनका जीवन एक खुली हुई पोथी है, वह भला षड्यंत्र, साज़िश करेंगे ? अपने कोमल हाथ की ओर देखकर जिन्होंने कई बार कहा, रानी, ये सिर्फ क़लम पकड़ने के लिए बनाये गये हैं; उसी हाथ में बम, रिवाल्वर ! नहीं, बिल्कुल झूठ ! झूठ और झूठ !

किन्तु, यह वात सच थी कि इसी अभियोग में वे गिरफ्तार कर लिये गये थे। उसकी अपनी परेशानी तो थी ही, घरवाले बदहवाश हो रहे थे। चाचाजी चादर से मुँह ढँककर जो सोये, तो तीन शाम तक बिस्तरे से उठे तक नहीं। घर में खाना-पीना बन्द। एक ऐसी आग जल उठी थी जो घर के हर प्राणी के साथ समूचे घर को ही जलाने पर उतारू थी, फिर चूल्हा जलाने की किसे चिन्ता ? अड़ोस-पड़ोस के हित-कुटुम्ब दौड़े-दौड़े आये। उसके बाबूजी भी कई वर्षों पर पधारे ! भला, वे किस तरह इस जीवन-मरण के निर्णयात्मक अवसर पर अपनी प्यारी वेटी की सुध नहीं लेते ?

वह उनके पैर पकड़कर फूट-फूट कर रोने लगी। यह पहली वार थी, जब उसने अपनी मर्म-व्यथा को संसार पर प्रगट होने दिया था। बाबूजी को भी धैर्य नहीं रहा—उनकी आँखों से भी आँसू बहे जा रहे थे। किन्तु, दूसरों में और उनमें थोड़ा अन्तर था। जहाँ सभी धैर्य के साथ होश-हवास भी खो बैठे थे, वहाँ उन्होंने हार्दिक व्यथा के वावजूद अपने मस्तिष्क का संतुलन ठीक रखा था। उन्होंने चाचाजी को बिस्तरे से उठाया। घर में रसोई का सिलसिला वँधवाया। फिर, सब

बातों को दरयाफ्त करने शहर की ओर चले। हमें समझाते गये— होनहार पर किसी का बस नहीं, किन्तु, हमें प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मेरा यकीन है, वे निर्दोष हैं, किन्तु, आज के ज़माने में जिसपर जो आरोप न हो जाय! उनके ऐसे प्रसिद्ध और तेजस्वी व्यक्ति को फँसाने के लिए लाख चेष्टायें हो सकती हैं। किन्तु, हमें भी चेष्टा करनी चाहिए, कि उनकी निर्दोषिता प्रमाणित कर सकें। अब सिर पीटने की जगह हमें थोड़ा हाथ-पैर चलाना होगा। मैं देखता हूँ, असल बात क्या है ?

असल बात तो तह में रह जाती है, नक़ल का बोलबाला होता है। दो वर्षों तक मुक़दमा चलता रहा। अजीब सनसनीख़ेज़ चीज़ें सामने आईं। जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, वे ही बातें सत्य की तरह रखी गईं। उस असत्य सत्य को असत्य सिद्ध करना कोई आसान काम नहीं था। बाबूजी प्राणपण से लगे हुए थे। रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा था। चाचाजी क़र्ज़-पर-क़र्ज़ किये जाते। घर की हालत ख़राब हुई जाती। दो साल तक खेती-बारी की तरफ भी किसी का ध्यान न गया। उपज कम और ख़र्च ज़्यादा, अत्यन्त कहिए। पहले से खोंखला घर और भी खोंखला हुआ जाता।

एक दिन बाबूजी आये, कुछ रुपये की तुरत ज़रूरत थी। चाचाजी ने कई जगह दौड़-धूप की। रुपये मिलते नहीं थे। बाबूजी ने भी अपना हाथ ख़ाली कर लिया था। क्या किया जाय—इसी चिन्ता में वे थे। उसने उन्हें बुलाया और जब वे आये, उनके हाथ में एक पोटली रख दी। "यह क्या ? अरे, तुम्हारे गहने हैं ! नहीं दुलारी, नहीं। मुझसे यह नहीं होगा। मैं घर जाता हूँ, कोई उपाय करूँगा। क़र्ज़ लूँगा। तुम्हारे गहने ?—मैं बेचूँ ? तू पागल हो गई है क्या ?"

"बाबूजी"—वह बोली—"मैं कोई भोली बच्ची नहीं। बहुत देखा, बहुत सुना।" सब समझती हूँ। ये गहने नहीं हैं, मेरे पाप हैं। मुझे यक़ीन हो गया है मेरे पाप ही उन्हें इन संकटों में डाल रहा है। वे साधु हैं, पुण्यात्मा हैं। फिर भी वे जो इन झंझटों में फँस जाते हैं, मेरे चलते, मेरे पापों के चलते। मैं अपने पापों को धोऊँगी, अपने अपने को जलाऊँगी, शुद्ध करूँगी ! जब तक मैं शुद्ध नहीं होती, उनका उद्धार नहीं होगा। मेरे पाप का बोझ उनकी धर्म की नैया को डूबाने पर तुली है। यह नहीं होने दूंगी। ये गहने तो ऊपरी पाप हैं, मन में जो लालसायें घुसी, छुपी हैं, उन्हें भी दूर करना होगा। आप पिता हैं,

मेरी मदद कीजिए। ले जाइए इन्हें, इन्हें वेचकर उनके काम में लगा दीजिए। अगर आप न भी लीजिएगा, तो ये गहने मैं रखूँगी नहीं ! हाँ, यह मेरा निर्णय है। आप इस वाहरी पाप से मुझे मुक्त कीजिए, जिसमें भीतरी प्रायश्चित्त के लिए मैं अपने को तैयार करूँ।" वह यों ही वोलती जाती थी, और उसने देखा, उसके वावूजी की आँखों से आँसू वहे जा रहे थे। उन्होंने अन्ततः पोटली उठा ली। जव वे चलने लगे, उसने कहा—देखिए, चाचाजी से यह मत कहिएगा!

उसके वाद उसने अपने को किन तपस्याओं में जलाना शुरू किया ! नहीं, नहीं, सुकर्म को जिह्वा पर लेना नहीं चाहिए, उसका माहात्म्य समाप्त हो जाता है !

इन तपस्याओं के वीच उसके मन में एक लालसा जगी। वह एक वार उनके दर्शन क्यों नहीं कर आती ? दर्शन करके अपने पापों को कम करेगी और साथ ही देखेगी कि दुनिया जिसे षड्यंत्र, क़त्ल और लूट कहती है, उनके चेहरे पर वे कहाँ छिपे हैं, किधर हैं ?

वह भी एक दिन था ! गोद में वच्चे को लिये वह जेल में पहुँची। जेल में ही उनका मुक़दमा चल रहा था। जज से हुक्म लेकर उसके वावूजी उसे जेल के उस कमरे में ले गये। जज अपने आसन पर बैठा था; सामने पेशकार कागज़ उलट-पुलट रहा था। दोनों तरफ के वकील पहुँच चुके थे ! किन्तु वे नहीं थे, जिनके लिए यह सब आयोजन था ! थोड़ी देर में मधुर संगीत की एक स्वर-लहरी उस कमरे में प्रवेश करने लगी, संगीत के साथ कुछ झन, झन, खन, खन भी। जज चौंका। पेशकार चौकन्ना हुआ। वकीलों ने दरवाज़े से वाहर देखना शुरू किया और थोड़ी ही देर में वारह-तेरह नौजवान हाथ-पैर में वेड़ी-कड़ी झनझनाते, गाते, कमरे में दाखिल हुए !

और, वे वह हैं !—वह खड़ी थी, वरवस उसके पैर वढ़े और उनके चरणों में वह गिरना ही चाहती थी कि वावूजी ने वढ़-कर उसे सजग किया ! यह क्या कर रही हो, यह कचहरी है ! वह खड़ी हो गई। आँखों से अश्रुधारा फूट निकली ! गोद का वच्चा उसकी यह दशा देख, चीख पड़ा। वह चट वैठ गई और उसे आँचल के नीचे करके उसके मुँह में स्तन दे दिया। वच्चा चुप हो गया ! किन्तु, उसकी पापिनी आँखें ! क्या वे ठीक से देखने भी नहीं देंगी ? आह रे उनका चेहरा !—दाढ़ी-मूँछ और सिर के वाल वढ़

गये हैं, काफी लम्बे—किन्तु उन काले बालों के बीच उनका शान्त सौम्य चेहरा और कितना उद्दीप्त हो चला है ! उसने पाया, उनके चेहरे का प्रकाश-वृत्त और भी बड़ा हो गया है ! उसकी ओर देखकर उनके होंठो पर एक स्मित-रेखा देखी गई, किन्तु, उनकी आँखें ? कुछ दूसरी ही बात उसने देखी, पढ़ी ! और, उनके अगल-बगल में ये जो नौजवान हैं—उनमें से कई को तो वह और भी कितनी ही बार देख चुकी है, वे उनके साथ उसके घर पर गये थे। उसने उन लोगों को खिलाया था, कई ने तो उससे दिल्लगियाँ भी की थीं। वे सब कितने मस्त हैं। गप कर रहे, चिकोटियाँ काट रहे, मुस्कुरा रहे, हँस रहे। क्या येही लोग ख़ूनी हैं ? क्या इन्होंने ही डकैतियाँ की हैं ? साज़िश करनेवालों के चेहरे क्या ऐसे ही होते हैं ? बम, रिवाल्वर से खेलने-वाले क्या इसी तरह खेलते हैं ? नहीं, नहीं, सारा, इल्ज़ाम ग़लत—सारी बात झूठ ?

टिफिन के वक्त जज से हुक्म लेकर उसने उनसे बातें कीं। वे उसके निकट आये। बाबूजी हट गये थे। आते ही उन्होंने बच्चे की ओर हाथ बढ़ाया। किन्तु, जब तक बच्चा उनके हाथों में जाय, कि उनके साथियों में से एक लड़का—हाँ, वह लड़का ही था—लपका और बच्चे को छीनकर ले गया। भाई-साहब, आप भौजी से बातें कीजिए, हम बच्चे से खेलते हैं—एक ने मुस्कुरा कर कहा। सब हँस पड़े। बच्चे को हाथोंहाथ लेकर वे खेलने-खेलाने लगे और वह उनके सामने चुपचाप खड़ी है। क्या बोले, क्या कहे ? उन्होंने ही निस्तब्धता भंग की—

"क्यों, घबरा गई हो ? ठीक, घबराने की बात ही है। सोचती होओगी, कैसा मैंने धोखा दिया। सच, धोखा तुम्हें शुरू से ही हुआ ! किन्तु, रानी, घबराने से क्या कुछ बन पड़ेगा ?—बिगड़ेगा ही। पर-स्पर आरोप लगाने से भी कुछ होने-जाने का नहीं। अब, तो चुपचाप देखना है, सहना है, भोगना है। सत्य प्रकाशित हो कर रहता है। किन्तु, सत्य को आच्छादित किया जा सकता है, कुछ देर के लिए ही सही ! अतः, अवश्यम्भावी पर तर्क करना ही फिजूल है। कभी-कभी हमारी परीक्षा के लिए भी ऐसी चीज़ें आती हैं ? परीक्षा कड़ी भी हो सकती है। हो सकता है, हमारा सामूहिक पाप कुछ व्यक्तियों के निरपराध रक्त से ही धोया जा सके ? दासत्व सबसे बड़ा पाप है, रानी !............

.....तुम इतनी दुवली हो गई हो ? ठीक तो, दो परस्पर संलग्न आत्मायें यों अचानक अलग कर दी जायँ और वीच में ऐसी दीवाल खड़ी कर दी गई हो, जिसके ओर-छोर कुछ मालूम नहीं, तो, पीड़ा का होना लाज़िमी है। और, हृदय की पीड़ा तो खून ही पीता है, मांस ही खाता है। किन्तु, रानी, जव दो आत्मायें तीसरी आत्मा के रूप में अपने को स्वत: परिणत कर लें, तव उनका यह भी कर्त्तय हो जाता है कि उसके लिए—कम से कम उस तीसरी आत्मा के लिए भी—अपने अस्तित्व को क़ायम रखने की कोशिश करें। तुम्हारा यह दुवलापन वच्चे के लिए कितना हानिप्रद होता होगा, तुमने सोचा है ? मेरे लिए इतनी चिन्ता और उस अवोध के लिए ?.................

.....और, तुम लोगों ने यह क्या किया है ? चाचाजी तो पागल हो गये हैं, तुम्हें सोचना चाहिए। यों उजड़े घर को दोनों हाथों से आप-आप उजाड़ना, यह क्या वात ? क्यों इतना खर्च ? किन्तु, तुम इस वारे में सुनोगी नहीं ! अपने गहने तक बेंच दिये ! वावूजी कह रहे थे, रो रहे थे ! मैं उन्हें क्या समझाता भला ?..........................

.....सुना, मेरे लिए वड़ी-वड़ी साधनायें कर रही हो—व्रत, उपवास, मन्नत, क्या-क्या न ? मैं कैसे रोकूँ ! शायद तुम्हारी तपस्या घर को वचा ले ? मेरी तपस्या का फल तो यही है, जो मैं भुगत रहा हूँ, भुगतूँगा ? ! और यह तपस्या नहीं है रानी, प्रायश्चित है ! कहोगी, मैंने तो कोई अपराध नहीं किया, फिर प्रायश्चित कैसा ? अपना नहीं, अपने पूर्वजों का। और, प्रायश्चित्त जितना कड़ा होगा, पाप उतना जल्द कटेगा, पुण्य का उतना शीघ्र उदय होगा। घवराना नहीं, हमारी मुक्ति के दिन निकट आ रहे हैं। क्या तुम नहीं देखती ? मैं तो देख रहा हूँ, उतना ही स्पष्ट, जितना यहाँ तुम खड़ी हो......"

वे वोले जा रहे थे। वोलते-वोलते और भी नज़दीक आ गये थे। उसके हाथों को अपने हाथ में ले लिया था। वे चिर-परिचित हाथ—मालूम हुआ, वह फिर मँडवे पर वैठी है और उसका हाथ उनके हाथों में है ! हाथों के स्पर्श ने ही जैसे उनके हृदय से उसके हृदय का सम्बन्ध जोड़ दिया। कान उनके शव्द पी रहे थे और हृदय उनके हृदय से सन्देशों का आदान-प्रदान कर रहा था। हृदय की भाषा के बाद जिह्वा का क्या काम ? वह चुपचाप खड़ी थी। वे शायद कुछ और कहते, किन्तु इसी समय टिफिन का वक्त पूरा हुआ। लोग कमरे में आने लगे। उनकी ओर देख, जैसे उनकी आँख बचाते

हुए, एक बार उन्होंने उसके चिबुक को पकड़ लिया और तुरत उसे छोड़ बोल उठे—अच्छा जाओ, मस्त रहना रानी। तब तक उनके साथी बच्चे को उनके नजदीक ले आये थे। बच्चे को हाथों में लिया, एकाध वार चुमकारा और उसके हाथों में देते हुए कहा—अपने लिए नहीं, इस बच्चे के लिए तो तन्दुरुस्ती पर ध्यान देना ! "भाई साहब, भौजी से थोड़ी हमारी बातें भी होने दीजिए"—उनके साथियों ने ठहाके के बीच कहा। किन्तु, तब तक जज अपने आसन पर आ चुका था और बावूजी भी उसके नज़दीक आकर चलने का इशारा कर रहे थे। यद्यपि वह अपने को ज़प्त करना चाहती थी, किन्तु वह आप-से-आप झुक ही पड़ी उनके चरणों की ओर। और उसे लपक कर उठाते हुए, एक ही सेकंड के लिए ही सही, उन्होंने उसे आलिंगन में ले लिया। वह आकस्मिक आलिंगन—उसका समूचा शरीर कदम्ब-सा फूल उठा !

जव वह घर लौट रही थी !—क्या एक मिनट भी उसके आँसू रुक रहे थे ? इनमें से किसी को फाँसी हो सकती है, किसी को कालापानी ! ये हँसते-खेलते लोग ! इनमें से किसी को, सूत की मोटी डोर से गला कसकर, दम घुँट कर, मार डाला जायगा; किसी को सात समुन्दर पार घुल-घुल कर, तिल-तिल कर, मरने को लाचार किया जायगा ? ये हँसते-खेलते लोग !—क्या इनका परिणाम यही होना था। और, 'वे'—कौन कहे, उनका क्या हो ? फिर भेंट हो या...विधाता...विधाता.....

× × ×

उसने आँखें खोल दीं। उसकी आँखों से अनवरत आँसू आ रहे रहे हैं और गाड़ी तेज़ी से भागी जा रही है। जिस तरह दुःस्वप्न से घबरा कर आदमी, आँखें खोलने पर भी स्वप्न से इस तरह अभिभूत रहता है कि अपनी जाग्रत स्थिति पर भी उसे सन्देह होता है, वह काँपता है, चीखता है, चिल्लाता है; ठीक वही हालत उसकी हो रही थी ! उसका हृदय इतना आन्दोलित था, उसका दिमाग़ इतना परेशान था, कि उसे भान नहीं था, वह कहाँ है ? झटपट उसने आंचल से आँसू पोंछे और डब्बे की रोशनी की ओर देखने लगी—ठीक उसी तरह, जिस तरह स्वप्नाभिभूत व्यवित रोशनी देखना चाहता है। डब्बे में कुछ नई सूरतें थीं, जो उसकी ओर न-जाने क्यों घूर-घूर कर देख रही थीं। उसका स्वप्न-भंग तो हुआ, किन्तु, वह उनकी इस बेहूदगी को बर्दाश्त नहीं कर सकी। फिर मुँह फेर कर डब्बे से बाहर देखने लगी और उधर देखना था कि......

१४. भिखारिन

उसके सिंदूर का भाग्य—वे छूट गये, बेदाग़ छूट गये। हाँ, ऊपर की अदालत तक जाते-जाते इस परीक्षा में ढाई वर्ष से ऊपर लग गये।

वे लौटे, उसका सुहाग लौटा। और, अब उसका एकमात्र सहारा तो यह सुहाग ही था न ?

चाचाजी ने कुछ ऐसा शोक धर लिया कि वे चल बसे ! उनका चलना कि घर का रहा-सहा शीराज़ा भी बिखर गया। घर की यह हालत देखकर उन्हें सदमा नहीं हुआ, यह नहीं। किन्तु, एक दिन चर्चा चलने पर बोले—

"रानी, हम वैसे माँझी हैं, जिसने अपनी नाव जला डाली हो। नाव जल गई, सामने समुद्र लहरा रहा है और उसकी हर लहर हमें निमंत्रण ही नहीं दे रही, बल्कि हमारा आह्वान कर रही ! हम निमंत्रण की उपेक्षा कर सकते थे, किन्तु आह्वान की उपक्षा तो पौरुष का अपमान होगा। हम उसमें धसेंगे, उसे पार करेंगे। यह शरीर ही नाव बनेगा, भुजायें ही पतवार होंगी। नाव पर हम मन-चाहा सामान लाद सकते थे, अब एक सेर ज़्यादा बोझ-भी हमें लहरों के नीचे ला देगा। कभी साधनहीनता बुरी होती है, कभी भली। कभी सम्पन्नता सुख-शान्ति का कारण होती है, कभी जीवन का काल। हम साधन-हीन, सम्पत्तिहीन हो रहे हैं, होते जायँगे ; किन्तु हमने जो शपथ ली है, उसे देखते हुए, इस स्थिति पर सन्तोष ही करना अच्छा ! किन्तु, मैं मानता हूँ, इस सन्तोष की स्थिति में मस्तिष्क को ले आना आसान नहीं। पुराने सुख हृदय में काँटे बनकर गड़ेंगे, पुरानी मौज दिल को बेचैन बनायगी। ये ही परीक्षा के दिन होंगे—मेरे लिए, तुम्हारे लिए, घरवालों के लिए। मैं उत्तीर्ण हो सकता हूँ, तुम जरूर उत्तीर्ण होगी, किन्तु, ये भोलेभाले लोग ! अतः, अब एक ही करना है, जहाँ तक बन पड़े, साधना की धूनी रमाई जाय और इन्हें सुख से रखने को कोशिश की जाय। मुझे उम्मीद है, तुम मेरे इस असाध्य साधन में सहायक बनोगी।"

वह सहायक बनती, बनने की उसने कोशिशें की हैं—किन्तु न-जाने क्यों, ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, वियोग की कल्पना भी उसे

बेतरह अखरने लगी है। आप घर रहिए, मैं सब सह लूँगी, कर लूँगी, —एक दिन उसने कहा भी उनसे। वे सुनकर मुस्कुरा पड़े—"रानी, तब तुम फिर मुझ से घर बसाना चाहती हो। मुझे मेरे कर्तव्य-पथ से मत हटाओ मेरी रानी ! स्थानभ्रष्ट व्यक्ति कहीं का नहीं रहता है—न घर का, न घाट का ! मनुष्यता को श्वान-वृत्ति में पटक देना, रानी, कम-से-कम मेरी अर्द्धांगिनी के लिए शोभनीय नहीं !"

उसने देखा, "मेरी अर्द्धांगिनी" कहते हुए उनकी आँखें अभिमान से चमक पड़ी थीं और उस चमक ने उसकी कमज़ोरी को, कुछ देर के लिए ही सही, न-जाने कहाँ भगा दिया था !

तरह-तरह के अन्दोलन चलते रहे, सबमें उनका सिर्फ हिस्सा ही नही; हाथ होता। और, परिणामस्वरूप बार-बार जेल-यात्रायें करनी पड़तीं। आज जब वह हाथ की उँगलियों पर उनकी जेल-यात्रायें गिनना चाहती है, गिन नहीं पाती।

इधर नोनी लगी दीवारें और घुन लगे खम्भे एक-एक कर गिरने का उपक्रम कर रहे थे। जो कसर थी, भूकम्प ने पूरी कर दी। घर गिर गये, खेती बर्बाद हो गई, बाढ़ और बीमारी ने सब कुछ चौपट कर छोड़ा !

जहाँ पहले इमारत थी, वहाँ ऊँचा-सा ढूह बना है। उस ढूह पर कुछ छोटी-छोटी झोपड़ियाँ हैं—बाँस की दीवार, फूस का छाजन। छोटा-सा घर-आँगन। उस छोटे-से आँगन में एक बड़ा-सा परिवार। ऐसा परिवार जिसे भूत ललचाता है, वर्तमान समझाता है, और भविष्य ? उसकी चर्चा ही व्यर्थ।

संक्षेप में जो रानी थीं, वह भिखारिन हो गई।

एक बार की बात उसे याद है। वे एक वर्ष के लिए जेल गये थे। यह एक वर्ष उसने कैसे बिताया था ? चाचाजी के बाद, 'उनकी' ग़ैरहाज़िरी में, वही घर की मालकिन हुई। देवर नाबालिग़ ; घर की स्त्रियों की जैसे मत मारी गई। घर-बाहर उसे ही देखना पड़ता। उस साल फसल बिल्कुल खराव गई। कर्ज़ वालों के तकाज़े इतने थे कि नये कर्ज़ की चर्चा ही फिजूल थी। गहनें बिक चुके थे। वह क्या करे ? सिर्फ एक साड़ी पर उसने एक साल बिता दिया था !

एक साड़ी पर एक साल ?

घर की औरतों और बच्चों के तन ढँकने के बाद उसके लिए सिर्फ एक साड़ी ही तो बच गई थी।

जब वे लौटे, एक दिन कोई प्रसंग आया, उसकी ज़बान से यह चर्चा निकल पड़ी। सुनकर बहुत ही विषण्ण हुए। उसे अफसोस हुआ, कहाँ से उसने कह दिया। उसने देखा, कई दिनों तक रह-रह कर उनका चेहरा उदास हो जाता। बातें करते होते, हँसते होते, हँसाते होते, बच्चों को खेलाते होते, उनसे खेलते होते—अचानक, जैसे उनके चेहरे पर स्याही दौड़ जाती। हँसता हुआ फूल मुरझा उठता! उसने कई बार पूछा, ऐसा क्यों? जब वह पूछती, वे मुस्कुराने की चेष्टा तो ज़रूर करते, किन्तु, यह कृत्रिम हँसी उनके चेहरे की स्याही को और भी सघन कर देती।

लेकिन, क्या इसने भी उन्हें उनके मार्ग से विचलित किया!

याद है, कई बार कुछ बड़े नेता उसके घर पर आये। उनसे बार-बार आग्रह किया—असेम्बली के लिए खड़े होइए, डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में चलिए, चेयरमैनी कबूल कीजिए, किन्तु, उन्होंने किस उपेक्षा और घृणा से उनकी 'देन' को ठुकरा दिया! सुनती हो रानी, सत्य-युग में तपोभ्रष्ट करने को राक्षस या अप्सरायें आती थीं। कलियुग की सब बातें विचित्र हैं न? इस ज़माने में हमारे बुजुर्ग ही हमें दलदल में घसीटना चाहते हैं! क्या तमाशा है, कुत्ते लोहे की ज़ंजीर को अपनी जीभ से चाटते-चाटते अपनी जीभ से ही निकले खून में स्वाद अनुभव कर जोरों से जीभ चलाये जा रहे हैं! दुनिया में आत्मवंचना से बढ़कर कोई बड़ा अभिशाप नहीं है, रानी!

"और इस युग में ज़्यादा तो ऐसे ही लोगों की संख्या है न?" —उसके मुँह से निकला! शायद उसमें थोड़ी कमजोरी आ गई थी!

"इसीलिए तो, जो थोड़े-से लोग इन्हें बुरा समझते हैं, उन्हें ज़्यादा-से-ज़्यादा आत्मत्याग दिखाना चाहिए। जहाँ तर्क और सीख काम नहीं करते, वहाँ उदाहरण ही एकमात्र उपाय बच जाते हैं रानी! जब सब चिराग़ गुल हो रहे हों, तो, जिनके पास बचे-खुचे तेल-बाती है, उन्हें कंजूसी नहीं करनी चाहिए। प्रकाश होने दो, प्रकाश! रानी—मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयः नच धूमायितं चिरम्!"

उसने देखा था, उनकी दोनों आँखें यह कहते-कहते दो जीवित मशाल बन रही थीं—निर्धूम, उज्ज्व, प्रोज्ज्वल!

किन्तु उन उज्ज्वल आँखों में सिर्फ ज्वाला ही नहीं है—वहाँ करुणा की निर्झरिणी अनवरत अठखेलियाँ करती है, यह भी वह जानती है। शायद करुणा की अधिकता ही ज्वाला में परिणत हो गई है। तरल पानी ज़्यादा शीत पाकर कठोर बर्फ बन जाता है—ऐसी सख्त कि उसपर इस्पात की धार भी भुथरी हो जाय। किन्तु, इसका मतलब यह कदापि नहीं कि उसकी तरलता ख़त्म हो गई। बस, सिर्फ, थोड़ी गरमी चाहिए, फिर पानी-पानी है—तरल, कोमल, शीतल, सुखद !

उसने उनके जीवन को देखा है परखा है, और हमेशा यही पाया है। इस परिवार—एक-एक प्राणी—के लिए उन्हें कितनी चिन्ता रहती है। और ये बच्चे !—जिस समय वे इन बच्चों में होते, कौन कह सकता है कि यही वह व्यक्ति है, जो कर्तव्य की पुकार पर इन बच्चों की परवाह किये विना बड़े-से-बड़ा संकट लेने को तैयार होता है ! जब तक बच्चे हँसते, उनके बीच वे यों हँसते कि यह पार पाना मुश्किल कि किसकी हँसी ज़्यादा मासूम है—बच्चों की या उनकी ! किन्तु, ज्यों ही इन बच्चों की तबीयत ज़रा भी अलील हुई, कहाँ गई हँसी ?—यों सेवा-उपचार में व्यस्त रहते कि शक होता, वह बच्चों की माँ है, या वे ?

यही नहीं, अपने शरीर पर फटा कुर्त्ता वे फख्र से रखते—पेवन्द से उन्हें जैसे प्रेम हो गया हो। किन्तु, जब कभी बच्चों के कपड़े फटे देखते, जैसे उनकी छाती फट जाती ! और, यदि कभी गाँव के किसी यज्ञ-उत्सव पर, या किसी पर्व-त्यौहार पर बच्चे नये कपड़े के लिए ज़िद करते, तब तो वे कट-से जाते ! बच्चों को हँस कर बहलाते, किन्तु, उनके हृदय में कौन-सा हाहाकार मच जाता, क्या वह नहीं परखती ?

माता के हृदय के लिए ज़रूरी नहीं कि छाती पर दूध के दो घड़े ही रखे हों !

किन्तु, वह कहाँ बहकी जा रही है ? वह अपनी तस्वीर भूली जा रही है, उसके बदले वह उनकी-ही-उनकी तस्वीर देख रही है !

उसकी तस्वीर—उनकी तस्वीर ! अब वह ज़िन्दगी के जिस छोर पर पहुँची है, क्या वहाँ कहीं भी दो तस्वीरें नज़र आती हैं ? वह अपने को अब कहाँ पा रही है ? चेष्टा करके भी वह अपने

को अगर पा सकती ? अब तो वह चारों ओर उन्हें-ही-उन्हें पा रही है। अगर उसका अस्तित्व बचा रहता, तो क्या वह उन संकटों को झेल सकती, नहीं-नही, उन संकटों से खेल सकती, जो ज़िन्दगी की इस ढलती बेला में एक-पर-एक उसपर गिरते रहे हैं ! अब तो वह उस जगह पहुँच गई है, जहाँ दर्द दवा बन जाता है, निदान उपचार में परिणत हो जाता है !

यह उन्हीं की महिमा है, उन्हीं का प्रताप है !

किन्तु, इस एकात्मता ने जहाँ ऐसा वरदान दिया है, वहाँ इसका एक दुखद पहलू भी है।

अब उसने हर दुख को उनकी नज़रों से देखना शुरू किया है। इसलिए, अपना दुख भूलकर भी, वह दुखों की दुनिया से अपने को विलग नहीं कर पाती। यह छोटा-सा उदाहरण। आज वह इतना दुखित क्यों है ? क्या सिर्फ अपने दुख से ? नहीं; बार-बार उसका ध्यान जाता है उनकी ओर, जो इस आधी रात की निस्तब्धता में भी, उस एकान्त कोठरी में जगे हुए बैठे होंगे ! बैठे, सोचते—न जाने, इस घटना को रानी ने कैसे लिया हो ? न मालूम, बच्चों ने क्या महसूस किया हो ?

वह छोटी-सी साड़ी वाली बात ! उन्होंने न-जाने हृदय के किस कोने में उसे बंद करके रख छोड़ा था और इस बार जब गिरफ्तारी की चर्चा सुनी, सबसे पहला काम यह किया कि बाजार गये और साड़ियों का एक बंडल ही खरीद कर घर में रख दिया। आपने यह क्या किया ?—उसके पूछने पर उन्होंने सिर्फ मुस्कुराते हुए इतना कहा—एक वर्ष के लिए ये साड़ियाँ शायद काफी होंगी !

× × ×

"भौजी, आनेवाले स्टेशन पर उतरना है, सामान दुरुस्त कर लिया जाय"—उसके देवर ने कहा। और भी मुसाफिर अपने सामान ठीक कर रहे थे। इसी स्टेशन पर उतरना है—इस बात ने उसे काफ़ी सन्तोष दिया, क्योंकि वह अब तस्वीरों की उस दुनिया में पहुँच चुकी थी, जहाँ बाहरी आकार नहीं होते, टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों के भीतर अस्पष्ट, धुंधली भावनायें होती हैं—आँसुओं में पली, उच्छ्वासों में खेली; जो देखनेवालों के लिए खेलवाड़ होती हैं किन्तु समझनेवालों के लिए मौत ! जिनकी व्याख्या की नहीं जा सकती, जिन पर टीका हो नहीं सकती..........

ग. एतद्‌ध

देखिए, वह स्टेशन से एक घोड़ागाड़ी देहात की ओर चली जा रही है।

वे ही सब-के-सब। बच्ची के हाथ में झुनझुना है, वह बजा रही है, किलक रही है। बच्चा बिस्कुट कुतर-कुतर कर खा रहा है। बड़ा लड़का रास्ते की चीज़ों की ओर बच्चे का ध्यान बार-बार आकृष्ट करता है। नौजवान समझता है, बच्चों का गार्जियन वही है, क्रमशः सबकी ओर ध्यान देता, सबकी ख़ाहिशें पूरी करता और सबका जी बहलाता, वह खुद भी इन्हीं में बहला हुआ है।

किन्तु, वह स्त्री ? उसके शरीर को घोड़ागाड़ी ढोये ले जा रही है, घर की ओर; किन्तु, उसका मन कहाँ है ? हृदय कहाँ है ? उसकी आँखों से पूछिए—उन आँखों से जिनकी पलकें सूजी हुई हैं और जिनकी पुतलियाँ इस तरह अचंचल हो रही हैं, जैसे उनमें जान ही नहीं हो। रास्ते के ये पेड़-पौधे, बाहर के ये खेत-खलिहान, ऊपर की यह गाड़ी की छत, बग़ल के ये बच्चे—क्या उसकी आँखों में इनमें से किसी की भी प्रतिच्छाया है ?

जो उसकी आँखों में, हृदय में, मन में, नस-नस में रमे हुए हैं, वे इस समय कहाँ हैं ?

भेंट न हुई, न हुई। उन्हें देखे कोई ज़्यादा दिन नहीं हुए। यही पाँच-छः महीने तो हुए उन्हें इस बार जेल आये। भरी जवानी में इससे दुगने, तिगुने, चौगुने दिनों तक उन्हें नहीं देखकर भी वह धैर्य रख सकी, किन्तु आज उसे क्या हुआ जा रहा है ? लोग कहते हैं, जवानी ढलने पर प्रेम का ज्वार भी भाटे में पहुँच जाता है। तो फिर, उसके हृदय में यह ज्वार-ही-ज्वार क्यों हाहाकार कर रहा है ? समुद्र का ज्वार भी अपनी मर्यादा का ज्ञान रखता है। लेकिन, यहाँ यह क्या हो रहा है ?

सामने बच्चे हैं, एक तो काफी सयाना है। क्या वह इन बातों को नहीं समझता होगा ? फिर, वह मन-ही-मन क्या कहता होगा ? उसका यह देवर—वह देख नहीं रही, वह उसकी इस खिन्नता से कितना उद्विग्न है ? वह भी क्या सोचता होगा—भौजी को यह क्या हो गया है ? और रास्ते के ये चलने वाले पथिक—जो औरत

को देखते ही घूरने लगते हैं, क्या कहते होंगे ? नहीं-नहीं—यों, आम-रास्ते पर अपनी मर्यादा को लुटाना मुनासिब नहीं।

किन्तु, वह करे तो क्या करे ? तर्क से अपने दिमाग़ को तो वह कुछ स्थिर कर पाती है, किन्तु, यह कम्बख्त दिल—रह-रह कर जैसे वहाँ एक बिजली चमक जाती है, वह काँप उठती है, उसके होंठ हिल जाते हैं, उसकी आँखें बरसने लगती हैं। यह उसका क्या उपचार करे ?

आँसू आँसू, आँसू! ज्वार, ज्वार, ज्वार? भँसा ले जाओ, तुम जहाँ चाहो ! बेभरम तो कर ही डाला, अब रहम की ज़रूरत क्या ?

शीतल छाया। घोड़े पसीने-पसीने। सत्तू की दूकान। गाड़ीवान घोड़े को आराम दे रहा है, सत्तू पिला रहा है। गद्दा डालकर गाड़ी के यात्री उसपर बैठे हैं।

नौजवान उस देहाती पान की दूकान पर चला गया है। लड़का भी उसके साथ है। बच्ची सो गई है। छोटे बच्चे से वह स्त्री दिल बहला रही है। इतने में वह चिल्ला उठा—पंडुक, पंडुक !

पंडुक, पंडुक। वह उसकी ओर दौड़ा। स्त्री ने देखा—दो पंडुक, वैसेही, जैसे बचपन में उसने देखा था। धूसर पंख, काले बुंदे, गले में नीली-सी रेखा, चमकीली गोल आँखें, सुन्दर लम्बी चोंच—दोनों पंडुक अगल-बगल चुग रहे ! बच्चे के पैर की धमक से चौकन्ने हुए, उड़े और डाल पर जा बैठे। जब वे उड़े, उनके चारो पंख इस तरह हवा में हिलकोरे दे रहे थे, मानों, वे एक ही कल के चार पुर्ज़े हों।

ये पंडुक—और इनका प्रेम। एक साथ जन्मे, एक साथ बढ़े, और एक साथ ही चल देंगे, या तो साथ-साथ या एक दूसरे के वियोग में बिसूरते !

और मनुष्य !—

अभिशापित प्राणी ! बचपन में वियोग, जवानी में वियोग, बुढ़ापे में वियोग। जीवन में वियोग, मृत्यु में वियोग। भोग के लिए तुमने क्या-क्या नहीं किया ओ मानव ? किन्तु मिला वियोग, वियोग ! सुख की खोज में हमेशा दुख पाया तुमने।

भुजाओं से तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ, पंख बनाये। उड़े तो; किन्तु, गिरे ऐसे कि भुजायें भी न रह गईं।

कन्दरा या खोंढ़र से तसल्ली कहाँ, प्रकृति पर विजय करना चाहते थे, प्रकृति के गुलाम बने ! ज़मीन पर स्वर्ग बसाना चाहा, उसे नरक बना डाला ! बड़े-बड़े महल बनाये । बनाये, लेकिन, वे ही महल तुम्हारे क़ैदखाने हो रहे हैं। तड़पा करो उनमें—कुछ क़ैदी कहलाते हुए, कुछ अपने को स्वतंत्र मानते हुए !

तड़प, तड़प ! चीख, चीख ! जहाँ देखो, तड़प, चीख !

और, पंडुक स्वच्छन्द विचर रहे हैं, मस्त हैं। पंखों के पर, कंकड़ के भोजन, प्रेमी-प्रेमिका का अहर्निश संग।

यों ही वह सोचे जा रही थी कि उसने देखा, उसका छोटा बच्चा पंडुक के पीछे दौड़ा जा रहा है। वे इस डाली से उस डाली पर, इस टीले से उस टीले पर बैठ रहे हैं और वह उनके पीछे बेतहासा भागा जा रहा है !

वह खड़ी होकर उसे पुकारना चाहती थी। कि—

कि उसके पैर लड़खड़ा गये, समूचा शरीर झनझना उठा, उसने पाया, उसे गश आ रहा है, वह गिरने-गिरने को है, झट बैठने का उपक्रम करने लगी।

किन्तु क्या बैठ सकी ? गद्दे पर लुढ़क-सी गई। उसका देवर अलग से देख रहा था, वह दौड़ा, बड़ा लड़का दौड़ा। दोनों नज़दीक आये—भौजी, क्या हुआ ? मैया, क्या हाल ?

उसने आँखे खोली—"कुछ नहीं—ज़रा पानी..........."

काका और भाई को दौड़ते देख, छोटा बच्चा भी पहुँच चुका था। पसीने से तर उस बच्चे को गोद से सटाते हुए, उसने फिर आँखें बन्द कर लीं !

—

गेहूँ और गुलाब

उन हाथों में
जिनकी
हथेलियों में दिमाग़
और
अंगुलियों में आखें
हों
और
जिनकी कलाइयों में
किसी प्रकार
की
जंजीर
न
हो।

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

पुस्तक ★ आन्दोलन

यह पुस्तक है और आन्दोलन भी।

पुस्तक, जिसमें मेरी कुछ नई कृतियाँ संग्रहीत हैं। मुख्यत: शब्दचित्र: जिनके लिए मुझे अनायास प्रसिद्धि प्राप्त हो गई है।

ये शब्दचित्र, पिछले शब्दचित्रों से भिन्न हैं—छोटे, चलते, जीवंत! मैंने कहा—हैंड कैमरा के स्नैपशॉट; आलोचक ने उस दिन डाँटा—हाथीदाँत पर की तस्वीरें!

इतनी हिम्मत नहीं कि आमीन कहूँ। आप ही देखें, दोनों में कौन हैं ये?

और, कुछ अन्य फुटकर चीजें, जिनका वर्गीकरण मैं स्वयं नहीं कर पाता। रचनाकार का यह काम भी नहीं, आलोचक इसे लेकर मग़जपच्ची करें।

यह हुई पुस्तक।

और आन्दोलन—जो हमें भौतिकता की अंधगुफा से उठाकर सांस्कृतिक धरातल की ओर ले जाय।

जो संघर्ष के बीच भी हमें सौन्दर्य देखने की दृष्टि दे।

पैर कीचड़ को ठेलते बढ़ रहे हों, किन्तु आँखें इन्द्रधनुष पर जमी हों।

क्या कहा—पलायनवाद!

अरे, कहीं भागनेवाला भी इतनी दूर देख सकता है, इस तरह देख सकता है?

अपने पैर मैं देख रहा हूँ—ज़रा तुम अपने भी देखो?

कहीं वे ही तो पीछे नहीं भाग रहे हैं!

मेरे नन्हे साथियो, कला के क्षेत्र को वाद-विवादों का अखाड़ा न बनाओ, अपने भीतर की गन्दगी से उसे गन्दा न करो!

सत्य ढूँढ़ो, शिव ढूँढ़ो, सुन्दर ढूँढ़ो।

सुन्दर—यहीं कला अन्य क्षेत्रों से पृथक् होती है!

जो सौन्दर्य देख सके, परख सके, तुम्हें ऐसे नेत्र मिलें, शीघ्र मिलें।

इसी कामना में—

श्रावण, १९५० श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

पुनश्च—

इस नये संस्करण में पाँच चीजें और जोड़ दी गई हैं, जो सर्वथा इसी के योग्य थीं। यह संस्करण अब पहले से अधिक, अपने नाम को सार्थक करता है।

श्रावण, १९५३ श्री रा० बे०



गेहूँ बनाम गुलाब

गहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता हैं।

गेहूँ बड़ा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस ? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस !

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये, क्या पीये ? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाये उससे !

गेहूँ—उसकी भूख का काफला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है। गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ !

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग़ उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए !

बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियों को कहीं कोनें में डाल रखा है, दबा रखा है।

× × ×

किन्तु; चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर? मानव को मानव बनाया गुलाब ने! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरज़ीह दी!

यही नहीं; जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थीं, टँकी थीं।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नही हुआ; उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग की बनाई तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा जा रहा था, तब उसके छप–छप में उसने ताल पाये, तराने छोड़े! बांस से उसने लाठी ही नहीं बनाई, वंशी भी बजाई!

रात का काला-घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी; बल्कि वह आनन्द-विभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः–शनैः प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस-कणों से! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौन्दर्य्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया– इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रंगों में रँग दिया!

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सब से ऊपर! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं हैं! जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की!

गेहूँ की आवश्यकता उसे है; किन्तु, उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की! प्राचीन काल के उपवास, व्रत, तपस्या, आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं!

× × ×

गेहूँ और गुलाब

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का संतुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा !

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गायें चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नज़रें गड़ी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं !

किन्तु, धीरे-धीरे यह संतुलन टूटा !

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़नेवाले, थकानेवाले, उबाने वाले, नारकीय यंत्रणायें देनेवाले श्रम का—उस श्रम का, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज़ का ! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी !

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिये। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश !

वह परम्परा चली आ रही है ! आज चारों ओर महाभारत है, गृहयुद्ध है—सर्वनाश है, महानाश है !

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में; गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालन-कर्त्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर—!

× × ×

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम फिर एक बार संतुलन स्थापित करें !

किन्तु मानव क्या पीछे मुड़ा है; मुड़ सकता है ?

यह महायात्री आगे बढ़ता रहा है, आगे बढ़ता रहेगा !

और क्या नवीन संतुलन चिर-स्थायी हो सकेगा ? क्या इतिहास फिर दुहरकर नही रहेगा ?

नहीं; मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर संतुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं!

अब गुलाव गेहूँ पर विजय प्राप्त करे!

गेहूँ पर गुलाब की विजय--चिर-विजय! अब नये मानव की यह नई आकांक्षा हो!

क्या यह सम्भव है?

बिल्कुल, सोलह आने सम्भव है!

विज्ञान ने बता दिया है--यह गेहूँ क्या है? और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में यह चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहूँत्व क्या है, हम जान गये हैं। यह गेहूँत्व उसमें आता कहाँ से है, हम से यह भी छिपा नही है!

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रक्रिया से पौदों की बालियों में संग्रहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं! उन्हीं तत्वों की कमी, हमारे शरीर में, भूख नाम पाती है!

क्यों पृथ्वी की जुताई, कुड़ाई, गुड़ाई! क्यों आकाश की दुहाई हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्वों को सीधे क्यों नही ग्रहण करें?

यह तो अनहोनी बात--उटोपिया, उटोपिया!

हाँ, यह अनहोनी बात, उटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक विज्ञान संहार-कांड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्यों ही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी!

और; विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है!

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर क़दम बढ़ा भी रहा है!

कम से कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुएँ--हवा, पानी की तरह--इफरात हो जायँ! बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीक़े

निकलते ही जा रहे हैं, जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें !

प्रचुरता––शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले साधनों की प्रचुरता– की ओर आज का मानव प्रधावित हो रहा है !

× × ×

प्रचुरता ?––एक प्रश्न चिह्न !

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है ?

'हमारा सोने का हिन्दोस्तान'––यह गीत गाइए ; किन्तु यह न भूलिए कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी !

राक्षसता––जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी; जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे, जो छः महीने सोती थी; जिसे दूसरे की वहू-वेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी।

गेहूँ वड़ा प्रवल है––वह वहुत दिनों तक हमें शरीर का ग़ुलाम वनाकर रखना चाहेगा ! पेट की क्षुधा शान्त कीजिए, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रत कर आप को वहुत दिनों तक तवाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय ?

अपनी वृत्तियों को वश में करनें के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय वताता है––इन्द्रियों के संयमन का और वृत्तियों के उन्नयन का !

संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनी देते आये हैं। किन्तु, इसके वुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं––वड़े-वड़े तपस्वियों की लम्वी-लम्वी तपस्याएँ एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गईं !

आज भी देखिए। गाँधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलनेवाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं !

इसलिए उपाय एकमात्र है––वृत्तियों के उन्नयन का !

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिए !

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाब की !

गेहूँ के बाद गुलाब—बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं !

× × ×

गेहूँ की दुनिया खत्म होने जा रही है—वह स्थूल दुनिया, जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छाई हुई है !

जो आर्थिक रूप में रक्त पीती रही है; राजनीतिक रूप में रक्त की धारा बहाती रही है !

अब वह दुनिया आनेवाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगे !

गुलाब की दुनिया—मानस का संसार—सांस्कृतिक जगत्।

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की ज़ंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बसायेंगे !

जब गेहूँ से हमारा पिंड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे !

गुलाब की दुनिया—रंगों की दुनिया, सुगंधों की दुनिया !

भौंरे नाच रहे, गूँज रहे; फुलसुँघनी फुदक रही, चहक रही !

नृत्य, गीत—आनन्द, उछाह !

कहीं गन्दगी नहीं; कहीं कुरूपता नहीं ! आँगन में गुलाब; खेतों में गुलाब ! गालों पर गुलाब खिल रहे; आँखों से गुलाब झाँक रहा !

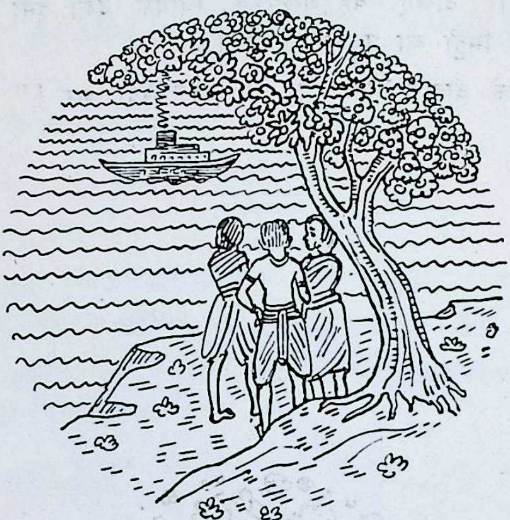
जब सारा मानव-जीवन रंगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा !

वह दिन कब आयगा ?

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे? कैसी आँखे हैं आपकी! शायद उनपर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वह अलौकिक, स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही!

"शौके दीदार अगर है, तो नज़र पैदा कर!"





जहाज जा रहा है

खड़खड़-खड़खड़, धमधम-धमधम– गंगा में यह जहाज चला जा रहा है।

सामने कुछ बच्चे, किनारे पर खड़े, उत्सुकता से एक-एक यात्री को पहचानने की कोशिश में हैं। उस बँगले में, कुछ बाबू इज़ीचेयर पर बैठे, सिगार का धुआँ उड़ा रहे हैं। घाट पर स्नानार्थियों की भीड़ है और गंगा में यह जहाज चला जा रहा है।

कब से यह पीपल का पेड़ किनारे पर खड़ा है? उसकी जड़ों को गंगा माई कब से धोती आई हैं? उसके पत्तों को मेघ ने अभी-अभी धो डाला है और अब हवा उन्हें दुलरा रही है। उसके नीचे मिट्टी के देवता हैं जिन पर पड़े फूल, अच्छत और सिन्दूर यहाँ से ही दिखाई पड़ते हैं। हनुमान जी की लम्बी ध्वजा, सघन पत्तों में, न जाने कहाँ छिप गई है। एक बूढ़ा ब्राह्मण थरथर काँपता, होंठ बुदबुदाता, पीपल की जड़ पर पानी दे रहा है और यह जहाज गंगा में चला जा रहा है।

पानी में हिलकोरे हैं, गिर्दाव हैं, फेन हैं, तिनके हैं, और यह जहाज मस्ती में चला जा रहा है।

वह दो मछुए नाव पर मछली मार रहे हैं– एक की कमर में लाल लंगोट और सिर में उजला अँगोछ लिपटा; दूसरे की कमर में उजला लंगोट, लेकिन सिर पर लाल अँगोछ। जाल को पानी से बाहरकर झाड़ रहे हैं दोनों। छोटी-बड़ी मछलियाँ जाल के बीच में सिमटती जा रही हैं। किन्तु; यह क्या? एक बड़ी मछली जाल से उछली, हवा में तैरती-सी पानी में छप-सी जा गिरी और यह जहाज अपनी ही गति में हड़हड़ करता बढ़ता जा रहा है।

सामने वह ऊँचा गोलघर का मुँड़ेरा है और दूसरी ओर बनवार चक के लम्बे-लम्बे ताड़ हैं। एक ओर अट्टालिकाओं की चमकती पाँतें, दूसरी ओर ऊँघते-से झोपड़े! एक ओर पुख्ता ईंटों की बनी शानदार सीढ़ियाँ, दूसरी ओर कटे खेत, उजड़े गांव, गिरे-अधगिरे घर! ऊपर धुआँ बादल बनाता चल रहा है और नीचे यह जहाज जा रहा है।

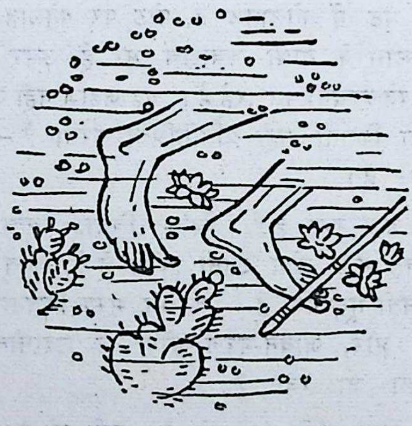
जहाज के पेट में कोलाहल है, पीठ पर कोलाहल है। निचले हिस्से में थर्ड क्लास के यात्री खचाखच भरे हैं, ऊपर डेक पर कुछ सुफेदपोश बाबू चहलकदमी कर रहे हैं। यह जहाज नहीं जानता कि वह हमारे समाज का कितना सही प्रतिनिधित्व करता है,– वह तो बढ़ा चला जा रहा है।

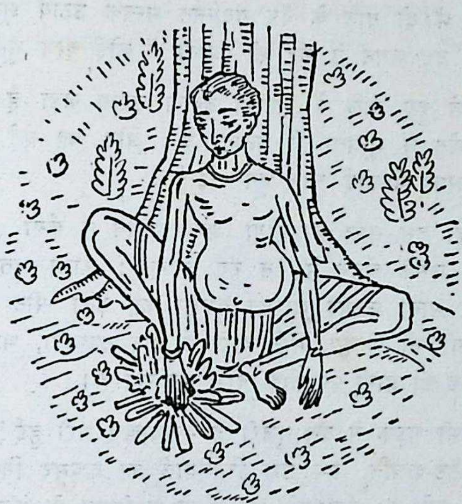
यह क्या जल रही है? चिता, चिता, चिता? हाँ, तीन चितायें एक पंक्ति में! लोग इतना मरते हैं? किन्तु, शायद आप जीवितों की गिनती भूल गये हैं! तो भी मरण कितना निठुर, जीवन कितना मधुर! और, जीवन-मरण दोनों से उदासीन वीतराग-सा यह जहाज चला जा रहा है!

उफ, यह लाश भँसी जा रही है। स्त्री की है। बड़े-बड़े बाल पानी पर लहरा रहे हैं। पेट के बल पड़ी है; पीठ और कमर के नीचे के कुछ भाग रह रहकर ऊपर हो रहे हैं। सुफेद-सुफेद चमड़ी! एक कौआ उस पर बैठने के लिए हवा में पर तोल रहा है। वह लपका, वह बैठा, वह चोंच चलाई– वीभत्स!! और वह देखिए, पानी भरने को काँख में कलसी लिये, तुरत आई वह युवती किस भय-त्रस्त दृष्टि से यह देख रही है! अच्छा है, जहाज तेजी से आगे बढ़ा जा रहा है।

पुरवा हवा उठी– नजदीक के पड़ाव से नावों की एक लम्बी पाँत पाल उड़ाती रवाना हुई। माँझी डोर पकड़े, पाल की दिशा स्थिर कर रहे हैं; तरंगों को कुचलती, चीरती ये नावें जैसे फुर्र-फुर्र उड़ी जा रही हैं, और उनकी क्षिप्र गति से हतप्रभ हमारा यह विशाल जहाज मन्थर गति से भँसा जा रहा है।

यह जहाज कहाँ जा रहा है? हम कहाँ जा रहे हैं? यह गंगा कहाँ जा रही है? ये नावें कहाँ जा रहीं हैं? वह लाश कहाँ गई? जगत्याम् जगत् है यह; सब में गति है, सब को चलना है, बढ़ना है, जाना है। हमारा जहाज भी जा रहा है, जा रहा है।





चरवाहा

और, वह कंडे की आगी में कोई चीज़ भून रहा है !

सामने तीन बकरियाँ, जिनमें से एक के मोटे थन से एक पठेरू लटक रही; थोड़ी दूर पर एक गाय चर रही और एक बछवा गर्दन को पेट में घुसेड़े सो रहा; दाहिनी ओर एक बुढ़िया घास छील रही; और, वह कंडे की आगी में कोई चीज़ भून रहा है !

पूरबा हवा आग की धधक को रह रह कर बढ़ा देती है; वह लकड़ी से कंडे पर रखी चीज़ को उलट पुलट देता है; आग की दहक से चेहरा झुलस रहा है उसका; लेकिन उस पर उल्लास-ही-उल्लास नाच उठता है रह-रह ! वह बड़े प्रेम से कंडे की आगी में कोई चीज़ भून रहा है जो !

दूर पर कई खेतों में हल चलाये जा रहे हैं और ढोरों का एक बड़ा झुंड, ऊपरली परती में चर रहा है; नदी कछार के झौए के बन में,

हिलोर है, हहास है। अभी एक बटेर फुर से उड़ गई है हवा को तेज पंखों की आरी से चीरती-सी ; गाँव की धुँधली छाया की पृष्ठभूमि में दो ताड़ के पेड़ गर्वोन्नत मस्तक उठाये झूम रहे हैं; और वह बड़े जतन से कंडे की आगी में कोई चीज़ भून रहा है।

सूखे हुए नाले में एकाकी बगुला उदास खड़ा है। कटे हुए गेहूँ के खेत में शून्यता ही शून्यता है ; और, वह बड़े आनन्द से कंडे की आगी में कोई चीज़ भून रहा है !

यही दस साल का होगा वह। प्रकृति ने कैसा क्रूर मज़ाक किया है उसके चेहरे से– न रंग न रूप ; काला भूत ! निकला हुआ पेट मानो उसकी शाश्वत बुभूक्षा का डंका पीट रहा है ! सूखी टाँगों को फैलाये, मोटे होठों से लार टपकाता, भद्दी उँगलियों से वह कंडे की आगी पर कोई चीज़ भून रहा है।

अभी सड़क से बस गुज़री है––खचाखच भरी हुई ! एक भारी भरकम सेठ-दम्पति, कम उम्र रिक्शेवाले का कचूमर निकालते, वह चले जा रहे हैं। बैलगाड़ी पर ऊँघते गाड़ीवान के मुँह से बिरहा की कड़ी टूट-टूट कर रह जाती है। सड़क पर इतने लोग क्यों .चलते हैं और सबके पैर इतनी तेज़ी से क्यों उठा करते हैं ? क्या शहर में लड्डू बँटते हैं ? बँटा करें––वह तो कंडे की आगी पर कोई चीज़ भूनने में ही मगन है ?

चीज़ शायद भुन गई। लार पतली होकर चू-चू पड़ती है। कंडे से निकली चीज़ को वह तलहथी पर लेता है––तलहथी जल रही है; किन्तु, इस नायाब चीज़ को फेंके कैसे ? चट मुँह में रख लेता है। किन्तु, इतनी गर्मी जीभ को भी बर्दास्त नहीं ! दो-एक बार मुँह खोल कर, हवा लेने की कोशिश करता है; किन्तु कंडे की आगी में भुनी हुई चीज़ की आग कम नहीं हो रही ! क्या थूक दे ? नहीं, नहीं––यह भूल उससे नहीं होगी ! वह निगलने कोशिश कर रहा है !

काली पेशानी पर पसीना-पसीना है; साँस फूल रही है, कंठ झुलस रहा है ; नाक में सोंधी गन्ध है, कान में साँय-साँय आवाज़ ! जीभ का पानी कहाँ सूख गया कमबख्त ? वह निगले तो कैसे––उगले तो कैसे ? आँखों में अब पानी-पानी है––यह पानी जीभ पर क्यों नही आता ?

अभी-अभी एक चील सर के ऊपर मँड़राकर चली गई है और दो कौवे उसके सामने काँव-काँव करते, अपनी हिस्सेदारी की याद उसे दिला रहे हैं; और वह कंडे की आगी में भुनी हुई उस नायाब चीज़ को जैसे-तैसे निगलकर कैसी तृप्ति की साँस ले रहा है!





फुलसुँघनी

अरे रे, यह कौन गेंदे का बाग़ उजाड़ रही है !

गेंदा– क्या इसमें सिर्फ गोलाई है जो इसका नाम 'गेंद" के वजन पर 'गेंदा' रख दिया गया ? इससे तो इसका अँग्रेजी नाम अच्छा– 'मेरी गोल्ड' ! आनन्द भी, सोना भी।

किन्तु, कौन है यह– जो मेरे सोने को धूल में मिलाये जा रही है ?

गेंदे का यह छोटा-सा झाड़, बिल्कुल फूलों से लदा। कहीं पत्तियाँ भी आप नहीं पावेंगे। सोने की शतशः गेंदे आप से आप उछल रही हैं, लुढ़क रही हैं, नाच रही हैं— हवा के एक छोटे-से झोंके के इशारे पर !

अरे, यह कौन उसका सर्वनाश कर रही है ?

कहीं से फुलसुंघनी का एक जोड़ा आ पहुँचा। फुलसुंघनी के जोड़े को कभी देखा है आपने ?

एक इंच से भी छोटी, वज़न में शायद एक बड़े पतंगे के बराबर—– यह छोटी-सी काली-काली चिड़िया अपने में कितनी उमंग रखती है ! पन्न-पन्न करती, हर सेकेंड पर अपनी गति बदलती, छोटी चोंच से सुरीली चें-चें करती, ज्यों ही फूल देखा कि टूट पड़ी उस पर ! अपनी चोंच से पंखुड़ियों की जड़ पकड़कर एक झटका देती है, उनका रस पी लेती है, फिर गिरा देती है। देखिए न, आपके देखते-देखते एक पूरे फूल की पंखुड़ियाँ नोच डालीं इस जोड़े ने।

गेंदे के झाड़ के नीचे पीली-पीली, सुनहली-सुनहली पंखुड़ियों का अम्बार-सा लगता जाता है।

× × ×

अब शायद दोनों के पेट भर गये। दोनों उड़ीं– एक हल्की सी फुर्र ! विलायती मटर को सहारा देने के लिये खड़ी की गई कमाची पर जा बैठीं दोनों। सट-सटकर ! दो–एक बार चोंच से पाँखें खुजलाईं। भोर के सूरज की किरणों में इनकी गहरी काली पाँखें किस तरह चमक रही हैं—इन्द्रधनुषी हो रही हैं !

एक उड़ी– एक हल्की-सी चें-चें के साथ ! दूसरे ने अनुमान किया– सुबुक फुर्र के स्वर में।

चें-चें ! फुलसँघनी के जोड़े हवा को तरंगित करते उड़े जा जा रहे हैं– फुर्र फुर्र !

मेरे गेंदे के बाग़ को सर्वनाश में मिलाकर, फुलसुँघनी के जोड़े, वह देखिए, उड़े जा रहे हैं !





तितलियाँ

समूचा पार्क मुखरित हो गया !

दो तितलियाँ आईं और सारा पार्क रंगीन, रसमय, उच्छवसित और मुखरित हो उठा।

तितलियाँ दूब पर दौड़ीं, फूलों को चूमा, बेंच पर बैठीं, कुछ गुनगुनाईं, फुसफुसाईं, इधर-उधर नज़रें दौड़ाईं—

सारी आँखें उनकी तरफ !

छाती फूल उठी, साँस ज़ोर से आने लगी; ओ हो, सारी आँखें मेरी ओर ! दोनों ने अलग-अलग यही सोचा !

लीली, ज़रा यह तो देखो !

शबनम, ज़रा सुनो तो !

एक के अधर दूसरे के गाल के नजदीक ! कान-कान में कुछ कहा गया—

क्या कहा गया ?

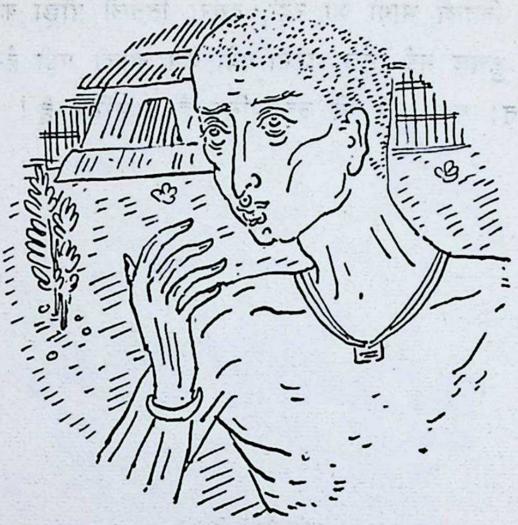
धत्त.............

एक तितली भागी जा रही, दूसरी तितली पीछा कर रही ।

दूब कुचल गई, फूल शरमा गये, बेंच खाली पड़ी है—

किन्तु; पार्क अब भी उच्छ्वसित है, मुखरित है !





नथुनिया

'यह क्या खा रहा है रे ?'

सिर के मुँड़े हुए छोटे-छोटे बालों के रंग से चेहरे का रंग प्रतियोगिता करता हुआ। बालों ने चारों ओर से जिसपर मुदाख़लत-बेजा कर रखी है, वह छोटा-सा ललाट, चिपटा-सा। ललाट की कालिमा में पतली भौंओं की रेखा खोई-खोई-सी। छोटी-छोटी आँखें—जिनका पीला रंग राजेन्द्र बाबू की आँखों की याद दिलाता है। आँखों के चारों कोरकों पर पीली-पीली घिनौनी कीचड़। गाल की हड्डियाँ उभड़ीं। नाक का नुकीला अग्रभाग पतले अधरों को ढँकता-सा। इस नाक में प्रसूतिगृह में ही, बूढी दादी ने पीतल की एक नथुनी डाल दी थी– कहीं उसके इस पितृहीन एकलौते पोते को डायन-जोगन की नज़र न लग जाय।

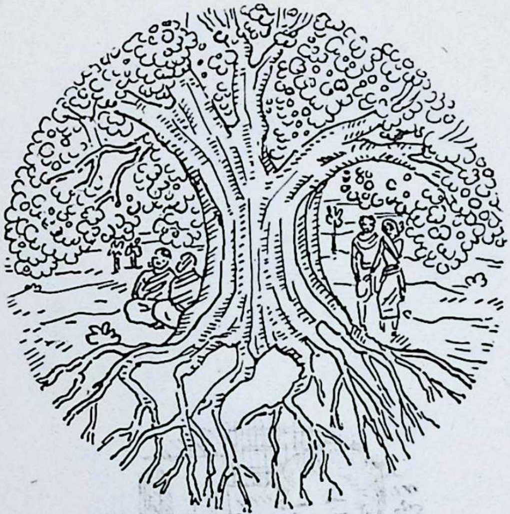
'यह क्या खा रहा है रे ?'

सुनकर मेरी ओर ताका– दस गर्मी, जाड़ा, बरसात की झुलस, हड़कम्प और झकोरे का मारा उसका चेहरा खिलता-सा नज़र आया!

बड़े फ़ख्र से हाथ के टुकड़े को मुँह में डालता हुआ वह भारी आवाज़ में बोला–

'मक्के की रोटी है, बाबू !'





नींव की ईंट

वह जो चमकीली, सुन्दर, सुघड़ इमारत है; वह किस पर टिकी है? इसके कंगूरों को आप देखा करते हैं, क्या कभी आपने इसकी नींव की ओर भी ध्यान दिया है?

दुनिया चकमक देखती है, ऊपर का आवरण देखती है; आवरण के नीचे जो ठोस सत्य है, उस पर कितने लोगों का ध्यान जाता है?

ठोस 'सत्य' सदा 'शिवम्' होता ही है; किन्तु वह हमेशा ही 'सुन्दरम्' भी हो, यह आवश्यक नहीं।

सत्य कठोर होता है; कठोरता और भद्दापन साथ-साथ जन्मा करते हैं, जीआ करते हैं।

हम कठोरता से भागते हैं, भद्देपन से मुख मोड़ते हैं– इसीलिए सत्य से भी भागते हैं।

नहीं तो, हम इमारत के गीत, नींव के गीत से प्रारम्भ करते।

वह ईंट धन्य है, जो कट-छँटकर कंगूरे पर चढ़ती है और बर-

बस लोक-लोचनों को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

किन्तु, धन्य है वह ईंट, जो ज़मीन के सात हाथ नीचे जाकर गड़ गई और इमारत की पतली ईंट बनी !

क्योंकि इसी पहली ईंट पर उसकी मज़बूती और पुख्तेपन पर सारी इमारत की अस्ति-नास्ति निर्भर करती है।

उस ईंट को हिला दीजिए, कंगूरा बेतहाशा ज़मीन पर आ रहेगा।

× × ×

कँगूरे के गीत गानेवाले हम; आइए, अब नींव के गीत गायें!

वह ईंट जो जमीन में इसलिए गड़ गई कि दुनिया को इमारत मिले, कंगूरा मिले !

वह ईंट, जो सब ईंटों से ज़्यादा पक्की थी, जो ऊपर लगी होती, तो कंगूरे की शोभा सौगुनी कर देती !

किन्तु, जिसने देखा, इमारत की पायदारी उसकी नींव पर मुन-हसिर होती है; इसलिए उसने अपने को नींव में अर्पित किया।

वह ईंट, जिसने अपने को सात हाथ ज़मीन के अन्दर इसलिए गाड़ दिया कि इमारत ज़मीन के सौ हाथ ऊपर तक जा सके।

वह ईंट, जिसने अपने लिए अन्धकूप इसलिए कबूल किया कि ऊपर के उसके साथियों को स्वच्छ हवा मिलती रहे, सुनहली रोशनी मिलती रहे।

वह ईंट, जिसने अपना अस्तित्व इसलिए विलीन कर दिया कि संसार एक सुन्दर सृष्टि देखे।

× × ×

सुन्दर सृष्टि ! सुन्दर सृष्टि, हमेशा ही बलिदान खोजती है, बलिदान ईंट का हो या व्यक्ति का !

सुन्दर इमारत बने, इसलिए कुछ पक्की-पक्की लाल ईंटों को चुपचाप नींव में जाना है।

सुन्दर समाज बने, इसलिए कुछ तपे-तपाये लोगों को मौन-मूक शहादत का लाल सेहरा पहनना है।

शहादत और मौन-मूक ! जिस शहादत को शुहरत मिली, जिस बलिदान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई, वह इमारत का कंगूरा है—मन्दिर का कलश है !

हाँ, शहादत और मौन मूक ! समाज की आधारशिला यही होती है।

ईसा की शहादत ने ईसाई-धर्म को अमर बना दिया, आप कह लीजिए ! किन्तु, मेरी समझ से, ईसाई-धर्म को अमर बनाया उन लोगों ने, जो उस धर्म के प्रचार में अपने को अनाम उत्सर्ग कर दिया !

उनमें से कितने ज़िन्दा जलाये गये, कितने शूली पर चढाये गये; कितने रनबन की खाक छानते जंगली जानवरों के शिकार हुए, कितने उससे भी भयानक जन्तु भूख-प्यास के शिकार हुए।

उनके नाम शायद ही कहीं लिखे गये हों--उनकी चर्चा शायद ही कहीं होती हो।

किन्तु, ईसाई-धर्म उन्हीं के पुण्य-प्रताप से फल-फूल रहा है !

वे नींव की ईंट थे, गिरिजा घर के कलश उन्हीं की शहादत से चमकते हैं !

आज हमारा देश आज़ाद हुआ सिर्फ उनके बलिदानों के कारण नहीं, जिन्होंने इतिहास में स्थान पा लिया है !

देश का शायद ही कोई ऐसा कोना हो, जहाँ कुछ ऐसे दधीचि नहीं हुए हों, जिनकी हड्डियों के दान ने ही विदेशी वृत्रासुर का नाश किया !

हम जिसे देख नहीं सकें, वह सत्य नहीं है, यह है मूढ़ धारणा ! ढूंढने से ही सत्य मिलता है ! हमारा काम है, धर्म है, ऐसी नींव की ईंटों की ओर ध्यान देना !

× × ×

सदियों के बाद नये समाज की सृष्टि की ओर हमने पहला क़दम बढ़ाया है !

इस नये समाज के निर्माण के लिए भी हमें नींव की ईंट चाहिए।

अफसोस, कंगूरा बनने के लिए चारों ओर होड़ाहोड़ी मची है, नींव की ईंट बनने की कामना लुप्त हो रही है !

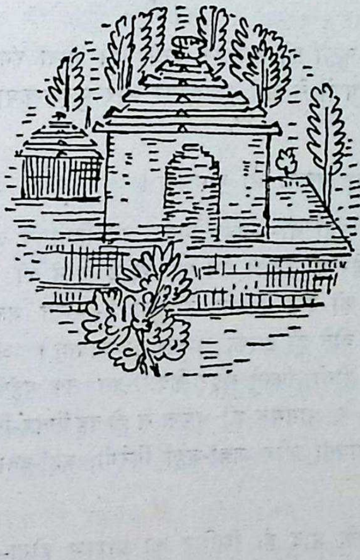
सात लाख गाँवों का नव निर्माण! हजारों शहरों और कारख़ानों का नव निर्माण! कोई शासक इसे सम्भव कर नहीं सकता! ज़रूरत है ऐसे नौजवानों की, जो इस काम में अपने को चुपचाप खपा दें!

जो एक नई प्रेरणा से अनुप्राणित हों, एक नई चेतना से अभिभूत; जो शाबासियों से दूर हों, दलबन्दियों से अलग।

जिनमें कंगूरा बनने की कामना न हो, कलश कहलाने की जिनमें वासना न हो। सभी कामनाओं से दूर — सभी वासनाओं से दूर।

उदय के लिए आतुर हमारा समाज चिल्ला रहा है—हमारी नींव की ईंटें किधर हैं?

देश के नौजवानों को यह चुनौती है!





गेंदा

उस दिन फूलों की मजलिस जुटी थी। नाना रंग, नाना ढंग के सुवासित वस्त्राभूषणों से सजे पुष्पकुमार और कुसुम-कुमारियाँ एकत्र हुई थीं।

एक गम्भीर सवाल आ गया था।

हेमन्त आ रहा था—वही हेमन्त, जब हिमालय अपनी हिम-सेना को हर शाम कुबेर के कदली बन पर चढ़ाई करने को रवाना करेगा। किन्तु इस सेना को इन्द्र ने शाप दे रखा है—रात भर ये जहाँ तक वढ़ें, किन्तु भोर होते ही इनका ख़ात्मा हो जायगा। अत: एक-पर-एक सेना रवाना तो होगी, किन्तु सुदूर केदली-बन तक पहुँच नहीं पायगी। रास्ते में ही सूर्य के आगमन की धमक से ही वह तितर-बितर हो जायगी, धराशायी हो जायगी और जहाँ-जहाँ गिरेगी, वहाँ-वहाँ कयामत बरपा करेगी।

और, इसके बाद ही शिशिर का प्रारम्भ होगा—वही शिशिर, जिसमे पछवा हवा इस जोर से बहेगी कि वनदेवी की श्यामल साड़ी के

तार-तार उड़ जायँगे, फिर रंगीनियों की क्या चर्चा? जगत निरानन्द, निस्पन्द और नीरस हो जायगा।

सवाल था, इस निष्ठुर हेमन्त में, इस दारुण शिशिर में क्या पृथ्वी पुष्प-शून्य रहेगी? क्या ऐसा होना पुष्प-कुल के लिए शोभनीय होगा? पुष्पकुल--जिसकी रचना करके विधाता ने भी अपने को धन्य माना था। इस कुल को उसने क्या-क्या न दिये--यह रूप, यह रंग, यह गंध! सृष्टि में बहार उसी दिन आई, जीवन में यौवन उसी दिन आया।

पुष्पराज ने कहा-- "कुमारियो, कुमारो, आपलोग किसलिए एकत्र हुए हैं, आप को ज्ञात तो हो चुका होगा। अब मैं जानना चाहता हूँ, हममें से कौन वह बड़भागी है, जो इस गाढ़े अवसर पर पुष्पकुल की मर्यादा रखेगा?"

सन्नाटा– तनिक कुलबुलाहट नहीं, ज़रा हिल-डुल तक नहीं।

जो पुष्पकुल के रत्न-रूप थे, उनकी ओर लोग एकटक देखने लगे।

यह हैं कमल-- पुष्पकुल के सर्वश्रेष्ठ पुत्र, जिनकी कीर्त्ति-कथा गातेगाते कवि-कुल की वाणी नहीं थकती! यह हैं गुलाब-- कमल के छोटे भाई, किन्तु उनसे भी ज्यादा जन-प्रिय, बहु-प्रशंसित! यह हैं चम्पा रानी, जिनका रंग देख-देख संसार की कामिनियाँ अपनी हीनता अनुभव करती हैं।

यह हैं जूही देवी--जिनकी सादगी पर दुनिया मरती है! बेला, चमेली, गुलदाउदी, गुलसब्बो-- कौन कौन न हैं? लोगों की आँखें हिम्मत से इनकी ओर लगी थीं। उमीद थी, ये लोग आगे बढ़ कर अपने साहस, सबको चकित कर देंगे।

किन्तु, यह क्या? कमलदेव एक चुल्लू पानी की तलाश में हैं, गुलाबजी अपने को काँटों में छिपाने की कोशिश कर रहे हैं, चम्पारानी के मुँह का रंग उड़ता जा रहा है, जूही देवी शरम से सिहर-सी उठी हैं। जब बड़ों की यह हालत, तो छोटों की कौन बात?

सन्नाटा– अब यह श्मशान का सन्नाटा था?

पुष्पराज ने कहा-- "शर्म की बात है। डूब मरने की बात है। उस कुल को पृथ्वी में रहने का कोई हक़ नहीं, जो इस प्रकार नपुंसकता

दिखलाये। जिस वंश के लोग केवल बगीचे खोजें, रंगमहल खोजें या हरे जंगल का नग्न श्रृंगार खोंजें, वह वंश दुनिया में टिक नहीं सकता। पुष्प-कुमारो, कुसुम-कुमारियो, आज आपने वह काम किया है, जिसके लिए आपका नाम इतिहास में सदा कोयले के हरूफों में लिखा जायगा।" ....

सब सुन कर गड़े जा रहे थे– शर्म से, आत्मग्लानि से। उसी समय एक तरफ़ से आवाज़ आई– "इस तरह मत बोलिए पुष्पराज, पुष्पकुल में केवल नाज़नीन छोकरियाँ और नाजुक बदन अलबेले ही नहीं रहते।"

सब लोगों ने उत्सुकता से उसकी ओर देखा – एक दुबला-पतला नौजवान, जिसके चेहरे पर पीलापन छाया हुआ है, उठकर खड़ा है– गर्व से उसकी छाती उभड़ आई है।

उसने कहना जारी रखा–

"मैं तैयार हूँ, हेमन्त से मुकाबला करने को, शिशिर की चुनौती स्वीकार करने को।

"मैं जानता हूँ, कमलदेव ऐसी न तो मुझे देवोपम पवित्रता मिली है और न गुलावजी ऐसी सर्वप्रियता; चम्पारानी का रंग और जूही देवी की मुग्धकर सादगी भी मुझे प्राप्त नहीं; न और भाई-बहनों की तरह मुझमें मनोमुग्धकर रूपरंग या मादक-मोहक गन्ध है– किन्तु एक बात का दावा मैं कर सकता हूँ, वह है बलिदान करने की भावना। और, यदि उसकी क़ीमत है, तो भले ही इस मुक़ाबिले में मैं शहीद भी हो जाऊँ, मेरा नाम अमर रहेगा। और कुछ नहीं, तो कम-से-कम कोई यह तो नहीं कहेगा कि पुष्पकुल में एक भी ऐसा नहीं निकला, जो अपने को वलि चढ़ा देने की जुर्रत भी करता।"

उसके ज़र्द चेहरे पर अभिमान की लाली थी।

समूची मजलिस में जय-ध्वनि होने लगी।

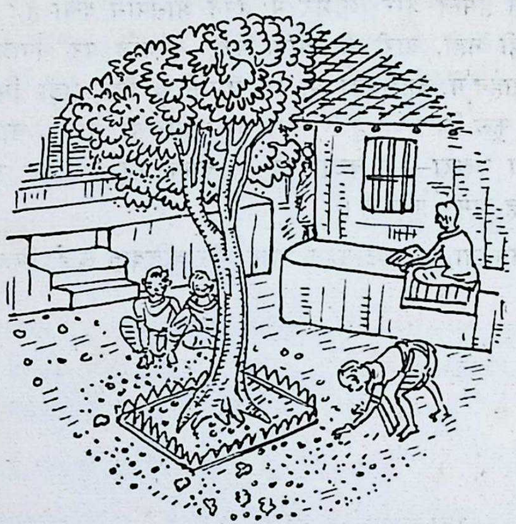
पुष्पराज ने कहा– "बेटा आओ, मैं तुम्हें गले से लगा लूँ। तुम हमारे कुल का अभिमान हो। और यह क्या कहते हो कि तुम्हारा नाश होगा? अरे, कहीं बलिदानी आत्मा का नाश होता है? निश्चय जानो, जब तक यह पृथ्वी है, तुम अजर-अमर रहोगे, कोई तुम्हारा बाल बाँका नहीं कर सकता!"

वह कौन था ?

आपने हेमन्त और शिशिर में अपने आसपास देखा है ? —आपके बगीचे में ही नहीं, बारी में, आरी पर; दरवाज़े पर, पिछवाड़े में; आँगन में, सहन में, जहाँ-जहाँ भी जड़ जमाने के लिए थोड़ी मिट्टी मिल गई है, कुछ फूल खिल रहे हैं ! चाहे बरफ गिरे या पाला, चाहे पछवा हवा बहे या उत्तरा—वे चटक रहे हैं, चमक रहे हैं। हम उन्हें गेंदा कहते हैं, वह अमर फूल है।

वह अमरता, जो कष्ट-सहन, त्याग और बलिदान से ही मिलती है !





हरसिंगार

मेरे आँगन के एक कोने में एक छोटी-सी विटपी है—ऊँचाई में मुझ से कुछ ही बड़ी।

शरद आते ही वह कलियों से लद जाती है। सन्ध्या हुई कि एक उन्मादनी सुरभि से मेरा आँगन गमगमा उठता है।

जव निशीथ में अपनी पिछली खिड़कियाँ खोलकर मैं शरच्चन्द्र की छटा, बिछावन पर लेटे ही लेटे देखा करता—

[चाँदनी रात में टहलना कितना अमधुर विचार! चाँदनी का संदेश जागरण नहीं, स्वप्न है; चेतना नहीं, तन्द्रा है। लेट जाओ, सो जाओ, चन्द्रमा को देखते-देखते। फिर चन्द्रपुरी का वह स्वप्न देखो—चन्द्र धनुष पर वाण चढ़ाये मृग का पीछा कर रहा है; रोहणी मंत्र-मुग्ध-सी उसके पीछे-पीछे चली जा रही है और दोनों के पीछे किसी अशरीरी का कुसुम-धनुष है!]

—तब, आँगन से जब-तब, आनेवाले हौले टप-टप शब्द से मेरे रोये खड़े हो जाते हैं।

फिर जागते हुए, सोते-से और सोतेहुए जागते–से—निद्रा और जागृति की आँख-मिचौनी में—जब मुझे पिछले पहर की शीतल शरद-समीर गुदगुदा कर जगा देती है और मैं चाँदनी की रजतिमा में स्वर्णिमा का सम्मिश्रण पाता हूँ, तब मेरे कानों में अनवरत वर्षा के-से रिमझिम शब्द सुनाई पड़ने लगते हैं।

मैं जानता हूँ, वह क्या बरस रहा है?

अपने सौरभ में आप ही व्याकुल, मेरे आँगन की यह छोटी विटपी, अपने हृदय के सारे बोझीले भार को, सूर्योदय के पहले ही हलका कर देना चाहती है, जिसमें लोक-लोचन उसके इस अछूते संसार को नज़र न लगा दें।

× × ×

समूचे थाल में उजली-उजली खीलें बिखरी हैं, जिसकी जड़ों में लालिमा चमक रही है।

(लाली जिसकी जड़ में हो, वह उजलापन! रक्तदान से ओत-प्रोत उज्वल बलिदान)

जब दुनिया अपनी सारी लाली बाज़ार में बेचने को उतावली है, यह उसे छिपा रखने की चेष्टा करती है!

× × ×

गाँव भर की बच्चियों की भीड़ आज मेरे आँगन में लगी हुई है। आज मेरे आँगन में फूलों की हाट सज रही है।

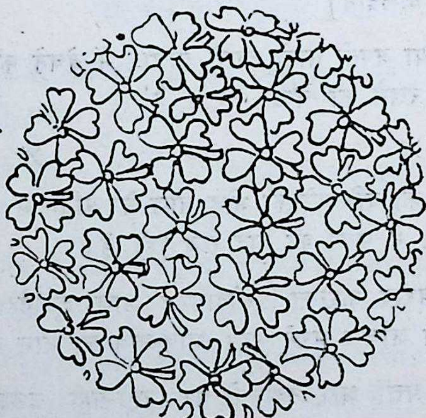
अजीब ख़रीद फरोख़्त! सौदागरन आज लुटाने पर तुली है, भोली ख़रीदारन आँचल भरने पर। भाव-साव का नाम नहीं।

जब-तब पत्तों और टहनियों पर रही-सही उलझी बची-खुची अपनी दो-चार पंखरियों को इनपर गिरा कर यह विटपी जैसे सिहर-सी उठती है।

(क्या इन बच्चियों के भावी जीवन की याद कर, जब कि यह भी रात भर के आदर और उपहार की चीज़ समझी जायँगी और दिन-भर उपेक्षा और अवहेला की शिकार! जिनकी बलिदान की उज्ज्वलता, हृदय-दान की लालिमा के साथ रहने पर भी निष्ठुर पुरुष-समाज से स्वीकृति या उपहार न पा सकेंगी!)

जिस समय कि दूसरे पुष्प अपने हृदय खोलने की तैयारी में होते हैं, उससे पहले ही जो अपने को लुटा देती है; जब तक कि किसी लोलुप भौंरे का चपल स्पर्श इसे चंचल न करे, तभी जो अपने को बलिवेदी पर चढ़ा देती है; अपने क्षणभंगुर जीवन को माली की डाली की चीज़ न बना कर जो शिशुओं के अंचल की निधि बना देती है– ऐसी इस विटपी को देख कर मैं सिहर उठता हूँ।

मेरी आँखों से भी हरसिंगार के फूल, जब तब, झड़ पड़ते हैं। कौन बतावे, इनकी जड़ में लाली है कि नहीं? ये सूखी सहानुभूति से निकलते हैं या हार्दिक समवेदना से?





गुलाब

फूलों का राजा ?– गुलाब ! अब तो यह बात दुनिया भर ने मंज़ूर कर ली है।

राजा– रंग से, रूप से, गंध से।'

हल्का-हल्का नेत्ररंजक रंग– गोल-गोल, उभरा-भरा आकार,– मीठी-मीठी, एक ही झोंके में दिमाग़ को मुअत्तर करनेवाली गंध । गुलाब की छाया भी छू सके– ऐसा कौन है फूल ?

किन्तु, क्या गुलाब केवल अपने इन्हीं गुणों से राजा है। रूप-रंग गुण-गंध क्या येही वे चीजें हैं, जो आदमी को राजा बना देती हैं ?

मैं एक दिन भोर-भोर उठा। 'चला पार्क की ओर । सोचा, मैं आज गुलाब ही से पूछूँगा; किन्तु यह तो कलजुग है—फूल तो सतजुग में बातें करते थे—मस्तिष्क ने यह तर्क किया। किन्तु हृदय ने पैरों को घसीटे पार्क में पहुँचाया।

अभी पार्क में कोई आया न था। बाग़बाँ अपनी झोपड़ी में खुर्राटे

ले रहा था—भोर की मादक वासंती हवा मानों उसे थपकियां दे रही थीं। शहर के अल्हड़ टहलनेवाले—और टहलनेवालियाँ भी,—अपने-अपने आराम-गाहों में शायद अबतक इसी वागबाँ के अध्याय को दुहरा रहे थे।

ओस-विन्दु जिसके हर दल पर क्रीड़ा कर रहे थे, ऐसे एक ताज़े खिले गुलाब के फूल के निकट में जा बैठा। बैठने से पहले श्रद्धा- भक्ति-युक्त तीन बार उसकी प्रदक्षिणा कर ली। प्रणाम किया——उसके चरणों की रज उठाकर मस्तक पर चढ़ाई, ओस का एक कण आँखों में लगाया। अकस्मात् पाता हूँ, गुलाब बोल रहा है——

"मैं समझ गया। तुम्हारा सवाल सही है, दुरुस्त है।

अगर रूप की बात लो, तो दुनिया में कमल से बढ़कर कौन खूबसूरत है। अगर रंग देखना चाहो, गुलदाउदी को लो। रजनीगंधा की कौन बात—भोली जूही अपनी गंध से मुझे बार—वार पराजित कर सकती है।

किन्तु, तो भी राजा मैं हूँ। फूलों का राजा गुलाव है। क्यों?

मेरे फूल को ही मत देखो——जैसा कि तुम्हारी मानव—जाति देखा करती है। देखो उसके नीचे। अनगिनत नुकीले, चुभीले काँटों को।

बहुत दिन गुज़रे, तुम्हारे एक आदमी के सिर पर किसीने काँटों का ताज रख दिया——आज तक तुम उसकी गाथा कथा कहते—सुनते चले आते हो। वह तुम्हारा शहीद—शिरोमणि हो गया।

किन्तु, मेरी ओर देखो, मैं तो खुद काँटों का ताज हूँ— अनगनित काँटों के ऊपर खिला, हँसता, विहँसता।

उनके सिर पर काँटे थे——मैं काँटों के सिर पर हूँ। सिर पर काँटा रखना बड़ा करतब है या काँटों के सिर पर रहना? तुम्हीं सोचो। और, रहना ऐसा कि न होठों की हँसी में कमी आये, न मुँह की लाली में। उस हालत में भी अपने गुण-गंध का उन्मुक्त हाथों वितरण करना।

और, ज़रा उससे भी नीच उतरो——देखो, मेरी जन्म-कहानी!

मरूभूमि के हाहाकार में, पशु—पक्षी, वृक्ष-तृण जहाँ होश-हवास खो देते हैं, वहाँ भी अपना अस्तित्व ही नहीं, अपनी जन्मजात कोमलता, अपनी नेत्ररंजकता और उन्मुक्त दानपरता को बचाये रख सके, वह राजा के पद पर क्यों न बैठे?

जो मरुभूमि में जन्मे, काँटों में पले—तो भी अपने स्वाभाविक गुणों को न छोड़े, वह राजा होगा ही।

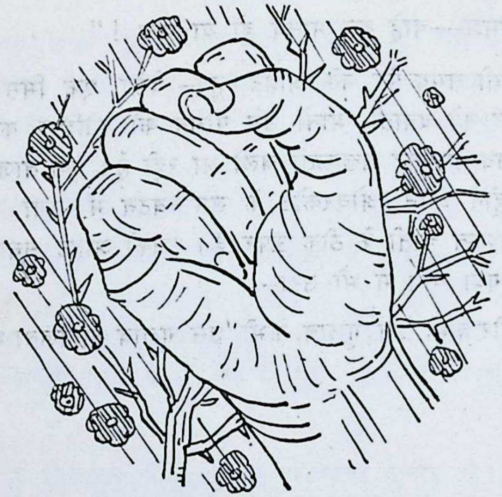
चाहे वह फूल हो या मानव !

समझे—चाहे वह मानव हो या फूल !"

इसी समय पैर की आहट हुई— देखा, एक मिस साहबा ज़ोरों से ज़मीन को दबाती, मानों उसे पीसने को कोशिश करती, हाथ में एक गुलाब का फूल उछालती चली आ रही हैं। एक ताज़ा गुलाब का फूल उन्होंने अपने ओवरकोट के उस बटन में लगा रखा है, जो उनकी प्रशस्त छाती के ठीक ऊपर है। उनकी आहट सुनकर ही गुलाब चुप हो गया था। मैं भी उठा—

और कभी 'इस' गुलाब, कभी 'उस' गुलाब को देखता घर लौटा !





पुरुष और परमेश्वर

पुरुष और परमेश्वर में महत्ता किसकी – यह विवाद आज का नहीं, आदि युग से चला आ रहा है! एक पक्ष ने कहा–मैं ही सब कुछ हूँ, और संसार मेरा है। दूसरे ने कहा–यदि वह कहीं हो भी, तो वह मैं ही हूँ। और तीसरे ने आत्मार्पण किया—जो कुछ हो, तुम्हीं हो! तुम्हारी शरण हूँ, चाहे जो उपयोग करो।

भक्त ने कहा—भगवान ने अपने रूप में मनुष्य का निर्माण किया। दर्शन ने कहा—मनुष्य ने अपने रूप में भगवान की रचना की। जब मनुष्य ने सपनाना सीखा, ईश्वर का प्रारम्भ तभी से हुआ। ज्यों-ज्यों सपनों में वृद्धि हुई, भगवान की महत्ता में भी वृद्धि होती गई।

सपने धुँधले पड़ रहे हैं; भगवान भी धुँधला पड़ता जा रहा है। सपनों में परिवर्त्तन;– भगवान में परिवर्त्तन !

अतीतकाल के मानव को एक भगवान से सन्तोष नहीं था– वह अनेक भगवान खोजता रहा।

उसने अनेक भगवान खोजे—उसे अनेक भगवान मिले।

पृथ्वी की नन्ही दूव से लेकर आकाश के इन्द्रधनुष तक में भगवान-भगवान ही दिखे।

भगवान के पीछे वह इतना पागल हुआ कि अर्द्धचेतन अवस्था में उसने अपने को भी भगवान ही मान लिया।

उसके भगवान बने उसके वे विश्वास, जिनके बिना वह जी नहीं सकता था।

उसके भगवान बने उसके वे भय, जिनसे वढ़कर स्थूल सत्य उसे और कुछ नहीं मालूम होता था।

भगवान को आदमी ने वनाया, यह कहना उतना ही ग़लत है, जितना यह सुनना कि भगवान ने आदमी को वनाया।

आदमी हमेशा भगवान की खोज में रहा है, और हमेशा उसकी खोज में रहेगा।

भगवान एक सपना है।

भगवान एक आकाँक्षा है, जिससे मानव जीवन ओतप्रोत वना है।

जीवन एक सपना है, जिससे हम-तुम ओतप्रोत हैं।

अपने सपने का ही नाम हमने आत्मा दे रखा है।

इसीलिए आत्मा हमेशा भगवान का सपना देखती रहती है।

जैसा आत्मा का सपना, उसी रूप का उसका भगवान।

× × ×

ध्यानावस्थित होकर, एकान्त में; मानव खड़ा था अपने संसार को भूला हुआ। अपना संसार—वह आप भी उसे समझ नहीं सकता था। विस्मय में, भय में वह चिल्ला उठा–

"भगवन्! मेरी सहायता करो। तुम्हारे विना मेरा सहायक कौन है? मुझे ज्ञान दो–क्योंकि तुम्हीं ज्ञान के आगार हो! प्रकाश दो दो—क्योंकि तुम्हीं तो प्रकाश-पुंज हो।

मानव चिल्लाता रहा; भगवान चुप रहा।

मानव ने खेती प्रारम्भ की। बड़े जतन से, श्रम से उसने खेत

जोतें; किन्तु वर्षा हो नही रही थी, वह चिल्ला उठा–

"भगवान्, मेरी सहायता करो। अपने बादलों को मेरे खेत में बरसने की आज्ञा दो।"

उत्तर में सूखी झंझा बहती रही।

मानव ने युद्ध-भूमि के चक्र-व्यूह में अपने को प्रतिद्वन्द्वी मानव के सामने पाया। भय से वह चिल्ला उठा–

"भगवान, भगवान, मेरी सहायता करो। इस नर-पिशाच के सम्मुख मेरी रक्षा करो, मुझे विजयी बनाओ। रघुवर, तुमको मेरी लाज !"

युद्ध-भूमि में रुंड-मुंड बिखरे थे—वीरों की लोथ पर चील-कौवे भोज मना रहे थे !

आत्मा के स्वप्न देखनेवालों को परमात्मा इन्हीं रूपों में प्राप्त होते रहे हैं।

यदि कभी वर्षा हो गई; विजय मिली– तो फिर स्वप्न को सत्य क्यों नहीं मान लिया जाय ? "भगवान्, तुम महान हो !" "भगवान् मेरे रक्षक हैं, फिर डर किसके ?" "राखनहार भये भुज चार तो का होई हैं दो भुजा के बिगारे ?"

प्रार्थना ! यज्ञ !–यज्ञ ! प्रार्थना !

भगवान में मानव इतना भूला कि वह मानव को ही भूल गया। पुराने पैग़म्बर ने चिल्लाकर कहा–

"खुदा ने कहा—उस आदमी पर अभिशाप, जो आदमी पर विश्वास करता है और जिसका हृदय भगवान से अलग रहता है।"

आदमी पर अविश्वास, भगवान में विश्वास। किन्तु, जब आदमी पर विश्वास नहीं, तो भगवान पर कैसे विश्वास हो ? क्योंकि भगवान और आदमी आख़िर एक ही सिक्के के दो रूप हैं न !

मानव-कल्पना का ही रहस्यवादी प्रतीक है भगवान की कल्पना।

विशुद्ध भगवान का अर्थ है, विशुद्ध मानव।

स्वप्न-भगवान का अर्थ है, स्वप्न-मानव।

सर्व सत्ताधारी भगवान वह निरंकुश राजा है, जो प्रजा का उत्पीड़न या शोषण करता है।

सर्वज्ञ भगवान वह पुरोहित है, जो जनता के अज्ञान पर अपना व्यापार चलाता है।

राजनीति में भगवान का काम षड़यन्त्र करना है; सम्पत्ति में भगवान का काम अधिकाधिक को दरिद्र बनाना है।

मानव ने भगवान को अपने से महान कभी नहीं बनाया।

× × ×

मानव ने महान और सुन्दर भगवान बनाये हैं– इससे मानव की महान और सुन्दर शक्तियों का पता चलता है।

जब मानव आँधी, अन्धकार या प्रकाश की अभ्यर्थना या उपासना करता था, वह अपने प्रति ज़्यादा ईमानदार था, वह अधिक सरल था, उसके ज्ञान पर पर्त नहीं पड़ी थी।

जब उसने इन में देवत्व या ईश्वरत्व की कल्पना की, वह भूल-भुलैया में फँसा।

जब तक मानव-मस्तिष्क कल्पना के फेर में है, हर पदार्थ उसके सामने काल्पनिक रूप पकड़कर आया करता है। मानव-चक्षु से पर्दा हटने दीजिये; वह सब कुछ स्पष्ट देखने लगेगा। मानव-मन जब स्वाभाविकता को स्वभावतः ग्रहण करने में सक्षम हो जायगा, सभी काल्पनिक देव आप-से-आप काफ़ूर हो जायँगे।

मानव-विचार में असीम बल है। आदमी जैसा सोचता है, संसार को उसी के अनुरूप ढलना होता है। वह संसार को अपने निकट बुलाता है, उस पर अपना मंत्र पढ़ता है, संसार उसके सामने करबद्ध प्रार्थी होता है। अपने विचार-बल से मानव संसार की सृष्टि करता है।

जब तक मानव स्वयं मानव के संहार में लीन है, वह ऐसे भगवान की सृष्टि करेगा ही, जो संसार का संहारकर्त्ता है। कर्त्ता और भर्त्ता के रूप में भी वह भगवान बनाता है; कर्त्ता, वह जो नब्बे अभागे और दस भाग्यवान की सृष्टि करे; भर्त्ता, जो ग़रीबों का पालन करे, जिसमें वे धनियों के पैर दबावें।

समाज के विचार ही भगवान के विचार हैं। समाज की आत्मा ही भगवान की आत्मा है– जनता का दृष्टिकोण ही भगवान का दृष्टिकोण हुआ करता है।

भगवान-निर्माता के रूप में मानव ने अपनी अपरम्पार प्राकृतिक शक्ति का परिचय दिया है।

अब वह मानव-निर्माता के रूप में अपने कौशल का परिचय दे।

अब मानव, मानव की उपासना करे, मानव की वन्दना करे। भगवान की स्तुतियाँ बहुत हुईं; हमारी कविता और गीत अब मानव की अलिखित यशोगाथा को छन्दोवद्ध करें। मानव की ही खोज में मानव की साधना दौड़े– उच्छ्वसित, चंचल, क्रियाशील मानव मस्तिष्क अपने ही लिए अपने को पुष्पित और फलित करे।

शोधक, अन्वेषक, कवि और दार्शनिक मानव ने राह चलते कितने देव और ईश्वर बनाये। अब वह अपने लक्ष्य के निकट आ पहुँचा है, वह मानव का निर्माण करे!

मानव, जिसकी शक्तियों के समक्ष छप्पन कोटि देव और देवादि-देव भगवान भी नत मस्तक हों!

× × ×

हम फिर सपने देखें। सपना देखना कोई लज्जा की बात नहीं।

आज की दुनिया में बहुत से सपने देखने को हैं– नये सुनहले सपने!

हमें एक नवीन सौन्दर्य का सपना देखना है– नये दिन और उसके नूतन कर्त्तव्यों के, उसके नये प्रयत्नों और नये साहसों के सौन्दर्य्य का सपना देखना है।

हमें लज्जित नहीं होना है। लज्जित नहीं होना ही, नये मानव के लिए, एक नई कला है। लज्जित नहीं होना ही, उस नये संगीत का शिलान्यास देना है, जो मानव-हृदय के स्वाभाविक उच्छ्वासों का प्रतीक होगा।

मानव की शक्ति के तीन सपने हैं–

काम करने का सपना;

रात का सपना;

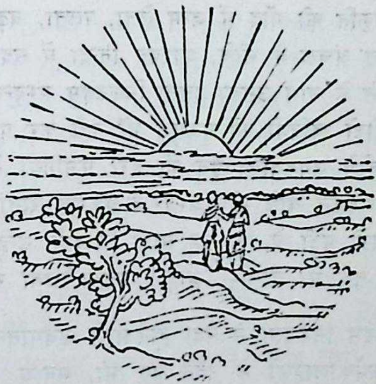
छलना का सपना;

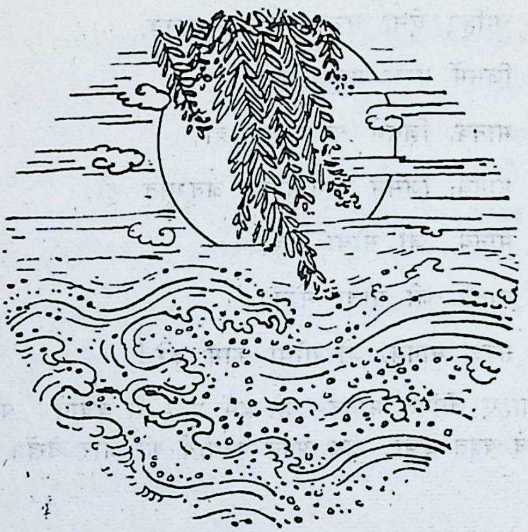
इन सपनों में एक ही अमर सपना है– काम करने का सपना। सृज-

नात्मक शक्ति का यही सच्चा सपना है। इस सपने का ही नाम जीवन है।

चाहिए ऐसा सरल स्वभाव मानव,
जिसमें सरल साहस हो;
मानव, जिसमें सरल धुन हो;
मानव, जिसमें मानवोचित अनुभूति हो;
मानव, जो सीधा देखे;
मानव, जो सीधा सोचे;
सरल मानव, जो सीधा काम करे!

चाहिए जीवित मानव– जो हमें मृत्यु से बचावे! परमात्मा की ओर हमने बहुत देखा; अब अपने पुरुषार्थ की ओर देखें।





ये मनोरम दृश्य

मनुष्य प्रकृति की गोद में जन्म लेता, पलता, बढ़ता और अन्त में, उसीके शान्त अंचल के नीचे, शाश्वत निन्द्रा में सदा के लिए सो जाता है। प्रकृति के साथ उसका इतना निकटतम सम्बन्ध होता है कि वह उसकी करोड़ों ख़ूबियों को महसूस भी नहीं कर पाता। नहीं तो, उसके पैर के नीचे उगनेवाली दूब की हरी फुनगियों से लेकर उसके सिर के ऊपर लटकने वाले नीले अम्बर के चकमक रत्नों तक में ऐसी सौन्दर्य-राशि भरी पड़ी है कि वह सारी जिन्दगी उन्हें देखने में ही गुज़ार दे और तब भी बोले– "आह! इतना देखना रह ही गया!"

लेकिन, इस निकटता से पैदा होनेवाली अवमानना के बावजूद, सहस्र-सहस्र कर्मकोलाहलों में रहते हुए भी, मनुष्य का कभी-कभी ऐसे मनोरम प्राकृतिक दृश्यों से सामना हो जाता है, जो उसके दिमाग में स्थायी छाप छोड़ जाते हैं, जो न भुलाये भूलें, न विसराये विसरें। साधारण समयों में वे भूल भी जायँ, लेकिन जब कभी वह एकान्त में होता है, ऐसी दृश्यावली उसकी आँखों में झलमल कर उठती

है और वह वाह्य जगत् को सर्वदा विस्मृत कर समझने लगता है, आज भी जैसे उन्हीं दृश्यों को देख रहा हो और देख-देखकर मुग्ध होता हो। कुछ ऐसे ही दृश्यों को, आज मैं, यहाँ जेल के इस एकान्त कोने में, क़लमबन्द करने की कोशिश कर रहा हूँ।

चपला की चमक

ऐसे दृश्यों में, जो सब से ताज़ा है, फलतः जिसका प्रभाव सब से अधिक है, पहले उसी का उल्लेख। चपला की चमक, बिजली की कौंध पर बहुत-सी कविताएँ पढ़ी थीं, बहुत-से प्रेमगीत सुने थे – उधर बिजली चमकी, इधर प्रेयसी का दिल तड़पा ! महाकवि कालिदास की यक्ष-प्रिया भी उसकी तड़प से मूर्च्छित हो चुकी है, तो साधारण नायिकाओं का क्या कहना ! घने-काले बादलों में बिजली की क्षण-क्षण छुपने और प्रकट होनेवाली उजली-पतली रेखा की छटा ने कुछ भावुक सिनेमावालों को भी काफी आकृष्ट किया है; मैंने प्रायः भारतीय रजत-पटों में उसके सौन्दर्य्यानुकरण की चेष्टा देखी है। कितनी ही बार मैं भी बिजली की कौंध देखता, कितनी देर तक, मन्त्र-मुग्ध-सा रह गया हूँ। किन्तु, अभी हाल ही में मैंने जो बिजली का सौन्दर्य्य देखा, वह उन सभी दृश्यों में अपूर्व था, अद्‌भुत था और था अनुपम।

लहेरियासराय की बात है। शाम हो चली थी ! मैं कलाकार उपेन्द्र महारथी के वास-स्थान की ओर जा रहा था। ज्यों ही पुस्तक-भंडार से आगे, उत्तर की ओर जानेवाली सड़क पर मुड़ा, सामने के आसमान ने हमारी आँखों को बरवस अपनी ओर खींच लिया। पैर सड़क पर, भीड़-भाड़ और कोलाहल से भरी सड़क पर पड़ रहे थे और आँखें ऊपर आसमान पर अड़ी थीं। उफ, कैसी दृश्यावली ! उत्तर दिशा के समूचे आकाश पर, पश्चिम कोने से पूरब कोने तक, गहरे-घने बादल छाये हुए हैं। उन बादलों की काली पृष्ठभूमि पर बिजली, मानो एक परी की चपल गति से नृत्य कर रही हो। अभी यहाँ, पश्चिम कोने पर उसके घाँघरे की ज़रदार किनारी चमकी, पलक गिरते वह ठीक-ठीक मेरी नाक की सीध में आकर, विभ्रमकारी गति से नाच उठी; फिर एक छलाँग लेती वह पूरब कोने पर पहुँच गई, जहाँ उसकी एक मुस्कान से नीला आसमान उजला-उजला हो रहा। वहाँ से फिर मुड़ पड़ी– नाचती, हँसती। कभी ऊपर उछल गई, कभी नीचे

सिमट गई। कभी ठिठक गई, कभी ठठा पड़ी। यहाँ-वहाँ, इधर-उधर इसका पीछा करने में आँखें भी समर्थ नहीं।

बादलों के बीच यह बिजली की चमक है, या स्वर्ग में सहस्र परियों का नृत्य एक साथ ही हो रहा है। क्योंकि अब तो पल-पल उसकी गति इतनी चपल होती जाती है कि एक परी की कल्पना की नहीं जा सकती! पूरब कोने से पश्चिम कोने तक की इस शत सहस्र मील की लम्बी रंग-भूमि के कोने-कोने को जो विहँसित चमत्कृत कर रही है, वह एक परी हो नहीं सकती। विहँसित, चमत्कृत और मुखरित भी! हाँ, सुन रहा हूँ, रह-रहकर मंजीर का शिंजन और किसी चतुर वादक के मृदंग का गम्भीर रव भी! किन्तु स्वर्ग कहाँ है? परियाँ झूठ हैं या सच– कौन बतावे? क्या बूढ़े हिमालय को ही आज युगों के बाद कुछ रास-रंग का शौक चर्राया है और उसने ही अपने स्वर्ण-मृगों को इन बादलों के वन में कुलाँचें लेने को छोड़ दिया है? वह उनकी पूँछें चमकीं, उनके पैर चमके, उनके सींग चमके, उनके नथुने चमके! बादलों के वन में, इन स्वर्ण-मृगों की कुलाँचों के कारण ही तो, ये शब्द हो रहे हैं। कभी अकेली मृगी दौड़ी– मधुर-मधुर शब्द हुआ। कभी पूरा मृग-झुंड दौड़ा– अजीब गड़गड़ाहट हुई।

आँखों में अपूर्व दृश्यावली, कानों में अभूतपूर्व ध्वनि-प्रतिध्वनि, मस्तिष्क में चित्र-विचित्र कल्पना की लहरी। मेरे पैर थम चले। मैं कुछ आगे, उस नालेवाले पुल के निकट खड़ा था। क्या होश में था? क्या बेहोश था?

एक परिचित आये; बोले "क्या देख रहे हैं?"

जवाब क्या देता, ऊपर की ओर इशारा किया।

उन्होंने भी कहा– "अहा, कैसा अच्छा दृश्य!" और आगे बढ़े।

होश ने कहा– सार्वजनिक स्थान पर यों खड़ा रहना ठीक नहीं। किन्तु, पैर में तो पत्थर बँधे थे। आँखें ऊपर उलझी थीं। क्या करता? शिष्टता ने डाँटा– यह भलेमानसपन नहीं। बढ़ना पड़ा। मन में हजारों चपला की चमक लिये, महारथी को कला-कुंज में आया। फिर जो आँखें ऊपर कीं, वैसे ही दृश्य! किन्तु, उनका दायरा कुछ और बढ़ गया है। पूरा आधा आसमान बादलों से ढँका है। घने काले बादलों का रंग फैल जाने से कुछ धूमिल हो चला है। उनमें बिजली चमक रही है; किन्तु अब वह परियों का नृत्य नहीं मालूम होती। मालूम होता है,

शिव के गणों ने परियों को खदेड़ दिया है और वे हाथ में मशाल लेकर तांडव का अभ्यास कर रहे हैं। या स्वर्ण-मृग भाग चले, भूरे ऐरावतों को पहाड़ी दस्यु खदेड़े जा रहे हैं। कहाँ का मृदंग-रव, परी-पद-शिंजन; या मृगी-पद-ध्वनि। अब अजीव धमा-चौकड़ी है, उठा-पटक है, चीख है, चिल्लाहट है! हड़-हड़-हड़-धड़-धड़-धड़! अरे अब तो आँधी आई! मैं बरामदे से भीतर गया। बेंत की कुर्सी पर धम से जा गिरा। आँखें मुंदी थीं और कल्पना में वही—चपला की चमक, परियों का नृत्य, स्वर्ण-मृगों की उछल...।

बादलों से ऊपर

बिजली की चर्चा ने बादल की याद दिला दी, फलतः ऊपर का यह शीर्षक। किन्तु, इस शीर्षक से आप इस भ्रम में न पड़ें कि कदाचित् मैं वायुयान पर चढ़ कर बादलों के ऊपर उड़ा था! नहीं, जब यह घटना हुई, मैं पंखों की दुनिया में नहीं था, ठोस पृथ्वी पर मेरे पैर थे– हाँ, कुछ ऐसी ऊँचाई पर था, जब बादल मेरे नीचे थे।

मैं उन दिनों, 'कर्मवीर' के सम्पादन-विभाग में, खंडवा था। खंडवा से शायद ४०–५० मील की दूरी पर (माफ कीजिए, दूरी मुझे ठीक-ठीक याद नहीं रहती) असीरगढ़ का क़िला है। मुग़ल-इतिहास में इस क़िले की काफी चर्चा है। इसे कुछ अँगरेज इतिहास-लेखकों ने दक्षिण-पथ की कुंजी (Key to Deccan) भी कहा है। जनश्रुति है, यहीं औरंगज़ेब ने शाहजहाँ को क़ैद किया था, इसीसे इसका नाम असीरगढ़—क़ैदी का क़िला–पड़ा। दादा (पं० माखनलाल चतुर्वेदी) की राय हुई, मैं असीरगढ़ ज़रूर देख लूं। एक दिन, टैक्सी से, हम लोग असीरगढ़ के लिए रवाना हुए। अलमस्तों की एक पूरी टोली हमारे साथ थी!

सतपुड़ा की वह तलेटी – नीची-ऊँची जमीन—कहीं एक एकड़ की अच्छी चौरस–सपाट–ज़मीन दिखला दीजिए, तो आपकी बाज़ी। मोटर चढ़ती-उतरती, मुड़ती-झुकती शरीर को मीठी-मीठी हिलडुल और दिल को मधुर-मधुर धड़कन देती बढ़ी चली जा रही। छोटी-छोटी पहाड़ी नालियाँ, छोटे छोटे पहाड़ी टोले, जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी दिहाती बस्तियाँ–लम्बे-बेढंगे सींगोंवाली भैंसें, आधे कसे हुए सीनेवाली ग्रामबधूटियाँ, मैं उत्सुकता से देखता, बढ़ रहा। मेरी आँखें ये देख रहीं

और कान सुन रहे—वीरभैया के चुटकले, कुमारजी के गाने, प्रभाग की कविताएँ। और, कल्पना रह-रह कर पटक देती बिहार के हरे-भरे चौरस खेतों में, जहाँ पहाड़ कहानियों में हैं, जहाँ दस-बीस हज़ार की आबादीवाली देहाती बस्तियाँ हैं, जहाँ की भैंस के सुन्दर, छोटे सींग मेढों के सींगों का मुकाबिला करते हैं, जहाँ की ग्राम-बधूटियाँ......

'यह असीरगढ़ !' वीरभैया ने कहा। मोटर एक पड़ाव पर रुकी। गढ़ के 'क़िलेदार' के रूप में जो एक माली काम करता है, उसे बुलाया गया। उसे पथ-प्रदर्शक बनाकर हमलोग 'गढ़' को 'फतह' करने चले !

जो कभी दक्षिणापथ की कुंजी कहलाता था, उसी गढ़ के फाटक के ताले को माली के हाथ की छोटी-सी कुंजी ने किस आसानी से खोल दिया ! गढ़ की बाहरी दीवारें तक ढह रही हैं, तो भीतर के महलों की क्या बात ! कहाँ है मुगलों का वह ऐश्वर्य्य ! सामने अंग्रेजों का जो कब्रिस्तान है, उसकी कब्रों पर के लेख मुग़लों के पतन के दिनों की याद दिलाते हैं और बग़ल में जो यह जुमा मस्जिद की सिर्फ एक मीनार बच रही है, वह मानों उनके नाम का फातिहा पढ़ रही है !

"मीनार पर चढ़कर देखो, तो यह गढ़ क्या है, कुछ समझ में आवे।"—माली ने कहा। और यही मीनार का चढ़ना था, जिसने आज इस लेख में असीरगढ़ की स्मृति को ताज़ा बनाया है।

जिस समय हम मीनार पर चढ़ने का उपक्रम कर रहे थे, क्षितिज पर, जो बादल का एक बड़ा टुकड़ा ऊपर उठ रहा था, इसकी ओर हममें से कम लोगों ने ध्यान दिया था। किन्तु; ज्योंही मीनार के अन्दर बनी सीढ़ियों को पारकर आखिरी खिड़की पर पहुँचे, मेरे कौतूहल की सीमा नही रह गई। खिड़की से जहाँ तक नज़र जाती थी, बादल ही बादल उमड़ रहे थे। वीरभैया ने कहा —वर्षा आकर रहेगी। निर्णय हुआ, इसी खिड़की पर पर बादल काट लिया जाय, नीचे जाकर भींगने से क्या फायदा ?

माली के कहे मुताबिक खिड़की से असीरगढ़ का गौरव हम कहाँ तक देखते, बादलों के गौरव ने हमारी आँखों को यों ढँक लिया कि सिवा उसके कुछ सूझता तक नहीं। जहाँ देखो, बादल, बादल और वे

बादल समूचे पहाड़ को ढँके जा रहे– व्यूहवद्ध होकर ! बादल का एक दल इस तरफ से बढ़ रहा, दूसरा उस तरफ से, तीसरा तीसरी ओर से, चौथा चौथी तरफ से– उजले-उजले बादलों के दल के दल। और, यह सब हमारे नीचे ? हाँ, हम बादल के ऊपर हैं और नीचे बादलों के दल के दल पुराने असीरगढ़ पर छापा मार रहे हैं।

हम बादल के ऊपर हैं– मेरे ऐसे चौरस मैदान के रहनेवाले आदमी के लिए कितनी विस्मयकारी यह बात थी, कल्पना कीजिए। मैं विस्मय-बोध कर कहा था; उस विस्मय में रोमांच था, आनन्द था ! मैं बादल के ऊपर, और नीचे बादलों के दल-के-दल उजले, सफेद गोले की तरह, जिस तरह हमारे यहाँ माघ की भोर में कभी-कभी धुंध लगती है, उसी की तरह बढ़ता, फैलता, सब चीज़ों को ढाँप रहा है।

थोड़ी देर में असीरगढ़ का पता नहीं था। बादल, बादल, बादल–– चारों ओर धुंध का समुद्र। हाँ समुद्र, जिसमें लहरें भी थीं। लहरें– इधर से उधर आतीं, टकरातीं। टकराईं और बरस पड़ीं ! अब असीरगढ़ पर वर्षा हो रही थी– झमाझम वर्षा !

और, ओ मानव-सन्तानो, तुम इस मीनार पर चढ़े क्या अछूते बच जाओगे, जब कि असीरगढ़ पानी-पानी हो रहा है ? मालूम हुआ, धुंध का एक टुकड़ा उठा और हँसता इठलाता हमारी खिड़की से निकल गया ! खिड़की से निकला, एक छन को हमारी आँखें मुंद सी गईं। जब हमने आँखे खोलीं· जादू-सा मालूम पड़ा ! हमारे बालों, भौंहों, और मूँछों पर पानी की बूंदें चमक रही हैं, हमारे कपड़े गीले हो चले हैं और नीचे, नीचे, सद्यस्नाता सुन्दरी की तरह, बूढ़े असीर-गढ़ की सोई हुई सुन्दरता जाग पड़ी है, हँस रही है, मुस्करा रही है। अरे यह कैसा जादू– यह कौन जादूगर !

कुछ देर तक, अपलक इस सौन्दर्य राशि को देखते रहे, फिर मीनार से उतरे। घास, पेड़, लताएँ सब धुल पुँछ गईं थीं। गर्द नहीं, गुबार नहीं। गढ़ की टूटी फूटी दीवारों पर उगी हुई काई भी मखमल सी चमक रही थी। पहाड़ी के चारों ओर छोटे छोटे असंख्य नाले– झरने की तरह– झर-झर झर रहे थे। छोटे-छोटे पतले नाले– कोई मृग छौन-से उछलते, कोई साँप की तरह सरकते, पत्थर के ढोंकों से टकराते, शब्द करते, कलकल करते नीचे की ओर भागे जा रहे थे– ऊधमी बच्चों की तरह। प्रभाग से रहा नहीं गया,

कुछ पंक्तियाँ उनके मुख से निकल ही पड़ीं। कुमारजी का कंठ भी फूट चला। वीरभैया ने कहा– कहिए बेनीपुरीजी, कैसी रही? मेरे मुँह से सिर्फ यही निकला– अद्‌भुत्, अपूर्व !

अष्ठमी का चन्द्रमा

चन्द्रमा की शोभा दो ही दिन– या तो द्वितीया को, जब 'ईद का चाँद' बनकर वह करोड़ों मुसलमानों से इबादत और वन्दगी पाता और उनकी टोपियों में चमकता है। या पूर्णिमा को, जव शरद पूनो कहलाकर वह भारत के करोड़ों हिन्दुओं की श्रद्धांजलि के उजले फूल पाता है। भाद्र कृष्ण अष्टमी, जन्माष्टमी का चन्द्रमा देखने को नहीं, सिर्फ समय बताने की चीज़ है। बचपन से ही देखता हूँ, जब व्रत के कारण पेट में हरिन उछलता, बार-बार उचक-उचककर आसमान देखता और ज्योंही उसका आभास मिला, ठाकुरबाड़ीं का घंटा गनगना उठा और हम प्रसाद पर टूट पड़े। कौन देखने जाय, उस चाँद के सौन्दर्य्य को!

किन्तु, उस दिन उसी अष्टमी के चाँद में जो सौन्दर्य्य देखा, क्या वह भूलने का है?

१९३० की घटना है। हम राजबन्दी की तरह, हज़ारीबाग़ के सेंट्रल जेल में, सरकार के मेहमान थे। दिन भर काफी स्वतन्त्रता; किन्तु, ज्यों ही शाम हुई, अपने अपने सेलों में बन्द कर दिये जाते। जब जन्माष्टमी आई, बड़ी मुश्किल से जेल के अधिकारियों ने व्रत के लेहाज़ से, आधी रात तक खुले रहने की इजाज़त दी।

उस दिन व्रत का पूरा आयोजन था। हिन्दू-धर्म-ध्वजी बाबू जगतनारायण लाल थे ही और थे कृष्ण के अनन्य भक्त श्री मान हीराजी। कृष्ण की मूर्त्ति रखी गई, उसे झुलाया गया, उसके सामने नाचा और गाया गया। मैंने उसी दिन इन दो महानुभावों का नाच देखा। आँख मूँदे, हाथ फैलाये, गद्‌गद् कंठ से कुछ गाये जा रहे, मानों किसी दूसरी दुनिया में पहुँचे हैं, और उसी गान के ताल पर अजीव ढंग से क़मर हिलाते और पैर पटकते नाच रहे थे। मेरे जैसे नास्तिक हँस रहे थे।

जब इनके नाच-गान सें मन ऊबा, सोचा, चलो, जेल की सैर हो। इस वार्ड से उस वार्ड। क्यों न अपने बीमार दोस्त से भी अस्पताल में जाकर इस व्रत के दिन मिल लिया जाय? हमारी टोली वहाँ

पहुँची। वहाँ गपशप हो रही थी कि कृष्ण-जन्म-सूचक घंटे गनगना उठे और स्तुति के स्तोत्र हमारे कानों में झंकार कर उठे।

बड़े हुए तो क्या? बचपन के संस्कार तो मिटे नहीं। प्रसाद के लोभ से हम लोग वहाँ से भागे !

किन्तु, अस्पताल से निकलते ही जो दृश्य देखा, उसने पैर में मानो भारी ज़ंजीर डाल दी।

हज़ारीबाग़ जेल एक पहाड़ी टेकड़ी पर बनाया गया है ; यों तो यह समूचा जिला ही पहाड़ी है। इस टेकड़ी पर से अनेकानेक दीवारों के बावजूद, आप कितनी ही पहाड़ियों की झाँकी निश्चय पा सकते हैं। अस्पताल से बाहर हम जहाँ खड़े थे, वहाँ से सामने पूरब एक पहाड़ी का धूसर सिर हम देख सकते हैं। जब हम उसके उस सिर को देखेंगे, तो उसके नीचे जेल के वार्डों की जो लगातार दीवारें हैं, वे मालूम पड़ती हैं, मानो वहां तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ लगी हुई हों। कहाँ ये दीवारें, कहाँ वह पहाड़ी। लेकिन, वे सब मानो सिमिट कर एकत्र हो जाती हैं। रात में तो और भी।

अस्पताल से निकल कर जब हम उस निश्चित स्थान पर पहुँचे, पूरब की ओर देखते ही स्तब्ध रह गये। देखा, अष्टमी का चन्द्रमा निकल कर उस पहाड़ी के सिर पर यों दीख रहा है, जैसे किसी ने उसे आसमान से उतार कर, बहुत ही सलीके से वहाँ अभी-अभी रख दिया हो। हाँ, हूबहू ऐसा ही लगता था। मैं चिल्ला उठा, देखो, देखो। दोस्तों का भी ध्यान गया। उस धूसर पहाड़ी पर, इस नीरव निशीथ में, वह अष्टमी का चन्द्रमा कैसा था?– शिव के सिर पर चन्द्रमा की बात हमने किताबों में पढ़ी थी, यहाँ हम प्रत्यक्ष देख रहे थे। वह धूसर पहाड़ी सचमुच चन्द्रशेखर शंकर-सी प्रतीत होती थी।

किन्तु, यह दृश्य कितना क्षणिक था। थोड़ी ही देर में पहाड़ी और चन्द्रमा के बीच थोड़ी-सी फाँक हो गई। वह फाँक बढ़ती गई। मालूम होता, रूठ कर चन्द्रमा भागा जा रहा है और उसे पाने को पहाड़ी स्वयं ऊपर उठ रही है; किन्तु, अपनी स्थूलता से वह लाचार हो रही है। यह चार अंगुल ऊपर, यह एक बित्ता ऊपर, यह एक हाथ ऊपर। इच्छा हुई, यह जो दीवारों की सीढ़ियाँ लगी हैं, उन पर चढ़ कर दौड़ूँ और यों हाथ में आया हुआ चाँद, जो बेहाथ हुआ जा रहा है, उसे हस्तगत कर लूं! किन्तु, सामने ही जो सिर से ऊपर की

पहली दीवार है, क्या उसका लाँघना भी सम्भव है ?

चन्द्रमा ऊपर बढ़ता गया। उसी समय सामने का जो पीपल का पेड़ है, उस पर की एक अभूतपूर्व चमक ने अपनी ओर ध्यान खींचा। ज्यों ज्यों चन्द्रमा ऊपर उठ रहा था, उसकी ज्योत्स्ना पीपल के चिकने ढुरढुर पत्तों पर पड़ कर मानों फिसली पड़ती थी। बारबार वह उस पर पैर रखती, फिसलती, खिलखिला उठती; हाँ, पत्तों की मधुर मर्मर ध्वनि उसकी खिलखिलाहट ही तो थी! पीपल के पेड़ का जो हिस्सा चन्द्रमा की ओर था, वहाँ तो यह क्रीड़ा-कुतूहल हो रहा था, बाकी हिस्सा वैसा ही स्तब्ध, अन्यमनस्क, उदास। उस उदासी की पृष्ठिभूमि में यह चकमक, झलमल, मर्मर और भी प्राणोन्मादक लग रहा था। आँखों को इस तरह खींच लिया था इस दृश्य ने कि चाँद की सुध भी भूल गई होती; किन्तु, एक-ब-एक अँधेरा होता देख, आसमान की ओर नज़र दौड़ाई। अब वहाँ एक अजीब समाँ था। हंस-कुमार शैवाल-जाल में फँसा है! बादल का न जाने कहाँ से एक काला टुकड़ा आकर उसे ढाँपने पर तुला है। हंस के बच्चे की वह बारबार उस शैवाल-जाल को छिन्नभिन्न करने की चेष्टा कर रहा है। कभी बादल उसे ढँक लेता है, कभी वह उसे चरका दे कर निकल भागता है। फिर बादल दौड़ता है, उसे ढँक लेता है। तब वह आकाश-सागर में गोते लेकर फिर उससे अलग, दूर जा निकलता है—सद्यस्नात सुन्दर, ताज़ा चेहरे को चमकाते हुए। बहुत देर तक यह बादल और चन्द्रमा की आँखमिचौनी होती रही। आखिर वायु के एक ज़बर्दस्त झोंके ने चन्द्रमा की मदद की। वह बादल का टुकड़ा न जाने कहाँ भगा दिया गया! चाँद ठहाका मार-मार कर हँसता रहा!

अब चन्द्रमा पहाड़ी से ऊँचे, काफी ऊँचे पर चढ़ चुका है। उसे हमारी कल्पना के हाथ छू नहीं सकते। उसकी रोशनी में यह जेल अपनी सम्पूर्ण जड़ता के साथ खड़ा है। मेरे सभी साथी मुझ पागल को छोड़कर प्रसाद पाने को जा चुके हैं। कानों में अब भी घंटे का रव और स्तोत्र की ध्वनि आ रही है। किन्तु, देवता का यह अर्चन-पूजन भी इस स्थान की दानवता और पैशाचिकता को कम नहीं कर सकता। कहाँ यह स्वच्छन्द चन्द्रमा, वह निर्बन्ध आकाश और कहाँ यहाँ की ये काली काली दीवारें, उनके अन्दर तड़पती, कराहती हुई मानव-आत्माएँ !!

किन्तु, इस सुन्दर दृश्य के समय, यह असुन्दर भावना क्यों?

मन तू चाँद की तरह ही स्वच्छन्द, निर्वन्ध विचर; तुझे कोई बाँध नहीं सकता।

नमस्ते अष्टमी का चन्द्रमा !

शरद की पूर्णिमा

शरद पूनो !—और रासलीला की याद आई ! हमारे ग्रन्थों में कृष्ण की कल्पना भी कैसी दिलचस्प है। कभी उसे माखन चुराते पाइए, कभी दानव–संहार करते, कभी वृन्दावन में रासलीला रचाते, कभी कुरू-क्षेत्र में गीता सुनाते !

शरद पूनो और रासलीला दोनों में अटूट सम्बन्ध है। जब बर-सात खत्म हो चली हो, आकाश–मंडल में न बादल का कोई टुकड़ा हो, न वायुमंडल में धूल का एक भी कण ; जब पत्ते धुलेपुछे हों, धरती धोई-बुहारी; जब खेत की आरियों पर काँस फूले हों और सरो–वरों में कुमुद ; जब फुलवारियों में रजनीगन्धा फूली हो और आँगन में हरसिंगार की कलियाँ हँस रही हों—ऐसी मनभावनी ऋतु की सुन्दर, शीतल, सुखप्रद रात में जब पूर्णिमा का चन्द्रमा आधी रात को सर पर चढ़कर अट्टहास कर उठे, तब ऐसा कौन हृदय होगा, जो गा नहीं उठे, नाच न उठे। पुरुष का हर स्वर तब वंशी की ध्वनि होगा, नारी का हर पद–चालन नृत्य का एक–एक ताल होगा ! और कहीं पृष्ठभूमि में यमुना जैसी श्यामली नदी हो, कदम्ब की हरी छाया हो, वृन्दावन का शान्त वातावरण हो ! फिर क्या कहना ?

अपनी कल्पना की दुनिया में, कितनी ही शरद पूनो को मैं वृन्दावन पहुँचा हूँ, कृष्ण से बातें की हैं, गोपियों से चुहलें हुई हैं और उनकी रासलीला का सुख लूटा है। किन्तु, प्रत्यक्षतः जिस शरद की पूर्णिमा ने मेरे जीवन में सब से अधिक गहरी छाप डाल रखी है, आज उसी की तस्वीर उतारने की चेष्टा कर रहा हूँ।

१९३४ की बात है। बम्बई काँग्रेस हो रही थी। श्रद्धेय राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति चुने गये थे। हमारे लिए गौरव की बात थी। मैं बहुत ही कम काँग्रेस में शामिल हुआ हूँ, किन्तु इस बार लोभ सम्वरण नहीं कर सका।

बम्बई पहुँचकर अतिथि-निवास में डेरा डाला। स्वागत-समिति के भोजनालय में एक दिन भोजन कर रहा था कि राष्ट्रपति निरीक्षण

को पहुँचे। मैं उन्हें देखते ही खड़ा हुआ। वह वहाँ तक आये। सब ने विस्मय के साथ देखा, राष्ट्रपति किससे घुल घुलकर बातें कर रहे हैं। भोजन के बाद मुझे आज्ञा की, देखो, मेरे भाषण का हिन्दी अनुवाद देख जाओ कहीं 'बिहारी हिन्दी' की शिकायत न हो जाय ! यह अन्तिम फिकरा उन्होंने हँसते-हँसते कहा।

अनुवाद बुरा था। मुझे शुरू से नया अनुवाद करना पड़ा। जल्दी का काम था, मैंने अपना सहायक श्री प्रभाकर माचवे को चुना, जो उन दिनों एक विद्यार्थी थे, एक सुशील, परिश्रमी और प्रतिभाशील विद्यार्थी। वह अँगरेज़ी की कापी पढ़ते जाते, मैं अनुवाद करता जाता। कल कांग्रेस है। आज ही रात में इसे पूरा कर लेना है। बड़ी रात तक, दीन-दुनिया भूले, क़लम घिसघिस करता रहा। लेकिन जब जम्हाई पर जम्हाई आने लगी और शरीर ऐंठने लगा, सोचा, ज़रा टहल लिया जाय।

हम दोनों राजेन्द्र बाबू के शाही कैम्प से बाहर निकले। बिजली की चकाचौंध से अलग हुए, तो मालूम हुआ, ओहो, आज तो शरद पूनो है। पूरा चाँद सर पर चला आया था। उसी समय समुद्र का मधुर-मधुर गर्जन सुनाई पड़ा। माचवे ने कहा, समुद्र किनारे चलिए।

समुद्र किनारे पहुँचा और देखकर निहाल हो गया। समुद्र किनारे जो बाँध बँधा है, उस पर हम बैठे थे। सामने जहाँ तक नज़र जाती, समुद्र ही समुद्र। उसमें ज्वार आया है। बड़ी बड़ी तरंगें उठतीं, एक दूसरे से टकरातीं, फेन उड़ातीं, गर्जन करतीं, आगे बढ़तीं, और बाँध पर सर पटककर फिर लौट जातीं। ऊपर जो पूर्ण चन्द्र आधी रात तय करके सिर पर खड़ा मुस्कुरा रहा है, उसकी मुस्कुराहट उन तरंगों पर अठखेलियाँ कर रही है। कभी-कभी मालूम होता, किसी अदृश्य छोर को पकड़कर शत-सहस्र ज्योत्स्ना-कुमारियाँ चन्द्रमंडल से एक-एक कर उतर रही हैं और आकुल-व्याकुल समुद्र की इन तरंग मालाओं के कम्पित अधरों को चूम चूमकर अट्टहास कर उठती हैं। इन चुम्बनों की मादकता से मतवाली बनी तरंगें आप अपने में नहीं हैं, समुद्र को नीचे छोड़कर ऊपर उड़ना चाहती हैं; किन्तु उड़ नहीं पातीं, फलतः बार-बार मूर्च्छित होकर, हाहा खाकर गिर-गिर पड़तीं और फिर ज्योंही होश में आतीं, वे ही निष्फल चेष्टाएँ ! स्वभावतः ही ज्योत्स्ना-कुमारियों को इसमें मज़ा मिल रहा है, वे भी इस तड़पने का तमाशा देखने को बार-बार चुम्बनों की वर्षा-सी किये जा रही हैं !

समुद्र ! अगाध समुद्र, अथाह समुद्र– यह कैसा छिछलापन तुम में आज देख रहा हूँ। कहाँ है वह तुम्हारी मर्यादा, जिसके लिए तुम मशहूर हो ? तुम्हारी यह व्याकुलता, यह आस्फालन, यह हाहाकार, यह सर पीटना–तुम्हें वेपर्द किये दे रहा है ! अरे, सोचो, अरे सम्हलो ! और ओ पूर्णचन्द्र ! ज़रा तुम्हीं अपनी लाज समेटो। किसी भलेमानस को यों वेपानी करने से क्या फायदा ? वह प्रेम प्रेम नहीं, जिसमें प्रियतम या प्रियतमा की मर्यादा की रक्षा ही भुला दी जाय ! वेइज्ज़ती, वेपर्दगी का नाम प्रेम नहीं। किन्तु, नहीं, तुम नहीं मानोगे। आज तो तुम हँसने में मस्त हो। इस हँसी की मस्ती में होश की बात कौन सुने ? अच्छा तो हँसो, हँसो, हँसो—खूब हँसो, खूब हँसो, इतना हँसो कि तुम खुद वेहोश हो जाओ।

और, क्या यह सच नही है कि आज संसार में हँसी की अजस्र वर्षा हो रही है। कहाँ की चीख, कहाँ की तड़प ! यह सामने जो समुद्र है, वह भी हँस रहा है, अट्टहास कर रहा है। समुद्र के उस पार—क्षितिज के उस छोर पर—एक छोटा-सा जो झिलमिल तारा है, उसकी हँसी देखिए, अपनी हँसी में वह घुला-मिला जा रहा है। इस तरफ स्वागत-समिति ने जो अतिथियों का आवास—एक नया नगर बसा रखा है, उस पर भी हँसी का ही राज्य है। दूर-दूर से आये-थके प्रतिनिधि सो चुके हैं, दिन भर का कोलाहल- कलरव शान्त हो चुका है। इस नई नगरी की निस्तब्धता पर चाँद की हँसी एक नीहारिका-सी, कुहेलिका-सी, प्रहेलिका-सी छा रही है। नीचे खारे पानी का समुद्र लहरा रहा है, ऊपर तरल चांदी का समुद्र लहर-पर-लहर ले रहा है। और उस लहर पर वह झंडा-चौक का तिरंगा फर-फर कर रहा है।

पढ़ा है, पागल चाँद को देखा करते हैं। तो क्या चाँद का ज़्यादा देखना पागलपन की निशानी नहीं ? आज भी याद आता है, मैं उस पूर्णचन्द्र को इस तरह एकटक देख रहा था—मानो मेरी दो आँखें चक्रवाक के जोड़े हों ! कब तक इस पागलपन की स्थिति में रहा, कह नहीं सकता। अकस्मात पाया, बाँध पर से अपने दोनों पैर जो मैंने नीचे, समुद्र की ओर लटका रखे थे, उन पर ठंढी-ठंढी थपकियाँ पड़ रही हैं। एं, यह क्या ? यह समुद्र का पानी इतना ऊँचा चढ़ आया है ! और समुद्र—समुद्र तो अब फेन की राशि बना हुआ है। तरंग-तरंग, फेन-फेन ! और फेन के हर बुल्ले में चाँद का एक-एक टुकड़ा-सा चम-चम कर रहा है। अजीब कोलाहल, अजीब हलचल ! पानी के छींटे उड़-उड़ कर

मेरे चेहरे पर, सिर पर पड़ रहे। ढलती रात की ठंढी हवा चलने लगी थी, जिसमें समुद्र के नमकीनपन की एक अजीब सुगंध थी। वह सुगंध मन-प्राण को पागल बनाये डालती थी। जो तरंगें वहाँ समुद्र में थीं, अब उनसे भी ऊँची हृदय में उठ रही थीं—हृदय में, नस-नस में, शिरा-शिरा में। वहाँ भी तरंगें थीं, फेन थे और उन फेनों के बुल्ले में चाँद के एक-एक टुकड़े-से चमचम कर रहे थे। मैं भावावेग में एक बार फिर निमग्न हो रहा !

"बेनीपुरीजी, वह दो बज रहे ! अभी बहुत काम बाक़ी है।"—प्रभाकर ने कहा। "हाँ, ठीक तो।"—कह कर मैं उठ खड़ा हुआ और चल पड़ा। चलते-चलते मुड़कर एक बार फेनिल समुद्र की ओर नज़र की, फिर पश्चिमी क्षितिज की तरफ बढ़ते हुए पूर्णचन्द्र की ओर।

अमा-निशीथ

क्या अमावस्या की अर्द्धरात्रि में भी सौन्दर्य्य है ?

शरद-पूनो की याद ने भादों की जिस अमा-निशीथ की याद हरी कर दी है, उसका उत्तर है—हाँ ! लेकिन, मैं यह मानता हूँ, उस सौन्दर्य्य के अनुभव के लिए एक खास ढंग की मानसिक स्थिति ही नहीं, दृष्टि-विन्दु भी चाहिए। यों, तो कोई भी यह दावे के साथ नहीं कह सकता कि सौन्दर्य्य सिर्फ चन्दन की धवलता में है, आबनूस की कालिमा में नहीं। कृष्ण और कालिन्दी तो सौन्दर्य्य के दो महान उदाहरण हैं ही।

मैं उन दिनों 'युवक' निकाल रहा था। पटना कॉलेज के सामने, मुख्य सड़क पर, एक खपड़ैल मकान ले रखा था, जो 'युवक-आश्रम' के नाम से मशहूर था। बरसात की ऊमस मशहूर है। उस खपड़ैल के नीचे, वहुत रात बीतने पर भी, हम करवट-पर-करवट बदल रहे थे। पटना के मच्छड़ों का धावा अलग था। नींद बेचारी हमें छोड़, कहीं कोने में ऊँघ रही थी।

जब किसी तरह वह बार-बार बुलाने पर भी नज़दीक नहीं फटकीं, मैंने तय किया, गंगा के किनारे जाकर टहल आया जाय ! इस आधी रात को अन्धेरे में गंगा के किनारे ! किन्तु, जिन्होंने अपनी नाव आप जला दी हो, उन्हें तरंगों से क्या भय ?

जब मैं धीरे से, जिसमें साथियों की निद्रा भंग न हो, उठने का उपक्रम कर रहा था, महापंडित राहुल सांकृत्यायन भी, जो प्रायः ही मेरी कुटिया को सुशोभित किया करते थे, और मेरी वग़ल में सोये थे, उठ वैठे; और हम दोनों गंगा के किनारे जा पहुँचे !

चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार ! आसमान में घनघोर वादल छाये हुए। एक तिनका भी कहीं नहीं हिल रहा। आसमान में एक तारा भी नहीं दिखायी देता। हाँ, किनारे पर जो पुराना पीपल का पेड़ है, उसकी फुनगियों पर जुगनू भुक-भुक कर रहे। उनका वह भुक-भुक प्रकाश अन्धकार को और भी भीषण वनाता।

सामने गंगा है—भादो की गंगा। पटना से लेकर, उधर सव्वलपुर की वस्ती तक, लगभग दो मील फैली हुई गंगा। गंगा पर भी अन्धकार की ऐसी चादर बिछी हुई थी कि अगर उसका कल-कल शब्द नहीं होता, हम कल्पना भी नहीं कर पाते कि सामने नदी है।

उस पीपल पेड़ के नीचे, एक किनारे वैठकर, हम अमा-निशीथ का सम्पूर्ण सौन्दर्य्य देख रहे हैं।

हाँ, सम्पूर्ण सौन्दर्य्य। अंजन-वर्ण कालिमा। आसमान से जैसे कालिमा बरस रही है। कभी-कभी मुश्किल से जो साँय-साँय कर निकल भागती है, वह हवा भी मानों कालिमा वो जाती है। कालिमा के वे वीज गंगा की आर्द्रता पाकर अंकुर लेते, पौधे वनते, फिर अपनी डाल-पात आसमान में फैलाकर अखंड कालिमा में लीन हो जाते हैं।

और वह देखिए, गंगा की उन अदृश्य लहरियों पर कौन नाच रही है? ऊपर अन्धकार का चँदोवा तना है, नीचे अन्धकार का फर्श बिछा है। अगल-बगल अन्धकार के राजकुमार बैठे तमाशा देख रहे हैं। और, वह नाच रही है, आप नहीं देखते? वह अमा-सुन्दरी नाच रही है! उसके हाव-भाव देखिए, तोड़-मरोड़ देखिए, लटक-चटक देखिए—वह उसने गर्दन तिरछी की, यह उसकी कमर लचकी। ओहो, दर्शकों की यह व्याकुलता ! कैसी अपार हर्ष-ध्वनि !

यह हर्ष-ध्वनि है?– नहीं, आवर्त्त का गर्जन है। गंगा में कहीं भँवर पड़ रहा है, कहीं लहरें टकराकर यह शोर कर रही हैं।

इस पार यह किनारा, यह पीपल का पेड़, जिसके सर पर जुगनुओं का भुक-भुक। उस पार वह सव्वलपुर गाँव, जहाँ एक दीपक का टिम-

टिम तक नहीं। हाँ, उसके पीछे सोनपुर स्टेशन में जलनेवाली बिजली बत्तियों की, ऊपर उठकर फैली हुई प्रकाश-रेखा क्षीण, अस्पष्ट। बीच में गंगा मैया का विस्तार, जिस पर अमा ने अपनी काली मखमली चादर बिछा रखी है।

ऐं, यह शब्द कैसा? कोई माँझी गा रहा है क्या? उसी समय जैसे सोये से उठकर, झिगुरों के एक दल ने पीछे से शहनाई टेरी। फिर मेढ़की को ही क्यों जुकाम हो! उसका टर्र-टर्र भी शुरू हो गया।

इधर किनारे पर ये तरह-तरह के बाजे और गाने और बीच में वह अनवरत नृत्य, मैं निर्निमेष जिसे देख रहा! निर्निमेष– या बिलकुल आँखें बन्द किये।

उसी समय राहुल बाबा ने कहा– देखो, वह जहाज आ रहा है; कैसा सुन्दर!

दीघाघाट से एक व्यापारी जहाज कलकत्ता की ओर, जा रहा था। उस पर जलनेवाली बत्तियों की रोशनी उसकी गति से उत्पन्न शत-सहस्र तरंगों पर खेल रही थी! उसके सामने का ज़ोरदार सर्च-लाइट, अन्धकार के हृदय को दो टुकड़ों में बाँटता, बढ़ता आ रहा था! बेचारा अन्धकार चीख रहा था। अमा-सुन्दरी के फर्श के तार-तार उड़ चले थे। कहाँ गया वह नृत्य, कहाँ गये वे अपरूप दर्शक? उस चतुर्दिक-व्यापी अन्धकार में जहाज का झलमल, निस्सन्देह ही, मुग्धकर था! लेकिन मेरा हृदय, न जाने क्यों, उस अन्धकार और रोशनी के क्रीड़ा-कौतुक को पसन्द नहीं कर सका। मुझे ऐसा लगा, मानों यह रंग में भंग हुआ, तमाल के वन में किसी अरसिक ने अचानक आग लगा दी!

राहुलजी कोई ऐतिहासिक कहानी कह रहे थे, जब पटना से इसी तरह जहाज चलते होंगे और लंका पहुँच कर धर्म का सन्देश देते होंगे.....! किन्तु, मेरे कान कह रहे थे, कृपा कर चुप रहिए, एक बार फिर उस मलाह को गाने दीजिए, झिंगुर की झंकार सुनाने दीजिए...; और, मेरी आँखें कहती थीं, दूर हो, यह दानव-काय जहाज! एक बार फिर कालिमा फैले, अंजन बरसे और अमा-सुन्दरी नृत्य करे!

सरसों के समुद्र में

बस, एक दृश्य और। बात को अधिक बढ़ाना ठीक नहीं, और मधुरेण समापयेत्।

वसन्त कश्मीर का। मेरी बदनसीबी समझिए, मैंने वहाँ का वसन्त वैभव नहीं देखा। हाँ, किताबों में पढ़ा है, मित्रों से सुना है, बहुरंगी तस्वीरें देखती हैं। उल झील में कमलों का वह वन, जिन पर शिकारे तैर रहे। बर्फ से लदी चोटियों पर प्रातः सूर्य की वे स्वर्ण-रश्मियाँ। लेकिन, मुझे सब से विशेष रुचिकर लगता है, घरों के ऊपर आप-से-आप उग आये पौधों का वह रंग-बिरंगा संसार, जिसे मानव-हाथ छू नहीं पाते, मानव-पद अपवित्र नहीं कर सकते।

खैर, जाने दीजिए उन बातों को। मैं इस भरे वसन्त में आपको एक छोटी-सी गँवई में ले जाना चाहता हूँ।

जन्मभूमि प्यारी होती है– बेनीपुर भी मुझे प्यारा है। वहाँ क्या है– कह नहीं सकता; किन्तु, उसकी मिट्टी में कोई आकर्षण ज़रूर है, जो मेरे ऐसे वहशी को बार-बार अपनी ओर खींचता है, खींच लेता है। लेकिन, मेरा दावा है, बेनीपुर में और कुछ न हो, चन्द दिन ऐसे हैं कि जिनके बल पर वह आपको भी बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।

वे दिन हैं– जब सरसों फूली हुई होती है। एक-दो खेतों में छिट-फुट सरसों को फूला हुआ देखकर ही हम फूले नहीं समाते; किन्तु, वहाँ तो सरसों का समुद्र लहराया करता है।

बागमती की कृपा से इधर नाले, पोखर, चौर भरकर जो पूरी की-पूरी सपाट – चौरस बन गई है; उस ज़मीन पर आप माघ में पहुँचिए। ज्यों ही बेदौल से आप बाहर होंगे, आप समझिए, सरसों के समुद्र के कूल पर पहुँच गये। ज़रा, पूरब की ओर नज़र कीजिए, पीला, पीला, पीला– जहाँ तक आपकी नज़र पहुँच सकती है, पीला ही पीला! क्या पीत समुद्र का एक टुकड़ा, किसी जादूगर ने यहाँ ला पटका है? किन्तु, कहाँ पीत सागर, जहाँ का पानी खारा, मुर्दा; यहाँ तो जीवन तरंगें ले रहा है, सुगन्ध सपक्ष उड़ रही है। ऊपर, ऊँचे, वह सूपा-बेनी अपने हरे परों को आसमान की नीलिमा में खोने की चेष्टा करती हुई, सीटी-पर-सीटी बजा रही है। नीचे फुदगुद्दियाँ फुदक रहीं, बगेरियाँ चहक रहीं और बीच में तितलियों की चमचम और भौरों की भनभन आपके प्राण-मन को व्याकुल बना रहीं। कहाँ वह पीत सागर– कहाँ यह सरसों का समुद्र–कोई तुलना नहीं, कोई उपमा नहीं।

आइए, इस समुद्र में धँसिए। डूबने का डर नहीं, जान को ख़तरा नहीं। इसमें ग़ोते लगाइए, प्राण को जुड़ाइए। बीच की पगडंडी से आप बढ़े चलिए! सरसों की पंखुड़ियाँ कभी आपके विशाल वक्ष पर गिर-गिर पड़ती हैं, कभी उचक उचक कर आपकी रसीली अधरों को चूमने की कोशिशें करती हैं। आप कितने अरसिक हैं! प्रेम का प्रतिदान देना आपने जाना नहीं? लीजिए, जिसका आपने अपमान किया, वही अब आपके सिर पर है। आपको पास आईना होता, तो आप देखते, आपके सिर के मुलायम वाल इस समय सरसों की पतली-पतली पंखुड़ियों का घोसला बन चुके हैं!

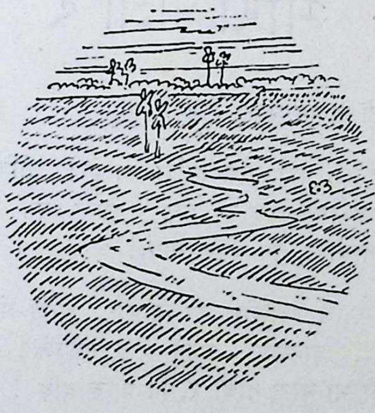
कहीं इस पीली-पीली दुनिया से आपका मन ऊब न जाय, इसलिए बीच-बीच में, भोजन में चटनी की तरह, यह देखिए, यह क्या है? यह, यह मटर का बाजार है—हरी चादर पर कारचोबी का काम! यह केराव का खेत—वही शोभा, लेकिन बैंगनी की बहार! यह गेहूँ-गेहूँ—शुभ्र हरीतिमा ; लम्बी बालियों में किसका मन न उलझे! ज़मीन से सटीं, सिमटी ताक रही हैं चने की क्यारियाँ—सौन्दर्य्य है ; सलोनापन भी, आप आक्रृष्ट क्यों न होंगे? लेकिन, वे कौन आँख तरेड़ रही हैं—गुस्से में काँप रही हैं? उनकी नीली-नीली आँखें मानों फटी पड़ती हैं। छोटी, पतली तीसी-कुमारिकायें—इतना नाज़-नखरा ठीक नहीं। ज़रा लोक-लाज भी देखो। तुम्हारी इस शोखी पर वह एकाकी अरहर शरमायी जा रही है—पीली-पीली हुई जा रही है।

सौन्दर्य्य और संगीत का आन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ही। पूर्वा हवा की सनन्न्, पक्षियों का कलरव, भौरों की भनभन तो थी ही, मानव-मन भी अपने को ज़ब्त न कर सका। उसके कंठ फूट चले। किसी एक ने होली की एक कड़ी गा दी, बस, समूचे सरेह में संगीत की ध्वनि-प्रतिध्वनि जग उठी। संगीत भी संक्रामक है—वह बूढ़े बाबा का पोपला मुँह भी ताना-रीरी का शौक़ पूरा करने लगा।

बीच में यह किसकी चूड़ियाँ खनक उठीं? किसका झूमका झमझमा उठा? किसके कड़े-छड़े एक अजीब स्वर-लहरी की सृष्टि कर उठे? वह कौन है? आपने उसे कभी शहरों में देखा है? अपने काले बालों में अपने गोरे चेहरे को छिपाती, अपने वासन्ती वस्त्रों में अपने चम्पई अंगों को चुराती वह आपको देखते ही जगंली हिरन की तरह चौंकी, भागी और इस सरसों के समुद्र

में ग़ोते लेकर छिप गई ? छिप गई--अब आप सिर्फ ऊपर की तरंगों को गिनते रहिए ?

विद्यापति का--'दक्षिन पवन बहु धीरे'—उनकी पुस्तक या उनके प्रशंसकों के कंठों तक ही रह गया ; लेकिन, 'री पुरवैया धीरे बहो'—लोकगीत बनकर जो करोड़ों कंठों को आप्यायित किया करता है, क्यों ? इस सरसों के समुद्र में ही इसका उत्तर पाइयेगा ? पुरवैया बही नहीं कि इस शान्त-पीत समुद्र में तरंग-पर-तरंग उठने लगी। पहले एक सिहरन-सी, फिर, होते-होते, ढेहू तक। बड़े-बड़े ढेहू—एक-पर-एक। सरसों की पतली सुकुमार पंखुडियाँ पुरवैया के झोंके पर उड़ रहीं। हवा में पराग के कण। इस पराग और पंखुड़ियों के चलते हवा भी एक अजीब पीलेपन में डूबी। इनके स्पर्श से, लहर से, झकोर से मन भी क्यों न पीले रंग में, वासन्ती मादकता में, रँग जाय ?





मीरा नाची रे

मीरा नाची रे, पग घुंघरू बाँध !

अट्टालिका का घेरा, वंश-मर्यादा का घेरा, लौकिक पतिव्रत का घेरा, पारलौकिक स्वर्ग-नरक का घेरा ! किन्तु, सब को तोड़ कर, लाँघ कर मीरा नाची रे, पग घुंघरू बाँध !

चारो ओर से छि: छि: की बौछार, चारो ओर से धिक्कार और फिटकार ! बाहरवाले कहते हैं निर्लज्जे ! घरवाले कहते हैं—कुलटे ! तो भी मीरा नाची रे, पग घुंघरू बाँध !

पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे, पग घुंघरू बाँध !

यह है मणिधर सर्प की माला ; यह है हलाहल विष का प्याला । किन्तु, मीरा नाची रे······

घर छोड़ा, द्वार छोड़ा, कुटुम्ब छोड़ा, परिवार छोड़ा, जीवन-धन पति छोड़ा ; किन्तु, पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे !

सदियों के थपेड़ों ने उस अट्टालिका को घुस्स में मिला दिया ; उस वंश की मर्यादा भी अछूती नहीं रही ; उस राणा का नाम भी लोगों को याद नहीं ; किन्तु, आज भी मीरा नाची रे !

मीरा नाची रे ! घर-घर में, दर-दर में, शरीर-शरीर में, हृदय-हृदय में——मीरा नाची रे, पग घुंघरू बाँध ?

रंग-विरंगे चलचित्रों में, इथरिक ध्वनियों में——जहाँ मनुष्य के कान और आँख की गति है, सब जगह——मीरा नाची रे ?

कंठ मीरा के गीत गाते हैं, कान मीरा के गीत सुनते हैं, आँखें मीरा के चित्र देखती हैं । यत्र, तत्र, सर्वत्र——मीरा नाची रे, पग घुंघरू बाँध ?

मीरा की जय, नृत्य की जय !

पग की जय, घुंघरू की जय !!

उस विद्रोहिणी मीरा की जय, जिसने अपने हृदय की पुकार पर बौछारों और धिक्कारों की उपेक्षा की ।

उस नृत्य की जय, उस पग की उस घुंघरू की जय, जिसका ताल, जिसकी झंकार सदियों के बाद भी हमारी अनुभूतियों में जिवित और जागृत है ?

गाइये——

पग घुंघरू बाँध मीरा नाचो रे ? मीरा नाची रे, पग घुंघरू बाँध !

× × ×

हमारे कॉलेज की लड़की ; पार्ट तो बहुत अच्छा करती है ; किन्तु स्टेज पर ······ ?

उस लड़की का नृत्य, क्या कहना ? किन्तु, उसके माँ-बाप ···

आपका नाम ?

रेडियो स्टेशन में मेरा नाम तो है रेखा ; लेकिन घर में······

यह छिपाव ? यह दुराव ?

गाने का शौक है; किन्तु, कहीं पतिदेव ?......

मा-बाप, पतिदेव !

और हम में ऐसे मा-बाप भी हैं, जिन्हें आप सुशिक्षित-शिरोमणि भी कह सकते हैं ! ऐसे पतिदेव हैं, जो अपने क्षेत्र में क्रान्तिकारी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं !

किन्तु वे अपनी पुत्री को स्टेज पर उतरने नहीं देंगे; वे अपनी पत्नी को नाचते देख कर शायद विष खा लेंगे !

गाती हो तो ठीक ! पिताजी हाईकोर्ट से लौटें तो उन्हें एक भजन सुना देना ! पतिदेव कॉलेज से आयें, तो एक प्रेम-गीत गा देना !

डार्लिंग !—'हे री, मैं तो प्रेम-दिवानी ; मेरा दरद न जाने कोय !'

बेटी—'मेरे तो गिरधर, गोपाल, दूसरो न कोई !'

हाँ, इस पिताजी को 'मीरा' का शौक़ है, इस पतिदेव को 'मीरा' का शौक़ है।

क्यों न हो, मीरा सब पर छा रही है, सब जगह छा रही है न ?

किन्तु, मीरा के ये प्रेमी अपने घर की मीरा के साथ क्या कर रहे हैं, क्या वे कभी सोचते हैं ?

किन्तु, मीरा के अभिभावक यही करते आये हैं, यही करते रहेंगे। युग बदलते हैं, पिता और पति नहीं बदलते !

किन्तु सवाल है, मीरा क्या कर रही है ?

× × ×

बोलो, ओ देश की असंख्य मीराओ ! तुम क्या कर रही हो ?

देश में सांस्कृतिक नवजीवन लाना है। देश का नव पुनरुत्थान करना है।

राजनीति बिना नारी के सध भी जाय; किन्तु, संस्कृति में नारी का सहयोग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

सृष्टि-साधना का फूल है नारी; मानव-साधना का फूल है संस्कृति।

फूल से फूल की शोभा है !

अपने गाँवों में, नगरों में हमें संस्कृति का जो समावेश करना है; क्या वह बिना नारी के सहयोग के सम्भव है ?

अपने उजड़े गाँवों, नीरस नगरों को हमें सौन्दर्य्य और संगीत से ओत-प्रोत कर देना है, नृत्य और वाद्य से मुखरित और गुजरित कर देना है।

हमें ऊसर में फूल खिलाना है; ध्वंस पर कंचन-मन्दिर स्थापित करना है।

अंधेरे घर में अखंड ज्योति जलानी है।

क्या, यह सब बिना नारी के सम्भव है ?

किन्तु नारियों को तो अट्टालिकाओं ने घेर रखा है। अभिभावकों ने दबोच रखा है। फिर क्या हमारे ये स्वप्न स्वप्न ही रह जायँगे ?

हाँ, स्वप्न, स्वप्न रहेंगे, यदि हमारी मीराओं ने मीरा का अनुकरण नहीं किया।

वंश-मर्यादा, पतिव्रतधर्म—सबकी क़ीमत है, बड़ी क़ीमत है ! इनकी रक्षा होनी चाहिए। किन्तु समाज की पुकार, कला की पुकार, मीरा की पुकार, उससे भी अधिक क़ीमत रखती है !

सिसौदिया के सूर्य्य को आँखें तड़ेरने दो, राणा के क्रोध को आग बरसाने दो।

तुम अपने संगीत और नृत्य से राजभवन को भर दो, राजधानी को भर दो ! फिर चित्तौड़ से वृन्दावन और वृन्दावन से द्वारका तक के डगर-डगर को भर दो।

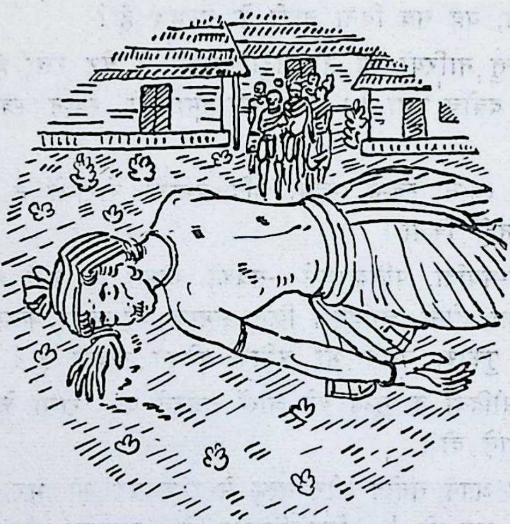
तुम्हारे घुंघरू की झंकार इनके धिक्कार और प्रहार को प्रशंसा और प्रणति में परिणत करके रहेगी !

कल की मीरा अमर हुई, आज की मीराएँ भी अमर रहेंगी !

कल की मीरा की जय ! आज की मीराओं की जय !

गाओ, नाचो—पग घुंघरू बाँध, मीरा नाची रे, मीरा नाची रे !





डोमखाना

बाप रे, मरे रे!

एक हल्ला। सारा महल्ला सड़क पर निकल आया। सामने हरखुआ पड़ा है। सिर से ख़ून की धारा चल रही है। चेहरा, बदन, कपड़े—सब ख़ून से तर हैं!

बार रे, मरे रे !

यह क्या हुआ? यह किसने किया? जमादार ने मारा होगा! ज़मादर है या कसाई? और, उसने समझ क्या रखा है? पुराना ज़मांना लद गया। रिक्सा लाओ, थाने ले चलें। बदमाश को सबक़ सिखायेंगे ?

हाँ; हाँ, आप बहुत ठीक कह रहे हैं! ओ रिक्सा! रिक्सा! कई लोग पड़ाव की ओर दौड़े जा रहे हैं।

बाप रे, मरे रे !

इसकी डोमिन कहाँ है—सुहगिया ? ओ सुहगिया ! सुह-

गिया को बुलाओ भाई। कहो, कहो—थोड़ा पानी लेती लावे। जमादार ! साला कसाई ! बच्चू को जेल न भिजवाया, तो मेरा नाम नत्थू नहीं ! सुहगिया, ओ सुहगिया !

पानी ? —इसे पानी नही, ज़हर दूंगी। आँधी–सी सुहगिया आई ! हाथ में 'दाव', जिससे ख़ून चू रहा—दर्शकों को चीरती हरखुआ के नजदीक पहुँची।

बाप रे, मरे रे !

तूने इसे मारा है ?—एक सज्जन उसके दाव की ओर देखते हुए बोलते हैं !

अभी तो सिर पर मारा है—अबकी इसकी गर्दन काट लूंगी। निगोड़ा दिन भर बैठा रहता है और मेरे बटुए से पैसा चुराकर ताड़ी पीता है ; उल्टे मुझी पर दाव चलाने आया था ! उठ रे, उठ !

सुहगिया ने हरखुआ का हाथ पकड़ा। खींचा। वह लड़-खड़ता उठा। उसे घसीटती हुई वह डोमख़ाने की ओर चली। दर्शक एक-दूसरे का मुँह देख रहे थे !

तब तक एक नौजवान देशभक्त रिक्सा लेकर पँहुच चुके थे। जैसे एक बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हों, वह तमक कर बोले—कहाँ गया वह ?

'वहाँ, उस तरफ़ !' डोमख़ाने की ओर उँगली उठी—और, सब ठट्ठा मार कर हँस पड़े।





कंजड़ों की दुनिया

एक तरफ सड़ी हुई नाली, दो तरफ ऐसा मैदान, जिसे शहर में आने वाले गँवारों ने गन्दा-गन्दा कर रखा है, एक ओर ऊबड़-खाबड़ सड़क जो दिन भर धूल उगलती है।

और, बीच में कंजड़ों की एक दुनिया—तीन परिवारों के तीन छोटे-छोटे 'घर' नाम की चीजें; जिनमें दीवाल की जगह हवा और छज्जे की जगह टाट के फटे-चिटे सौ-सौ टुकड़े।

माँ भी हैं—प्रेयसी भी। बहन है और सरहज भी। गोदी के बच्चे हैं, बूढ़े बाबा भी और तीन घरों में चार नौजवान भी। लड़कियाँ तन्दुरुस्त शरीर की; हँसें, तो गालों में गड्ढे पड़ जायँ। युवतियाँ—कसे हुए अंग, आँखों में सुरमा और रंगीनी भी। बच्चों की किलकारियाँ, नौजवानों की तान और बूढ़ों की तानारीरी। स्त्रियों के कोमल कंठ की काकली और जब-तब गाली-गलौज के कर्कश स्वर भी।

टाटों के उस छज्जे के बाहर एक छोटा-सा आँगन बना लिया गया है। वह कभी गोबर से लिप-पुत भी जाता है। आप भोर में वहाँ पहुँचे, तो देखेंगे मर्द अलसाये पड़े हैं, स्त्रियाँ एक अजीब किस्म के औज़ार पर लगातार रस्सी बाँट रही हैं। दोपहर के

बाद—यानी तीसरे पहर, चूल्हे जल रहे, आटा गूंधा जाता, रोटियाँ सिक रहीं और गरमागरम बँट रहीं। और, शाम के बाद यहाँ रोशनी नहीं कि आप कुछ देख सकें। हाँ, एक अजीव कलरव—नहीं, कोलाहल। इन्होंने बेतरह ढाला है—कोई एक अनाड़ी आदमी भी कह देगा।

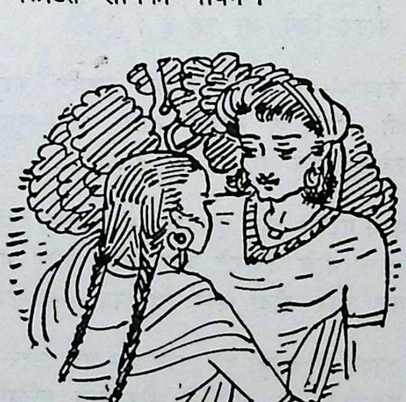
ये कंजड़—यह खानाबदोश जाति! न जाने कब इसे बस्तियों से बहशत हुई—घर से घृणा। आज यहाँ, कल वहाँ। और, ज़माने के थपेड़ों ने इसकी सारी बहशत भुला डाली, मजबूर किया बसने को—किन्तु कहाँ, किस जगह..........?

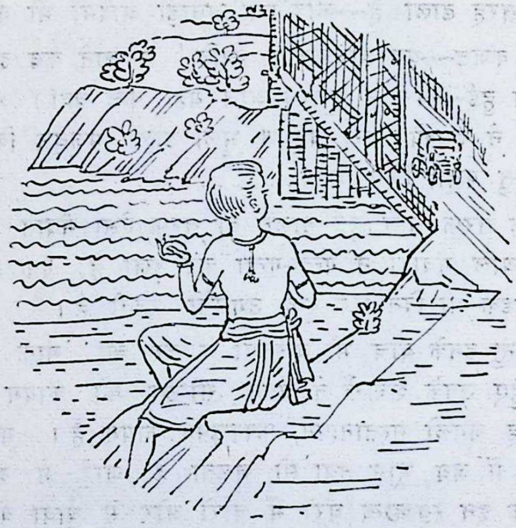
एक तरफ सड़ी हुई नाली, दो तरफ ऐसा मैदान, जिसे शहर में आने वाले गँवारों ने गन्दा-गन्दा कर रखा है; एक ओर उबड़-खाबड़ सड़क जो दिन भर धूल उगलती रहती है।

किन्तु इनके बीच भी बस्तियों से दूर की साफ हवा युगों से पिये हुए उनके शरीरों ने अपने सौष्ठव को कायम रखा है, उनका वह जंगली मस्तानापन, फक्कड़पन कायम है। गर्मी—पटना की गर्मी में जब भूमि तवा सी जलती है; जाड़े में जब पछवा हवा उनके इन स्वच्छन्द घरों में चारों ओर से धावा बोलती है; बरसात में जब उनके घरों में पानी बहता, कीचड़ होता; तब भी, वे इस जंगल में मंगल मनाते होते हैं।

इस छोटी-सी दुनिया में मातृत्व पलता है, वात्सल्य उमड़ता है, आँखमिचौनी होती है, रास रचता है, प्रेम-कलह मचता है और प्रायः ही कोई कन्हैया—

"बैठ्यो पलोटत राधिका पायन।"





चक्के पर

हड़हड़ करती मोटर गंडक के किश्तीनुमा पुल को पार कर रही थी। एक बच्चा, गंडक के किनारे बैठा, आम चूस रहा था। हड़हड़ सुनकर उसका ध्यान पुल पर गया और उसने देखा उसके ड्राइवर काका मोटर लिये आ रहे हैं।

ड्राइवर काका—एक सेकेंड में ही ड्राइवर काका के अनेक स्नेह-चित्र उसकी आँखों के सामने नाच उठे—चुमकार रहे हैं, लेमनचूस दे रहे हैं, कन्धे पर ले रहे हैं......

एक हाथ में गुठली और एक हाथ में छिलका लिये, मुह के आम के रस को कंठ के नीचे उतारते और होंठ और गाल पर पीला रस चहवोचे वह ऊपर दौड़ा और चिल्लाया—का-का.....

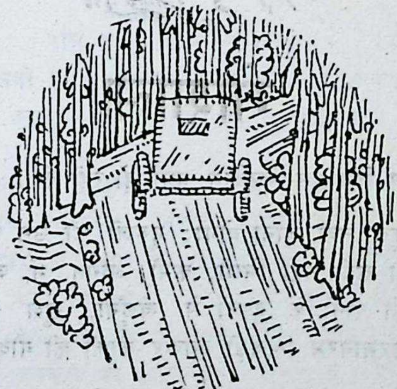
ड्राइवर काका की गाड़ी पुल पार कर अब ऊपर चढ़ने पर थी। काका के पैर एक्सलेटर पर जमे थे और हाथ स्टीयरिंग ह्वील पर नाच रहे थे। मोटर ज़ोर से आवाज़ करती हुई सर-से ऊपर दौड़ी।

बच्चा अब पुल पर था, वह चिल्ला उठा—का-का...का-का।

किन्तु, वह बेचारा क्या जानता था कि जब आदमी चक्के पर होता है, गति में होता है, ऊपर चढ़ने और आगे बढ़ने की होड़ाहोड़ी में होता है, तब इधर-उधर मुँड़कर देखना भी अपराध हो जाता है!

ड्राइवर काका के कान ने कुछ क्षण पहले एक क्षीण स्वर का अनुभव किया था; किन्तु, वह स्वर मूर्त्त नहीं हो पाया था कि अब तो वह मोटर की अति क्षिप्र गति में लीन हो चुका था।

मोटर सर-सर सर-सर भागी जा रही थी—अगल-बगल के अनेक स्वरों को योंही कुचलती, दबाती, दबोचती।





गोशाला

उस दिन रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही थी।

आज स्कूल नहीं जाना होगा; गुरूजी की उस हरी-हरी खजूर की छड़ी से ही छुट्टी नहीं मिली, कभी आँगन में जाकर नाचूंगा, नहाऊँगा; कभी पानी के बुल्लों से खेलूंगा, खुश होऊँगा; और उसके बाद, गरमागरम खिचड़ी खाकर काकी की गोद में सोऊँगा!

किन्तु उस वर्षा में भी देखा, मेरे गाँव के रामफल काका कीचड़ ठेलते, सिर पर छाता ओढ़े, लेकिन ज़्यादातर भींगते, बढ़े जा रहे हैं—मेरे पड़ोसी अक्कल के दरवाज़े की ओर!

रामफल काका—मेरे गाँव के सबसे धनी, किन्तु कंजूस!

अक्कल—एक गरीब मजदूर, किन्तु हरफनमौला!

"अक्कल, ज़रा चलो, भानस घर के खपड़े उघड़ जाने से समूचा घर पानी-पानी हो रहा है, खाना-पीना बन्द है; चलो, ज़रा खपड़ों को दुरुस्त कर दो—बाल-बच्चे भूखों छटपट कर रहे हैं।"

"'मेरी तबीयत ठीक नहीं—माफ कीजिये; तबीयत अच्छी होती, तो हुकुम सिर-आँखों पर।"

अक्कल रामफल काका का काम प्रायः ही करता, किन्तु उसे सबसे ज्यादा तो इस बात की चिढ़ थी कि कंजूसी के मारे अच्छे दिनों में तो ये घर दुरुस्त नहीं कराते और इस आफ़त में जान लेने आये हैं, जैसे ग़रीब की देह देह ही नहीं ! और उसे सर्दी लग गई थी, वह रह-रह कर ढाँसता था, यह बात तो हम पड़ोसी जानते ही थे।

किन्तु रामफल काका के शाम-दाम, दंड-भेद के सामने उसे झुकना ही पड़ा। फटी काली कमली ओढ़े अक्कल को मैंने रामफल काका के पीछे-पीछे जाते देखा !

× × ×

अक्कल। पाँच हाथ का लम्बा जवान। रंग—वही भारत के आदिनिवासियों का। विदेशी आर्यों के रक्त-मिश्रण का प्रभाव रंग पर न पड़कर आकार पर ही पड़ा था। हट्टा-कट्टा !

जिस खेत की कोड़नी में अक्कल पहुँचा, उसके खर-पात अक्कल के नाम पर रोयें। उसकी कुदाल क्या थी—परशुराम और बलराम के कुठार और हल की खिचड़ी थी ! ऐसा 'महीन' जोतने वाला हलवाहा कहाँ मिलेगा ? घर बनाने-छाने में तो उस्ताद। गाँव में जितने अच्छे मकान हैं, चाहे उनकी दीवाल बनाने में या छप्पर छाने में अक्कल का कुशल हाथ ज़रूर है। रामफल काका का वह शानदार बँगला अक्कल की वास्तुविद्या के अपार ज्ञान का एक उत्कृष्ट नमूना है। अपने इन गुणों के चलते अक्कल मजदूर होकर भी काफी खुशामदें पाता रहा—पैसे भी।

उसके दो बेटे और एक बेटी थी। बेटों का लालन-पालन उसने औक़ात से ज़्यादा अच्छे ढंग पर किया और बेटी को तो वह इस शान से रखता कि गाँव की 'बबुइयाँ' भी मन-ही मन चिढ़तीं।

अक्कल की उदारता की चर्चा भी होती। गाँव में कभी साधु-संत आते, तो उनकी सेवा अक्कल जरूर करता ! वह काम

करने में राक्षस था। उसकी आमदनी साधारण मजदूरों से ज्यादा तो थी ही; एक गाय भी पाल रखी थी और दो-तीन बकरियाँ भी। इनसे भी काफी पैसे आते!

× × ×

मैं अब शहरी जीव हूँ। कभी-कभी मन बहलाने को अपने गाँव मैं चला जाता हूँ।

एक दिन, अपने दरवाजे पर बैठा, मैं एक विलायती मैगज़ीन पढ़ रहा था। एक छोटी-सी रूप-कथा थी। मैं सोचता, उफ़, ये विदेशी कलाकार कैसी जीवन्त तस्वीरें खींचते हैं! क़लम है या रंगीन कूची!

'सलाम बबुआ'।'

आँखें न उठीं—मैं कुछ पढ़ने में ग़र्क था, कुछ ग़र्क होने का स्वाँग भर रहा था—कुछ उपेक्षा भी थी। दिन भर इन देहातियों के मारे परेशान जो रहता हूँ।

फिर वही आवाज़—मैंने आँखें उठाईं। एक लकुटिया और दो सूखे पैरों के सहारे, तीन टाँग के जानवर-सा झुका एक आदमी दीख पड़ा। चेहरे पर ग़ौर किया—काले चेहरे को सफेद-सफेद बालों के ठूँठ और भयानक बना रहे। गरदन लगातार हिल रही!

'मैं हूँ बबुआ, अक्कल!'

मैं चौंक पड़ा! क्या वही अक्कल आज ऐसा हो गया?

बेचारा अक्कल अब भीख माँगता है। जिसने गाँव भर को घर दिया, वही बे-घर-बार का है। एक बच्चा जाता रहा, दूसरा, शादी होते ही अपनी ससुराल चल दिया। बेटी तो पराये की होती ही है! उसकी प्यारी पत्नी बुधनी भी चल बसी है! कोई काम-धाम उससे बन पड़ता नहीं। इतनी कमाई तो कभी हुई नहीं कि इतना संग्रह कर पाता कि इन बुरे दिनों को सुख चैन से काटता। सिवा भीख के दूसरा चारा क्या?

और, भीख भी क्या सदा मिलती ही है? भूख-प्यास का मारा अक्कल यह हड्डी का ढाँचा बन रहा है!

"बबुआ, मैं आप से भीख माँगने नहीं आया, एक नालिश करने

आया हूँ—बबुआ, तुम्हीं निसाफ करो, तो हो; नहीं तो रामफल बाबू के खिलाफ कौन जीभ खोले?"

अक्कल ने कथा सुनाई। किस तरह ज़िंदगी के उठान के समय उसने अपनी पूरी शक्ति रामफल बाबू को मजदूरी में दी, किस तरह कितनी ही परती ज़मीन को उसने उनके लिए हरा-भरा खेत बना डाला; किस तरह उसने उनके पशुधन की वृद्धि की; किस तरह उसने उनके ये मकान बनाये, जिनपर पड़ोस के बड़े-बड़े बाबुओं को ईर्ष्या होती है, लेकिन—

लेकिन, और बातें जायँ जहन्नुम में; अक्कल के साथ आज एक महान् अन्याय किया गया था। जाड़े का दिन—दिन नहीं, रात। न घर, न कपड़ा। रामफल काका के दरवाजे पर एक बड़ा 'घूर' लगता है। बेचारा अक्कल दिन-भर भीख माँगता, रात में उनके पुआल के टाल में घुस कर सो जाता और जब कभी जाड़ा लगता, उनके घूर में जाकर आग तापता। किन्तु आज रामफल काका ने उसे वहाँ से निकाल दिया है। क्यों? क्योंकि वह रातभर ताप-ताप कर आग खतम कर देता है और खाँस-खाँस कर चारों ओर थूक-थूक कर डालता है!

"बाबू, ज़िन्दगी भर उनकी सेवा की। इस बुढ़ापे में खाना-पीना कपड़ा-लत्ता, घर-दुआर देनें से रहे, क्या घूर की आग से भी मुझे महरूम किया जाना चाहिए?" यह थी उसकी दलील। मैं क्या जवाब देता? मेरी आँखों में बचपन का बरसात वाला वह दृश्य नाच उठा! आँखों की बरसात ने शायद उत्तर देना चाहा!

× × ×

शहर में गोशाला का उत्सव था। मैं उसमें शामिल होकर, अपने गाँव की ओर जा रहा था!

मुझे खुशी हो रही थी, गोशाला के सम्बन्ध में मेरे गाँव की भी चर्चा हुई थी। रामफल काका ने दो गाड़ी पुआल गोशाला के लिए दिया था। गोशाला के मंत्री ने इसका उल्लेख किया था।

गोशाला—बूढ़ी अपाहिज गौओं, बैलों की रक्षा के लिए कितना सुन्दर प्रबन्ध! चाहिए भी; भला जिन गौओं ने हमें ज़िन्दगी भर दूध और बछवे दिये, जिन बैलों ने अपनी हड्डियाँ घुला कर ज़मीन को ज़रखेज़ बनाया, अन्न की राशियाँ दीं, उनके बुढ़ापे का तो कोई प्रबन्ध होना चाहिये! गोशाला, मनुष्य की मनुष्यता का एक सुन्दर प्रतीक!

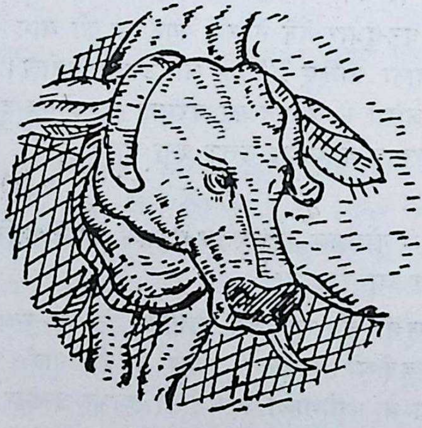
यों ही साइकिल सरसराता, सोचता चला जा रहा था कि रास्ते में एक झुकी हुई आदमी की सूरत-सी दीख पड़ी। यह अक्कल ! कहाँ चले अक्कल ?

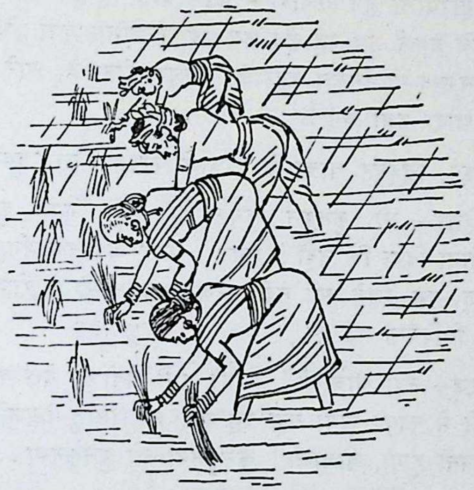
"गाँव में अब गुज़र नहीं होती बबुआ ! जा रहा हूँ, कहीं माँग-मूँग कर खाऊँगा और राम-नाम लेते......"

अक्कल की आँखों से बड़े-बड़े बिल्लौरी दाने गिर रहे थे ! वे धँसी आँखें मानों चिर-संचित मुक्ताओं को उगल रही थीं !

अक्कल अपने गाँव को सदा के लिए छोड़ कर जा रहा है। कहाँ ? जहाँ कहीं भी उसे पेट के खड्ड के भरने के लिए एक मुट्ठी अन्न और इस शरीर के पसारने के लिए तीन हाथ ज़मीन मिल जाय।

मनुष्य ने बूढ़े पशुओं के लिए गोशालायें बनवाई; किन्तु बूढ़े मनुष्यों के लिए ? रामफल चाचा को बूढ़ी गायों से इतनी मुहब्बत और उस बूढ़े आदमी के लिए, जिनके ......?





रोपनी

हमारा देश कृषि-प्रधान है। खेती पर ही यहाँ की श्री-सम्पन्नता निर्भर करती है। खेती में अच्छी फसल आई, हमारे देश में सुख आया, आनन्द-उत्साह आया। खेती मारी गई, चारों ओर मुर्दनी ही मुर्दनी— सूखे चेहरे, झिपकती आँखें, डगमगाते क़दम। कृषि में वृद्धि, देश में उन्नति। हमारे राष्ट्र-रथ की धुरी है कृषि, कृषि।

कृषि की प्रत्येक क्रिया हमारे यहाँ त्योहार है... जुताई, कोड़ाई, पटाई, रोपनी, निकौनी, कटनी ... सब के साथ हमारे हृदय की भावनाएँ गुथी हैं। हाथ-पैर काम करते हैं ज़रूर, लेकिन इन क्रियाओं के अवसरों पर सिर्फ हाथ-पैर चला कर ही हमें सन्तोष नहीं। ऐसे मौक़ों पर हम गाये विना रह नहीं सकते...खेतों में, खलिहानों में, आरों पर, डँरेड़ों पर हम अपना हृदय निकाल कर रख देते हैं !

इन क्रियाओं में रोपनी का महत्त्व बिहार में सब से अधिक है। धान की खेती हमारे यहाँ सब से बड़ी खेती है। और धान की खेती की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण क्रिया है रोपनी !

और, रोपनी के लिए समय भी कितना सुहावन! आषाढ़-सावन के दिन। आसमान में काले-काले बादल उमड़ रहे हैं। चारों ओर हरियाली ही हरियाली है। तालाबों में मेढ़क बोल रहे हैं। काली फिज़ा में उजले-उजले बगले उड़ रहे हैं। जब तब रिमझिम वर्षा हो जाती है। पृथ्वी से सुगन्ध-सी निकल रही है। मालूम होता है, सारे संसार पर इन्द्रजाल छाया हुआ है!

आइये, सिंहेसर चाचा के दरवाज़े पर का ज़रा दृश्य देखें....

सिंहेसर– ओ, कुनकुन, कुनकुन! कहाँ गया कुनकुनमा! बैल को दाना दिया कि नहीं! मंगर! मंगर–अब तक मंगर कहाँ सोया है? सरजू, तुम देखते क्यों नहीं सरजू, आज नासी में रोपनी है, और तुम लोग निश्चिन्त पड़े हो!

सरजू– नहीं चाचाजी! मैं तो अभी खेतों को देख कर आ रहा हूँ! नासी में काफी पानी नहीं रह गया है! किन्तु आज गोबराहा में अच्छी रोपनी होगी, चाचाजी! कुनकुनमा–ओ कुनकुनमा ... ।

कुनकुन....जी, मालिक! बैलों को दाना खिला रहा हूँ मालिक! एक घड़ी रात थी, तब से ही बैलों को खिलाने में लगा हूँ मालिक! कुट्टी काटी, नाँद भरे– देखिये, बैल तो अब अफर रहे हैं! लेकिन मंगर का कहीं पता नहीं है–छोटे मालिक!

मंगर– (ढांसता हुआ) मंगर का पता नहीं है— चार दिन का छोकड़ा और तू चुगली करने चला है। दरवाज़े पर रहता है, तो मालिक का मुँहलगा बना है! बड़े मालिक, मैं खेतों को देखने गया था। मालिक, आज न नासी में रोपनी हो, न गोबराहा में... आज नन्हकार में खूब पानी है बड़े मालिक ।

और बात रह गई मंगर की ही। क्योंकि मंगर सिर्फ हलवाहा ही तो नहीं है। वह तीन पुश्तों से इस घर का अन्नदाता है । ज्यों ही जवान हुआ, उसने हल पकड़ा और आज लगातार चालीस वर्षों से वह जोतता आ रहा है। वह सारे खेतों के रग-रेशे से परिचित है।

मंगर हल लिये जा रहा है नन्हकार में, आगे-आगे बैलों के जोड़े को कुनकुनमा हहकारे जा रहा है । सरजू भैया भी साथ हैं—बिना गृहस्थ को कहीं खेती होती है? उधर सिंहेसर चाचा औरतों के एक झुंड को लेकर बीया उपारने को बीहन के खेत की ओर चले । सुनिए, जाती हुई वे गा रही हैं—

कहँमा लगइहौं मैं जूही-चमेली,
कहँमा लगइहौं अनार हे......
नारियर के गछिया ।

दुअरे लगइहौं मैं जूही-चमेली,
अँगने लगइहौं अनार हे
नारियर के गछिया ।

कै फूल फूले जूही-चमेली,
कै फूल फूले अनार हे,
नारियर के गछिया ।

दस फूल फूले जूही-चमेली,
दुई फूल फूले अनार हे,
नारियर के ग़छिया ॥

केहि सखि चिखलन जूही-चमेली,
केहि सखि चिखलन अनार हे,
नारियर के गछिया ।

देवरा छयला चीखे जूही-चमेली,
सइयाँ रंगीला अनार रे,
नारियर के गछिया ॥

उधर बीहन के खेत में झूमर हो रहा है, तो इधर हलवाहों ने रोपनी के खेत में बिरहा की टेर लगाई....

एक ने कहा—

आम के गाछ कोइलिया कुहके,
बनमा में कुकए मोर ।
मोरा अँगना में कुहकए सोना के चिड़इया,
सुन हुलसे जिया मोर !

दूसरे ने कहा—

तलवा झुरइले कमल कुम्हलइले,
हंस रोवे बिरह बियोग !
रोवत बाड़ी सरवन केरी माता,
के कांवर ढोइहें मोर ।

तीसरे ने कहा—

बने-बने गइया चरौले कन्हैया,
घरे-घरे जोड़ले पिरीत ।
अनका गोरिया के सान मारि अएले,
आखिरो त जात अहीर।

सिंहेसर चाचाजी के आँगन में भी आज कम कोलाहल नहीं है । इतने जन-मजदूरे, इतनी जनी-मजदूरिन—इन सब के लिए कलेवा का प्रबन्ध करना ही है। आज पहली रोपनी है। आज कुछ अच्छी चीज़ें खिलानी चाहिए...लोगों के मुँह मीठे करने पड़ेंगे, तभी भगवान हमारा मुँह मीठा करेंगे । दलही पूरी बने और खड़े दूध की तस्मई । जाँत चलने लगी । आसमान में बादल का स्वर, आँगन में जाँत के स्वर में कोकिल-कंठी का स्वर—

बेरि-बेरि तोहें बरजू हे बाबा,
आरे पच्छिम धिया जनि लाऊ ।
पच्छिम के लोग निरमोहिया ए बाबा,
ऊलटि पलटि दुःख देई ।
रतिया पिसावे जौ-गेहुआँ ए बाबा,
दिनमा कतावे झीना सूत ।
सुतले सेजियवा उठावे ए बाबा,
अरे अँगना घरे सब छूँछ ।
जेठ-बइसाख केरि तलफी भुभुरिया,
धनिया जइहें कुम्हलाई ।
अँगने में कुइयाँ खना द ए बाबू,
रेसम के डोरिया लगाई !

इधर आँगन में पूरी-तस्मई बन गई। बीहन के खेत में काफी बीए उखाड़ लिये गये । रोपनी के खेत की जुताई पूरी हो गई । गृहस्थ-मजदूर सब-के-सब घर लौटे । मालिक के घर में ही खाना-पीना हुआ । खाना-पीना क्या कहिए, पूरी कचरकूट !

कुनकुन—मंगर काका, कहिए, कितनी पूरियाँ उड़ीं !

मंगर—अरे, क्या बकबक करता है, अभी-अभी तो सोरही पूरी हुई है ! बस, आधी सोरही और !

कुनकुन—और खीर की तो कठौत ही खाली कर दी आपने काका जी ! उफ, बूढ़े हुए लेकिन गौंत कम नहीं हुई ।

मंगर—अरे, तुम्हारी तरह कलजुगहा जवान हैं . . . देख यह हाथ की फट्टी—हाँ, हाँ ।

सिंहेसर—मंगर, कुनकुनमा को बोलने दो, तुम खाये चलो। तुम्हारा पेट भरेगा तभी हमारा खेत भरेगा मंगर !

सरजू—और इस बाटी में सुहगिया के लिए भी पूरी-खीर लेते जाना मंगर ।

खाने-पीने के बाद थोड़ी देर तक सुस्ता लिया गया । फिर रोपनी के खेत में यह पूरा मजमा पहुँचा । स्त्रियों की उमंग का क्या कहना ? पाँत बना कर वे खेत में रोपनी कर रही हैं । रोपते-रोपते बीच में एक-दूसरे की देह पर कीचड़ के छींटे डाल देती हैं, पानी उलीच देती हैं। बूढ़े मंगर की तो सबने मिल कर बड़ी दुर्गत बना दी है । कीचड़ से वह बेचारा भूत बना हुआ है और रह-रह कर गालियाँ बोलने से भी बाज नहीं आता। किन्तु इन रोपनी करनेवाली औरतों को इन गालियों की क्या परवाह ? वे खिलखिला कर हँसती हैं और मानो मंगर को चिढ़ाने के लिए ही गाती हैं—

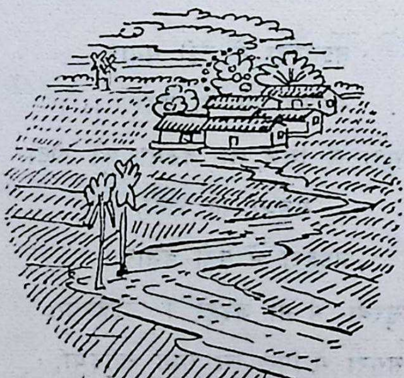
नइहरवा में ठंढी बयार,
ससुरवा में ना जइहों ।
ससुरा में मिले ला जउआ की रोटी
मड़ुआ की रोटी,
नइहरा में पूरी हजार ।
ससुरवा में ना जइहों ! नइहरवा०
ससुरा में मिले ला साग सतुइया,
नइहरा में धाने के भात,

ससुरवा ना जइहों । नइहरवा०
ससुरा में मिले ला फटही लुगरिया,
काली कमरिया,
नइहरा में सोलहों सिंगार
ससुरवा ना जइहों । नइहरवा०
ससुरा में मिले ला लात औरु मूका,
नइहरा में मीठी-मीठी बात
ससुरवा मैं ना जइहों । नइहरवा०

बीच-बीच में पुरुषों का समूह चाँचर और बारहमासा गाता रहा । सन्ध्या हुई, रोपनी करके सब-के-सब हँसते-गाते घर पहुँचे !

रोपनी में किसानों के सामूहिक जीवन का बहुत अच्छा दिग्दर्शन होता है ! प्रायः कई किसान मिल-जुलकर रोपनी करते हैं। जिसकी ताक रही, सबने उसकी मदद की । नहीं तो फिर सबकी ताक बिगड़ जाय ।

हमारे देश की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ मिट्टी से घृणा करने लगी हैं । रोपनी तो कीचड़ और मिट्टी से सनी हुई क्रिया है न ! किन्तु, एक ज़माना आयेगा, जब हमें मिट्टी से घृणा करने की यह आदत छुड़ानी पड़ेगी ! उस दिन रोपनी और रंगीन बन जायगी। नये गीत होंगे, नये कंठ होंगे, नये स्वर होंगे ! हर खेत की मेंड़ पर तब गाता हुआ इन्द्रधनुष हम पावेंगे, वह दिन निकट आवे !





घासवाली

दिन भर घास छीलती और शाम को निकट के शहर में ले जाकर बेचती--यही उसका पेशा था ।

पेशा में आनन्द क्या, उल्लास क्या ? वह तो नित्य करने की चीज़ ठहरा ।

किन्तु उस दिन उसने उसमें आनन्द भी पाया, उल्लास भी अनुभव किया ।

बहुत देर तक घास न बिकने के कारण चौराहे पर खड़ी थी वह । विपता यह थी कि कल ही होली है। त्योहार कैसे मनाया जायगा ?

झुटपुटे का वक़्त आया—यह अकेली घर कैसे, कब तक पहुँचेगी ? उदासी का यह दूसरा कारण हुआ।

इतने में ही एक इक्केवान पहुँचा । हँसमुख, नौजवान । मुस्कराते हुए बोला--'कितना लेगी रे ?'

'सिर्फ दो आने !'--मुस्कुराता हुआ बोला और मुँहमाँगा दाम दे, घास ले, वह चलता बना ।

चौराहे की बिजली के प्रकाश में दो जोड़े आँखें चमक उठीं।

लौटते समय, जीवन में पहली बार, उसने काठ की धेलेवाली कंघी ख़रीदी और ख़रीदा एक पैसे का नारियल का तेल ।

होली के सौदे भी हुए ।

× × ×

वह नित्य आती, घास लिये प्रतीक्षा करती और मुँहअँधेरा होने पर जब वह नौजवान इक्केवान पहुँचता, घास दे, जो पैसे वह देता, लेकर चल देती ।

भाव-साव कुछ नहीं—फाव में दो-एक चुहल हो जाती ।

अब उसके सिर के नारियल के तेल से तीखी गंध निकलती, क्योंकि उसमें कपूर भी डलता था। बालों में एक सुलझाव दीखता ! और, आँखों में ?

× × ×

उस दिन वह हरी चूनर पहनकर आई थी ।

सन्ध्या को इक्केवान आया—उसने घास ली, पैंसे दिये । पैंसे देते समय ढिठाई से उसके गाल में एक हुदक्का मार दिया ।

समूचा शरीर झनझना उठा उसका ।

और, बेहोशी में ही उसने अपने को इक्के पर चढ़ा पाया । इक्का भागा जा रहा था—उसपर वह बैठी उड़ती-सी अनुभव कर रही थी !

वह कहाँ जा रही थी ?

× × ×

वह प्रति दिन आती ।

अब घास कम आती—पैंसे अधिक मिलते ।

उसके सिर से चमेली की सुबास निकलती ।

× × ×

दस वर्ष बाद !

शाम का वक़्त ! चौराहे पर एक अधेड़ स्त्री बैठी है । वह हरे चने के दाने बेचती है । दिन भर चने के छिलके छिलती और बेचती रहती है ।

उसके निकट एक बच्चा है, पाँच वर्ष के लगभग का ।

जब वह ज़िद करता है, चने के पैसे से एकाध धेले की गुलाबछड़ी ख़रीद देती है ।

उस दिन एक अपूर्व ख़रीदार आया ।

कोट-पैंट पहने; एक पैसे का चना माँग रहा था। जब तौलकर देने को उसने सिर ऊपर किया, तो बिजली के प्रकाश में उसका चेहरा देखकर वह चिल्ला पड़ा—'सुकिया' !

'मोहन!'—वह बोली!—'कहाँ रहते हो मोहन?'

'कलकत्ते में मिस्त्री हूँ।'

'और इक्का...'

शायद और कुछ बात होती; किन्तु इतने ही में एक पूर्णवयस्क हट्टा-कट्टा पुरुष आ पहुँचा। 'क्यों, चने अबतक नहीं बिके?' उसने पूछा।

'यह रामू के बाबूजी हैं, मोहन।' उस स्त्री ने इस लहज़े में कहा जिसका अर्थ था, यही मेरे पतिदेव हैं।

'राम, राम भाई साहब!' मोहन बोला, चने लिये, पैसे फेंके और चल पड़ा।

उधर मोहन, इधर सुकिया मन-ही-मन उस सन्ध्या की याद कर रहे थे जब दोनों इसी जगह से इक्के पर चले थे उड़ते, फुर्र-फुर्र! और शुक्रतारा को देखकर रात कितनी बीती, इसका अनुमान किया था उन्होंने।

ग़रीबों का प्रेम ऐसा ही होता है—तालाब में एक ढेला गिरा, कुछ तरंगें उठीं फिर पानी शान्त!

समुद्र के ज्वार-भाटे तो महलों उठते हैं!





पनिहारिन

दुनिया को पानी पिलाती हूँ; किन्तु, स्वयं प्यास से मरती हूँ ।

जब मैं सिर पर गागर लेकर चलती हूँ, लोग कहते हैं—रस छलकने लगता है । किन्तु, मेरा रिक्त हृदय जो हाहाकार मचाये रहता है, यदि कोई उसे देख पाता; यदि कोई उसे सुन पाता !

न जाने, पहले-पहल, कब यह घड़ा सिर पर पड़ा—न जाने कब उतरेगा !

हाँ, धुँधली-सी याद तो है ।

माँ का आँचल पकड़, पहली बार, कूएँ की ओर चली और ज़िद-पर-ज़िद की, तो उसने छोटी-सी ठिलिया मेरे लिए भी मोल ले दी ।

सचमुच, उस दिन मेरे उस छोटे-से घड़े से रस छलका था ।

मेरी लाल चूनर भींग गई थी !

किन्तु, आज ?

और, आगामी कल तो अभी आने को है, जब कि बुढ़ापा मेरी कमर तोड़ देगा ; किन्तु, मुझे सिर पर घड़ा ढोना ही पड़ेगा।

क्योंकि इस घड़े ने मेरे सिर से ही नहीं, मेरे पेट से अटूट नाता जोड़ रखा है। सिर पर जिस दिन गागर न हो, उस दिन इस पापी खड्ड में ईंट-पत्थर कहाँ से पड़ेंगे ?

× × ×

मेरे सिर पर पानी का घड़ा है, मेरी छाती पर अमृत के कलश हैं।

मेरा थका-माँदा 'मालिक' तालाब या नदी का गँदला जल कहीं चुल्लू से भरकर पीता होगा—मैं दिन-रात सिर पर पानी से भरा पीतल का सुन्दर घड़ा ढोती हूँ।

इन अमृत-कलशों पर किसकी आँखें गड़ी हैं ? वह उस दिन क्यों घूर-घूरकर देख रहा था इस ओर ?

मेरा प्यासा मालिक, किसी पासिन के मटके पर दीवाना होगा ; मेरे अमृत-कलश को ये क्यों लूटना चाहते हैं ?

आह ! सचमुच ये अमृत-कलश हैं। जिनसे मेरे जीवन भर की संचित जीवन-सुधा, उजला रस बनकर,—सुफेद-सुफेद, प्राणदा जीवनमयी रसधार बन कर निकल पड़ी !

उस दिन मेरी सूनी गोद में 'गोपाल' किलके थे।

किन्तु, यह 'गो' तो इस गोपाल के लिए नहीं है !

जो मेरा पानी पीता रहा है, उसका बच्चा ही मेरे अमृत-कलश का सुधा-रस पीयेगा !

मेरे गोपाल तड़पते हैं; किन्तु, मैं क्या करूँ ? इस अमृत-कलश का सम्बन्ध भी तो मेरी उदर-दरी से है, जिसे भरने के लिए रोज़ एक मुट्ठी अन्न चाहिए !

× × ×

मेरे सिर पर गागर है, आँखों में काजल है; पीले वस्त्र पहन कर उस दिन घर से निकली।

वह छैला गुनगुना पड़ा—'सिर पर घड़ा लिये पनिहारिन !'

न जाने, क्यों मेरे घड़े से रस छलकने लगा। मेरी उदासीन आँखों में न जाने कहाँ से तिरछी चितवन आ गई ?

इस पीली साड़ी के रंग ने मेरे हृदय को गुलाबी बना दिया।

काजल तेरा बुरा हो! मेरा समूचा जीवन काजलमय हो गया।

जिनके पेट के लिए एक मुट्ठी अन्न की व्यवस्था नहीं, उनके हृदय में प्रेम का यह पारावार क्यों लहराया गया?

बूढ़े विधाता! तेरा सर्वनाश हो!

× × ×

युग-युग से मैं गागर ढो रही हूँ; युग-युग तक मैं गागर ढोने के लिए वाध्य की जाऊँगी!

दुनिया में कुछ लोग बिना हाथ-पैर हिलाये, बैठे-बिठाये पानी पीते रहें, इसके लिए आवश्यक यह है कि कुछ लोग सदा गागर ढोते रहें!

माघ की भोर है—पछवा हवा पुरानी कुर्ती को छेद कर छाती की हड्डी तक हिला रही है, अंग-अंग सिकुड़े जा रहे हैं, किन्तु मुझे गागर ढोनी पड़ेगी, क्योकि किसी को सुबह-सुबह कूएँ का गरमागरम पानी चाहिए।

जेठ की दुपहरिया—ऊपर से आग की वर्षा, तवे-सी जलती भूमि! किन्तु, मुझे गाँव से दूर की उस अमराई के कूएँ का ठंडा जल ढोकर उसे पिलाना ही पड़ेगा।

बरसात का अंजन-वर्ण निशीथ हो या शरद् की रजत राका—मेरे सिर पर गागर होगी, गागर, गागर! कहीं गीत हों या रुदन, कहीं ब्याह हो या श्राद्ध, कहीं ईद हो या मुहर्रम—मेरे सिर पर गागर होगी, गागर।

× × ×

भगवान, मुझसे अव यह गागर ढोई नहीं जाती—मेरी रक्षा करो।

या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो—

या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो—

हाँ, या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो, या अपनी इस विराट गागर—विश्व को फोड़ दो!

अन्तःसार-शून्य तुम्हारी इस गागर को बहुत देखा, बहुत परखा !

यह रहने लायक़, रखने लायक़ नहीं है—नहीं है।

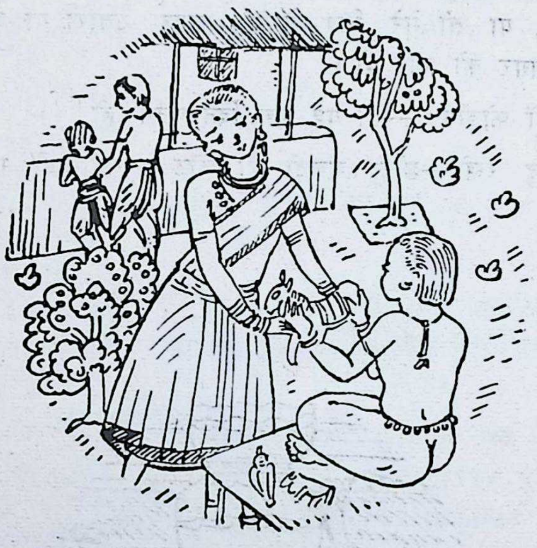
इसे फोड़ दो।

हाँ, या तो मेरे सिर से यह गागर उतारो या अपनी इस विराट गागर को फोड़ दो।

नहीं फोड़ोगे ?—तो यह एक दिन फूटेगी ही !

याद रखो—छोटी कंकड़ी की चोट से बड़ी-बड़ी गागरें फूट चुकी हैं।





बचपन

बा–वा . . . बा-वा . . . वा–आ–आ . . .

यह ललनजी बोल रहे हैं! सिर पर घुंघराले बालों के लट लटक रहे हैं। दोनों हाथ ऊपर उठा रहे है, जैसे इशारे से बुला रहे हों। उठ सकते नहीं, बढ़ने को हुमच रहे हैं।

बा–आ. . .बा–बा–बा. . .बा–आ. . .बा–बा. . .

ललनजी की बोली सुनकर महेन्द्रजी उनकी ओर बढ़े। दो बार चूमने की कोशिश की—किन्तु, मुंह से चुमकारी के शब्द तक निकाल नहीं पाते। फिर उनसे लिपट गये, गोद में लेने की कोशिश की। महेन्द्रजी के छोटे-छोटे हाथों में हमारा गुल्ला-थुल्ला ललन अँट नहीं पाता। किन्तु, महेन्द्रजी गोद में लेंगे ही। छाती से चिपकाया—इतने ज़ोर से कि ललनजी रोने लगे!

आँ–आँ . . . वा-बा-बा. . .मा . . .मा. . .

प्रभा रानी दौड़ीं—ओहो, मेरे बबुआ को मार दिया महेन्द्र ने! महेन्द्र ने—लाल चाचा ने! महेन्द्रजी से छीनकर प्रभा ने ललनजी को गोद में ले लिया—"ओहो, लाल चाचा ने मारा है। मारा है मेरे बबुआ को! चुप, चुप रहिये—मैं महेन्द्रजी को मारती हूँ।" प्रभा ने महेन्द्रजी को मारने का स्वाँग किया। ललन चुप—किन्तु, महेद्रजी ने अपने को अपमानित बोध किया—वह फूटकर रो उठे!

और, यह जित्तिनजी दौड़े—अपनी साहबी पोशाक में! अभी-अभी कन्वेंट से पढ़कर आये हैं। टाई तक नहीं खोली है। प्रभा से छीनकर ललन को अपनी गोद में लिया। उनकी रंगीन रेशमी टाई को पकड़कर ललनजी खेलने लगे।—"किसने मारा था तुम्हें—इस प्रभा ने? पीटें प्रभा को?"

अपने भतीजे को यों अचानक गोद से छीने जाने के कारण प्रभा-रानी गुस्से में थीं। अब यह तुहमत! उनकी आँखों से झरझर आँसू झरने लगे!

इधर ललनजी मँझले चाचा की टाई पकड़े हुए कह रहे हैं—

बा–बा. . .बा–आ–बा. . .बा–बा–आ. . .

बाबा खाट पर सिर झुकाये स्केच लिख रहे हैं! बच्चों के कोलाहल मे क्या कुछ लिखा जा सकता है? हाँ, शब्द-चित्रकार हैं न? इन चार अनमोल चित्रों को गौर से देख रहे हैं।

अब प्रभा की आँखें सूख चुकी हैं, महेन्द्रजी चहक रहे हैं, ललनजी किलकारियाँ दे रहे हैं और जित्तिनजी अपने थैले से कन्वेंट में बनाये अपने हाथ के करतबों को दिखला रहे हैं—

"बोलो प्रभा, यह क्या है?"

"यह है गधा!"

"पगली, गधा नहीं, यह काबुली घोड़ा है!"

"भैयाजी, मुझे इस घोड़े पर चढ़ा दो।"– महेन्द्रजी बोल रहे हैं और जैसे घोड़े पर छलाँग मारने को अपने बदन को तोल रहे हैं।

"यह देखो, यह क्या है?"

प्रभा की ज़बान तेज़ है; फिर वह बोल उठी "खरहा!"

"खरहा? महेन्द्र, तुम बताओ, यह क्या है?"

अपने आगे के दूध-धोये दाँतों को चमकाते महेन्द्रजी कहते हैं—“चूहा !”

“हाँ, विलायती चूहा ?”

जित्तिनजी को अपने ज्ञान का गर्व था, महेन्द्रजी को अपनी जानकारी पर नाज़ हो आया ! प्रभा बेचारी जैसे अकेली पड़ गई ! उसने अनुभव किया, उसके भाई उसकी अवमानना करने पर तुले हैं ! इतने मे ललन ने विलायती चूहे का एक कान पकड़ कर खींच लिया !

जित्तिनजी का साहब गुस्से में आ गया ! उन्होंने ललन के हाथ से अपना विलायती चूहा छीनना चाहा। छीना-झपटी में चूहे का कान ललन के हाथों में रह गया। आग में घी पड़ गया ! जित्तिन अब अपना गुस्सा उतार रहे हैं।

आँगन में कोलाहल है ! ‘बाबा‘, ‘मैया‘, दैया,‘ ‘मैया‘ हो रहा है ? चेहरों के तरह-तरह के भाव हैं।

और, कुछ देर के बाद फिर चारों बच्चे एक साथ खेल रहे हैं—नौ महीने, चार वर्ष, सात वर्ष, दस वर्ष—सब मिल कर एक हो रहे हैं ! कुछ वर्ष, कुछ महीने।

बाबा का स्केच पूरा हो रहा है; वह अन्तिम पंक्ति लिख रहे हैं—

“चंचलता चितवन वही, गति मति वही सुभाव,
अरी लरिकई बावरी, एक बार फिरि आव !”





किसको लिख रहे हैं

"यह किसको लिख रहे हैं आप?"

छोटी लूची ने अपरिचित कहानी-लेखक से पूछा जो उसके बाप के बरामदे में बैठे, असह्य प्रतीक्षा से ऊबकर, तुरत दिमाग़ में आये हुए कहानी के प्लाट को अपने लेटर पेपर पर ही क़लमबन्द कर रहे थे!

कहानी-लेखक की पेशानी पर शिकनें उठ आईं वह मन-ही-मत झल्लाया—कहाँ से यह बच्ची आकर मेरे कल्पना-चित्र पर स्याही पोत रही है!

किन्तु, लूची माननेवाली नहीं। उसने कागज पर हाथ रख दिये और अधिकार के स्वर में बोली—"आप यह लिख रहे हैं किसको!"

कहानी-लेखक ने लूची के चेहरे को देखा—कैसी मासूम? क्या कला-देवी का चेहरा भी कुछ ऐसा ही होगा?

मज़ाक में उसने कह दिया—"तुम्हारी चाची को!"

उसके छोटे चाचाजी ने तुरत शादी की थी—लूची ने सोचा, उससे बढ़कर लिखने की पात्र और कौन हो सकती है ?

"नई चाची को ?

"उहूँ, पुरानी चाची को ?"

"लाल चाची को ? विमला भैया की चाची को ? सुन्दरपुर वाली को? "

लूची ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। पुरानी चाचियाँ तो कई हैं न ?

कहानी-लेखक को लुफ्त आ रहा था ? लूची की आँखों की उत्सुकता और उत्कंठा के अध्ययन में लीन वह उहूँ, उहूँ करता जाता था ? लाल फ्राक और काले बालों के बीच गेहुएँ चेहरे पर चमकती दो मासूम आँखों में, वह कला-देवी को, अब प्रत्यक्ष देख रहा था।

तब तक लूची के बाबूजी आ पहुँचे। ओहो आप ? कब से इन्तज़ार कर रहे हैं आप ? देर के लिए माफी...और लूची तू...

"लूची मुझसे कुछ पूछ.....?"

कहानी-लेखक आगे कुछ नही कह पाया; क्योंकि लूची के हाथ उसका मुँह बन्द कर चुके थे !

"क्या पूछ रही थी ?"

फिर मुँह बन्द किया गया—लूची के छोटे हाथों में कितना आग्रह था, कितनी गर्मी थी ?

"अरे, चाचाजी को यों तंग किया जाता है!"

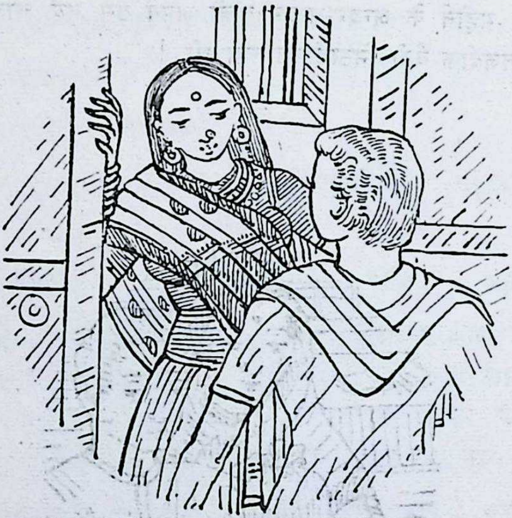
"चाचाजी ? क्या ये भी चाचाजी ही होते हैं ?"—लूची की आँखें बल-सी उठीं ! क्योकि उसने रहस्य का पता जो पा लिया था ! "समझी, समझी!"—कहती हुई वह खड़ी हुई और नाच उठी ! उसके बाबूजी भौंचक थे—"क्यों नाच रही है पगली ?"

"चाची को दिखला दोगे चाचाजी!"—पगली लूची के दोनों हाथ कहानी-लेखक की गरदन में थे ! और कहानी-लेखक की आँखों के सामने आज सचमुच एक चाची खड़ी हो गई ! अब तक वह अवि-

वाहित था, उसने समझ रखा था, उसकी भारती ही उसकी सहचरी है ; किन्तु आज लूची के प्रश्न ने उसे वताया, लिखने के लिए भी किसी की आवश्यकता है– किसको लिख रहे हैं आप ?

एक महीने के अन्दर-अन्दर लूची अपने इस नये चाचा की नई चाची के नजदीक बैठी मिठाई खा रही थी !





छब्बीस साल बाद

छब्बीस साल बाद उस दिन उसे फिर देखा था।

पहले देखा था, जब वह जवानी की देहली पर खड़ी थी। उस दिन देखा, वह बुढ़ापे के दरवाज़े को पार कर चुकी है।

छोटा-सा ललाट, चाँद के टुकड़े-सा! ऊपर सजल श्यामल मेघ-से बालों के लट; नीचे काम के कमान-सी पतली, लचीली, नुकीली भौंहें। आँखों में खुमार; गालों पर गुलाब। सुन्दर पतली नाक–जब वह पतले अधरों को खोल, दानेदार दाँतों को ज़रा-सा चमकाकर बोलती, मालूम होता, नाक उसमें सुरीलापन भर रही! स्वस्थ अर्द्ध-स्फुटित यौवन! कैसी मोहक थी वह, उसकी काया, उसकी बातें, उसकी चाल!

शरीर में जवानी; हृदय में बचपन। भोलेपन में वह कुछ कह जाती, जिसका मानी भी नहीं समझती। "मुझे भी अपने साथ ले चलिए न?" "क्या मैं बहुत खूबसूरत हूँ?" "देखिए तो इस पत्र में उसने क्या लिखा है?"

पत्र पढ़कर मैंने कहा—"इसका अर्थ समझा? तुम्हें कैसे मिला यह पत्र?" और मैं गुस्से में था।

"मैं उस दिन फुलवारी से लौट रही थी, रास्ते में पड़ा पाया! मैं अब रोज़ उस रास्ते जाऊँगी, बेचारा तड़पता जो है?" सचमुच उसके चेहरे पर दया के भाव थे!

उसकी भी शादी हुई; मेरी भी। उसने एक दिन पूछा—"आपकी पत्नी कैसी है?" "तुम्हारी-सी तो नहीं; उस लड़की ऐसी-वह!" "नही नहीं, आप झूठ कह रहे हैं–भगवान जोड़ा मिलाना नहीं जानता!"

इस अन्तिम वाक्य का अर्थ समझ मैं दुखित हुआ। उसके पति उसके योग्य नहीं मिले थे। सिर्फ धन देखकर शादी कर दी गई थी उसकी! लेकिन, उसे क्या हक़ था, कि मेरी पत्नी के बारे में भी वह कुछ वैसी ही भावना रखे!

किन्तु क्या सचमुच उसे कोई हक़ नहीं था?

नहीं, नहीं उसकी चर्चा फिज़ूल! हमारे समाज मे ऐसा ही होता आया है। मन लगा 'क' से, शादी हुई 'ख' से। किसी तरह समन्वय हुआ, तो खैर; नहीं तो ट्रेजडी!

और २६ वर्ष के बाद वह साकार ट्रेजडी-सी मेरे सामने खड़ी थी!

ललाट पर शिकन; गाल पर सिकुड़न। बालों में वृद्धता ठठा-ठंठाकर हँस रही। कमान टूट चुका था; खुमार उतर गया था। शरीर एक गुमसुम रूई के गट्ठर-सा! नाक कह रही थी, बड़ी मुश्किल से मैंने नाक रखी है इसकी। अधरों पर न लाली; दाँतों में न चमक! अल्हड़पन की चिता पर संजीदगी खड़ी थी!

पति को शरीर दिया; दिल न दे सकी। कैसे देती–वह पहले ही किसी को दिल दे चुका था, जो उसके सामने बन्दरी थी। किन्तु, बन्दर को तो बन्दरी ही भावे? तो भी किस संयम से उसने जवानी काट दी है, यह उसके चेहरे की सौम्यता कह रही थी!

बहुत दिनों तक हिस्टिरिया से परीशान रही! एक सन्तान हुई, वह भी न रही। तब से गोद न भरी। अब उसी पति की दूसरी शादी कराकर, उसके बच्चे को गोदी में खिलाती माँ का ममत्व निछावर कर रही है।

"यही मेरा बेटा है, उस घर से" उस घर से—मेरा बेटा! किन्तु उसकी आवाज में कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। एक जगह पहुँच-कर अस्वाभाविकता भी स्वाभाविकता-सी बन जाती है न?

और दूसरे ही क्षण प्रश्न—"आपके तीन बेटे हैं न? और एक बेटी। बेटी कितनी बड़ी है?" और जब तक मैं जवाब में कुछ कहूँ, बोली—"अपनी 'रानी' से मुलाकात नहीं करा दीजिएगा?"

और फिर उलहना—

"मर्द भी क्या होते हैं? कभी चिट्ठी भी नहीं भेजते–अपना फोटो भी तो भेज दिये होते? और पढ़ना-लिखना तो छूट ही गया है, अपनी कुछ किताबें जरूर भेज दीजिएगा। याद है! आपने कहा था—पढ़ना-लिखना नहीं छोड़ना।"

मुझे उस समय क्या-क्या नहीं याद आ रहा था। हम दोनों का साथ-साथ उठना-बैठना; जब मैं सख़्त बीमार पड़ा, उसका रात-रात भर जागना; जब मैं घर जाने को तैयार होता, उसका उदास विषण्ण चेहरा लेकर खड़ा हो जाना, उसकी माँ का कहना–लेते जाओ इसे भी! मैं तिलक-दहेज से भी बच जाऊँगी। फिर उसका विषादमय विवाह—जब दुल्हे को देखा, माँ रो उठी; माँ की गर्दन पकड़ यह चिल्ला उठी। किन्तु, पिताजी की इज़्ज़त का प्रश्न! शादी होकर रही!

शादी के कुछ दिनों के बाद जब उसे देखा, वह बिल्कुल बदल चुकी थी। मैं उसकी मर्मव्यथा समझता था। उसे समझाया-बुझाया। नारी-धर्म बतलाया। वह कुछ आश्वस्त हुई।

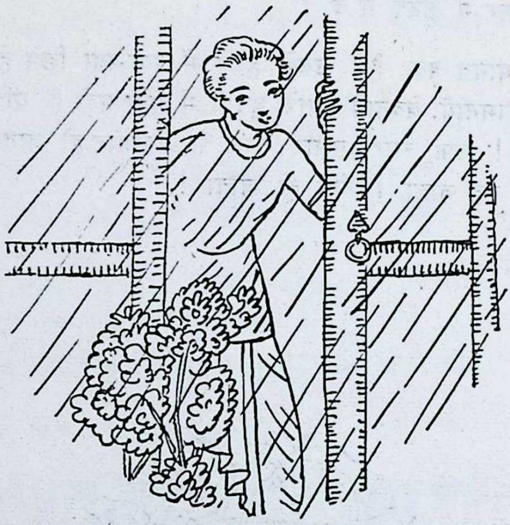
किन्तु, क्या ट्रेजडी को सुखान्त में परिणत किया जा सकता है? छब्बीस साल बाद वह साकार खड़ी थी!

बस, पाँच-छः मिनट की यह मुलाकात। मैं कार्यों में व्यस्त; वह प्रतिष्ठा की ज़ंजीर में बँधी। मैं तब से फिर एक पत्र नहीं भेज सका

हूँ, न फोटो, न पुस्तक। सोचता हूँ; भुलता हूँ; एक बार पुस्तक लेकर उसके घर के निकट से लौट आया। सोचा, जो घाव भर चुका, उसे कहीं फिर मैं कुरेद न दूँ ?

यह मानव क्या है? उसके हृदय में क्या-क्या छिपे हैं? जो-जो भावनायें, कामनायें, वेदनायें हमारे हृदयों में गड़ी पड़ी हैं, यदि वे कभी बोल उठतीं! उफ़, सारा संसार रुदन से ओतप्रोत हो जाता, आँसुओं की बाढ़ में वह जाता, विलीन हो जाता !





पहली वर्षा

दुपहरिया में मैं सोया था—पटना की गर्म हवा के झोंकों से बचने के लिए घर के सारे किवाड़ बन्द करके! अचानक नींद टूटी—देखता हूँ, घर का बिजली-पंखा बन्द है और बाहर शोर मच रहा है—जैसे आँधी हो। दरवाज़ा खोला—ओहो, खूब वर्षा हो रही है!—यों कहिए कि आँधी और वर्षा दोनों।

बड़ी-बड़ी बूंदें। पेड़ों की डालें पेंगें ले रही हैं। कच्चे आम टूट-टूटकर गिर रहे हैं।

इस साल की यह पहली वर्षा है! पहली वर्षा के साथ क्या आँधी का होना अनिवार्य है? और जिनकी डंटलें पुष्ट हैं, वे वर्षा से रसीले बन जायँ, उसके पहले क्या कुछ कमजोर डंटलवाले आमों का गिर पड़ना लाजिमी है?

वर्षा समाप्त हुई—झोंकों के साथ जो आई थी, वह झोंकों में ही गई। आस्मान में छिटपुट बादल के भूरे टुकड़े उड़ रहे हैं। ज़मीन से सोंधी गन्ध निकल रही है। और ये आम के पेड़—तुरत-तुरत नहाकर

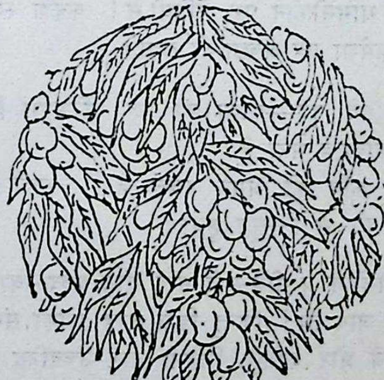
खड़ी दुल्हन-की तरह लग रहे हैं! शाम की सुनहली किरणों इनके पत्तों पर कैसी चमचम कर रही हैं!

वर्षा के बाद पेड़ों की शोभा देखते मैं कभी नहीं अघाता। पढ़ा था, कवि सत्यनारायण को बी०ए० की परीक्षा देनी थी। परीक्षा के समय के कुछ पहले वर्षा हो गई। बेचारे के मन में, पेड़ों की धुली-धुलाई पत्तियों को देखते ही, कविता उमड़ आई। उधर परीक्षा के पर्चे बँट रहे थे, इधर आप कविता की पंक्तियों-पर-पंक्तियाँ लिखते चले जा रहे थे!

सचमुच वर्षा के बाद पेड़ों की शोभा अनुपम हो उठती है। धूल के कण-कण धुल जाते हैं। गर्मी के बाद शीतलता पाते ही उनका हरा रंग निखर पड़ता है। पत्तियाँ हँसती-सी मालूम पड़ती हैं। यदि उनपर सूर्य्य की किरणें तब पड़ने लगें, जब तक कुछ बूंदें उन पर इधर-उधर लिपटी हैं, तो फिर क्या कहना? और यदि वे किरणें सन्ध्या की हुई? अहा! गिरा अनयन नयन बिनु वानी?

पटना का मेरा यह घर भी क्या अनोखा है। सामने आम के कितने घने पेड़ हैं। केले भी हैं। कुछ और पेड़ भी हैं। शहर में रहकर भी शहर से दूर! नगर में रहकर भी प्रकृति की गोद में। इन आमों को देखकर ही एक मित्र ने कहा था—अम्बपाली के लेखक के उपयुक्त ही यह स्थान है।

आज प्रथम वर्षा की इस पहली सन्ध्या को आम की हर डाली अम्बपाली बन गई है! वह गुनगुना रही है, मुस्कुरा रही है, अँगड़ाइयाँ ले रही है, उगलियों से इशारे कर रही है और लगता है, कहीं वह एकाएक नाच न उठे– छमछम!





लागल करेजवा में चोट

"लागल करेजवा में चोट !"

रेडियो में यह गीत हो रहा है ! बचपन से ही यह गीत सुन रहा हूँ—गाँव के छोकरों के मुँह से, शहर के छैलों के मुँह से; गवैयों से, उस्तादों से; ग्राममोफोन पर, रेडियो से ! कर्कश स्वर में, कोकिल-कंठ से। लेकिन हमेशा यह अच्छा ही लगा।

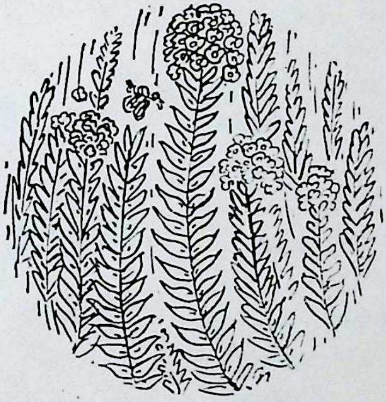
नूत्नं नूत्नं पदे पदे—काव्य की यह परिभाषा है ! क्या इस छोटे-से गीत में काव्यत्व भरा है ?

यह किस कवि की अमर रचना है ? पहले-पहले यह किस सौभाग्यशाली के कंठ से निस्सृत हुआ ?

ग्रामीण वोली के ये सीधे-सादे साढ़े तीन शब्द—विभक्ति को आधा शब्द मान लिया जाय तो ! किन्तु किस तरह इनका संगठन हुआ कि ये संगीत बन गये और ज्योंही, जितनी बार उच्चरित होते हैं, कलेजे में घर कर लेते हैं !

लागल करेजवा में चोट !—किसके कलेजे में कोई चोट कभी नहीं लगी। ये साढ़े तीन शब्द जीवन के परम सत्य को सीधे-सादे ढंग से कह गये हैं, इसीलिए इनमें यह मोहकता है, मनोरंजकता है, हृदय को आकृष्ट करने की ऐसी क्षमता है !

जीवन के परम सत्य को सीधे-सादे ढंग से कह जाना—क्या यही कला की सबसे बड़ी सार्थकता नहीं है ?



हम इनके कृतज्ञ हैं!

इस ग्रंथावली के प्रकाशन की योजना के मूल में यह आशा रही कि हर भाग के प्रकाशन के पूर्व हमें कम-से-कम सौ ऐसे सज्जन मिल जायँगे जो सौ-सौ रुपये देकर पूरी ग्रंथावली के स्थायी ग्राहक बन जायँगे। इस भाग के प्रकाशन के पूर्व इन सज्जनों ने स्थायी ग्राहक बनकर हमारे लिए पथ प्रशस्त किया : अतः हम इनके कृतज्ञ हैं—

सारन

१. प्रिन्सपल मनोरंजन प्रसाद सिंह, छपरा
२. श्री बनारस सिंह, एडवोकेट, छपरा
३. श्री साधु चरण पांडेय, एडवोकेट, छपरा
४. श्री विशेश्वर दयाल जी, एडवोकेट, छपरा

मुज़फ्फरपुर

१. श्री महेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, हाजीपुर
२. महंथ श्याम सुन्दर दास, शीतलपट्टी
३. मंत्री, एम० आर० एस० विद्यालय, मनियारी
४. महंथ राम किशोर दास, छपरा
५. श्री पशुपति नाथ महथा, मुज़फ्फरपुर
६. श्री बैजनाथ प्रसाद वर्मा, कमरौली
७. प्रिन्सपल, रामदयालु सिंह कालेज, मुजफ्फरपुर
८. मंत्री, जगन्नाथ केन्द्रीय पुस्तकालय, सीतामढ़ी
९. श्री दिग्विजय नारायण सिंह, एम० पी०
१०. बाबू सरयू शरण सिंह, वकील, सीतामढ़ी
११. श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, एम० पी०
१२. प्रिन्सपल, लंगट सिंह कालेज, मुज़फ्फरपुर
१३. श्री सूर्यदेव ठाकुर, विशुनपुर
१४. मंत्री, राधाकृष्ण गोयनका कालेज, सीतामढ़ी
१५. मंत्री, सनातन धर्म पुस्तकालय, सीतामढ़ी
१६. सीतामढ़ी हा० ई० स्कूल, सीतामढ़ी
१७. मंत्री, प्रकाश पुस्तकालय, बाजपट्टी
१८. श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह, बोचहाँ कोठी
१९. महंथ मदनमोहन दास, रसूलपुर जिलानी
२०. श्री दामोदर झा: एम० एल० ए०, सीतामढ़ी

पटना

१. श्री जगदीश चन्द्र माथुर, शिक्षा-सचिव

२. महंथ श्याम नारायण दास, एम० एल० ए०
३. श्री भोला शास्त्री; मंत्री स्वायत्त शासन
४. प्रबन्धक, श्री बिहारी जी मिल्स
५. प्रबन्धक, श्री माधव जी मिल्स
६. श्री रजिस्ट्रार, बिहार यूनि-वर्सिटी
७. श्री राजबंशी सिंह, बिहार को-आपरेटिव फेडरेशन

कलकत्ता

१. श्री सीताराम सक्सरिया
२. श्री मारवाड़ी बालिका विद्यालय
३. श्री रामेश्वर जी नोपानी
४. श्री रामेश्वर जी टाँटिया
५. श्री बद्री प्रसाद बायवाला
६. श्री रामचन्द्र जी सिंघी
७. श्री गोविन्द प्रसाद कनोड़िया
८. श्री केवल चन्द्र जी बागड़ी
९. श्री विश्वनाथ मोर
१०. श्री राम कुमार भुआलका
११. श्री रघुनाथ प्रसाद खेतान
१२. श्री श्याम सुन्दर जयपुरिया
१३ श्री राधेश्याम साबू
१४. श्री भँवरमल सिंघी
१५. श्री श्याम सुन्दर कनोड़िया

नई दिल्ली

१. सेठ गोविन्ददास जी, एम० पी०
२. श्री सत्यनारायण सिंह जी, संसदीय मंत्री
३. श्री जगजीवन राम जी, यातायात मंत्री
४. श्रीमती राजमाता कमलेन्दुमती शाह, एम० पी०
५. श्री बनारसी प्रसाद झुन-झुनवाला, एम० पी०
६. श्री जी० एल० बंशल, एम० पी०
७. श्री चन्द्रशेखरेश्वर प्रसाद नारायण सिंह
८. श्री राधेश्याम मुरारका, एम० पी०
९. श्री जयदयाल जी, डालमिया सिमेंट लि०

मानभूम

१. मंत्री, गुजराती समाज, झरिया
२. श्री डुगरसी सुन्दरसी ठक्कर, झरिया
३. श्री भगवान लालजी चंचनी, धनबाद
४. श्री महीपत लाल जी बोरा, धनबाद
५. ठाकुर परमहंस सिंह जी, झरिया
६. श्री आर० पी० सिन्हा, भगतडीह
७. श्री रामदास जी वर्मा, बस्ताकोला
८. श्री मेघजी जी० चावड़ा, जीनागढ़ा
९. श्री अमर सिंह गोआमल, टीसरा
१०. श्री बिहार कोल कम्पनी, सिजुआ
११. श्री खासजयरामपुर कोइ-लियरी, झरिया

१२. श्री राजेन्द्र कोल कन्सर्न, झरिया
१३. श्री ब्रह्मदेव सिंह जी, झरिया
१४. श्री शिवनाथ सिंह जी, झरिया
१५. श्री अर्जुन अग्रवाला, झरिया
१६. श्री दामोदर प्रसाद गुप्त, झरिया
१७. श्री मदनजी अग्रवाल, धनसार
१८. मंत्री, बन्धु समाज, खासजिनागढ़
१९. कुसुन्डा नयाडीह कोइलियरी, कुसुन्डा
२०. श्री पुरुषोत्तम चौहान, एम० एल० ए०
२१. श्री अर्जुन राठौर, झरिया
२२ मंत्री, वर्कस क्लब, लोदना
२३. मंत्री, वर्कस क्लब, बागडीघी
२४. पंडित भागवत त्रिपाठी, झरिया
२५. श्री जयविसुन भगवानजी, झरिया
२६. श्री सूर्य प्रसाद सिंह, झरिया
२७. श्री व्रजमोहन अग्रवाल, चेअरमैन डि० बो०
२८. श्री मदन वात्सायन, सिन्दरी

हज़ारीबाग़

१. श्री रामविलास सिंह जी, बरमो
२. सी० एच० लिमिटेड, झुमरीतिलैया
३. छठूराम होरिलराम हा० ई० स्कूल, झुमरीतिलैया
४. मंत्री, श्री कृष्ण पुस्तकालय, झुमरीतिलैया
५. श्री चाँदमल जी राजगड़िया, गिरीडीह
६. श्री रामगोपाल जी राजगड़िया, गिरीडीह
७. श्री औतार सिंह जी, गिरीडीह
८. श्री हरिकान्त मिश्र, झुमरीतिलैया
९. श्री उमाचरण लाल तरवे, गिरीडीह
१०. श्री रामयाद सिंह, गिरीडीह

गया

१. श्री शत्रुहन शरण सिंह, चेयरमैन डि० बो०
२. श्री सत्य नारायण सरावगी
३. श्री बैद्यनाथ खेतान, एम०ए० बी० एल०
४. श्री गोपाल प्रसाद अग्रवाल
५. श्री रमावल्लभा शरण
६. श्री आनन्दमोहन भदानी
७. श्री कुमार प्रताप सिंह

राजस्थान

१. श्री शारदा सदन, मुकुन्दगढ

बम्बई

१. श्री ज्ञानचन्द्र जी जैन

शिमला

१. मंत्री, द्वारकादास पुस्तकालय

चम्पारण

१. श्री विपिन विहारी वर्मा, एम० पी०
२. श्री ज्वाला प्रसाद सिंह वाइस-चेअरमैन, डि० बो०

३. श्री श्रीनारायण सिंह, वकील
४. श्री गणेश प्रसाद साहु, एम० एल० ए०
५. श्री फजलुर रहमान, एम० एल० ए०

दरभंगा

१. कुमार कल्याणलाल, एम० एल० सी०
२. श्री रामेश्वर प्रसाद सिन्हा, वकील
३. श्री कर्पूरी ठाकुर एम०-एल० ए०

राँची

१. प्रिन्सपल, ड्रिग्री कालेज, राँची
२. मंत्री, विकास विद्यालय, राँची

पूर्णियाँ

१. कुमार गंगानन्द सिंह, श्रीनगर

मुंगेर

१. श्री रामनारायण चौधरी, एम० एल० ए०

भागलपुर

१. श्री विश्वनाथ जी ड्रोलिया
२. श्री रामप्रसाद महेशका
३. श्री सत्येन्द्र नारायण अग्रवाल, एम० एल० ए०

विशेष

इनके अतिरिक्त श्री सीताराम जी सक्सरिया से दो, श्री-बद्री प्रसाद बायवाला से तीन और श्री शत्रुहन शरण सिंह से तीन——इस तरह कुल आठ स्थायी ग्राहकों के अग्रिम रुपए और मिल गये हैं। किन्तु समय पर उनके नाम नहीं मिलने के कारण हम उन्हें इस सूची में नहीं दे सके।

हम इनके भी कृतज्ञ हैं !

सर्वश्री सेठ गोविन्ददास, रामधारी सिंह दिनकर', सीताराम सक्सरिया, प्रभुदयाल डावड़ीवाला हितनारायण सिंह, शिवनाथ सिंह, बी० पी० सिंह, भँवरमल सिघी, मथुरा प्रसाद मिश्र, डा० रामाशीष ठाकुर और सबसे अधिक श्री मुद्रिका सिंह के हम विशेष कृतज्ञ हैं——क्यों कि इन्हीं महानुभावों और मित्रों की कृपा रही कि हमें इतने लोगों का सहयोग सुलभ हो सका।

[illegible] 2559
[illegible]